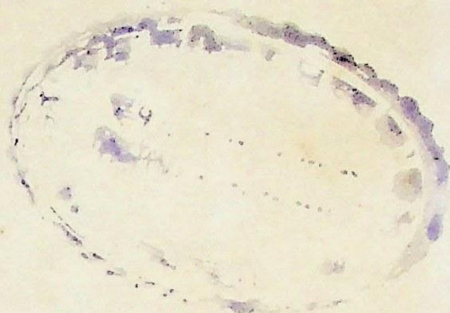
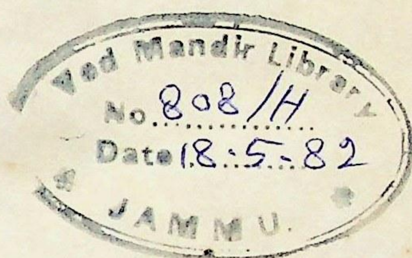
विवेकानन्द संचयन

द्वितीय संस्करण



श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर





Ved Mandir Library
No. 808/H
Date 18-5-82
JAMMU.

विवेकानन्द संचयन

जन्मशती प्रकाशन

द्वितीय संस्करण



श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर

प्रकाशक–
स्वामी भास्करेश्वरानन्द
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम
धन्तोली, नागपुर–४४००१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ६४

[व ७४ : प्र. ७०]

मुद्रक–ए. आय. आर. रोटरी प्रिंटींग प्रेस,
कांग्रेसनगर, नागपूर-१२

मूल्य रु. १४-००

प्रस्तावना

'विवेकानन्द संचयन' का द्वितीय संस्करण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हमें विशेष प्रसन्नता हो रही है।

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक मानव के एक आदर्श प्रतिनिधि होने के अतिरिक्त वैदिक धर्म एवं संस्कृति के समस्त स्वरूपों के उज्ज्वल प्रतीक थे। यह उन्हीं की प्रतिभा थी जिससे वेदान्त का प्रतिपादन इस रूप में हुआ कि वह वर्तमान युग के मनुष्य द्वारा हृदयंगम किया जा सके। केवल भारत ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व स्वामीजी के स्फूर्तिदायी एवं विधायक विचारों द्वारा प्रचुर मात्रा में लाभान्वित हुआ है; स्वामीजी की ये विचारधाराएँ मानव के समस्त कार्यक्षेत्रों में यथार्थतः सहायक हैं। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य के सम्मुख अनेकानेक समस्याएँ उपस्थित हुई हैं—स्वामीजी इन सभी समस्याओं से परिचित थे तथा उन्हें विस्ताररूपेण समझ भी सके थे। फलतः उन सबके लिए उन्होंने उपाय तथा मार्ग भी प्रदर्शित किये हैं और ये सारे मार्ग उन चिरन्तन सत्यों पर आधारित हैं जो वेदान्त तथा विश्व के अन्य महान् धर्मों में निहित हैं। यथार्थ धर्म को शिक्षा देने के अतिरिक्त उन्होंने समग्र विश्व को जनताजनार्दन की सेवा पूजा के भाव से करने का भी पाठ पढ़ाया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वामीजी ने हमें मानव-निर्माणकारी धर्म एवं मानव-निर्माणकारी दर्शन की शिक्षा दी जो हमारे राष्ट्रनिर्माण के लिए एक अनुपम देन है। कहने की आवश्यकता नहीं, इन सब दृष्टिकोणों से स्वामी विवेकानन्द का केवल भारत ही नहीं वरन् विश्व के धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में बहुत उच्च स्थान है।

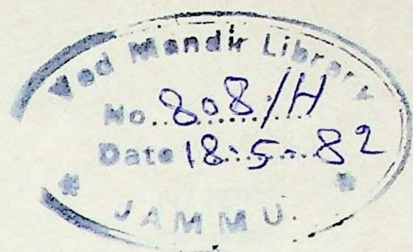
स्वामी विवेकानन्द ने विश्व को ज्ञान एवं शिक्षा की जो प्रचुर सामग्री प्रदान की है वह उनके व्याख्यान तथा प्रवचनों में निहित है जो उन्होंने भारतवर्ष तथा विदेशों में दिये हैं; इसी प्रकार यह अद्वितीय सामग्री उनके द्वारा लिखित पुस्तकों, लेखों तथा पत्रों, उनके सम्भाषण, उनके वार्तालाप तथा उनकी काव्यरचनाओं में हमें प्राप्त होती है जो सहस्र-सहस्र पृष्ठों में लिपिबद्ध है। यह सारी साहित्य-सामग्री अत्यन्त अधिक विस्तृत होने के कारण प्रत्येक के लिए इसका अध्ययन करना

सम्भवतः कठिन होगा। इसी उद्देश्य से हमने स्वामीजी के इस महान् वाङ्मय से उनके कुछ विशिष्ट व्याख्यान, प्रवचन, सम्भाषण, लेख, पत्र, कविताएँ आदि चुनकर उन्हें इस प्रातिनिधिक संचयन के रूप में प्रकाशित किया है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि इस संचयन द्वारा पाठकों को स्वामीजी के दैवी व्यक्तित्व एवं बहुमुखी प्रतिभा की एक पर्याप्त झलक मिल सकेगी--साथ ही अनेकानेक विशिष्ट विषयों पर उनके विचार भी समझे जा सकेंगे। हमारी यह भी धारणा है कि इस संचयन के अध्ययन से पाठकों के मन में स्वामीजी के सभी ग्रन्थों के अध्ययन की अभिलाषा जागृत होगी और इस प्रकार हमारा वह प्रयास सफल हो सकेगा जिसके निमित्त हमने प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित किया है।

दि. १५ जुलाई १९७४.

—प्रकाशक



विषय - सूची

विषय पृष्ठ

स्वामी विवेकानन्द

कभी कभी समय की दीर्घ अवधि के बाद एक ऐसा मनुष्य हमारे इस ग्रह में आ पहुँचता है, जो असंदिग्ध रूप से दूसरे किसी मंडल से आया हुआ एक पर्यटक होता है; जो उस अति दूरवर्ती क्षेत्र की, जहाँ से वह आया हुआ है, महिमा, शक्ति और दीप्ति का कुछ अंश इस दुःखपूर्ण संसार में लाता है। वह मनुष्यों के बीच विचरता है, लेकिन वह इस मर्त्यभूमि का नहीं है। वह है एक तीर्थयात्री, एक अजनबी—वह केवल एक रात के लिए ही यहाँ ठहरता है।

वह अपने चारों ओर के मनुष्यों के जीवन से अपने को सम्बद्ध पाता है; उनके हर्ष-विषाद का साथी बनता है; उनके साथ सुखी होता है, उनके साथ दुःखी भी होता है; लेकिन इन सबों के बीच, वह यह कभी नहीं भूलता कि वह कौन है, कहाँ से आया है और उसके यहाँ आने का क्या उद्देश्य है। वह कभी अपने दिव्यत्व को नहीं भूलता। वह सदैव याद रखता है कि वह महान्, तेजस्वी एवं महामहिमान्वित आत्मा है। वह जानता है कि वह उस वर्णनातीत स्वर्गीय क्षेत्र से आया हुआ है, जहाँ सूर्य अथवा चन्द्र की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह क्षेत्र आलोकों के आलोक से आलोकित है। वह जानता है कि जब 'ईश्वर की सभी संतानें एक साथ आनन्द के लिए गान कर रहीं थीं', उस समय से बहुत पूर्व ही उसका अस्तित्व था।

ऐसे एक मनुष्य को मैंने देखा, उसकी वाणी सुनी और उसके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। उसीके चरणों में मैंने अपनी आत्मा की अनुरक्ति निवेदित की।

इस प्रकार का मनुष्य सभी तुलना के परे है, क्योंकि वह समस्त साधारण मापदण्डों और आदर्शों के अतीत है। अन्य लोग तेजस्वी हो सकते हैं, लेकिन उसका मन प्रकाशमय है, क्योंकि वह समस्त ज्ञान के स्रोत के साथ अपना संयोग स्थापित करने में समर्थ है। साधारण मनुष्यों की भाँति वह ज्ञानार्जन की मंथर प्रक्रियाओं द्वारा सीमित नहीं है। अन्य लोग शायद महान् हो सकते हैं, लेकिन यह महत्त्व उनके अपने वर्ग के दूसरे लोगों की तुलना में ही सम्भव है। अन्य मनुष्य अपने साथियों की तुलना में साधु, तेजस्वी, प्रतिभावान हो सकते हैं। पर यह सब केवल तुलना की बात है। एक सन्त साधारण मनुष्य से अधिक पवित्र, अधिक पुण्यवान, अधिक एकनिष्ठ है। किन्तु स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में

कोई तुलना नहीं हो सकती। वे स्वयं ही अपने वर्ग के हैं। वे एक दूसरे स्तर के हैं, न कि इस सांसारिक स्तर के। वे एक भास्वर सत्ता हैं, जो एक सुनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए दूसरे एक उच्चतर मंडल से इस मर्त्यभूमि पर अवतरित हुए हैं। कोई शायद जान सकता था कि वे यहाँ पर दीर्घकाल तक नहीं ठहरेंगे।

इसमें क्या आश्चर्य है कि प्रकृति स्वयं ऐसे मनुष्य के जन्म पर आनन्द मनाती है, स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं और देवदूत कीर्ति-गान करते हैं?

धन्य है वह देश, जिसने उनको जन्म दिया है; धन्य हैं वे मनुष्य, जो उस समय इस पृथ्वी पर जीवित थे; और धन्य हैं वे कुछ लोग––धन्य, धन्य, धन्य–– जिन्हें उनके पादपद्मों में बैठने का सौभाग्य मिला था।

––भगिनी क्रिश्चिन

हमारे गुरु और उनका सन्देश

...विश्व-धर्म-महासभा के सम्मुख स्वामी जी के अभिभाषण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब उन्होंने अपना भाषण आरम्भ किया, तो विषय था, 'हिन्दुओं के धार्मिक विचार,' किन्तु जब उन्होंने अन्त किया; तब तक हिन्दू धर्म की सृष्टि हो चुकी थी। इस सम्भावना के लिए समय भी परिपक्व हो चुका था। उनके सम्मुख उपस्थित विशाल श्रोता-समूह पाश्चात्य विचारधारा का ही प्रतिनिधि था, लेकिन इसमें जो परमोत्कृष्ट विशिष्टता है, उस सबका कुछ विकास भी श्रोताओं में विद्यमान था। अमेरिका को और विशेष रूप से शिकागो को, जहाँ यह सम्मेलन हुआ, यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र ने अपने मानवीय योगदान से आप्लावित किया है। आधुनिक उद्योग और संघर्ष के बहुत कुछ उत्कृष्ट और उनमें से कुछ निकृष्ट भाव पश्चिम की इस नगरों की रानी की सीमाओं के भीतर मिलते हैं, जिसके पदतल—जब वह अपनी आँखों में उत्तर का प्रकाश भरकर बैठती और चिन्तामग्न होती है—मिशिगन झील के तट पर हैं। आधुनिक ज्ञान में ऐसा बहुत कम है, यूरोप के अतीत से उत्तराधिकार में प्राप्त ऐसा बहुत कम है, जिसकी कोई न कोई चौकी शिकागो की नगरी में न विद्यमान हो। और जहाँ हममें से कुछ को इस केन्द्र का जनसंकुल जीवन और अधीर उत्सुकता अभी निरी विशृंखल ही क्यों न प्रतीत हों, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि वे मानवीय एकता के किसी महान् किन्तु धीरसंचारी आदर्श को उस समय व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं, जब उनकी परिपक्वता के दिन पूर्ण हो जायँगे।...

...यदि हिन्दू धर्म के दूत के रूप में उनका कुछ अपना होता, तो स्वामी विवेकानन्द जो कुछ थे, उससे कम महान् सिद्ध हुए होते। गीता के कृष्ण की भाँति, बुद्ध की भाँति, शंकराचार्य की भाँति, भारतीय चिन्तन के अन्य प्रत्येक महान् विचारक की भाँति, उनके वाक्य भी वेदों और उपनिषदों के उद्धरणों से परिपूर्ण हैं। भारत के पास जो अपनी ही निधियाँ सुरक्षित हैं, भारत के ही प्रति उनके मात्र उद्‌घाटक और भाष्यकार के रूप में ही स्वामी जी का महत्त्व है। यदि वे कभी जन्म ही न लेते, तो भी जिन सत्यों का उपदेश उन्होंने किया, वे वैसे सत्य बने रहते। यही नहीं, वे सत्य उतने ही प्रामाणिक भी बने रहते। अंतर केवल होता, उनकी प्राप्ति की कठिनाई में, उनकी अभिव्यक्ति में आधुनिक स्पष्टता और तीक्ष्णता के अभाव

में और उनके पारस्परिक सामंजस्य एवं एकता की हानि में। यदि वे न होते, तो आज सहस्रों लोगों को जीवनदायी संदेश प्रदान करनेवाले वे ग्रंथ पंडितों के विवाद के विषय ही बने रह जाते। उन्होंने एक पंडित की भाँति नहीं, एक अधिकारी व्यक्ति की भाँति उपदेश दिया। क्योंकि जिस सत्यानुभूति का उपदेश उन्होंने किया, उसकी गहराइयों में वे स्वयं ही ग़ोता लगा चुके थे और रामानुज की भाँति उसके रहस्यों को चांडाल, जाति-बहिष्कृत और विदेशियों को बतलाने के निमित्त ही वे वहाँ से लौटे थे।

किन्तु फिर भी यह कथन कि उनके उपदेशों में कुछ नवीनता नहीं है, पूर्णतः सत्य नहीं है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि ये स्वामी विवेकानन्द ही थे, जिन्होंने अद्वैत दर्शन के श्रेष्ठत्व की घोषणा करते हुए कहा था कि इस अद्वैत में यह अनुभूति समाविष्ट है, जिसमें सब एक हैं, जो एकमेवाद्वितीय है; पर साथ साथ उन्होंने हिन्दू धर्म में यह सिद्धान्त भी संयोजित किया कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत एक ही विकास के तीन सोपान या स्तर हैं, जिनमें अंतिम अद्वैत ही लक्ष्य है। यह एक और भी महान् तथा अधिक सरल, इस सिद्धान्त का अंग है कि अनेक और एक, विभिन्न समयों पर विभिन्न वृत्तियों में मन के द्वारा देखे जानेवाला एक ही तत्त्व है; अथवा जैसा श्री रामकृष्ण ने उसी सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, "ईश्वर साकार और निराकार, दोनों ही है। ईश्वर वह भी है, जिसमें साकार और निराकार, दोनों ही समाविष्ट हैं।" यही—वह वस्तु है, जो हमारे गुरुदेव के जीवन को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान करती है, क्योंकि यहाँ वे पूर्व और पश्चिम के ही नहीं, भूत और भविष्य के भी संगम-विन्दु बन जाते हैं। यदि एक और अनेक सचमुच एक ही सत्य हैं, तो केवल उपासना के ही विविध प्रकार नहीं, वरन् सामान्य रूप से कर्म के भी सभी प्रकार, संघर्ष के सभी प्रकार, सर्जन के सभी प्रकार भी, सत्य-साक्षात्कार के मार्ग हैं। अतः लौकिक और धार्मिक में अब आगे कोई भेद नहीं रह जाता। कर्म करना ही उपासना करना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग करना है। स्वयं जीवन ही धर्म है। प्राप्त करना और अपने अधिकार में रखना उतना ही कठोर न्यास है, जितना कि त्याग करना और विमुख होना।

स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति है, जिसने उन्हें उस कर्म का महान् उपदेष्टा सिद्ध किया, जो ज्ञान-भक्ति से अलग नहीं, वरन् उन्हें अभिव्यक्त करनेवाला है। उनके लिए कारखाना, अध्ययन-कक्ष, खेत और क्रीड़ाभूमि आदि भगवान् के साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान हैं, जैसे साधु की कुटी या मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव की सेवा और ईश्वर की पूजा पौरुष तथा

श्रद्धा, सच्चे नैतिक बल और आध्यात्मिकता में कोई अन्तर नहीं है। एक दृष्टि से उनकी सम्पूर्ण वाणी को इसी केन्द्रीय दृढ़ आस्था के भाष्य के रूप में पढ़ा जा सकता है। एक बार उन्होंने कहा था, "कला, विज्ञान एवं धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं। लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत का सिद्धान्त चाहिए।"

उनके दर्शन का निर्माण करनेवाले रचनात्मक प्रभाव को शायद त्रिगुणात्मक माना जा सकता है। पहले तो संस्कृत और अंग्रेज़ी में उनकी शिक्षा थी। इस प्रकार दो जगत् उनके सम्मुख उद्घाटित हुए एवं उनके वैषम्य ने उन पर एक ऐसी विशिष्ट अनुभूति का बलिष्ठ प्रभाव डाला, जो भारत के धर्म-ग्रंथों की विषय-वस्तु है। यदि यह सत्य हो, तो यह स्पष्ट है कि वह, जैसे कुछ अन्य लोगों को प्राप्त हो गया, उस प्रकार भारतीय ऋषियों को संयोगवश अप्रत्याशित रूप से नहीं प्राप्त हो गया। वरन् वह एक विज्ञान की विषय-वस्तु था, एक ऐसे तार्किक विश्लेषण का विषय था, जो सत्य की खोज में बड़े से बड़े बलिदान से पीछे हटनेवाला नहीं था।

अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस में, जो दक्षिणेश्वर के उद्यान-मन्दिर में रहते और उपदेश करते थे, स्वामी विवेकानन्द—उन दिनों के 'नरेन'—को प्राचीन धर्मग्रंथों का वह सत्यापन प्राप्त हुआ, जिसकी माँग उनका हृदय और बुद्धि करती रही थी। यहाँ वह सत्य उपलब्ध था, जिसका टूटा-फूटा वर्णन ही ग्रंथ कर पाते हैं। यहाँ एक ऐसा व्यक्ति था, जिसके लिए समाधि ही ज्ञान प्राप्त करने का सतत साधन थी। हर घंटे चित्त अनेक से एक की ओर दोलायमान था। हर क्षण अतिचेतन भूमिका से संगृहीत ज्ञान की वाणी से ध्वनित होता था। उनके सन्निकट हर व्यक्ति को ईश्वर दर्शन की झलक मिल जाती थी और शिष्य में भी परम ज्ञान की अभीप्सा, 'ज्वर चढ़ने के सदृश' जग उठती थी। किन्तु तथापि वे सम्पूर्ण अज्ञात रूप से ही धर्मग्रंथों की जीवन्त प्रतिमूर्ति थे, क्योंकि उन्होंने उनमें से किसीका कभी अध्ययन ही नहीं किया था! अपने गुरुदेव, रामकृष्ण परमहंस में विवेकानन्द को जीवन की कुंजी मिल गयी थी।

किंतु फिर भी अपने जीवन-कार्य के निमित्त उनकी तैयारी पूरी नहीं हो पायी थी। उनके गुरुदेव का जीवन एवं व्यक्तित्व, जिस विराट् परिपूर्णता का अल्पकालिक एवं प्रखर प्रतीक था, उसकी परिव्याप्ति को आत्मसात करने के लिए कन्याकुमारी से हिमालय तक, समग्र भारत का भ्रमण करना, सर्वत्र साधु-संतों, विद्वानों और जन-साधारण से सम भाव से मिलना, सबसे शिक्षा ग्रहण करना और सबको शिक्षा देना, सबके साथ जीवन बिताना और भारत के अतीत एवं वर्तमान का यथार्थ परिचय प्राप्त करना अनिवार्य था।

इस प्रकार विवेकानन्द की कृतियों का संगीत शास्त्र, गुरु तथा मातृभूमि—इन तीन स्वर-लहरियों से निर्मित हुआ है। उनके पास देने योग्य यही निधि है। इन्हींसे उनको वे उपकरण मिले, जिनसे विश्व-विकार को दूर करनेवाले आध्यात्मिक वरदान की विशल्यकरणी उन्होंने प्रस्तुत की। १९ सितंबर, १८९३ ई० से ४ जुलाई १९०२ ई० तक कार्य की अल्पावधि में भारत ने अपनी तथा विश्व की संतति के पथ-प्रदर्शन के लिए उनके हाथों से जो दीप प्रज्वलित एवं प्रतिष्ठित कराया, उसके भीतर ये ही तीन दीपशिखाएँ प्रोज्ज्वल हैं। हममें से कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो इसी प्रकाश और अपने पीछे छोड़ी गयी उनकी कृतियों के लिए उनको जन्म देनेवाली पुण्यभूमि को, तथा जिन अदृश्य शक्तियों ने उन्हें विश्व में भेजा, उनको धन्य कहते हैं और विश्वास करते हैं कि उनके महान् संदेश की व्यापकता एवं सार्थकता का मर्म जानने में हम अभी तक असमर्थ रहे हैं।

४ जुलाई, १९०७ —भगिनी निवेदिता

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है।

बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।

बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप



व्याख्यान : धर्म-महासभा

स्वागत का उत्तर

(विश्व-धर्म-महासभा, शिकागो, ११ सितम्बर, १८९३ ई०)

अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो,

आपने जिस सौहार्द और स्नेह के साथ हम लोगों का स्वागत किया है, उसके प्रति आभार प्रकट करने के निमित्त खड़े होते समय मेरा हृदय अवर्णनीय हर्ष से पूर्ण हो रहा है। संसार में संन्यासियों की सबसे प्राचीन परम्परा की ओर से मैं आपको धन्यवाद देता हूँ; धर्मों की माता की ओर से धन्यवाद देता हूँ; और सभी सम्प्रदायों एवं मतों के कोटि कोटि हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद देता हूँ।

मैं इस मंच पर से बोलनेवाले उन कतिपय वक्ताओं के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने प्राची के प्रतिनिधियों का उल्लेख करते समय आपको यह बतलाया है कि सुदूर देशों के ये लोग सहिष्णुता का भाव विविध देशों में प्रसारित करने के गौरव का दावा कर सकते हैं। मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति, दोनों की ही शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर स्वीकार करते हैं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है। मुझे आपको यह बतलाते हुए गर्व होता है कि हमने अपने वक्ष में यहूदियों के विशुद्धतम अवशिष्ट अंश को स्थान दिया था, जिन्होंने दक्षिण भारत आकर उसी वर्ष शरण ली थी, जिस वर्ष उनका पवित्र मंदिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था। ऐसे धर्म का अनुयायी होने में मैं गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने महान् जरथुष्ट्र जाति के अवशिष्ट अंश को शरण दी और जिसका पालन वह अब तक कर रहा है। भाइयो, मैं आप लोगों को एक स्तोत्र की कुछ पंक्तियाँ सुनाता हूँ, जिसकी आवृत्ति मैं अपने बचपन से कर रहा हूँ और जिसकी आवृत्ति प्रतिदिन लाखों मनुष्य किया करते हैं :

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

—'जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।'[1]

यह सभा, जो अभी तक आयोजित सर्वश्रेष्ठ पवित्र सम्मेलनों में से एक है, स्वतः ही गीता के इस अद्भुत उपदेश का प्रतिपादन एवं जगत् के प्रति उसकी घोषणा है:

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

—'जो कोई मेरी ओर आता है—चाहे किसी प्रकार से हो—मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अंत में मेरी ही ओर आते हैं।'[2]

साम्प्रदायिकता, हठधर्मिता और उनकी बीभत्स वंशधर धर्मान्धता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुकी हैं। वे पृथ्वी को हिंसा से भरती रही हैं, उसको बारम्बार मानवता के रक्त से नहलाती रही हैं, सभ्यताओं को विध्वस्त करती और पूरे पूरे देशों को निराशा के गर्त में डालती रही हैं। यदि ये बीभत्स दानवी न होतीं, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका समय आ गया है, और मैं आंतरिक रूप से आशा करता हूँ कि आज सुबह इस सभा के सम्मान में जो घंटा-ध्वनि हुई है, वह समस्त धर्मान्धता का, तलवार या लेखनी के द्वारा होनेवाले सभी उत्पीड़नों का, तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होनेवाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं का मृत्यु-निनाद सिद्ध हो।

हमारे मतभेद का कारण[3]

(१५ सितम्बर, १८९३ ई०)

मैं आप लोगों को एक छोटी सी कहानी सुनाता हूँ। अभी जिन वाग्मी वक्ता महोदय ने व्याख्यान समाप्त किया है, उनके इस वचन को आप लोगों ने सुना

---

१. शिवमहिम्नस्तोत्रम्॥७॥ २. गीता॥४।११॥

३. १५ सितम्बर, शुक्रवार के अपराह्न में धर्म-महासभा के पंचम दिवस के अधिवेशन के समय भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी अपने अपने धर्म की प्रधानता का प्रतिपादन करने के लिए वितण्डावाद में जुट गये थे। अन्त में स्वामी विवेकानन्द ने यह कहानी सुनाकर सबको शान्त कर दिया। स०

है कि 'आओ, हम लोग एक दूसरे को बुरा कहना बंद कर दें', और उन्हें इस बात का बड़ा खेद है कि लोगों में सदा इतना मतभेद क्यों रहता है।

परन्तु मैं समझता हूँ कि जो कहानी मैं सुनानेवाला हूँ, उससे आप लोगों को इस मतभेद का कारण स्पष्ट हो जायगा। एक कुएं में बहुत समय से एक मेढक रहता था। वह वहीं पैदा हुआ था और वहीं उसका पालन-पोषण हुआ, पर फिर भी वह मेढक छोटा ही था। हाँ, आज के क्रमविकासवादी (evolutionists) उस समय वहाँ नहीं थे, जो हमें यह बतला सकते कि उस मेढक की आँखें थीं अथवा नहीं, पर यहाँ कहानी के लिए यह मान लेना चाहिए कि उसकी आँखें थीं, और वह प्रतिदिन ऐसे पुरुषार्थ के साथ जल को सारे कीड़ों और कीटाणुओं से रहित पूर्ण स्वच्छ कर देता था कि उतना पुरुषार्थ हमारे आधुनिक कीटाणुवादियों[१] (bacteriologists) को यशस्वी बना दें। इस प्रकार धीरे धीरे यह मेढक उसी कुएँ में रहते रहते मोटा और चिकना हो गया। हाँ, अब एक दिन एक दूसरा मेढक, जो समुद्र में रहता था, वहाँ आया और कुएं में गिर पड़ा।

"तुम कहाँ से आये हो ?"

"मैं समुद्र से आया हूँ।"

"समुद्र ! भला, कितना बड़ा है वह ? क्या वह भी इतना ही बड़ा है, जितना मेरा यह कुआँ ?" और यह कहते हुए उसने कुएँ में एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग मारी।

समुद्रवाले मेढक ने कहा, "मेरे मित्र ! भला, समुद्र की तुलना इस छोटे से कुएँ से किस प्रकार कर सकते हो ?"

तब उस कुएँवाले मेढक ने एक दूसरी छलाँग मारी और पूछा, "तो क्या तुम्हारा समुद्र इतना बड़ा है ?"

समुद्रवाले मेढक ने कहा, "तुम कैसी बेवकूफ़ी की बात कर रहे हो ! क्या समुद्र की तुलना तुम्हारे कुएँ से हो सकती है ?"

अब तो कुएँवाले मेढक ने कहा, "जा, जा ! मेरे कुएँ से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में इससे बड़ा और कुछ नहीं है ! झूठा कहीं का ? अरे, इसे बाहर निकाल दो।"

यही कठिनाई सदैव रही है।

मैं हिन्दू हूँ। मैं अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा यही समझता हूँ कि मेरा कुआँ ही संपूर्ण

---

१. सब बीमारियाँ कीड़ों से उत्पन्न होती हैं, अतएव कीड़ों को नष्ट करना चाहिए—यह इन लोगों का मत है। स०

संसार है। ईसाई भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठे हुए यही समझता है कि सारा संसार उसीके कुएँ में है और मुसलमान भी अपने क्षुद्र कुएँ में बैठा हुआ उसीको सारा ब्रह्माण्ड मानता है। मैं आप अमेरिकावालों को धन्य कहता हूँ, क्योंकि आप हम लोगों के इन छोटे छोटे संसारों की क्षुद्र सीमाओं को तोड़ने का महान् प्रयत्न कर रहे हैं, और मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में परमात्मा आपके इस उद्योग में सहायता देकर आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे।

हिन्दू धर्म पर निबन्ध

(धर्म-महासभा में, १९ सितम्बर, १८९३ ई० को पठित)

प्रागैतिहासिक युग से चले आनेवाले केवल तीन ही धर्म आज संसार में विद्यमान हैं—हिन्दू धर्म, पारसी धर्म और यहूदी धर्म। उनको अनेकानेक प्रचंड आघात सहने पड़े हैं, किन्तु फिर भी जीवित बने रहकर वे सभी अपनी आन्तरिक शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। पर जहाँ हम यह देखते हैं कि यहूदी धर्म ईसाई धर्म को आत्मसात नहीं कर सका, वरन् अपनी सर्वविजयिनी दुहिता—ईसाई धर्म—द्वारा अपने जन्म-स्थान से निर्वासित कर दिया गया, और केवल मुट्ठी भर पारसी ही अपने महान् धर्म की गाथा गाने के लिए अब अवशेष हैं, —वहाँ भारत में एक के बाद एक न जाने कितने सम्प्रदायों का उदय हुआ और उन्होंने वैदिक धर्म को जड़ से हिला सा दिया; किन्तु भयंकर भूकम्प के समय समुद्र-तट के जल के समान वह कुछ समय पश्चात् हजार गुना बलशाली होकर सर्वग्रासी आप्लावन के रूप में पुन: लौटने के लिए पीछे हट गया; और जब यह सारा कोलाहल शान्त हो गया, तब इन समस्त धर्म-सम्प्रदायों को उनकी धर्म-माता (हिन्दू धर्म) की विराट् काया ने चूस लिया, आत्मसात कर लिया और अपने में पचा डाला।

वेदान्त दर्शन की अत्युच्च आध्यात्मिक उड़ानों से लेकर —आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं, मूर्ति-पूजा के निम्न स्तरीय विचारों एवं तदानुषंगिक अनेकानेक पौराणिक दन्तकथाओं तक, और बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद—इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है।

तब यह प्रश्न उठता है कि वह कौन सा एक सामान्य विन्दु है, जहाँ पर इतनी विभिन्न दिशाओं में जानेवाली त्रिज्याएँ केन्द्रस्थ होती हैं? वह कौन सा एक सामान्य आधार है, जिस पर ये प्रचंड विरोधाभास आश्रित हैं? इसी प्रश्न का उत्तर देने का अब मैं प्रयत्न करूँगा।

हिन्दू जाति ने अपना धर्म श्रुति---वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं। श्रोताओं को, सम्भव है, यह बात हास्यास्पद लगे कि कोई पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। किन्तु वेदों का अर्थ कोई पुस्तक है ही नहीं। वेदों का अर्थ है, भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक सत्यों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य-जाति उसे भूल भी जाय, तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् का शासन करनेवाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और जीवात्मा का आत्माओं के परम पिता के साथ जो नैतिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं, वे उनके आविष्कार के पूर्व भी थे, और हम यदि उन्हें भूल भी जायँ, तो भी बने रहेंगे।

इन नियमों या सत्यों का आविष्कार करनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व तक पहुँची हुई आत्मा मानकर सम्मान देते हैं। श्रोताओं को यह बतलाते हुए मुझे हर्ष होता है कि इन महानतम ऋषियों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये नियम, नियम के रूप में अनन्त भले ही हों, पर इनका आदि तो अवश्य ही होना चाहिए। वेद हमें यह सिखाते हैं कि सृष्टि का न आदि है, न अन्त। विज्ञान ने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि समग्र विश्व की सारी ऊर्जा-समष्टि का परिमाण सदा एक सा रहता है। तो फिर, यदि ऐसा कोई समय था, जब कि किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं था, उस समय यह सम्पूर्ण व्यक्त ऊर्जा कहाँ थी ? कोई कोई कहते हैं कि ईश्वर में ही वह सब अव्यक्त रूप में निहित थी। तब तो ईश्वर कभी अव्यक्त और कभी व्यक्त है; इससे तो वह विकारशील हो जायगा। प्रत्येक विकारशील पदार्थ यौगिक होता है और हर यौगिक पदार्थ में वह परिवर्तन अवश्यम्भावी है, जिसे हम विनाश कहते हैं। इस तरह तो ईश्वर की मृत्यु हो जायगी, जो अनर्गल है। अतः ऐसा समय कभी नहीं था, जब यह सृष्टि नहीं थी।

मैं एक उपमा दूँ : स्रष्टा और सृष्टि मानो दो रेखाएँ हैं, जिनका न आदि है, न अन्त, और जो समानान्तर चलती हैं। ईश्वर नित्य क्रियाशील विधाता है, जिसकी शक्ति से प्रलय-पयोधि में से नित्यशः एक के बाद एक ब्रह्माण्ड का सृजन होता है, वे कुछ काल तक गतिमान रहते हैं, और तत्पश्चात् वे पुनः विनष्ट कर दिये जाते हैं। **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्** अर्थात् इस सूर्य और इस चन्द्रमा को विधाता ने पूर्व कल्पों के सूर्य और चन्द्रमा के समान निर्मित किया है---इस वाक्य का नित्य पाठ प्रत्येक हिन्दू बालक प्रतिदिन करता है।

यहाँ पर मैं खड़ा हूँ और अपनी आँखें बन्द करके यदि मैं अपने अस्तित्व —'मैं', 'मैं', 'मैं' को समझने का प्रयत्न करूँ, तो मुझमें किस भाव का उदय होता है? इस भाव का कि मैं शरीर हूँ। तो क्या मैं भौतिक पदार्थों के संघात के सिवा और कुछ नहीं हूँ? वेदों की घोषणा है—'नहीं' मैं शरीर में रहनेवाली आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर मर जायगा, पर मैं नहीं मरूँगा। मैं इस शरीर में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही। मेरा एक अतीत भी है। आत्मा की सृष्टि नहीं हुई है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है, भिन्न भिन्न द्रव्यों का संघात, और इस संघात का भविष्य में विघटन अवश्यम्भावी है। अतएव यदि आत्मा का सृजन हुआ, तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिए। कुछ लोग जन्म से ही सुखी होते हैं, पूर्ण स्वास्थ्य का आनन्द भोगते हैं, उन्हें सुंदर शरीर, उत्साहपूर्ण मन और सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त रहती हैं। दूसरे कुछ लोग जन्म से ही दुःखी होते हैं, किसीके हाथ या पाँव नहीं होते, तो कोई मूर्ख होते हैं, और येन केन प्रकारेण अपने दुःखमय जीवन के दिन काटते हैं। ऐसा क्यों? यदि ये सभी एक ही न्यायी और दयालु ईश्वर ने उत्पन्न किये हों, तो फिर उसने एक को सुखी और दूसरे को दुःखी क्यों बनाया? ईश्वर ऐसा पक्षपाती क्यों है? फिर ऐसा मानने से भी बात नहीं सुधर सकती कि जो इस वर्तमान जीवन में दुःखी हैं, वे भावी जीवन में पूर्ण सुखी रहेंगे। न्यायी और दयालु ईश्वर के राज्य में मनुष्य इस जीवन में भी दुःखी क्यों रहे?

दूसरी बात यह है कि सृष्टि-उत्पादक ईश्वर को मान्यता देनेवाला सिद्धान्त वैषम्य की कोई व्याख्या नहीं करता, बल्कि वह तो केवल एक सर्वशक्तिमान पुरुष का निष्ठुर आदेश ही प्रकट करता है। अतएव इस जन्म के पूर्व ऐसे कारण होने ही चाहिए, जिनके फलस्वरूप मनुष्य इस जन्म में सुखी या दुःखी हुआ करता है। और ये कारण हैं, उसके ही पूर्वानुष्ठित कर्म।

क्या मनुष्य के शरीर और मन की सारी प्रवृत्तियों की व्याख्या उत्तराधिकार से प्राप्त क्षमता द्वारा नहीं हो सकती? यहाँ जड़ और चैतन्य (मन), सत्ता की दो समानान्तर रेखाएँ हैं। यदि जड़ और जड़ के समस्त रूपान्तर ही, जो कुछ यहाँ है, उसके कारण सिद्ध हो सकते, तो फिर आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि चैतन्य (विचार) का विकास जड़ से हुआ है, और यदि कोई दार्शनिक अद्वैतवाद अनिवार्य है, तो आध्यात्मिक अद्वैतवाद निश्चय ही तर्कसंगत है और भौतिक अद्वैतवाद से किसी भी प्रकार कम वांछनीय नहीं; परन्तु यहाँ इन दोनों की आवश्यकता नहीं है।

हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि शरीर कुछ प्रवृत्तियों को आनुवंशिकता से प्राप्त करता है; किन्तु ऐसी प्रवृत्तियों का अर्थ केवल शारीरिक रूपाकृति है, जिसके माध्यम से केवल एक विशेष मन एक विशेष प्रकार से काम कर सकता है। आत्मा की कुछ ऐसी विशेष प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिनकी उत्पत्ति अतीत के कर्म से होती है। एक विशेष प्रवृत्तिवाली जीवात्मा 'योग्यं योग्येन युज्यते' इस नियमानुसार उसी शरीर में जन्म ग्रहण करती है, जो उस प्रवृत्ति के प्रकट करने के लिए सबसे उपयुक्त आधार हो। यह विज्ञानसंगत है, क्योंकि विज्ञान हर प्रवृत्ति की व्याख्या आदत से करना चाहता है, और आदत आवृत्तियों से बनती है। अतएव नवजात जीवात्मा की नैसर्गिक आदतों की व्याख्या के लिए आवृत्तियाँ अनिवार्य हो जाती हैं। और चूँकि वे प्रस्तुत जीवन में प्राप्त नहीं होतीं, अतः वे पिछले जीवनों से ही आयी होंगी।

एक और दृष्टिकोण है। ये सभी बातें यदि स्वयंसिद्ध भी मान लें, तो मैं अपने पूर्व जन्म की कोई बात स्मरण क्यों नहीं रख पाता? इसका समाधान सरल है। मैं अभी अंग्रेज़ी बोल रहा हूँ। वह मेरी मातृभाषा नहीं है। वस्तुतः इस समय मेरी मातृभाषा का कोई भी शब्द मेरे चित्त में उपस्थित नहीं है; पर उन शब्दों को सामने लाने का थोड़ा प्रयत्न करते ही वे मेरे मन में उमड़ आते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि चेतना मानस-सागर की सतह मात्र है और भीतर, उसकी गहराई में, हमारी समस्त अनुभवराशि संचित है। केवल प्रयत्न तथा उद्यम कीजिए, वे सब ऊपर उठ आयेंगे। और आप अपने पूर्व जन्मों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

यह प्रत्यक्ष एवं प्रतिपाद्य प्रमाण है। सत्य-साधन ही किसी परिकल्पना का पूर्ण प्रमाण होता है, और ऋषिगण यहाँ समस्त संसार को एक चुनौती दे रहे हैं। हमने उस रहस्य का पता लगा लिया है, जिससे स्मृति-सागर की गंभीरतम गहराई तक का मन्थन किया जा सकता है--उसका प्रयोग कीजिए और आप अपने पूर्व जन्मों की संपूर्ण संस्मृति प्राप्त कर लेंगे।

अतएव हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। 'उसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती।'[१] हिन्दुओं की यह धारणा है कि आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, किंतु जिसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है; और मृत्यु का अर्थ है,

---

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ गीता ॥२।२३॥

इस केन्द्र का एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरित हो जाना। यह आत्मा जड़ की उपाधियों से बद्ध नहीं है। वह स्वरूपत: नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है। परन्तु किसी कारण से वह अपने को जड़ से बँधी हुई पाती है, और अपने को जड़ ही समझती है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि यह विशुद्ध, पूर्ण और विमुक्त आत्मा इस प्रकार जड़ का दासत्व क्यों करती है? स्वयं पूर्ण होते हुए भी इस आत्मा को अपूर्ण होने का भ्रम कैसे हो जाता है? हमें यह बताया जाता है कि हिन्दू लोग इस प्रश्न से कतरा जाते हैं और कह देते हैं कि ऐसा प्रश्न हो ही नहीं सकता। कुछ विचारक पूर्णप्राय सत्ताओं की कल्पना कर लेते हैं और इस रिक्त को भरने के लिए बड़े बड़े वैज्ञानिक नामों का प्रयोग करते हैं। परन्तु नाम दे देना व्याख्या नहीं है। प्रश्न ज्यों का त्यों ही बना रहता है। पूर्ण ब्रह्म पूर्णप्राय अथवा अपूर्ण कैसे हो सकता है; शुद्ध, निरपेक्ष ब्रह्म अपने स्वभाव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण भर भी परिवर्तित कैसे कर सकता है? पर हिन्दू ईमानदार है। वह मिथ्या तर्क का सहारा नहीं लेना चाहता। पुरुषोचित रूप में इस प्रश्न का सामना करने का साहस वह रखता है, और इस प्रश्न का उत्तर देता है; "मैं नहीं जानता। मैं नहीं जानता कि पूर्ण आत्मा अपने को अपूर्ण कैसे समझने लगी, जड़-पदार्थों के संयोग से अपने को जड़-नियमाधीन कैसे मानने लगी।" पर इस सबके बावजूद तथ्य जो है, वही रहेगा। यह सभी की चेतना का एक तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को शरीर मानता है। हिन्दू इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं करता कि मनुष्य अपने को शरीर क्यों समझता है। 'यह ईश्वर की इच्छा है', यह उत्तर कोई समाधान नहीं है। यह उत्तर हिन्दू के 'मैं नहीं जानता' के सिवा और कुछ नहीं है।

अतएव मनुष्य की आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण और अनन्त है, और मृत्यु का अर्थ है—एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केन्द्र-परिवर्तन। वर्तमान अवस्था हमारे पूर्वानुष्ठित कर्मों द्वारा निश्चित होती है और भविष्य, वर्तमान कर्मों द्वारा। आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में लगातार घूमती हुई कभी ऊपर विकास करती है, कभी प्रत्यागमन करती है। पर यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है—क्या मनुष्य प्रचंड तूफ़ान में ग्रस्त वह छोटी सी नौका है, जो एक क्षण किसी वेगवान तरंग के फेनिल शिखर पर चढ़ जाती है और दूसरे क्षण भयानक गर्त में नीचे ढकेल दी जाती है, अपने शुभ और अशुभ कर्मों की दया पर केवल इधर-उधर भटकती फिरती है; क्या वह कार्य-कारण की सतत प्रवाही, निर्मम, भीषण तथा गर्जनशील धारा में पड़ा हुआ अशक्त, असहाय भग्न पोत है, क्या वह उस कारणता के चक्र के नीचे पड़ा हुआ एक क्षुद्र शलभ है, जो विधवा के आँसुओं तथा अनाथ

बालक की आहों की तनिक भी चिन्ता न करते हुए, अपने मार्ग में आनेवाली सभी वस्तुओं को कुचल डालता है? इस प्रकार के विचार से अंतःकरण काँप उठता है, पर यही प्रकृति का नियम है। तो फिर क्या कोई आशा ही नहीं है? क्या इससे बचने का कोई मार्ग नहीं है?——यही करुण पुकार निराशाविह्वल हृदय के अन्तस्तल से ऊपर उठी और उस करुणामय के सिंहासन तक जा पहुँची। वहाँ से आशा तथा सान्त्वना की वाणी निकली और उसने एक वैदिक ऋषि को अंतःस्फूर्ति प्रदान की, और उसने संसार के सामने खड़े होकर तूर्य-स्वर में इस आनंद-सन्देश की घोषणा की: 'हे अमृत के पुत्रो! सुनो, हे दिव्यधामवासी देवगण!! तुम भी सुनो, मैंने उस अनादि, पुरातन पुरुष को प्राप्त कर लिया है, जो समस्त अज्ञान-अंधकार और माया के परे है। केवल उस पुरुष को जानकर ही तुम मृत्यु के चक्र से छूट सकते हो। दूसरा कोई पथ नहीं।'[1] 'अमृत के पुत्रो'——कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह! बन्धुओ! इसी मधुर नाम——अमृत के अधिकारी से आपको सम्बोधित करूँ, आप इसकी आज्ञा मुझे दें। निश्चय ही हिन्दू आपको पापी कहना अस्वीकार करता है। आप तो ईश्वर की सन्तान हैं, अमर आनंद के भागी हैं, पवित्र और पूर्ण आत्मा हैं। आप इस मर्त्यभूमि पर देवता हैं। आप भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, वह मानवस्वरूप पर घोर लांछन है। आप उठें! हे सिंहो! आयें, और इस मिथ्या भ्रम को झटक कर दूर फेंक दें कि आप भेंड़ हैं। आप हैं आत्मा अमर, आत्मा मुक्त, आनंदमय और नित्य! आप जड़ नहीं हैं, आप शरीर नहीं हैं; जड़ तो आपका दास है, न कि आप हैं दास जड़ के।

अतः वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय निर्मम विधानों का संघात है, और न यह कि वह कार्य-कारण की अनन्त कारा है; वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, जड़-तत्त्व और शक्ति के प्रत्येक अणु-परमाणु में ओतप्रोत वही एक विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर नाचती है।'[2]

---

१. श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

*　　*　　*

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
——श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥२।५; ३-८॥

२. भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥ कठोपनिषद् ॥२।३।३॥

और उस पुरुष का स्वरूप क्या है?

वह सर्वत्र है, शुद्ध, निराकार, सर्वशक्तिमान है, सब पर उसकी पूर्ण दया है। 'तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है, तू हमारा परम प्रेमास्पद सखा है, तू ही सभी शक्तियों का मूल है; हमें शक्ति दे। तू ही इन अखिल भुवनों का भार वहन करनेवाला है; तू मुझे इस जीवन के क्षुद्र भार को वहन करने में सहायता दे।' वैदिक ऋषियों ने यही गाया है। हम उसकी पूजा किस प्रकार करें? प्रेम के द्वारा। 'ऐहिक तथा पारत्रिक समस्त प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर उस परम प्रेमास्पद की पूजा करनी चाहिए।'

वेद हमें प्रेम के सम्बन्ध में इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं। अब देखें कि श्री कृष्ण ने, जिन्हें हिन्दू लोग पृथ्वी पर ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, इस प्रेम के सिद्धांत का पूर्ण विकास किस प्रकार किया है और हमें क्या उपदेश दिया है।

उन्होंने कहा है कि मनुष्य को इस संसार में पद्मपत्र की तरह रहना चाहिए। पद्मपत्र जैसे पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए—उसका हृदय ईश्वर में लगा रहे और उसके हाथ कर्म करने में लगे रहें।

इहलोक या परलोक में पुरस्कार की प्रत्याशा से ईश्वर से प्रेम करना बुरी बात नहीं, पर केवल प्रेम के लिए ही ईश्वर से प्रेम करना सबसे अच्छा है, और उसके निकट यही प्रार्थना करनी उचित है, 'हे भगवन्, मुझे न तो सम्पत्ति चाहिए, न सन्तति, न विद्या। यदि तेरी इच्छा है, तो सहस्रों बार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ूँगा; पर हे प्रभो, केवल इतना ही दे कि मैं फल की आशा छोड़कर तेरी भक्ति करूँ, केवल प्रेम के लिए ही तुझ पर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो'[1] कृष्ण के एक शिष्य उस समय भारत के सम्राट् थे। उनके शत्रुओं ने उन्हें राजसिंहासन से च्युत कर दिया था और उन्हें अपनी सम्राज्ञी के साथ हिमालय के जंगल में आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ एक दिन सम्राज्ञी ने उनसे प्रश्न किया, "मनुष्यों में सर्वोपरि पुण्यवान होते हुए भी आपको इतना दुःख क्यों सहना पड़ता है?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "महारानी, देखो, यह हिमालय कैसा भव्य और सुन्दर है। मैं इससे प्रेम करता हूँ। यह मुझे कुछ नहीं देता; पर मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मैं भव्य और सुंदर वस्तु से प्रेम करता हूँ और इसी कारण मैं उससे प्रेम करता हूँ। उसी प्रकार मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ। वह अखिल सौन्दर्य, समस्त सुषमा का मूल है।

---

१. न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥शिक्षाष्टक॥४॥

वही एक ऐसा पात्र है, जिससे प्रेम करना चाहिए। उससे प्रेम करना मेरा स्वभाव है और इसीलिए मैं उससे प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिए उससे प्रार्थना नहीं करता, मैं उससे कोई वस्तु नहीं माँगता। उसकी जहाँ इच्छा हो, मुझे रखे। मैं तो सब अवस्थाओं में केवल प्रेम के लिए ही उस पर प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं कर सकता।"[१]

वेद कहते हैं कि आत्मा दिव्यस्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धनों में बँध गयी है और उन बन्धनों के टूटने पर वह अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता––अपूर्णता के बन्धनों से छुटकारा, जन्म-मृत्यु से छुटकारा।

और यह बन्धन केवल ईश्वर की दया से ही टूट सकता है और यह दया पवित्र लोगों को ही प्राप्त होती है। अतएव पवित्रता ही उसके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है। उसकी दया किस प्रकार काम करती है? वह पवित्र हृदय में अपने को प्रकाशित करता है। पवित्र और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर-दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। 'तब उसकी समस्त कुटिलता नष्ट हो जाती है, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं।'[२] तब वह कार्य-कारण के भयावह नियम के हाथ का खिलौना नहीं रह जाता। यही हिन्दू धर्म का मूलभूत सिद्धान्त है––यही उसका अत्यंत मार्मिक भाव है। हिन्दू शब्दों और सिद्धांतों के जाल में जीना नहीं चाहता। यदि इन साधारण इन्द्रिय-संवेद्य विषयों के परे और भी कोई सत्ताएँ हैं, तो वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है, जो जड़-वस्तु नहीं है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी विश्वात्मा है, तो वह उसका साक्षात्कार करेगा। वह उसे अवश्य देखेगा और मात्र उसीसे उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी। अतः हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है: 'मैंने आत्मा का दर्शन किया; मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।' और यही पूर्णत्व की एकमात्र शर्त है। हिन्दू धर्म भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों या सिद्धान्तों

---

१. नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम्।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्॥
—महाभारत, वनपर्व ॥३१।२।५॥

२. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुंडकोपनिषद् ॥२।२।८॥

पर विश्वास करने के लिए संघर्ष और प्रयत्न में निहित नहीं है, वरन् वह साक्षात्कार है, वह केवल विश्वास कर लेना नहीं है, वह होना और बनना है।

इस प्रकार हिन्दुओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य है---सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, दिव्य बन जाना, ईश्वर को प्राप्त करना और उसके दर्शन कर लेना; और ईश्वर को इसी प्रकार प्राप्त करना, उसके दर्शन कर लेना, उस स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण हो जाना---हिन्दुओं का धर्म है।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता है? तब वह असीम परमानन्द का जीवन व्यतीत करता है। जिस एकमात्र वस्तु में मनुष्य को सुख पाना चाहिए, उसे अर्थात् ईश्वर को पाकर वह परम तथा असीम आनंद का उपभोग करता है और ईश्वर के साथ भी परमानन्द का आस्वादन करता है।

यहाँ तक सभी हिन्दू एकमत हैं। भारत के विविध संप्रदायों का यह सामान्य धर्म है। परन्तु पूर्ण निरपेक्ष होता है, और निरपेक्ष दो या तीन नहीं हो सकता। उसमें कोई गुण नहीं हो सकता, वह व्यक्ति नहीं हो सकता। अतः जब आत्मा पूर्ण और निरपेक्ष हो जाती है, तब वह ब्रह्म के साथ एक हो जाती है, और वह ईश्वर को केवल अपने ही स्वरूप की पूर्णता, सत्यता और सत्ता के रूप में ---परम सत्, परम चित्, परम आनन्द के रूप में---प्रत्यक्ष करती है। इसी साक्षात्कार के विषय में हम बारम्बार पढ़ा करते हैं कि इसमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खोकर जड़ता प्राप्त करता है या पत्थर के समान बन जाता है।

'जिन्हें चोट कभी नहीं लगी है, वे ही चोट के दाग की ओर हँसी की दृष्टि से देखते हैं।' मैं आपको बताता हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं होती। यदि इस एक क्षुद्र शरीर की चेतना से इतना आनंद होता है, तो दो शरीरों की चेतना का आनंद अधिक होना चाहिए, और उसी तरह क्रमशः अनेक शरीरों की चेतना के साथ साथ आनंद की मात्रा भी अधिकाधिक बढ़नी चाहिए, और विश्व-चेतना का बोध होने पर आनंद की परम अवस्था प्राप्त हो जायगी।

अतः उस असीम विश्व-व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए इस कारास्वरूप दुःखमय क्षुद्र व्यक्तित्व का अंत होना चाहिए। जब मैं प्राणस्वरूप से एक हो जाऊँगा, तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है; जब मैं आनन्दस्वरूप हो जाऊँगा, तभी दुःख का अंत हो सकता है; जब मैं ज्ञानस्वरूप हो जाऊँगा, तभी सब अज्ञान का अन्त हो सकता है, और यह अनिवार्य वैज्ञानिक निष्कर्ष भी है। विज्ञान ने मेरे निकट यह सिद्ध कर दिया है कि हमारा यह भौतिक व्यक्तित्व भ्रम मात्र है, वास्तव में मेरा यह शरीर एक अविच्छिन्न जड़सागर में एक क्षुद्र सदा परिवर्तित

होता रहनेवाला पिंड है, और मेरे दूसरे पक्ष---आत्मा के संबंध में अद्वैत ही अनिवार्य निष्कर्ष है।

विज्ञान एकत्व की खोज के सिवा और कुछ नहीं है। ज्यों ही कोई विज्ञान पूर्ण एकता तक पहुँच जायगा, त्यों ही उसकी प्रगति रुक जायगी; क्योंकि तब वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। उदाहरणार्थ रसायनशास्त्र यदि एक बार उस एक मूल तत्त्व का पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा। भौतिकशास्त्र जब उस एक मूल शक्ति का पता लगा लेगा, अन्य शक्तियाँ जिसकी अभिव्यक्ति हैं, तब वह वहीं रुक जायगा। वैसे ही, धर्मशास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त कर लेगा, जब वह उसको खोज लेगा, जो इस मृत्यु के इस लोक में एकमात्र जीवन है, जो इस परिवर्तनशील जगत् का शाश्वत आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है, अन्य सब आत्माएँ जिसकी प्रतीयमान अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार अनेकता और द्वैत में होते हुए इस परम अद्वैत की प्राप्ति होती है। धर्म इससे आगे नहीं जा सकता। यही समस्त विज्ञानों का चरम लक्ष्य है।

समग्र विज्ञान अन्ततः इसी निष्कर्ष पर अनिवार्यतः पहुँचेंगे। आज विज्ञान का शब्द अभिव्यक्ति है, सृष्टि नहीं; और हिन्दू को यह देखकर बड़ी प्रसन्नता है कि जिसको वह अपने अन्तस्तल में इतने युगों से महत्त्व देता रहा है, अब उसीकी शिक्षा अधिक सशक्त भाषा में विज्ञान के नूतनतम निष्कर्षों के अतिरिक्त प्रकाश में दी जा रही है।

अब हम दर्शन की अभीप्साओं से उतरकर ज्ञानरहित लोगों के धर्म की ओर आते हैं। यह मैं प्रारम्भ में ही आपको बता देना चाहता हूँ कि भारतवर्ष में अनेकेश्वरवाद नहीं है। प्रत्येक मन्दिर में यदि कोई खड़ा होकर सुने, तो वह यही पायेगा कि भक्तगण सर्वव्यापित्व आदि ईश्वर के सभी गुणों का आरोप उन मूर्तियों में करते हैं। यह अनेकेश्वरवाद नहीं है, और न एकदेववाद से ही इस स्थिति की व्याख्या हो सकती है। 'गुलाब को चाहे दूसरा कोई भी नाम क्यों न दे दिया जाय, पर वह सुगंधि तो वैसी ही मधुर देता रहेगा।' नाम ही व्याख्या नहीं होती।

बचपन की एक बात मुझे यहाँ याद आती है। एक ईसाई पादरी कुछ मनुष्यों की भीड़ जमा करके धर्मोपदेश कर रहा था। बहुतेरी मज़ेदार बातों के साथ वह पादरी यह भी कह गया, "अगर मैं तुम्हारी देवमूर्ति को एक डंडा लगाऊँ, तो वह मेरा क्या कर सकती है?" एक श्रोता ने चट चुभता सा जवाब दे डाला, "अगर मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दे दूँ, तो वह मेरा क्या कर सकता है?" पादरी

बोला, "मरने के बाद वह तुम्हें सजा देगा।" हिन्दू भी तनकर बोल उठा, "तुम मरोगे, तब ठीक उसी तरह हमारी देवमूर्ति भी तुम्हें दंड देगी।"

वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब मूर्तिपूजक कहे जानेवाले लोगों में मैं ऐसे मनुष्यों को पाता हूँ, जिनकी नैतिकता, आध्यात्मिकता और प्रेम अपना सानी नहीं रखते, तब मैं क जाता हूँ और अपने से यही पूछता हूँ---'क्या पाप से भी पवित्रता की उत्पत्ति हो सकती है?'

अंधविश्वास मनुष्य का महान् शत्रु है, पर धर्मान्धिता तो उससे भी वढ़कर है। ईसाई गिरजाघर क्यों जाता है? क्रूस क्यों पवित्र है? प्रार्थना के समय आकाश की ओर मुँह क्यों किया जाता है? कैथोलिक ईसाइयां के गिरजाघरों में इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? और प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों के मन में प्रार्थना के समय इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? मेरे भाइयो! मन में किसी मूर्ति के बिना आये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना श्वास लिये बिना जीवित रहना। साहचर्य के नियमानुसार भौतिक मूर्ति से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है, अथवा मन में भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्ति-विशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिए तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बतलायेगा कि यह बाह्य प्रतीक उसके मन को अपने ध्यान के विषय परमेश्वर में एकाग्रता से स्थिर रहने में सहायता देता है। वह भी यह बात उतनी ही अच्छी तरह से जानता है, जितना आप जानते हैं कि वह मूर्ति न तो ईश्वर ही है और न सर्वव्यापी ही। और सच पूछिए तो दुनिया के लोग 'सर्वव्यापित्व' का क्या अर्थ समझते हैं? वह तो केवल एक शब्द या प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? यदि नहीं, तो जिस समय हम सर्वव्यापी शब्द का उच्चारण करते हैं, उस समय विस्तृत आकाश या देश की ही कल्पना करने के सिवा हम और क्या करते हैं?

अपनी मानसिक संरचना के नियमानुसार, हमें किसी प्रकार अपनी अनंतता की भावना को नील आकाश या अपार समुद्र की कल्पना से सम्बद्ध करना पड़ता है; उसी तरह हम पवित्रता के भाव को अपने स्वभावानुसार गिरजाघर या मस्जिद या क्रूस से जोड़ लेते हैं। हिन्दू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि आदि भावों का सम्बन्ध विभिन्न मूर्तियों और रूपों से जोड़ते हैं? अन्तर यह है कि जहाँ अन्य लोग अपना सारा जीवन किसी गिरजाघर की मूर्ति की भक्ति में ही बिता देते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि उनके लिए तो धर्म का अर्थ यही है कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों को वे अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकृत कर लें और अपने मानव-बंधुओं की भलाई करते रहें---वहाँ एक हिन्दू की सारी धर्म-भावना प्रत्यक्ष अनुभूति या

आत्म-साक्षात्कार में केन्द्रीभूत होती है। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके दिव्य बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या ग्रन्थ तो धर्म-जीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र हैं; पर उसे उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए।

मनुष्य को कहीं पर रुकना नहीं चाहिए। शास्त्र का वाक्य है कि 'बाह्य पूजा या मूर्ति-पूजा सबसे नीचे की अवस्था है; आगे बढ़ने का प्रयास करते समय मानसिक प्रार्थना साधना की दूसरी अवस्था है, और सबसे उच्च अवस्था तो वह है, जब परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाय।'[1] देखिए, वही अनुरागी साधक, जो पहले मूर्ति के सामने प्रणत रहता था, अब क्या कह रहा है--'सूर्य उस परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता, न चन्द्रमा या तारागण ही; वह विद्युत्प्रभा भी परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती, तब इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! ये सभी उसी परमेश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं।'[2] पर वह किसीकी मूर्ति को गाली नहीं देता और न उसकी पूजा को पाप ही बताता है। वह तो उसे जीवन की एक आवश्यक अवस्था जानकर उसको स्वीकार करता है। 'बालक ही मनुष्य का जनक है।' तो क्या किसी वृद्ध पुरुष का बचपन या युवावस्था को पाप या बुरा कहना उचित होगा?

यदि कोई मनुष्य अपने दिव्य स्वरूप को मूर्ति की सहायता से अनुभव कर सकता है, तो क्या उसे पाप कहना ठीक होगा? और जब वह उस अवस्था के परे पहुँच गया है, तब भी उसके लिए मूर्ति-पूजा को भ्रमात्मक कहना उचित नहीं है। हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जा रहा है, वह तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार निम्नतम जड़-पूजावाद से लेकर सर्वोच्च अद्वैतवाद तक जितने धर्म हैं, वे सभी अपने अपने जन्म तथा साहचर्य की अवस्था द्वारा निर्धारित होकर उस असीम के ज्ञान तथा उपलब्धि के निमित्त मानवात्मा के विविध प्रयत्न हैं, और यह प्रत्येक प्रयत्न उन्नति की एक अवस्था को सूचित करता है। प्रत्येक जीव

---

१. **उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।**
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिःपूजाऽधमाधमा।। महानिर्वाण तंत्र ।।४।१२।।

२. **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं**
नेमा विद्युतो भान्तिं कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। कठोपनिषद् ।।२।२।१५।।

उस युवा गरुड़ पक्षी के समान है, जो धीरे धीरे ऊँचा उड़ता हुआ तथा अधिकाधिक शक्ति-संपादन करता हुआ अंत में उस भास्वर सूर्य तक पहुँच जाता है।

अनेकता में एकता प्रकृति का विधान है और हिन्दुओं ने इसे स्वीकार किया है। अन्य प्रत्येक धर्म में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है। वह समाज के सामने केवल एक कोट रख देता है, जो जैक, जॉन और हेनरी, सभी को ठीक होना चाहिए। यदि वह जॉन या हेनरी के शरीर में ठीक नहीं आता, तो उसे अपना तन ढँकने के लिए बिना कोट के ही रहना होगा। हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार, चिन्तन या वर्णन केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है, और मूर्तियाँ, क्रूस या नवोदित चन्द्र केवल विभिन्न प्रतीक हैं, वे मानो बहुत सी खूँटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ लटकायी जाती हैं। ऐसा नहीं है कि इन प्रतीकों की आवश्यकता हर एक के लिए हो, किन्तु जिनको अपने लिए इन प्रतीकों की सहायता की आवश्यकता नहीं है, उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं कि वे ग़लत हैं। हिन्दू धर्म में वे अनिवार्य नहीं हैं।

एक बात आपको अवश्य बतला दूँ। भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा कोई जघन्य बात नहीं है। वह व्यभिचार की जननी नहीं है। वरन् वह अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। अवश्य, हिन्दुओं के बहुतेरे दोष हैं, उनके कुछ अपने अपवाद हैं, पर यह ध्यान रखिए कि उनके वे दोष अपने शरीर को ही उत्पीड़ित करने तक सीमित हैं, वे कभी अपने पड़ोसियों का गला नहीं काटने जाते। एक हिन्दू धर्मान्ध भले ही चिता पर अपने आपको जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए 'इन्क्विज़िशन' की अग्नि कभी भी प्रज्वलित नहीं करेगा। और इस बात के लिए उसके धर्म को उससे अधिक दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जितना डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है।

अतः हिन्दुओं की दृष्टि में समस्त धर्म-जगत् भिन्न भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों की, विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा है, प्रगति है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव से एक ईश्वर का उद्भव कर रहा है, और वही ईश्वर उन सबका प्रेरक है। तो फिर इतने परस्पर विरोध क्यों हैं? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभासी हैं। उनकी उत्पत्ति सत्य के द्वारा भिन्न अवस्थाओं और प्रकृतियों के अनुरूप अपना समायोजन करते समय होती है।

वही एक ज्योति भिन्न भिन्न रंग के काँच में से भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होती है। समायोजन के लिए इस प्रकार की अल्प विविधता आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक

के अन्तस्तल में उसी सत्य का राज है। ईश्वर ने अपने कृष्णावतार में हिन्दुओं को यह उपदेश दिया है, 'प्रत्येक धर्म में मैं, मोती की माला में सूत्र की तरह पिरोया हुआ हूँ।'[1] 'जहाँ भी तुम्हें मानव-सृष्टि को उन्नत बनानेवाली और पावन करनेवाली अतिशय पवित्रता और असाधारण शक्ति दिखायी दे, तो जान लो कि वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ है।'[2] और इस शिक्षा का परिणाम क्या हुआ है? सारे संसार को मेरी यह चुनौती है कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक ऐसी उक्ति तो दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि केवल हिन्दुओं का ही उद्धार होगा और दूसरों का नहीं। व्यास कहते हैं, "हमारी जाति और सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व तक पहुँचे हुए मनुष्य हैं।"[3] एक बात और है। ईश्वर में ही अपने सभी भावों को केन्द्रित करनेवाला हिन्दू अज्ञेयवादी बौद्ध धर्म और निरीश्वरवादी जैन धर्म पर कैसे श्रद्धा रख सकता है?

यद्यपि बौद्ध तथा जैन ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, तथापि उनके धर्म की पूरी शक्ति प्रत्येक धर्म के महान् केन्द्रीय सत्य—मनुष्य में ईश्वरत्व—के विकास की ओर उन्मुख है। उन्होंने पिता को भले न देखा हो, पर पुत्र को अवश्य देखा है। और जिसने पुत्र को देख लिया, उसने पिता को भी देख लिया।

भाइयो! हिन्दुओं के धार्मिक विचारों की यही संक्षिप्त रूपरेखा है। हो सकता है कि हिन्दू अपनी सभी योजनाओं को कार्यान्वित करने में असफल रहा हो, पर यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म होना है, तो वह किसी देश या काल से सीमाबद्ध नहीं होगा, वह उस असीम ईश्वर के सदृश ही असीम होगा, जिसका वह उपदेश देगा; जिसका सूर्य श्री कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाश विकीर्ण करेगा, जो न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई और न इस्लाम, वरन् इन सबकी समष्टि होगा, किन्तु फिर भी जिसमें विकास के लिए अनंत अवकाश होगा; जो इतना उदार होगा कि पशुओं के स्तर से किंचित् उन्नत निम्नतम घृणित जंगली मनुष्य से लेकर अपने हृदय और मस्तिष्क के गुणों के कारण मानवता से इतना ऊपर उठ गये उच्चतम मनुष्य तक को, जिसके प्रति सारा समाज श्रद्धानत हो जाता है और लोग जिसके मनुष्य होने में सन्देह करते हैं, अपनी बाहुओं से आलिंगन कर सके और उनमें सबको स्थान दे सके। वह धर्म ऐसा

---

१. मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ गीता ॥७।७॥

२. यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ गीता ॥१०।४१॥

३. अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः॥ वेदान्त सूत्र ॥३।४।३६॥

होगा, जिसकी नीति में उत्पीड़न या असहिष्णुता का स्थान नहीं होगा; वह प्रत्येक स्त्री और पुरुष में दिव्यता को स्वीकार करेगा और उसका संपूर्ण बल और सामर्थ्य मानवता को अपनी सच्ची, दिव्य प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित होगा।

आप ऐसा ही धर्म सामने रखिए, और सारे राष्ट्र आपके अनुयायी बन जायँगे। सम्राट् अशोक की परिषद् बौद्ध परिषद् थी। अकबर की परिषद् अधिक उपयुक्त होती हुई भी, केवल बैठक की ही गोष्ठी थी। किन्तु पृथ्वी के कोने कोने में यह घोषणा करने का गौरव अमेरिका के लिए ही सुरक्षित था कि 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर है।'

वह, जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुर्मज़्द, बौद्धों का बुद्ध, यहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको अपने उदार उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे! नक्षत्र पूर्व गगन में उदित हुआ और कभी धुँधला और कभी देदीप्यमान होते धीरे धीरे पश्चिम की ओर यात्रा करते करते उसने समस्त जगत् की परिक्रमा कर डाली और अब वह फिर प्राची के क्षितिज में सहस्र गुनी अधिक ज्योति के साथ उदित हो रहा है!

ऐ स्वाधीनता की मातृभूमि कोलम्बिया[1], तू धन्य है! यह तेरा ही सौभाग्य है कि तूने अपने पड़ोसियों के रक्त से अपने हाथ कभी नहीं भिगोये, तूने अपने पड़ोसियों का सर्वस्व हरण कर सहज में ही धनी और सम्पन्न होने की चेष्टा नहीं की, अतएव समन्वय की ध्वजा फहराते हुए सभ्यता की अग्रणी होकर चलने का सौभाग्य तेरा ही था।

धर्म : भारत की प्रधान आवश्यकता नहीं

(२० सितंबर, १८९३ ई०)

ईसाइयों को सत् आलोचना सुनने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए, और मुझे विश्वास है कि यदि मैं आप लोगों की कुछ आलोचना करूँ, तो आप बुरा न मानेंगे। आप ईसाई लोग जो मूर्तिपूजकों की आत्मा का उद्धार करने के निमित्त अपने धर्म-प्रचारकों को भेजने के लिए इतने उत्सुक रहते हैं, उनके शरीरों को भूख से मर जाने से बचाने के लिए कुछ क्यों नहीं करते? भारतवर्ष में जब भयानक

१. अमेरिका का दूसरा नाम। कोलम्बस ने इसका आविष्कार किया था, इसलिए इसका नाम कोलम्बिया पड़ा। स०

अकाल पड़ा था, तो सहस्रों और लाखों हिन्दू क्षुधा से पीड़ित होकर मर गये; पर आप ईसाइयों ने उनके लिए कुछ नहीं किया। आप लोग सारे हिन्दुस्तान में गिरजे बनाते हैं; पर पूर्व का प्रधान अभाव धर्म नहीं है, उनके पास धर्म पर्याप्त है—जलते हुए हिन्दुस्तान के लाखों दुःखार्त भूखे लोग सूखे गले से रोटी के लिए चिल्ला रहे हैं। वे हमसे रोटी माँगते हैं, और हम उन्हें देते हैं पत्थर! क्षुधातुरों को धर्म का उपदेश देना उनका अपमान करना है, भूखों को दर्शन सिखाना उनका अपमान करना है। भारतवर्ष में यदि कोई पुरोहित द्रव्य-प्राप्ति के लिए धर्म का उपदेश करे, तो वह जाति से च्युत कर दिया जायगा और लोग उस पर थूकेंगे। मैं यहाँ पर अपने दरिद्र भाइयों के निमित्त सहायता माँगने आया था, पर मैं यह पूरी तरह समझ गया हूँ कि मूर्तिपूजकों के लिए ईसाई-धर्मावलम्बियों से, और विशेषकर उन्हींके देश में, सहायता प्राप्त करना कितना कठिन है।

बौद्ध धर्म : हिन्दू धर्म की निष्पत्ति

(२६ सितम्बर, १८९३ ई०)

मैं बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं हूँ, जैसा कि आप लोगों ने सुना है, पर फिर भी मैं बौद्ध हूँ। यदि चीन, जापान अथवा सीलोन उस महान् तथागत के उपदेशों का अनुसरण करते हैं, तो भारतवर्ष उन्हें पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानकर उनकी पूजा करता है। आपने अभी अभी सुना कि मैं बौद्ध धर्म की आलोचना करनेवाला हूँ, परन्तु उससे आपको केवल इतना ही समझना चाहिए। जिनको मैं इस पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानता हूँ, उनकी आलोचना! मुझसे यह सम्भव नहीं। परन्तु बुद्ध के विषय में हमारी धारणा यह है कि उनके शिष्यों ने उनकी शिक्षाओं को ठीक ठीक नहीं समझा। हिन्दू धर्म (हिन्दू धर्म से मेरा तात्पर्य वैदिक धर्म है) और जो आजकल बौद्ध धर्म कहलाता है, उनमें आपस में वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा यहूदी तथा ईसाई धर्मों में। ईसा मसीह यहूदी थे और शाक्य मुनि हिन्दू। यहूदियों ने ईसा को केवल अस्वीकार ही नहीं किया, उन्हें सूली पर भी चढ़ा दिया, हिन्दुओं ने शाक्य मुनि को ईश्वर के रूप में ग्रहण किया है और वे उनकी पूजा करते हैं। किन्तु प्रचलित बौद्ध धर्म में तथा बुद्धदेव की शिक्षाओं में जो वास्तविक भेद हम हिन्दू लोग दिखलाना चाहते हैं, वह विशेषतः यह है कि शाक्य मुनि कोई नयी शिक्षा देने के लिए अवतीर्ण नहीं हुए थे। वे भी ईसा के समान धर्म की सम्पूर्ति के लिए आये थे, उसका विनाश करने नहीं। अन्तर इतना ही था कि जहाँ ईसा को प्राचीन यहूदी नहीं समझ पाये, वहाँ बुद्धदेव की शिक्षाओं के महत्त्व को स्वयं उनके

शिष्य ही अवगत नहीं कर पाये। जिस प्रकार यहूदी प्राचीन व्यवस्थान की निष्पत्ति नहीं समझ सके, उसी प्रकार बौद्ध भी हिन्दू धर्म के सत्यों की निष्पत्ति को नहीं समझ पाये। मैं यह बात फिर से दुहराना चाहता हूँ कि शाक्य मुनि ध्वंस करने नहीं आये थे, वरन् वे हिन्दू धर्म की निष्पत्ति थे, उसकी तार्किक परिणति और उसके युक्ति-संगत विकास थे।

हिन्दू धर्म के दो भाग हैं--कर्मकांड और ज्ञानकांड। ज्ञानकांड का विशेष अध्ययन संन्यासी लोग करते हैं।

ज्ञानकांड में जाति-भेद नहीं है। भारतवर्ष में उच्च अथवा नीच जाति के लोग संन्यासी हो सकते हैं, और तब दोनों जातियाँ समान हो जाती हैं। धर्म में जाति-भेद नहीं है; जाति तो एक सामाजिक संस्था मात्र है। शाक्य मुनि स्वयं संन्यासी थे, और यह उनकी ही गरिमा है कि उनका हृदय इतना विशाल था कि उन्होंने अप्राप्य वेदों से सत्यों को निकालकर उनको समस्त संसार में विकीर्ण कर दिया। इस जगत् में सबसे पहले वे ही ऐसे हुए, जिन्होंने धर्म-प्रचार की प्रथा चलायी--इतना ही नहीं, वरन् मनुष्य को दूसरे धर्म से अपने धर्म में दीक्षित करने का विचार भी सबसे पहले उन्हींके मन में उदित हुआ।

सर्वभूतों के प्रति, और विशेषकर अज्ञानी तथा दीन जनों के प्रति अद्भुत सहानुभूति में ही तथागत का महान् गौरव सन्निहित है। उनके कुछ शिष्य ब्राह्मण थे। बुद्ध के धर्मोपदेश के समय संस्कृत भारत की जनभाषा नहीं रह गयी थी। वह उस समय केवल पंडितों के ग्रंथों की ही भाषा थी। बुद्धदेव के कुछ ब्राह्मण शिष्यों ने उनके उपदेशों का अनुवाद संस्कृत भाषा में करना चाहा था, पर बुद्धदेव उनसे सदा यही कहते, "मैं दरिद्र और साधारण जनों के लिए आया हूँ, अतः जनभाषा में ही मुझे बोलने दो।" और इसी कारण उनके अधिकांश उपदेश अब तक भारत की तत्कालीन लोकभाषा में पाये जाते हैं।

दर्शनशास्त्र का स्थान चाहे जो भी हो, तत्त्वज्ञान का स्थान चाहे जो भी हो, पर जब तक इस लोक में मृत्यु नाम की वस्तु है, जब तक मानव-हृदय में दुर्बलता जैसी वस्तु है, जब तक मनुष्य के अन्तःकरण से उसका दुर्बलताजनित करुण क्रन्दन बाहर निकलता है, तब तक इस संसार में ईश्वर में विश्वास भी क़ायम रहेगा।

जहाँ तक दर्शन की बात है, तथागत के शिष्यों ने वेदों की सनातन चट्टानों पर बहुत हाथ-पैर पटके, पर वे उसे तोड़ न सके और दूसरी ओर उन्होंने जनता के बीच से उस सनातन परमेश्वर को उठा लिया, जिसमें हर नर-नारी इतने अनुराग से आश्रय लेता है। फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म को भारतवर्ष में स्वाभाविक मृत्यु

प्राप्त करनी पड़ी और आज इस धर्म की जन्मभूमि भारत में अपने को बौद्ध कहनेवाली एक भी स्त्री या पुरुष नहीं है।

किन्तु इसके साथ ही ब्राह्मण धर्म ने भी कुछ खोया---समाज-सुधार का वह उत्साह, प्राणिमात्र के प्रति वह आश्चर्यजनक सहानुभूति और करुणा, तथा वह अद्भुत रसायन, जिसे बौद्ध धर्म ने जन जन को प्रदान किया था एवं जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज इतना महान् हो गया था कि तत्कालीन भारत के सम्बन्ध में लिखनेवाले एक यूनानी इतिहासकार को यह लिखना पड़ा कि एक भी ऐसा हिन्दू नहीं दिखायी देता, जो मिथ्या-भाषण करता हो; एक भी ऐसी हिन्दू नारी नहीं है, जो पतिव्रता न हो।

हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के बिना ही। तब यह देखिए कि हमारे पारस्परिक पार्थक्य ने यह स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है कि बौद्ध, ब्राह्मणों के दर्शन और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते, और न ब्राह्मण बौद्धों के विशाल हृदय के बिना। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह पार्थक्य भारतवर्ष के पतन का कारण है। यही कारण है कि आज भारत में तीस करोड़ भिखमंगे निवास करते हैं, और वह एक सहस्र वर्षों से विजेताओं का दास बना हुआ है। अतः आइए, हम ब्राह्मणों की इस अपूर्व मेधा के साथ तथागत के हृदय, महानुभावता और अद्भुत लोकहितकारी शक्ति को मिला दें।

अंतिम अधिवेशन में भाषण

(२७ सितंबर, १८९३ ई०)

विश्व-धर्म-महासभा एक मूर्तिमान तथ्य सिद्ध हो गयी है और दयामय प्रभु ने उन लोगों की सहायता की है, जिन्होंने इसका आयोजन किया तथा उनके परम निःस्वार्थ श्रम को सफलता से विभूषित किया है।

उन महानुभावों को मेरा धन्यवाद है, जिनके विशाल हृदय तथा सत्य के प्रति अनुराग ने पहले इस अद्भुत स्वप्न को देखा और फिर उसे कार्यरूप में परिणत किया। उन उदार भावों को मेरा धन्यवाद, जिनसे यह सभामंच आप्लावित होता रहा है। इस प्रबुद्ध श्रोतृमंडली को मेरा धन्यवाद, जिसने मुझ पर अविकल कृपा रखी है और जिसने मत-मतान्तरों के मनोमालिन्य को हल्का करने का प्रयत्न करनेवाले प्रत्येक विचार का सत्कार किया है। इस समसुरता में कुछ बेसुरे स्वर भी बीच बीच में सुने गये हैं। उन्हें मेरा विशेष धन्यवाद, क्योंकि उन्होंने अपने स्वर-वैचित्र्य से इस समरसता को और भी मधुर बना दिया है।

धार्मिक एकता की सर्वसामान्य भित्ति के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। इस समय मैं इस सम्बन्ध में अपना मत आपके समक्ष नहीं रखूँगा। किंतु यदि यहाँ कोई यह आशा कर रहा है कि यह एकता किसी एक धर्म की विजय और बाक़ी सब धर्मों के विनाश से सिद्ध होगी, तो उनसे मेरा कहना है कि 'भाई, तुम्हारी यह आशा असम्भव है।' क्या मैं यह चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दू हो जायँ? कदापि नहीं, ईश्वर ऐसा न करे! क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दू या बौद्ध लोग ईसाई हो जायँ? ईश्वर इस इच्छा से बचाये!

बीज भूमि में बो दिया गया और मिट्टी, वायु तथा जल उसके चारों ओर रख दिये गये। तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है, अथवा वायु या जल बन जाता है? नहीं; वह तो वृक्ष ही होता है, वह अपनी वृद्धि के नियम से ही बढ़ता है—वायु, ज़ल और मिट्टी को अपने में पचाकर, उनको उद्‌भिज पदार्थ में परिवर्तित करके एक वृक्ष हो जाता है।

ऐसा ही धर्म के संबंध में भी है। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए, और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात करके पुष्टि-लाभ करे और अपने वैशिष्टय की रक्षा करते हुए अपनी निजी वृद्धि के नियम के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।

इस धर्म-महासभा ने जगत् के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है, तो वह यह है: उसने यह सिद्ध कर दिया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी संप्रदायविशेष की ऐकान्तिक सम्पत्ति नहीं है, एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ एवं अतिशय उन्नत-चरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद भी यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जायँगे और केवल उसका धर्म ही जीवित रहेगा, तो उस पर मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बतलाये देता हूँ कि शीघ्र ही, सारे प्रतिरोधों के बावजूद, प्रत्येक धर्म की पताका पर यह लिखा रहेगा—'सहायता करो, लड़ो मत'; 'पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश'; 'समन्वय और शांति, न कि मतभेद और कलह!'

कर्मयोग का आदर्श

वेदान्त धर्म का सबसे उदात्त तथ्य यह है कि हम एक ही लक्ष्य पर भिन्न भिन्न मार्गों से पहुँच सकते हैं। मैंने इन मार्गों को साधारण रूप से चार वर्गों में विभाजित किया है और वे हैं--कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग, योगमार्ग और ज्ञानमार्ग। परन्तु साथ ही तुम्हें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये विभाग अत्यन्त तीक्ष्ण और एक दूसरे से नितांत पृथक् नहीं हैं। प्रत्येक का तिरोभाव दूसरे में हो जाता है। किन्तु प्रकार के प्राधान्य के अनुसार ही ये विभाग किये गये हैं। ऐसी बात नहीं कि तुम्हें कोई ऐसा व्यक्ति मिल सकता है, जिसमें कर्म करने के अतिरिक्त दूसरी कोई क्षमता न हो, अथवा जो अनन्य भक्त होने के अतिरिक्त और कुछ न हो, अथवा जिनके पास मात्र ज्ञान के सिवा और कुछ न हो। ये विभाग केवल मनुष्य की प्रधान प्रवृत्ति अथवा गुणप्राधान्य के अनुसार किये गये हैं। हमने देखा है कि अन्त में ये सब मार्ग एक ही लक्ष्य में जाकर एक हो जाते हैं। सारे धर्म तथा कर्म और उपासना की सारी साधन-प्रणालियाँ हमें उसी एक लक्ष्य की ओर ले जाती हैं।

वह चरम लक्ष्य क्या है, यह बताने का यत्न मैं पहले ही कर चुका हूँ। जहाँ तक मैं समझता हूँ, वह है मुक्ति। एक परमाणु से लेकर मनुष्य तक, जड़-तत्त्व के अचेतन प्राणहीन कण से लेकर इस पृथ्वी की सर्वोच्च सत्ता--मानवात्मा तक, जो कुछ हम इस विश्व में प्रत्यक्ष करते हैं, वे सब मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं। असल में यह समग्र विश्व इस मुक्ति के लिए संघर्ष का ही परिणाम है। हर मिश्रण में प्रत्येक अणु दूसरे परमाणुओं से पृथक् होकर अपने स्वतन्त्र पथ पर जाने की चेष्टा कर रहा है, पर दूसरे उसे आबद्ध करके रखे हुए हैं। हमारी पृथ्वी सूर्य से दूर भागने की चेष्टा कर रही है तथा चन्द्रमा, पृथ्वी से। प्रत्येक वस्तु में अनन्त विस्तार की प्रवृत्ति है। इस विश्व में हम जो कुछ देखते हैं, उस सबका मूल आधार मुक्ति-लाभ के लिए यह संघर्ष ही है। इसीकी प्रेरणा से साधु प्रार्थना करता है और डाकू लूटता है। जब कार्य-विधि अनुचित होती है, तो उसे हम अशुभ कहते हैं और जब उसकी अभिव्यक्ति उचित तथा उच्च होती है, तो उसे हम शुभ कहते हैं। परन्तु दोनों दशाओं में प्रेरणा एक ही होती है, और वह है मुक्ति के लिए संघर्ष। साधु अपनी बद्ध दशा को सोचकर कातर हो उठता है;

वह उससे छुटकारा पाने की इच्छा करता है, और इसलिए ईश्वरोपासना करता है। चोर यह सोचकर कातर होता है कि उसके पास अमुक वस्तुएँ नहीं हैं, वह उस अभाव से छुटकारा पाने की---उससे मुक्त होने की---कामना करता है, और इसीलिए चोरी करता है। चेतन अथवा अचेतन समस्त प्रकृति का लक्ष्य यह मुक्ति ही है, और जाने या अनजाने सारा जगत् इसी लक्ष्य की ओर पहुँचने का यत्न कर रहा है। किंतु जिस मुक्ति की खोज एक साधु करता है, वह उस मुक्ति से बहुत भिन्न होती है, जिसकी खोज डाकू करता है। साधु जिस मुक्ति को चाहता है, उससे अनन्त अनिर्वचनीय आनन्द का अधिकारी हो जाता है, परन्तु डाकू की इष्ट मुक्ति उसकी आत्मा के लिए दूसरे पाशों की सृष्टि कर देती है।

प्रत्येक धर्म में मुक्ति-लाभ की इस प्रकार चेष्टा की अभिव्यक्ति पायी जाती है। यही सारी नैतिकता की, सारी निःस्वार्थपरता की नींव है। निःस्वार्थपरता का अर्थ है---मनुष्य अपना क्षुद्र शरीर ही है, इस भाव से परे होना। जब हम किसी मनुष्य को कोई सत्-कार्य करते, दूसरों की सहायता करते देखते हैं, तो उसका तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति को 'मैं और मेरे' के क्षुद्र वृत्त में आबद्ध करके नहीं रखा जा सकता। इस स्वार्थपरता से बाहर निकल आने की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। सारा श्रेष्ठ नीतिशास्त्र यही शिक्षा देता है कि सम्पूर्ण निःस्वार्थपरता ही चरम लक्ष्य है। मान लो, किसी मनुष्य ने इस सम्पूर्ण निःस्वार्थपरता को प्राप्त कर लिया, तो फिर उसकी क्या दशा हो जाती है? फिर वह अमुक अमुक नामवाला पहले का क्षुद्र व्यक्ति नहीं रह जाता, वह अनन्त विस्तार प्राप्त कर लेता है। फिर उसका पहले का वह क्षुद्र व्यक्तित्व सदा के लिए नष्ट हो जाता है---अब वह अनन्तस्वरूप हो जाता है, और इस अनन्त विकास की प्राप्ति ही असल में समस्त दार्शनिक एवं नैतिक शिक्षाओं का लक्ष्य है। व्यक्तित्ववादी जब इस तत्त्व को दार्शनिक रूप में रखा हुआ देखता है, तो वह सिहर उठता है। परन्तु जब वह नैतिकता की शिक्षा देता है, तो वह स्वयं इसी तत्त्व का ही प्रचार करता है। वह भी मनुष्य की निःस्वार्थपरता की कोई सीमा निर्दिष्ट नहीं करता। मान लो, इस व्यक्तित्ववाद के अनुसार कोई मनुष्य सम्पूर्ण रूप से निःस्वार्थी हो जाय, तो हम उसको अन्य सम्प्रदायों के पूर्ण सिद्ध व्यक्तियों से किस प्रकार भिन्न मान सकेंगे? वह तो विश्व के साथ एकरूप हो गया है; और इस प्रकार एकरूप हो जाना ही तो सबका लक्ष्य है। केवल बेचारे व्यक्तित्ववादी में इतना साहस नहीं कि वह अपनी युक्तियों का अनुसरण उनके यथार्थ निष्कर्ष पर पहुँचने तक कर सके। निःस्वार्थ कर्म द्वारा मानव जीवन के चरम लक्ष्य, इस मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही कर्मयोग है। अतएव हमारा प्रत्येक स्वार्थपूर्ण कार्य अपने इस लक्ष्य तक हमारे पहुँचने में बाधक होता

है, तथा प्रत्येक निःस्वार्थ कर्म हमें उसकी ओर आगे बढ़ाता है। इसीलिए नैतिकता की यही एकमात्र परिभाषा हो सकती है कि "जो स्वार्थी है, वह, 'अनैतिक' है और जो निःस्वार्थी है, वह 'नैतिक' है।"

परन्तु यदि हम ब्योरों की मीमांसा करें, तो विषय इतना सरल नहीं रह जायगा, जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, परिवेश ब्योरों में विविधता ला देता है। एक परिस्थिति में जो कार्य निःस्वार्थ होता है, वही किसी दूसरी परिस्थिति में बिल्कुल स्वार्थी हो जा सकता है। अतः कर्तव्य की हम केवल एक साधारण परिभाषा ही दे सकते हैं; परन्तु ब्योरों को देश-काल-परिस्थिति से निर्धारित होने के लिए छोड़ दे सकते हैं। एक देश में एक प्रकार का आचरण नैतिक माना जाता है, परन्तु वही किसी दूसरे देश में अनैतिक माना जायगा, क्योंकि परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं। समस्त प्रकृति का अन्तिम ध्येय मुक्ति है और यह मुक्ति केवल पूर्ण निःस्वार्थता द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक स्वार्थशून्य कार्य, वचन और विचार, हमें इसी ध्येय की ओर ले जाता है, और इसीलिए हम उसे नैतिक कहते हैं। यह परिभाषा प्रत्येक धर्म एवं प्रत्येक नीतिशास्त्र में मान्य है। कुछ दर्शनों में नैतिकता को एक परम पुरुष ईश्वर से प्रसूत मानते हैं। यदि तुम पूछो कि हमें अमुक कार्य क्यों करना चाहिए, अमुक क्यों नहीं, तो वह उत्तर देगा, "ईश्वर का ऐसा ही आदेश है।" इस नैतिक विधान का मूल चाहे जो हो, पर उसका भी सार यही है कि 'स्व' की चिन्ता न करो, 'स्व' का त्याग करो। परन्तु फिर भी, नैतिकता की इस उच्च धारणा के बावजूद अनेक व्यक्ति अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्व के त्याग करने की कल्पना से सिहर उठते हैं। जो मनुष्य अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्व से जकड़ा रहना चाहता है, उससे हम पूछ सकते हैं, "अच्छा, ज़रा ऐसे पुरुष की ओर तो देखो, जो नितान्त निःस्वार्थी हो गया है, जिसकी अपने स्वयं के लिए कोई चिन्ता नहीं है, जो अपने लिए कोई भी कार्य नहीं करता, जो अपने लिए एक शब्द भी नहीं कहता; और फिर बताओ कि उसका 'निजत्व' कहाँ है?" जब तक वह अपने स्वयं के लिए विचार करता है, कोई कार्य करता है या कुछ कहता है, तभी तक उसे अपने 'निजत्व' का बोध रहता है। परन्तु यदि उसे केवल दूसरों के सम्बन्ध में ध्यान है, जगत् के सम्बन्ध में ध्यान है, तो फिर उसका 'निजत्व' भला कहाँ रहा? उसका तो सदा के लिए लोप हो चुका है।

अतएव, कर्मयोग, निःस्वार्थपरता और सत्कर्म द्वारा मुक्ति-लाभ करने का एक धर्म और नीतिशास्त्र है। कर्मयोगी को किसी भी प्रकार सिद्धान्त में विश्वास करने की आवश्यकता नहीं। वह ईश्वर में भी चाहे विश्वास करे अथवा न करे,

आत्मा के सम्बन्ध में भी अनुसन्धान करे या न करे, किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी करे अथवा न करे, इससे कुछ बनता-विगड़ता नहीं। उसके सम्मुख उसका अपना लक्ष्य रहता है—निःस्वार्थता की उपलब्धि और उसको अपने प्रयत्न द्वारा ही उसे प्राप्त करना होता है। उसके जीवन का प्रत्येक क्षण साक्षात्कार का होना चाहिए, क्योंकि उसे किसी मत या सिद्धान्त की सहायता लिये बिना अपनी समस्या का समाधान केवल कर्म द्वारा ही करना होता है, जब कि ज्ञानी उसी समस्या का समाधान अपने ज्ञान और अन्तःस्फुरण द्वारा तथा भक्त अपनी भक्ति द्वारा करता है।

अब दूसरा प्रश्न आता है: यह कर्म क्या है? संसार के प्रति उपकार करने का क्या अर्थ है? क्या हम सचमुच संसार का कोई उपकार कर सकते हैं? उपकार का अर्थ यदि 'निरपेक्ष उपकार' लिया जाय, तो उत्तर है—नहीं; परन्तु सापेक्ष दृष्टि से—हाँ। संसार के प्रति ऐसा कोई भी उपकार नहीं किया जा सकता, जो चिरस्थायी हो। यदि ऐसा कभी सम्भव होता, तो यह संसार इस रूप में कभी न रहता, जैसा उसे हम आज देख रहे हैं। हम किसी मनुष्य की भूख अल्प समय के लिए भले ही शान्त कर दें, परन्तु बाद में वह फिर भूखा हो जायगा। किसी व्यक्ति को हम जो भी कुछ सुख दे सकते हैं, वह क्षणिक ही होता है। सुख और दुःख के इस संतत ज्वर का कोई भी सदा के लिए उपचार नहीं कर सकता। क्या संसार को हम कोई चिरन्तन सुख दे सकते हैं? समुद्र के जल में बिना किसी एक जगह गर्त पैदा किये हम एक भी लहर नहीं उठा सकते। इस संसार में मनुष्य की आवश्यकता और उसके लोभ से संबंधित शुभ वस्तुओं की समष्टि सदैव समान रहती है। वह न तो कम की जा सकती है, न अधिक। हम मानव-जाति का इतिहास ही ले लें, जैसा वह हमें आज ज्ञात है। क्या हमें सदैव वही सुख-दुःख, वही हर्ष-विषाद तथा अधिकार का वही तारतम्य नहीं दिखायी देता? क्या कुछ लोग अमीर, कुछ ग़रीब, कुछ बड़े, कुछ छोटे, कुछ स्वस्थ, तो कुछ रोगी नहीं हैं? ये सब ऐसा ही प्राचीन काल में मिस्रवासियों, यूनानियों और रोमनों के साथ सत्य था, और वैसा ही आज अमेरिकावालों के साथ भी। जहाँ तक हमें इतिहास का ज्ञान है, यही दशा सदैव रहती है; परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि सुख-दुःख की इस असाध्य भिन्नता के होते हुए भी साथ ही साथ उसे घटाने के प्रयत्न भी सदैव होते रहे हैं। इतिहास के प्रत्येक युग में ऐसे हज़ारों स्त्री-पुरुष हुए हैं, जिन्होंने दूसरों का जीवन-पथ सुगम बनाने के लिए अविरत परिश्रम किया। किंतु इसमें वे कहाँ तक सफल हो सके? हम तो केवल एक गेंद को एक जगह से दूसरी जगह फेंकने का खेल खेल सकते हैं। हम यदि शरीर से दुःख को निकाल फेंकते

हैं, तो वह मन में जा बैठता है। यह दाँते के उस नरक-चित्र जैसा है---जिसमें कंजूसों को सोने का एक बड़ा गोला दिया गया है और उनसे उस गोले को पहाड़ के ऊपर ढकेलकर चढ़ाने के लिए कहा गया है। परन्तु प्रत्येक बार ज्यों ही वे उसे थोड़ा सा ऊपर ढकेल पाते हैं कि वह लुढ़ककर नीचे आ जाता है! इसी प्रकार यह संसार-चक्र घूम रहा है। सतयुग के सम्बन्ध में हमारी बातें स्कूल के बच्चों के लिए क़िस्से-कहानी के समान बहुत सुन्दर हैं, उससे अधिक वे और कुछ नहीं। जो जातियाँ सतयुग का लुभावना स्वप्न देखा करती हैं, वे अपने मन में यह भावना रखती हैं कि उस सतयुग के आने पर संसार की अन्य जातियों की अपेक्षा शायद उन्हें उसका सबसे अधिक लाभ मिले! सतयुग के सम्बन्ध में यह क्या आश्चर्यजनक निःस्वार्थ भाव है!

हम इस संसार में सुख को नहीं बढ़ा सकते, और न दुःख को ही। इस संसार में शुभ और अशुभ शक्तियों की समष्टि सदैव समान रहेगी। हम उसे सिर्फ़ यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ ढकेलते रहते हैं; परन्तु यह निश्चित है कि वह सदैव समान रहेगी, क्योंकि वैसा रहना ही उसका स्वभाव है। ज्वार-भाटा, यह चढ़ाव-उतार तो संसार की प्रकृति ही है। इसके विपरीत सोचना तो वैसा ही युक्तिसंगत होगा, जैसा यह कहना कि मृत्यु बिना जीवन के सम्भव है। ऐसा कहना निरी मूर्खता है, क्योंकि जीवन कहने से ही मृत्यु का बोध होता है, और सुख कहने से दुःख का। दीपक सतत जलकर समाप्त होता जा रहा है, और यही उसका जीवन है। यदि तुम्हें जीवन की अभिलाषा हो, तो उसके लिए तुम्हें प्रतिक्षण मरना होगा। जीवन और मृत्यु एक ही चीज़ की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं---केवल अलग अलग दृष्टिकोणों से भिन्न भिन्न दिखायी मात्र देती हैं। वे एक ही तरंग के उत्थान और पतन हैं, और दोनों को मिलाने से ही एक सम्पूर्ण वस्तु बनती है। एक व्यक्ति पतन को देखता है और निराशावादी बन जाता है; दूसरा उत्थान देखता है और आशावादी बन जाता है। बालक पाठशाला जाता है, माता-पिता उसकी पूरी देख-भाल करते हैं; तब उसे हर एक वस्तु सुखप्रद मालूम होती है। उसकी आवश्यकताएँ बिल्कुल साधारण हुआ करती हैं, वह बड़ा आशावादी बन जाता है। पर एक वृद्ध को देखो, जिसे संसार के अनेक अनुभव हो चुके हैं;---वह अपेक्षाकृत शान्त हो जाता है और उसकी गर्मी काफ़ी ठंडी पड़ जाती है। इसी प्रकार, वे प्राचीन जातियाँ, जिन्हें चारों ओर क्षय के चिह्न ही दृष्टिगोचर होते हैं, स्वभावतः नूतन जातियों की अपेक्षा कम आशावादी होती हैं। भारत में एक कहावत है, 'हज़ार वर्ष तक शहर और फिर हज़ार वर्ष तक जंगल।' शहर का जंगल में तथा जंगल का शहर में, इस

प्रकार परिवर्तन सर्वत्र ही होता रहता है, और लोग इसको जिस पहलू से देखते हैं, उसीके अनुसार वे आशावादी या निराशावादी बन जाते हैं ।

इसके बाद अब हम समता के सम्बन्ध में विचार करेंगे । उपर्युक्त सतयुग सम्बन्धी धारणाएँ कार्य की महती प्रेरणाएँ रही हैं। बहुत से धर्म इसका अपने धर्म के एक अंग के रूप में प्रचार किया करते हैं। उनकी धारणा है कि परमेश्वर इस जगत् का शासन करने के लिए स्वयं आ रहे हैं, और उनके आने पर किसी प्रकार का अवस्था-भेद नहीं रह जायगा । जो लोग इस बात का प्रचार करते हैं, वे केवल मात्र धर्मान्ध हैं, किन्तु धर्मान्ध मानवता के सर्वाधिक ईमानदार व्यक्ति होते हैं। ईसाई धर्म का प्रचार इसी मोहक धर्मान्धता के आधार पर हुआ था और यही कारण है कि यूनानी एवं रोमन गुलाम इसकी ओर इतने आकृष्ट हुए थे । उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि इस सतयुगी धर्म में गुलामी बिल्कुल न रह जायगी, अन्न-वस्त्र की भी बिल्कुल कमी न रहेगी; और इसीलिए वे हज़ारों की तादाद में ईसाई होने लगे । जिन ईसाइयों ने इस भाव का प्रथम प्रचार किया, वे वास्तव में अज्ञानी धर्मान्ध व्यक्ति थे, परन्तु उनका विश्वास निष्कपट था। आजकल के ज़माने में इसी सतयुगी भावना ने समता-स्वाधीनता-बन्धुतावाली समता का रूप धारण कर लिया है। पर यह भी एक धर्मान्धता है । यथार्थ समता न तो कभी संसार में हुई है, और न कभी होने की आशा है। यहाँ हम सब समान हो ही कैसे सकते हैं? इस प्रकार की असम्भव समता का फल तो बिल्कुल मृत्यु ही होगा ! यह जगत् जैसा है, वैसा क्यों है? नष्ट संतुलन के कारण। आद्यावस्था में,—जिसे प्रलय कहा जाता है—पूर्ण संतुलन हो सकता है । तब फिर इन सब निर्माणशील विभिन्न शक्तियों का उद्भव किस प्रकार होता है ?—विरोध, प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वन्द्विता द्वारा ही। मान लो कि संसार के सब भौतिक परमाणु सम्पूर्ण साम्यावस्था में स्थित हो जायँ—तो फिर क्या सृष्टि की प्रक्रिया हो सकेगी? विज्ञान हमें सिखाता है कि यह असम्भव है। स्थिर जल को हिला दो; तुम देखोगे कि प्रत्येक जलकण फिर से स्थिर होने की चेष्टा करता है, एक दूसरे की ओर इसी हेतु दौड़ता है। इसी प्रकार इस जगत्-प्रपंच में समस्त शक्तियाँ एवं समस्त पदार्थ अपने नष्ट पूर्ण साम्यभाव को पुनः प्राप्त करने के लिए चेष्टा कर रहे हैं। पुनः वैषम्यावस्था आती है और उससे पुनः इस सृष्टिरूप मिश्रण की उत्पत्ति हो जाती है। विषमता सृष्टि की नींव है । परन्तु साथ ही वे शक्तियाँ भी, जो साम्यभाव स्थापित करने की चेष्टा करती हैं, सृष्टि के लिए उतनी ही आवश्यक हैं, जितनी कि वे, जो उस साम्यभाव को नष्ट करने का प्रयत्न करती हैं ।

पूर्ण निरपेक्ष समता, अर्थात् सभी स्तरों की समस्त प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों का पूर्ण संतुलन इस संसार में कभी नहीं हो सकता। उस अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व ही सारा संसार किसी भी प्रकार के जीवन के लिए सर्वथा अयोग्य बन जायगा, और वहाँ कोई भी प्राणी न रहेगा। अतएव हम देखते हैं कि सतयुग अथवा पूर्ण समता की ये धारणाएँ इस संसार में केवल असम्भव ही नहीं, वरन् यदि हम इन्हें कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा करें, तो वे हमें निश्चय प्रलय की ओर ले जायँगी। वह क्या चीज़ है, जो मनुष्य मनुष्य में भेद स्थापित करती है?—वह है मस्तिष्क की भिन्नता। आजकल के दिनों में एक पागल के अतिरिक्त और कोई भी यह न कहेगा कि हम सब मस्तिष्क की समान शक्ति लेकर उत्पन्न हुए हैं। हम सब संसार में विभिन्न शक्तियाँ लेकर आते हैं, कोई बड़ा होकर आता है, कोई छोटा, और इस पूर्व जन्म से निर्धारित दशा का अतिक्रमण करने का कोई मार्ग नहीं है। अमेरिकन आदिवासी इस देश में हजारों वर्ष रहे और तुम्हारे मुट्ठी भर पूर्वज उनके देश में आये। परन्तु उन्होंने इस देश में क्या क्या परिवर्तन कर दिये हैं! यदि सभी लोग समान हों, तो उन आदिवासियों ने इस देश को उन्नत करके बड़े बड़े नगर आदि क्यों नहीं बना दिये? क्यों वे चिरकाल तक जंगलों में शिकार करते हुए घूमते रहे? तुम्हारे पूर्वजों के साथ इस देश में एक दूसरे ही प्रकार की दिमाग़ी शक्ति, एक दूसरे ही प्रकार की संस्कार-समष्टि आ गयी और उन्होंने अपना काम किया, अपने को व्यक्त किया। निरपेक्ष विभेद-राहित्य का अर्थ है मृत्यु। जब तक यह संसार है, तब तक विभेद भी रहेगा, और यह सतयुग अथवा पूर्ण समता तभी आयेगी, जब कल्प का अन्त हो जायगा। उसके पहले समता नहीं आ सकती। परन्तु फिर भी सतयुग को लाने की कल्पना एक प्रबल प्रेरक शक्ति है। जिस प्रकार सृष्टि के लिए विषमता उपयोगी है, उसी प्रकार उसे घटाने की चेष्टा भी नितान्त आवश्यक है। यदि मुक्ति एवं ईश्वर के पास लौट जाने की चेष्टा न हो, तो भी सृष्टि नहीं रह सकती। कर्म करने के पीछे मनुष्य का जो हेतु रहता है, वह इन दो शक्तियों के अंतर से ही निश्चित होता है। कर्म के प्रति ये प्रेरणाएँ सदा विद्यमान रहेंगी—कुछ बन्धन की ओर ले जायँगी और कुछ मुक्ति की ओर।

संसार का यह 'चक्र के भीतर चक्र' एक भीषण यंत्र-रचना है। इसके भीतर हाथ पड़ा नहीं, हम फँसे नहीं, कि हम गये। हम सभी सोचते हैं कि अमुक कर्तव्य पूरा होते ही हमें छुट्टी मिल जायगी, हम चैन की साँस लेंगे; पर उस कर्तव्य का मुश्किल से एक अंश भी समाप्त नहीं हो पाता कि एक दूसरा कर्तव्य सिर पर आ खड़ा होता है। संसार का यह प्रचण्ड शक्तिशाली, जटिल यंत्र हम सभी को

खींचे ले जा रहा है। इससे बाहर निकलने के केवल दो ही उपाय हैं। एक तो यह कि उस यंत्र से सारा नाता ही तोड़ दिया जाय--वह यंत्र चलता रहे, हम एक ओर खड़े रहें और अपनी समस्त वासनाओं का त्याग कर दें। अवश्य, यह कह देना तो बड़ा सरल है, परन्तु इसे अमल में लाना असम्भव सा है। मैं नहीं कह सकता कि दो करोड़ आदमियों में से एक भी ऐसा कर सकेगा। दूसरा उपाय है--हम इस संसार क्षेत्र में कूद पड़ें और कर्म का रहस्य जान लें। इसीको कर्मयोग कहते हैं। इस संसार-यंत्र से दूर न भागो, वरन् इसके अन्दर ही खड़े होकर कर्म का रहस्य सीख लो। भीतर रहकर कौशल से कर्म करके बाहर निकल आना सम्भव है। स्वयं इस यंत्र के माध्यम से ही बाहर निकल आने का मार्ग है।

अब हमने जान लिया कि कर्म क्या है। यह प्रकृति की नींव का एक अंश है और सदैव ही चलता रहता है। जो ईश्वर में विश्वास करते हैं, वे इसे अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे, क्योंकि वे जानते हैं कि ईश्वर कोई ऐसा असमर्थ पुरुष नहीं है, जिसे हमारी सहायता की आवश्यकता है। यद्यपि यह जगत् अनन्त काल तक चलता रहेगा, फिर भी हमारा ध्येय मुक्ति ही है, निःस्वार्थता ही हमारा लक्ष्य है; और कर्मयोग के मतानुसार उस ध्येय की प्राप्ति कर्म द्वारा ही करनी होगी। संसार को पूर्ण रूप से सुखी बनाने की जो भावनाएँ हैं, वे धर्मान्ध व्यक्तियों के लिए प्रेरणा-शक्ति के रूप में भले ही अच्छी हों, पर हमें यह भी जान लेना चाहिए कि धर्मान्धता से जितना लाभ होता है, उतनी ही हानि भी होती है। कर्मयोगी प्रश्न करते हैं कि कर्म करने के लिए मुक्ति के प्रति जन्मसिद्ध अनुराग को छोड़कर तुम्हारा अन्य कोई उद्देश्य क्यों हो? सब प्रकार के सांसारिक उद्देश्यों के अतीत हो जाओ। तुम्हें केवल कर्म करने का अधिकार है, कर्मफल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं—**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**[1] कर्मयोगी कहते हैं कि मनुष्य अध्यवसाय द्वारा ही इस सत्य को जान सकता है और इसे कार्य-रूप में परिणत कर सकता है। जब परोपकार करने की इच्छा उसके रोम रोम में भिद जाती है, तो फिर उसे किसी बाहरी उद्देश्य की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। हम भलाई क्यों करें?---इसलिए कि भलाई करना अच्छा है। कर्मयोगी का कथन है कि जो स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से भी सत्-कर्म करता है, वह भी अपने को बन्धन में डाल लेता है। किसी कार्य में यदि थोड़ी सी भी स्वार्थपरता रहे, तो वह हमें मुक्त करने के बदले हमारे पैरों में और एक बेडी डाल देता है।

---

१. गीता ॥२।४७॥

अतएव, एकमात्र उपाय है---समस्त कर्मफलों का त्याग कर देना, अनासक्त हो जाना। यह याद रखो कि न तो यह संसार हम हैं और न हम यह संसार, न हम यह शरीर हैं और न वास्तव में हम कोई कर्म ही करते हैं। हम हैं आत्मा-- हम अनन्त काल से विश्राम और शान्ति में स्थित हैं। हम क्यों किसीके बन्धन में पड़ें? यह कह देना बड़ा सरल है कि हम पूर्ण रूप से अनासक्त रहें, परन्तु ऐसा हो किस तरह? बिना किसी स्वार्थ के किया हुआ प्रत्येक सत्-कार्य हमारे पैरों में और एक बेड़ी डालने के बदले पहले की ही एक बेड़ी को तोड़ देता है। बिना किसी बदले की आशा से संसार में भेजा गया प्रत्येक शुभ विचार संचित होता जायगा--वह हमारे पैरों में से एक बेड़ी को काट देगा और हमें अधिकाधिक पवित्र बनाता जायगा, और अंततः हम पवित्रतम मनुष्य बन जायँगे। पर हो सकता है, यह सब तुम लोगों को केवल एक अस्वाभाविक और कोरी दार्शनिक बात ही जान पड़े, जो कार्य में परिणत नहीं की जा सकती। मैंने भगवद्गीता के विरोध में अनेक युक्तियाँ पढ़ी हैं, और कई लोगों का यह सिद्धान्त है कि बिना किसी हेतु के हम कुछ कर्म कर ही नहीं सकते। उन्होंने शायद धर्मान्धता से रहित कोई निःस्वार्थ कर्म कभी देखा ही नहीं है, इसीलिए वे ऐसा कहा करते हैं।

अब अन्त में संक्षेप में मैं तुम्हें एक ऐसे व्यक्ति के बारे में बताऊँगा, जिन्होंने सचमुच कर्मयोग की शिक्षाओं को कार्यरूप में परिणत किया था। वे हैं बुद्ध। एकमात्र वे ही ऐसे मानव हैं, जिन्होंने इसकी पूर्ण साधना की। भगवान् बुद्ध को छोड़कर संसार के अन्य सभी पैग़म्बरों की निःस्वार्थ कर्म-प्रवृत्ति के पीछे कोई न कोई बाह्य उद्देश्य अवश्य था। एकमात्र उनके अपवाद को छोड़कर संसार के अन्य सब पैग़म्बर दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं--एक तो वे, जो अपने को संसार में अवतीर्ण भगवान् का अवतार कहते थे, और दूसरे वे, जो अपने को केवल ईश्वर का दूत मानते थे; ये दोनों अपने कार्यों की प्रेरणा-शक्ति बाहर से लेते थे, बहिर्जगत् से ही पुरस्कार की आशा करते थे--उनकी वाणी कितनी ही आध्यात्मिकतापूर्ण क्यों न रही हो। परन्तु एकमात्र बुद्ध ही ऐसे पैग़म्बर थे, जो कहते थे, "मैं ईश्वर के बारे में तुम्हारे मत-मतान्तरों को जानने की परवाह नहीं करता। आत्मा के बारे में विभिन्न सूक्ष्म मतों पर बहस करने से क्या लाभ? भला करो और भले बनो। बस, यही तुम्हें निर्वाण की ओर अथवा जो भी कुछ सत्य हो, उसकी ओर ले जायगा।" उनके कार्यों के पीछे व्यक्तिगत उद्देश्य का लवलेश भी नहीं था, और उनकी अपेक्षा अधिक कार्य भला किस व्यक्ति ने किया है? इतिहास में मुझे जरा एक ऐसा चरित्र तो दिखाओ, जो सबसे ऊपर इतना ऊँचा उठ गया हो। सारी मानव-जाति ने ऐसा केवल एक ही चरित्र उत्पन्न किया

है—इतना उन्नत दर्शन! इतनी व्यापक सहानुभूति! सर्वश्रेष्ठ दर्शन का प्रचार करते हुए भी इन महान् दार्शनिक के हृदय में क्षुद्रतम प्राणी के प्रति भी गहरी सहानुभूति थी, और फिर भी उन्होंने अपने लिए किसी प्रकार का दावा नहीं किया। वास्तव में वे ही आदर्श कर्मयोगी हैं, पूर्णरूपेण हेतुशून्य होकर उन्होंने कर्म किया है; और मानव-जाति का इतिहास यह दिखाता है कि सारे संसार में उनके सदृश श्रेष्ठ महात्मा और कोई पैदा नहीं हुआ। उनके साथ अन्य किसी-की तुलना नहीं हो सकती। हृदय तथा मस्तिष्क के पूर्ण सामंजस्य-भाव के वे सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं; आत्म-शक्ति का जितना विकास उनमें हुआ, उतना और किसीमें नहीं हुआ। संसार में वे सर्वप्रथम श्रेष्ठ सुधारक हैं। उन्होंने सर्वप्रथम साहसपूर्वक कहा था, "चूँकि कुछ प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ प्रमाण के लिए प्रस्तुत की जाती हैं, केवल इसीलिए उस पर विश्वास मत कर लो; उस बात को इसलिए भी न मान लो कि उस पर तुम्हारा राष्ट्रीय विश्वास है अथवा बचपन से ही तुम्हें उस पर विश्वास कराया गया है; वरन् तुम स्वयं उस पर विचार करो, और विशेष रूप से विश्लेषण करने के बाद यदि देखो कि उससे तुम्हारा तथा दूसरों का भी कल्याण होगा, तभी उस पर विश्वास करो, उसीके अनुसार अपना जीवन बिताओ तथा दूसरों को भी उसीके अनुसार चलने में सहायता पहुँचाओ।"

केवल वही व्यक्ति सबकी अपेक्षा उत्तम रूप से कार्य करता है, जो पूर्णतया निःस्वार्थी है, जिसे न तो धन की लालसा है, न कीर्ति की और न किसी अन्य वस्तु की ही; और मनुष्य जब ऐसा करने में समर्थ हो जायगा, तो वह भी एक बुद्ध बन जायगा, और उसके भीतर से ऐसी शक्ति प्रकट होगी, जो संसार की अवस्था को सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित कर सकती है। यह व्यक्ति कर्मयोग के चरम आदर्श का प्रतीक है।

कर्म का रहस्य

दूसरों की शारीरिक आवश्यकताओं का निवारण करके उनकी भौतिक सहायता करना महान् कर्म अवश्य है, परन्तु अभाव की मात्रा जितनी अधिक रहती है तथा सहायता जितनी अधिक दूर तक अपना असर कर सकती है, उसी मात्रा में वह उच्चतर होती है। यदि एक मनुष्य के अभाव एक घंटे के लिए हटाये जा सकें, तो यह उसकी सहायता अवश्य है, और यदि एक साल के लिए हटाये जा सकें, तो यह उससे भी अधिक सहायता है; पर यदि उसके अभाव सदा के लिए दूर कर दिये जायँ, तो सचमुच वह उसके लिए सबसे अधिक सहायता होगी। केवल आध्यात्मिक ज्ञान ही ऐसा है, जो हमारे दुःखों को सदा के लिए नष्ट कर दे सकता है; अन्य किसी प्रकार के ज्ञान से आवश्यकताओं की पूर्ति केवल अल्प समय के लिए ही होती है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा ही हमारे दैन्य-क्लेशों का सदा के लिए अन्त हो सकता है। अतएव किसी मनुष्य की आध्यात्मिक सहायता करना ही उसकी सबसे बड़ी सहायता करना है। जो मनुष्य को पारमार्थिक ज्ञान दे सकता है, वही मानव समाज का सबसे बड़ा हितैषी है। हम देखते भी हैं कि जिन व्यक्तियों ने मनुष्य की आध्यात्मिक सहायता की है, वे ही वास्तव में सबसे अधिक शक्तिसंपन्न थे। कारण यह है कि आध्यात्मिकता ही हमारे जीवन के समस्त कृत्यों का सच्चा आधार है। आध्यात्मिक शक्तिसंपन्न पुरुष यदि चाहे तो, हर विषय में सक्षम हो सकता है। और जब तक मनुष्य में आध्यात्मिक बल नहीं आता, तब तक उसकी भौतिक आवश्यकताएँ भी भली भाँति तृप्त नहीं हो सकतीं। आध्यात्मिक सहायता से नीचे है--बौद्धिक सहायता। यह ज्ञान-दान भोजन तथा वस्त्र के दान से कहीं श्रेष्ठ है; इतना ही नहीं, वरन् प्राणदान से भी उच्च है, क्योंकि ज्ञान ही मनुष्य का प्रकृत जीवन है। अज्ञान ही मृत्यु है, और ज्ञान जीवन। यदि जीवन अन्धकारमय है और अज्ञान तथा क्लेश में बीतता है, तो, ऐसे जीवन का मूल्य बहुत ही कम है। ज्ञान-दान से नीचे है शारीरिक सहायता। अतएव दूसरों की सहायता का प्रश्न उपस्थित होने पर हमें इस भ्रांत धारणा से सदा बचे रहने का प्रयत्न करना चाहिए कि शारीरिक सहायता ही एकमात्र सहायता है। वास्तव में शारीरिक सहायता तो सब सहायताओं में केवल अन्तिम ही नहीं, वरन् निम्नतम श्रेणी की भी है, क्योंकि इसके द्वारा चिर

तृप्ति नहीं हो सकती। भूखे रहने से जो कष्ट होता है, उसका परिहार भोजन कर लेने से ही हो जाता है, परन्तु वह भूख पुनः लौट आती है। हमारे क्लेशों का अन्त तो केवल तभी हो सकता है, जब हम तृप्त होकर सब प्रकार के अभावों से परे हो जायँ। तब क्षुधा हमें पीड़ित नहीं कर सकती और न कोई क्लेश अथवा दुःख ही हमें विचलित कर सकता है। अतएव, जो सहायता हमें आध्यात्मिक बल देती है, वह सर्वश्रेष्ठ है; उससे नीचे है बौद्धिक सहायता; और उसके बाद है शारीरिक सहायता।

केवल शारीरिक सहायता द्वारा ही संसार के दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य का स्वभाव ही परिवर्तित नहीं हो जाता, तब तक ये शारीरिक आवश्यकताएँ सदा बनी ही रहेंगी और फलस्वरूप क्लेशों का अनुभव भी सदैव होता रहेगा। कितनी भी शारीरिक सहायता उनका पूर्ण उपचार नहीं कर सकती। इस समस्या का केवल एक ही समाधान है और वह है मानव-जाति को पवित्र कर देना। अपने चारों ओर हम जो अशुभ तथा क्लेश देखते हैं, उन सबका केवल एक ही मूल कारण है--अज्ञान। मनुष्य को ज्ञानालोक दो, उसे पवित्र और आध्यात्मिक बलसम्पन्न करो और शिक्षित बनाओ, तभी संसार से दुःख का अन्त हो जायगा, अन्यथा नहीं। देश के प्रत्येक घर को हम सदावर्त में भले ही परिणत कर दें, देश को अस्पतालों से भले ही भर दें, परन्तु जब तक मनुष्य का चरित्र परिवर्तित नहीं होता, तब तक दुःख-क्लेश बना ही रहेगा।

भगवद्गीता में हम बार बार पढ़ते हैं कि हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म स्वभावतः ही शुभ-अशुभ से निर्मित होता है। हम ऐसा कोई भी कर्म नहीं कर सकते, जिससे कहीं कुछ शुभ न हो; और ऐसा भी कोई कर्म नहीं है, जिससे कहीं न कहीं कुछ अशुभ न हो। प्रत्येक कर्म अनिवार्य रूप से गुण-दोष से मिश्रित रहता है। परन्तु फिर भी हमें सतत कर्म करते रहने का ही आदेश है। शुभ और अशुभ, दोनों के अपने अलग अलग परिणाम होंगे, वे भी कर्म की उत्पत्ति करेंगे। शुभ कर्मों का फल शुभ होगा और अशुभ कर्मों का फल अशुभ। परन्तु शुभ और अशुभ दोनों ही आत्मा के लिए बन्धनस्वरूप हैं। इस सम्बन्ध में गीता का कथन है कि यदि हम अपने कर्मों में आसक्त न हों, तो हमारी आत्मा पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं पड़ सकता। अब हम यह देखेंगे कि 'कर्मों में अनासक्ति' का तात्पर्य क्या है।

गीता का केन्द्रीय भाव यह है : निरन्तर कर्म करते रहो, परन्तु उसमें आसक्त मत होओ। संस्कार प्रायः मनुष्य की जन्मजात-प्रवृत्ति होता है। यदि मन को तालाब मान लिया जाय, तो उसमें उठनेवाली प्रत्येक लहर, प्रत्येक तरंग जब शान्त हो

जाती है, तो वास्तव में वह बिलकुल नष्ट नहीं हो जाती, वरन् चित्त में एक प्रकार का चिह्न छोड़ जाती है तथा ऐसी सम्भावना का निर्माण कर जाती है, जिससे वह फिर उठ सके। इस चिह्न तथा इस लहर के फिर से उठने की सम्भावना को मिलाकर हम 'संस्कार' कह सकते हैं। हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अंग-संचालन, हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर इसी प्रकार का एक संस्कार छोड़ जाता है; और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों, तथापि ये अवचेतन रूप से अन्दर ही अन्दर कार्य करने में पर्याप्त समर्थ होते हैं। हम प्रतिमुहूर्त जो कुछ होते हैं, वह इन संस्कारों के समुदाय द्वारा ही नियमित होता है। मैं इस मुहूर्त जो कुछ हूँ, वह मेरे अतीत जीवन के समस्त संस्कारों का प्रभाव है। यथार्थतः इसे ही 'चरित्र' कहते हैं, और प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही नियमित होता है। यदि शुभ संस्कारों का प्राबल्य रहे, तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है, और यदि अशुभ संस्कारों का, तो बुरा। यदि एक मनुष्य निरन्तर बुरे शब्द सुनता रहे, बुरे विचार सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे, तो उसका मन भी बुरे संस्कारों से पूर्ण हो जायगा और बिना उसके जाने ही वे संस्कार उसके समस्त विचारों तथा कार्यों पर अपना प्रभाव डालते रहेंगे। वास्तव में ये बुरे संस्कार निरन्तर अपना कार्य करते रहते हैं। अतएव बुरे संस्कार-सम्पन्न होने के कारण उस व्यक्ति के कार्य भी बुरे होंगे---वह एक बुरा आदमी बन जायगा,---वह इससे बच नहीं सकता। इन संस्कारों की समष्टि उसमें दुष्कर्म करने की प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न कर देगी। वह इन संस्कारों के हाथ एक यंत्र सा होकर रह जायगा, वे उसे बलपूर्वक दुष्कर्म करने के लिए बाध्य करेंगे। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छे विचार रखे और सत्कार्य करे, तो उसके इन संस्कारों का प्रभाव भी अच्छा ही होगा तथा उसकी इच्छा न होते हुए भी वे उसे सत्कार्य करने के लिए प्रवृत्त करेंगे। जब मनुष्य इतने सत्कार्य एवं सत्‌चिन्तन कर चुकता है कि उसकी इच्छा न होते हुए भी उसमें सत्कार्य करने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, तब फिर यदि वह दुष्कर्म करना भी चाहे, तो इन सब संस्कारों की समष्टि रूप से उसका मन उसे ऐसा करने से तुरन्त रोक देगा; इतना ही नहीं, वरन् उसके ये संस्कार उसे दुष्कर्मों से विरत कर देंगे। तब वह अपने सत्संस्कारों के हाथ एक कठपुतली जैसा हो जायगा। जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तभी उस मनुष्य का चरित्र स्थिर कहलाता है।

जिस प्रकार कछुआ अपने सिर और पैरों को खोल के अन्दर समेट लेता है, और तब उसे चाहे हम मार ही क्यों न डालें, उसके टुकड़े टुकड़े ही क्यों न कर डालें, पर वह बाहर नहीं निकलता, इसी प्रकार जिस मनुष्य ने अपने मन एवं इन्द्रियों

को वश में कर लिया है, उसका चरित्र भी सदैव स्थिर रहता है। वह अपनी आभ्यन्तरिक शक्तियों को वश में रखता है और उसकी इच्छा के विरुद्ध संसार की कोई भी वस्तु उन्हें बहिर्मुख होने के लिए विवश नहीं कर सकती। मन के ऊपर इस प्रकार सद्विचारों एवं सुसंस्कारों का निरन्तर प्रभाव पड़ते रहने से सत्कार्य करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है और इसके फलस्वरूप हम इन्द्रियों (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय, दोनों) को वशीभूत करने में समर्थ होते हैं। तभी हमारा चरित्र स्थिर होता है, तभी हम सत्य-लाभ के अधिकारी हो सकते हैं। ऐसा ही मनुष्य सदैव निरापद रहता है, उससे किसी भी प्रकार की बुराई नहीं हो सकती। उसको तुम कैसे भी लोगों के साथ रख दो, उसके लिए कोई खतरा नहीं रहता। इन शुभ संस्कारों से सम्पन्न होने की अपेक्षा एक और भी अधिक उच्चतर अवस्था है और वह है--मुक्ति-लाभ की इच्छा। तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी योगों का ध्येय आत्मा की मुक्ति है, और प्रत्येक योग समान रूप से उसी ध्येय की ओर ले जाता है। बुद्ध ने ध्यान से तथा ईसा ने प्रार्थना द्वारा जिस अवस्था की प्राप्ति की थी, मनुष्य केवल कर्म द्वारा भी उस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ज्ञानी थे और ईसा भक्त, पर वे दोनों एक ही लक्ष्य पर पहुँचे थे। यहाँ कठिनाई है। मुक्ति का अर्थ है, सम्पूर्ण स्वाधीनता--शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पा जाना। इसे समझना ज़रा कठिन है। लोहे की जंज़ीर भी एक जंज़ीर है, और सोने की जंज़ीर भी एक जंज़ीर ही है। यदि हमारी अँगुली में एक काँटा चुभ जाय, तो उसे निकालने के लिए हम एक दूसरा काँटा काम में लाते हैं, परन्तु जब वह निकल जाता है, तो हम दोनों को ही फेंक देते हैं। हमें फिर दूसरे काँटे को रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि दोनों आखिर काँटे ही तो हैं। इसी प्रकार कुसंस्कारों का नाश शुभ संस्कारों द्वारा करना चाहिए और मन के अशुभ विचारों को शुभ विचारों द्वारा दूर करते रहना चाहिए, जब तक कि समस्त अशुभ विचार लगभग नष्ट न हो जायँ अथवा पराजित न हो जायँ या वशीभूत होकर मन में कहीं एक कोने में न पड़े रह जायँ। परन्तु उनके उपरान्त शुभ संस्कारों पर भी विजय प्राप्त करना आवश्यक है। तभी जो 'आसक्त' था, वह 'अनासक्त' हो जाता है। कर्म करो, अवश्य करो, पर उस कर्म अथवा विचार को अपने मन के ऊपर कोई गहरा प्रभाव न डालने दो। लहरें आयें और जायें, मांसपेशियों और मस्तिष्क से बड़े बड़े कार्य होते रहें, पर वे आत्मा पर किसी प्रकार का गहरा प्रभाव न डालने पायें।

अब प्रश्न यह है कि यह कैसे हो सकता है? हम देखते हैं कि हम जिस किसी कर्म में लिप्त हो जाते हैं, उसका संस्कार हमारे मन में रह जाता है। दिन भर

मैं सैकड़ों आदमियों से मिला, और उन्हींमें एक ऐसे व्यक्ति से भी मिला, जिससे मुझे प्रेम है। तब यदि रात को सोते समय मैं उन सब लोगों को स्मरण करने का प्रयत्न करूँ, तो देखूँगा कि मेरे सम्मुख केवल उसी व्यक्ति का चेहरा आता है, जिसे मैं प्रेम करता हूँ, भले ही उसे मैंने केवल एक ही मिनट के लिए देखा हो। उसके अतिरिक्त अन्य सब व्यक्ति अन्तर्हित हो जाते हैं। ऐसा क्यों ? इसलिए कि इस व्यक्ति के प्रति मेरी विशेष आसक्ति ने मेरे मन पर अन्य सभी की अपेक्षा एक अधिक गहरा प्रभाव डाल दिया था। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से तो सभी व्यक्तियों का प्रभाव एक सा ही हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति का चेहरा नेत्रपट पर उतर आया था और मस्तिष्क में उसके चित्र भी बन गये थे। परन्तु फिर भी मन पर इन सबका प्रभाव एक समान नहीं पड़ा। सम्भवतः अधिकांश व्यक्तियों के चेहरे एकदम नये थे, जिनके बारे में मैंने पहले कभी विचार भी न किया होगा; परन्तु वह एक चेहरा, जिसकी मुझे केवल एक झलक ही मिली थी, भीतर तक समा गया! शायद इस चेहरे का चित्र मेरे मन में वर्षों से रहा हो और मैं उसके बारे में सैकड़ों बातें जानता होऊँ; अतः उसकी इस एक झलक ने ही मेरे मन में उन सैकड़ों सोती हुई स्मृतियों को जगा दिया। और इसीलिए शेष अन्य सब चेहरों को देखने के समवेत फलस्वरूप मन में जितना संस्कार पड़ा, उसकी अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक इस संस्कार की आवृत्ति होते रहने के कारण मन पर उसका इतना प्रबल प्रभाव पड़ा।

अतएव अनासक्त होओ; कार्य होते रहने दो---मस्तिष्क के केन्द्र अपना अपना कार्य करते रहें; निरन्तर कार्य करते रहो, परन्तु एक लहर को भी अपने मन पर प्रभाव मत डालने दो। संसार में इस प्रकार कर्म करो, मानो तुम एक विदेशी पथिक हो, पर्यटक हो! कर्म तो निरन्तर करते रहो, परन्तु अपने को बन्धन में मत डालो; बन्धन भीषण है। संसार हमारी निवासभूमि नहीं है; यह तो उन सोपानों में से एक है, जिनमें से होकर हम जा रहे हैं। सांख्य दर्शन के उस महावाक्य को मत भूलो, 'समस्त प्रकृति आत्मा के लिए है, आत्मा प्रकृति के लिए नहीं।' प्रकृति के अस्तित्व का प्रयोजन आत्मा की शिक्षा के निमित्त ही है, इसका और कोई अर्थ नहीं। उसका अस्तित्व इसीलिए है कि आत्मा को ज्ञान-लाभ हो तथा ज्ञान द्वारा आत्मा अपने को मुक्त कर ले। यदि हम यह बात निरन्तर ध्यान में रखें, तो हम प्रकृति में कभी आसक्त न होंगे; हमें यह ज्ञान हो जायगा कि प्रकृति हमारे लिए एक पुस्तकसदृश है, जिसका हमें अध्ययन करना है; और जब हमें उससे आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो जायगा, तो फिर वह पुस्तक हमारे लिए किसी काम की नहीं रहेगी। परन्तु इसके विपरीत हो यह रहा

है कि हम अपने को प्रकृति में ही मिला दे रहे हैं; यह सोच रहे हैं कि आत्मा प्रकृति के लिए है, आत्मा शरीर के लिए है; और जैसी कि एक कहावत है, हम सोचते हैं, 'मनुष्य खाने के लिए ही जीवित रहता है, न कि जीवित रहने के लिए खाता है'; और यह भूल हम निरन्तर करते रहते हैं। प्रकृति को ही 'अहम्' मानकर हम प्रकृति में आसक्त बने रहते हैं। और ज्यों ही इस आसक्ति का प्रादुर्भाव होता है, त्यों ही आत्मा पर प्रबल संस्कार का निर्माण हो जाता है, जो हमें बन्धन में डाल देता है और जिसके कारण हम मुक्त भाव से कार्य न करके दास की तरह कार्य करते रहते हैं ।

इस शिक्षा का समस्त सार यही है कि तुम्हें एक 'स्वामी' के समान कार्य करना चाहिए, न कि एक 'दास' की तरह। कर्म तो निरन्तर करते रहो, परन्तु एक दास के समान मत करो। सब लोग किस प्रकार कर्म कर रहे हैं, क्या यह तुम नहीं देखते? इच्छा होने पर भी कोई आराम नहीं ले सकता! ९९ प्रतिशत लोग तो दासों की तरह कार्य करते रहते हैं, और उसका फल होता है दुःख; ये सब कार्य स्वार्थपूर्ण होते हैं। मुक्त भाव से कर्म करो! प्रेमसहित कर्म करो! 'प्रेम' शब्द का यथार्थ अर्थ समझना बहुत कठिन है। बिना स्वाधीनता के प्रेम आ ही नहीं सकता। दास में सच्चा प्रेम होना सम्भव नहीं। यदि तुम एक गुलाम मोल ले लो और उसे जंजीरों से बाँधकर उससे अपने लिए काम कराओ, तो वह कष्ट उठाकर किसी प्रकार काम करेगा अवश्य, पर उसमें किसी प्रकार का प्रेम नहीं रहेगा। इसी तरह जब हम संसार के लिए दासवत् कर्म करते हैं, तो उसके प्रति हमारा प्रेम नहीं रहता और इसलिए वह सच्चा कर्म नहीं हो सकता। हम अपने बन्धु-बान्धवों के लिए जो कर्म करते हैं, यहाँ तक कि हम अपने स्वयं के लिए भी जो कर्म करते हैं, उसके बारे में भी ठीक यही बात है। स्वार्थ के लिए किया गया कार्य दास का कार्य है। और कोई कार्य स्वार्थ के लिए है अथवा नहीं, इसकी पहचान यह है कि प्रेम के साथ किया हुआ प्रत्येक कार्य आनन्ददायक होता है। सच्चे प्रेम के साथ किया हुआ कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जिसके फलस्वरूप शान्ति और आनन्द न प्राप्त हो। यथार्थ सत्, यथार्थ ज्ञान और यथार्थ प्रेम— ये तीनों सदा के लिए परस्पर सम्बद्ध हैं। वस्तुतः ये एक ही में तीन हैं। जहाँ एक रहता है, वहाँ शेष दो भी अवश्य रहते हैं, ये उस अद्वितीय सच्चिदानन्द के ही तीन पक्ष हैं। जब वह सत्ता सापेक्ष रूप में प्रतीत होती है, तो हम उसे विश्व के रूप में देखते हैं। वह ज्ञान भी सांसारिक वस्तुविषयक ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है, तथा वह आनन्द मानव-हृदय में विद्यमान समस्त यथार्थ प्रेम की नींव हो जाता है। अतएव सच्चे प्रेम से प्रेमी अथवा उसके प्रेम-पात्र को कभी कष्ट

नहीं पहुँच सकता। उदाहरणार्थ, मान लो, एक पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करता है। वह चाहता है कि वह स्त्री केवल उसीके पास रहे; अन्य पुरुषों के प्रति उस स्त्री के प्रत्येक व्यवहार से उसमें ईर्ष्या का उद्रेक होता है। वह चाहता है कि वह स्त्री उसीके पास बैठे, उसीके पास खड़ी रहे तथा उसीकी इच्छानुसार खाये-पिये और चले-फिरे। वह स्वयं उस स्त्री का गुलाम हो गया है, और चाहता है कि वह स्त्री भी उसकी गुलाम होकर रहे। यह तो प्रेम नहीं है। यह तो गुलामी का एक प्रकार का विकृत भाव है, जो ऊपर से प्रेम जैसा दिखायी देता है। यह प्रेम नहीं हो सकता, क्योंकि यह क्लेशदायक है; यदि वह स्त्री उस मनुष्य की इच्छानुसार न चले, तो उससे उस मनुष्य को कष्ट होता है। वास्तव में सच्चे प्रेम की प्रतिक्रिया दुःखप्रद तो होती ही नहीं। उससे तो केवल आनन्द ही होता है। और यदि उसमें ऐसा न होता हो, तो समझ लेना चाहिए कि वह प्रेम नहीं है, बल्कि वह और ही कोई चीज़ है, जिसे हम भ्रमवश प्रेम कहते हैं। जब तुम अपने पति, अपनी स्त्री, अपने बच्चों, यहाँ तक कि समस्त विश्व को इस प्रकार प्रेम करने में सफल हो सको कि उससे किसी भी प्रकार दुःख, ईर्ष्या अथवा स्वार्थपरतारूप कोई प्रतिक्रिया न हो, केवल तभी तुम सम्यक् रूप से अनासक्त होने की अवस्था में पहुँच सकोगे।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "हे अर्जुन, यदि मैं कर्म करने से एक क्षण के लिए भी रुक जाऊँ, तो सारा विश्व ही नष्ट हो जाय। मुझे कर्म से किसी भी प्रकार का लाभ नहीं; मैं ही जगत् का एकमात्र प्रभु हूँ—फिर भी मैं कर्म क्यों करता हूँ?—इसलिए कि मुझे संसार से प्रेम है।" ईश्वर अनासक्त है। क्यों?—इसलिए कि वह सच्चा प्रेमी है। उस सच्चे प्रेम से ही हम अनासक्त हो सकते हैं। जहाँ कहीं सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति है, वहाँ जान लेना चाहिए कि वह केवल भौतिक आकर्षण है—केवल कुछ जड़ कणों का दूसरे कुछ जड़ कणों के प्रति आकर्षण हो रहा है—मानो कोई एक चीज़ दो वस्तुओं को लगातार निकटतर खींचे ला रही है; और यदि वे दोनों वस्तुएँ काफ़ी निकट नहीं आ सकतीं, तो फिर कष्ट उत्पन्न होता है। परन्तु जहाँ 'सच्चा' प्रेम है, वहाँ भौतिक आकर्षण बिल्कुल नहीं रहता। ऐसे प्रेमी चाहे सहस्रों योजन दूरी पर क्यों न रहें, उनका प्रेम सदैव वैसा ही रहता है; वह प्रेम कभी नष्ट नहीं होता, उससे कभी कोई क्लेशदायक प्रतिक्रिया नहीं होती।

इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त करना लगभग सारे जीवन भर का कार्य है। परन्तु इसका लाभ होते ही हमें अपनी प्रेम-साधना का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं। तब हम प्रकृति के बन्धन से छूट जाते हैं और

उसके असली स्वरूप को जान लेते हैं। फिर वह हमें बन्धन में नहीं डाल सकती, तब हम बिल्कुल स्वाधीन हो जाते हैं और कर्म के फलाफल की ओर ध्यान ही नहीं देते। फिर कौन परवाह करता है कि कर्मफल क्या होगा?

अपने बच्चों को तुम जो देते हो, तो क्या उसके बदले में उनसे कुछ माँगते हो? यह तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उनके लिए काम करो, और बस, वहीं पर बात समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार, किसी दूसरे पुरुष, किसी नगर अथवा देश के लिए तुम जो कुछ क ो, उसके प्रति भी वैसा ही भाव रखो; उनसे किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा न रखो। यदि तुम सदैव ऐसा ही भाव रख सको कि तुम केवल दाता ही हो, जो कुछ तुम देते हो, उससे तुम किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा नहीं रखते, तो उस कर्म से तुम्हें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होगी। आसक्ति तभी आती है, जब हम प्रतिदान की आशा रखते हैं।

यदि दासवत् कार्य से स्वार्थपरता और आसक्ति उत्पन्न होती है, तो अपने मन का स्वामी बनकर कार्य करने से अनासक्ति से उत्पन्न आनन्द का लाभ होता है। हम बहुधा अधिकार और न्याय की बातें किया करते हैं, परन्तु वे सब केवल बच्चों की बातों के समान हैं। मनुष्य के चरित्र का नियमन करनेवाली दो चीज़ें होती हैं: बल और दया। बल का प्रयोग करना सदैव स्वार्थपरतावश ही होता है। बहुधा सभी स्त्री-पुरुष अपनी शक्ति एवं सुविधा का यथासम्भव उपभोग करने का प्रयत्न करते हैं। दया दैवी सम्पत्ति है। भले बनने के लिए हमें दयायुक्त होना चाहिए; यहाँ तक कि न्याय और अधिकार भी दया पर ही प्रतिष्ठित होने चाहिए। कर्मफल की लालसा तो हमारी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक है; इतना ही नहीं, अन्त में उससे क्लेश भी उत्पन्न होता है। दया और निःस्वार्थपरता को कार्यरूप में परिणत करने का एक और उपाय है— और वह है, कर्मों को उपासनारूप मानना, यदि हम सगुण ईश्वर में विश्वास रखते हों। यहाँ हम अपने समस्त कर्मों के फल ईश्वर को ही समर्पित कर देते हैं,—और इस प्रकार उसकी उपासना करते हुए हमें इस बात का कोई अधिकार नहीं रह जाता कि हम अपने किये हुए कर्मों के प्रतिदान में मानव-जाति से कुछ अपेक्षा करें। प्रभु स्वयं निरन्तर कार्य करता रहता है और वह सारी आसक्ति से परे है। जिस प्रकार जल कमल के पत्ते को नहीं भिगो सकता, उसी प्रकार कोई भी कर्म फलासक्ति उत्पन्न करके निःस्वार्थ पुरुष को बन्धन में नहीं डाल सकता। अहं-शून्य और अनासक्त पुरुष किसी जनपूर्ण और पापपूर्ण नगर के बीच ही क्यों न रहे, पर पाप उसे स्पर्श तक न कर सकेगा।

निम्नलिखित कहानी सम्पूर्ण स्वार्थत्याग का एक दृष्टान्त है : कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद पाँचों पाण्डवों ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें निर्धनों को बहुत सा दान दिया गया। सभी लोगों ने उस यज्ञ की महत्ता एवं ऐश्वर्य पर आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि ऐसा यज्ञ संसार में इसके पहले कभी नहीं हुआ था। यज्ञ के बाद उस स्थान पर एक छोटा सा नेवला आया। नेवले का आधा शरीर सुनहला था और शेष आधा भूरा। वह नेवला उस यज्ञभूमि की मिट्टी पर लोटने लगा। थोड़ी देर बाद उसने दर्शकों से कहा, "तुम सब झूठे हो। यह कोई यज्ञ नहीं है।" लोगों ने कहा, "क्या! तुम कहते क्या हो! यह कोई यज्ञ ही नहीं है? तुम जानते हो, इस यज्ञ में कितना धन ख़र्च हुआ है, ग़रीबों को कितने हीरे-जवाहिरात बाँटे गये हैं, जिससे वे सबके सब धनी और ख़ुशहाल हो गये हैं? यह तो इतना बड़ा यज्ञ था कि ऐसा शायद ही किसी मनुष्य ने किया हो।" परन्तु नेवले ने कहा, "सुनो, एक छोटे से गाँव में एक निर्धन ब्राह्मण रहता था, साथ थी उसकी स्त्री, पुत्र और पुत्र-वधू। वे लोग बड़े ग़रीब थे। पूजा-पाठ से उन्हें जो कुछ मिलता, उसी पर उनका निर्वाह होता था। एक बार उस गाँव में तीन साल तक अकाल पड़ा, जिससे उस बेचारे ब्राह्मण के दुःख-कष्ट की पराकाष्ठा हो गयी। एक बार तो, सारे कुटुम्ब को पाँच दिन तक उपवास करना पड़ा। छठवें दिन वह ब्राह्मण भाग्यवश कहीं से थोड़ा सा जौ का आटा ले आया। उस आटे के चार भाग परिवार के चारों सदस्यों के लिए किये गये। उन्होंने उसकी रोटी बनायी और ज्यों ही वे उसे खाने बैठे कि किसीने दरवाज़ा खटखटाया। पिता ने उठकर दरवाज़ा खोला, तो देखा कि बाहर एक अतिथि खड़ा है। भारत में अतिथि बड़ा पवित्र माना जाता है। वह तो उस समय के लिए 'नारायण' ही समझा जाता है और उसके साथ तद्रूप व्यवहार भी किया जाता है। अतएव उस गरीब ब्राह्मण ने कहा, 'महाराज, पधारिए, आपका स्वागत है।' और उसने अतिथि के सामने अपना भाग रख दिया। अतिथि उसे जल्दी ही खा गया और बोला, 'अरे, आपने तो मुझे और भी मार डाला। मैं दस दिन का भूखा हूँ और भोजन के इस छोटे टुकड़े ने तो मेरी भूख और भी बढ़ा दी।' तब स्त्री ने अपने पति से कहा, 'आप मेरा भी भाग दे दीजिए।' पति ने कहा, 'नहीं, ऐसा नहीं होगा।' परन्तु स्त्री अपनी बात पर अड़ी रही और कहा, 'यह बेचारा ग़रीब भूखा है, हमारे यहाँ आया है। गृहस्थ की हैसियत से हमारा यह धर्म है कि हम उसे भोजन करायें। यह देखकर कि आप उसे अधिक नहीं दे सकते, पत्नी के नाते मेरा यह कर्तव्य है कि मैं उसे अपना भी भाग दे दूँ।' ऐसा कह उसने भी अपना भाग अतिथि को दे दिया। अतिथि ने वह भी खा लिया और कहा, 'मैं तो भूख से अभी भी जल रहा हूँ।' तब लड़के ने कहा, 'आप मेरा भाग भी ले लीजिए, क्योंकि

पुत्र का यह धर्म है कि वह पिता के कर्तव्यों को पूरा करने में उन्हें सहायता दे।' अतिथि ने वह भी खा लिया, परन्तु फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। अतएव बहू ने भी उसे अपना भाग दे दिया। अब यह पर्याप्त हो गया और अतिथि ने उनको आशीर्वाद दे विदा ली। उसी रात वे चारों बेचारे भूख से पीड़ित हो मर गये। उस आटे के कुछ कण इधर-उधर ज़मीन पर बिखर गये थे, और जब मैंने उन पर लोट लगायी, तो मेरा आधा शरीर सुनहला हो गया, जैसा कि तुम अभी देख ही रहे हो। उस समय से मैं संसार भर में भ्रमण कर रहा हूँ और चाहता हूँ कि किसी दूसरी जगह भी मुझे ऐसा ही यज्ञ देखने को मिले; परन्तु ऐसा यज्ञ मुझे कहीं देखने को नहीं मिला। मेरा शेष आधा शरीर किसी दूसरी जगह सुनहला न हो सका। इसीलिए तो कहता हूँ कि यह कोई यज्ञ ही नहीं है।"

दान का यह भाव भारत से धीरे धीरे लुप्त होता जा रहा है; महापुरुषों की संख्या धीरे धीरे कम होती जा रही है। जब बचपन में मैंने अंग्रेज़ी पढ़ना आरम्भ किया था, उस समय मैंने एक अंग्रेज़ी की कहानी की पुस्तक पढ़ी, जिसमें एक ऐसे कर्तव्यपरायण बालक का वर्णन था, जिसने काम करके जो कुछ उपार्जन किया था, उसका कुछ भाग अपनी वृद्ध माता को दे दिया था। उस बालक के इस कृत्य की प्रशंसा पुस्तक के तीन-चार पृष्ठों में गायी गयी थी। परन्तु इसमें कौन सा असाधारणत्व है? कोई भी हिन्दू बालक उस कहानी की नीति-शिक्षा को नहीं समझ सकता? और मुझे भी उसका महत्त्व आज ही समझ में आ रहा है, जब मैं इस पश्चिमी रिवाज को सुनता तथा देखता हूँ कि यहाँ प्रत्येक मनुष्य अपने अपने लिए ही है। इस देश में ऐसे भी लोग अनेक हैं, जो सब कुछ अपने ही लिए रख लेते हैं---उनके पिता, माता, स्त्री और बच्चों की फिर चाहे जैसी दशा क्यों न हो। एक गृहस्थ का ऐसा आदर्श तो कदापि और कहीं भी नहीं होना चाहिए।

अब तुमने देखा, कर्मयोग का अर्थ क्या है। उसका अर्थ है---मौत के मुँह में भी जाकर बिना तर्क-वितर्क किये सबकी सहायता करना। भले ही तुम लाखों बार ठगे जाओ, पर मुँह से एक बात तक न निकालो; और तुम जो कुछ भले कार्य कर रहे हो, उनके सम्बन्ध में सोचो तक नहीं। निर्धन के प्रति किये गये उपकार पर गर्व मत करो और न उससे कृतज्ञता की ही आशा रखो; बल्कि उलटे तुम्हीं उसके कृतज्ञ होओ,---यह सोचकर कि उसने तुम्हें दान देने का एक अवसर दिया है। अतएव यह स्पष्ट है कि एक आदर्श संन्यासी होने की अपेक्षा एक आदर्श गृहस्थ होना अधिक कठिन है। यथार्थ कर्ममय जीवन, यथार्थ त्यागमय जीवन की अपेक्षा यदि अधिक कठिन नहीं, तो कम से कम उसके बराबर कठिन तो अवश्य है।

भक्ति के लिए प्रारंभिक सोपान

भक्ति के विषय में लिखनेवाले तत्त्ववेत्ता भक्ति की परिभाषा 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग' करते हैं। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य ईश्वर से प्रेम या अनुराग क्यों करे? जब तक हम यह बात न समझ लें, तब तक भक्ति के विषय में हमें कुछ भी बोध नहीं हो सकता। जीवन के दो बिल्कुल भिन्न भिन्न प्रकार के आदर्श हैं। सभी देशों के मनुष्य, यदि वे किसी धर्म के अनुयायी हैं, यह जानते हैं कि मनुष्य देह भी है और आत्मा भी। पर मानव जीवन के अन्तिम साध्य या उद्देश्य के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है।

पाश्चात्य देशों में साधारणतः मनुष्य के भौतिक पक्ष पर बहुत बल दिया जाता है, और भारत में भक्ति-शास्त्र के आचार्य मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देते हैं। यही अन्तर पूर्वी और पश्चिमी राष्ट्रों के स्वभावगत भेद का निदर्शक है। साधारण बोल-चाल में भी यही बात देखने में आती है। इंग्लैण्ड में मृत्यु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि मनुष्य ने आत्मा का त्याग किया (A man gives up his ghost), और भारत में कहते हैं कि मनुष्य ने देह का त्याग किया (A man gives up his body)। प्रथम पक्ष का भाव यह है कि मनुष्य देह है और उसके आत्मा होती है। द्वितीय पक्ष का यह भाव है कि मनुष्य आत्मा है और उसके देह होती है। इस मतभेद के फलस्वरूप कई जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि जो आदर्श यह मानता है कि मनुष्य शरीर है और उसकी आत्मा होती है, वह शरीर पर ही सारा बल देता है। यदि पूछो कि मनुष्य किसलिए जीता है, तो उत्तर यही मिलेगा कि इन्द्रियों का सुख, धन-दौलत और ऐहिक पदार्थों का उपभोग करने के लिए। यदि तुम उसे यह बताओ कि इनसे भी परे कोई वस्तु होती है, तो वह उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। भावी जीवन के सम्बन्ध में उसकी केवल यही धारणा होती है कि यह सुख-भोग सतत बना रहे। उसे बड़ा दुःख इस बात का है कि इसी लोक में वह सदा इस इन्द्रिय-सुख-भोग में रह नहीं सकता और उसे यह लोक छोड़कर जाना पड़ेगा। पर वह यही सोचता है कि चाहे जिस तरह भी हो, वह एक ऐसे स्थान में जायगा, जहाँ उसे यही इन्द्रिय सुख-भोग पुनः प्राप्त होगा। वहाँ उसे ये ही सब इन्द्रियाँ प्राप्त होंगी, ये ही सब सुख-भोग मिलेंगे, पर वहाँ ये सब चीज़ें उच्च श्रेणी की होंगी

और अधिक मात्रा में मिलेंगी। ईश्वर की पूजा इसलिए करता है कि ईश्वर उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। उसके जीवन का लक्ष्य है इन्द्रिय विषय-भोग, और वह समझता है कि ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति है, जो अत्यधिक काल तक उसे यह विषय-भोग दे सकता है। इसी कारण वह ईश्वर की उपासना करता है।

इसके विपरीत, भारतवासियों की कल्पना यह है कि ईश्वर ही जीवन का लक्ष्य है, ईश्वर से परे या ईश्वर से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। इन सब इन्द्रिय सुख-भोगों के मार्ग में से हम केवल इस आशा से चले जा रहे हैं कि हमें आगे इनसे उच्चतर वस्तुओं की प्राप्ति होगी। यही नहीं, मनुष्य को इन इन्द्रिय विषय-भोगों के अतिरिक्त और कुछ न मिलना एक भीषण और विनाशकारी स्थिति होगी। हम अपने दैनंदिन जीवन में देखते हैं कि मनुष्य के इन्द्रिय विषय-भोग की मात्रा जितनी ही कम हो, उतना ही उसका जीवन उच्चतर होता है। जब कुत्ता भोजन करता है, तब उसकी ओर देखो। भोजन करने में वैसा आनन्द मनुष्य को नहीं प्राप्त होता। शूकर की ओर देखो। खाते खाते कैसी हर्ष-ध्वनि करता है। वही उसका स्वर्ग है, और यदि स्वर्ग से फ़रिश्तों का अधिपति भी उतर आये और खड़ा उसकी ओर देखता रहे, तो भी शूकर उसकी ओर देखेगा तक नहीं। उसका सारा अस्तित्व खाने में ही है। ऐसा कोई मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ, जिसे भोजन करने में उतना आनन्द आये। निम्न श्रेणी के प्राणियों की श्रवण-शक्ति और दृष्टि-शक्ति के विषय में सोचो; उनकी समस्त इन्द्रियाँ अत्यधिक विकसित होती हैं। उनके इन्द्रिय सुख की मात्रा असीम होती है। वे इस इन्द्रिय सुख-भोग से हर्ष और आनन्द में एकदम पागल हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी जितनी नीची श्रेणी में होगा, उतना ही अधिक आनन्द उसे इन्द्रिय-विषयों में आयेगा। मनुष्य जैसे जैसे उन्नति करता है, विवेक और प्रेम उसके जीवन के आदर्श बनते जाते हैं। उसकी इन प्रवृत्तियों का जैसे जैसे विकास होता है, वैसे वैसे उसके इन्द्रिय-विषयों में आनन्द अनुभव करने की शक्ति क्षीण होती जाती है।

उदाहरण के लिए, यदि हम मान लें कि मनुष्य को अमुक परिमाण में शक्ति दी गयी और उस शक्ति का व्यय वह अपने शरीर, मन या आत्मा के लिए कर सकता है, तो इनमें से यदि वह किसी एक विभाग में अपनी सब शक्ति व्यय कर दे, तो शेष विभागों में व्यय करने के लिए उसके पास उतनी ही कम मात्रा में शक्ति रह जायगी। सभ्य जातियों की अपेक्षा अज्ञानी या जंगली जातियों की संवेदन-शक्ति कहीं अधिक प्रबल होती है। इतिहास से भी हमें यही शिक्षा प्राप्त होती है कि जैसे जैसे राष्ट्र सभ्य होता है, उसका नाड़ीय संगठन सूक्ष्म होता जाता है, और वह शारीरिक दृष्टि से दुर्बल होता जाता है। किसी जंगली जाति को सभ्य बनाओ और

यही बात तुम्हें दिखायी देगी। कोई अन्य बर्बर जाति आकर उसे जीत लेगी। प्रायः बर्बर जाति ही सदा विजयी होती है। अतः स्पष्ट है कि यदि हमें सर्वदा इन्द्रियों के विषय-भोग के सुख की इच्छा रहती है, तो हम अपने को पशु की अवस्था में गिरा देते हैं। जब मनुष्य यह कहता है कि मैं ऐसे स्थान को जाना चाहता हूँ, जहाँ इन्द्रियों के सुखोपभोग और भी अधिक होंगे, तब वह यह नहीं समझता कि मैं यह क्या माँग रहा हूँ। उसे तो वह पशु स्तर में पतित होने पर ही प्राप्त कर सकता है।

इन्द्रिय विषयक सुखों से परिपूर्ण स्वर्ग की कामना करनेवाले मनुष्य भी उसी प्रकार हैं। वे शूकर की तरह इन्द्रिय-विषयों की कीचड़ में लोट रहे हैं। उसके परे वे और कुछ देख ही नहीं सकते। यही इन्द्रिय-भोग वे चाहते हैं और इसका छूटना ही उनके लिए स्वर्ग का खोना है। 'भक्त' शब्द के उच्चतम अर्थ में ऐसे मनुष्य भक्त कभी नहीं हो सकते; वे ईश्वर के सच्चे प्रेमी कदापि नहीं बन सकते। फिर भी निम्न श्रेणी का यह आदर्श थोड़े समय के लिए यदि चलता भी रहे, तो समय पाकर यह बदल जायगा। हर मनुष्य यह समझने लगेगा कि इससे भी कोई उच्चतर वस्तु है, जिसका ज्ञान उसे पहले नहीं था। और इस प्रकार उस समय जीवन के प्रति तथा इन्द्रिय-विषयों पर उसकी आसक्ति क्रमशः नष्ट हो जायगी। जब मैं छोटा था और पाठशाला में पढ़ता था, मेरे एक सहपाठी से कुछ मिठाइयों के लिए मुझसे झगड़ा हो गया। वह लड़का अधिक बलवान था, इसलिए उसने उनको मेरे हाथ से छीन लिया। उस समय मेरे मन में जो भाव आया, वह मुझे स्मरण है। मैं सोचने लगा, इस लड़के के समान दुष्ट संसार में दूसरा कोई नहीं है और जब मुझमें ताक़त आ जायगी, तब मैं इस दुष्ट को दंड दूँगा; इसकी दुष्टता को देखते हुए कोई भी दण्ड इसके लिए पर्याप्त नहीं है। अब हम दोनों बड़े हो गये हैं और परम मित्र हैं। इसी तरह इस संसार में सर्वत्र छोटे छोटे बच्चे ही भरे पड़े हैं, खाने-पीने और अन्य इन्द्रियों की भोग्य वस्तुएँ ही उनका सर्वस्व है। ये बच्चे केवल इन मालपूओं का ही स्वप्न देखा करते हैं। भावी जीवन या परलोक सम्बन्धी उनकी कल्पना भी यही है कि वहाँ भी पूरी-मालपूआ का ढेर लगा रहेगा। अमेरिकन इंडियन को देखो। उसका विश्वास है कि परलोक शिकार करने के लिए उत्तम स्थान है। हर एक की स्वर्ग की कल्पना अपनी अपनी वासना के अनुसार ही होती है। पर कालान्तर में जैसे जैसे हम बड़े होते जाते हैं, हम उच्चतर वस्तुओं को देखते हैं, और इन सबके परे और भी उच्चतर बातों की झलक हमें प्राप्त होती है। किन्तु आधुनिक काल की साधारण प्रथा के अनुसार सभी वस्तुओं के प्रति अविश्वास करके हमें परलोक विषयक सभी धारणाओं का त्याग नहीं करना चाहिए। ऐसा करना विनाशकारी है। अज्ञेयवादी, जो सभी बातों को उड़ा देता है, भूला हुआ

है। भक्त तो इससे और ऊँचा देखता है। अज्ञेयवादी स्वर्ग नहीं जाना चाहता, क्योंकि वह तो स्वर्ग को मानता ही नहीं। पर भगवद्भक्त भी स्वर्ग जाना नहीं चाहता, क्योंकि उसकी दृष्टि में स्वर्ग बच्चों का खिलौना मात्र है। भगवद्भक्त तो चाहता है केवल ईश्वर को।

ईश्वर से बढ़कर साध्य या लक्ष्य और हो ही क्या सकता है? स्वयं परमात्मा ही मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य है। उसीके दर्शन करो। उसीका आनन्द लूटो। हम ईश्वर से बढ़कर अन्य किसी उच्च वस्तु की कल्पना कर ही नहीं सकते, क्योंकि ईश्वर पूर्ण स्वरूप है। हम प्रेम से बढ़कर सुख या आनन्द की कल्पना नहीं कर सकते। पर इस 'प्रेम' शब्द का अर्थ भिन्न है। इसका अर्थ संसार का साधारण स्वार्थमय प्रेम नहीं है, इस संसारी प्रेम को प्रेम कहना अधर्म होगा। अपने बच्चों और स्त्री के प्रति हमारा जो प्रेम होता है, वह केवल पाशविक प्रेम है। जो प्रेम पूर्णतया निःस्वार्थ हो, वही 'प्रेम' है और वह ईश्वर का प्रेम है। उस प्रेम को प्राप्त करना बड़ी कठिन बात है। हम इन भिन्न भिन्न प्रेम, जैसे संतति-प्रेम, पितृ-प्रेम, मातृ-प्रेम इत्यादि के मार्ग में से जा रहे हैं। हम प्रेम की प्रवृत्ति का धीरे धीरे अभ्यास कर रहे हैं, पर बहुधा इससे हम कुछ सीख नहीं पाते; बल्कि उलटे किसी एक ही सीढ़ी पर, एक ही व्यक्ति में आसक्त हो जाते और बँध जाते हैं। कभी कभी मनुष्य इस बन्धन से छूट भी जाते हैं। इस संसार में मनुष्य सदा स्त्रियों के पीछे, धन के पीछे, मान के पीछे दौड़ता फिरता है। कभी कभी उसे ऐसी जबरदस्त ठोकर लगती है कि उसकी आँख खुल जाती है और उसे मालूम हो जाता है कि यह संसार यथार्थ में क्या है। इस संसार में कोई भी मनुष्य ईश्वर को छोड़ अन्य किसी वस्तु पर यथार्थ प्रेम नहीं कर सकता। मनुष्य को पता लग जाता है कि मानव-प्रेम हर तरह से खोखला है। मनुष्य प्रेम नहीं कर सकता, वह केवल प्रेम की बातें ही करना जानता है। पत्नी कहती है कि मैं पति से प्रेम करती हूँ और ऐसा कहकर वह अपने पति का चुम्बन करती है। पर ज्यों ही पति की मृत्यु हो जाती है, सबसे पहले उसका ध्यान अपने पति के जमा किये हुए बैंक के धन की ओर जाता है और वह सोचने लगती है कि कल मैं क्या क्या करूँगी। पति पत्नी से प्रेम करता है, पर जब पत्नी बीमार हो जाती है और उसका रूप नष्ट हो जाता है या उसे बुढ़ापा घेर लेता है अथवा पत्नी कोई भूल कर बैठती है, तब पति उस पत्नी की चिन्ता करना छोड़ देता है। संसार का समस्त प्रेम निरा दम्भ है, खोखलापन है।

नाशवान (सान्त) वस्तु प्रेम नहीं कर सकती और न नाशवान (सान्त) वस्तु पर प्रेम ही किया जा सकता है। जब मनुष्य के प्रेम का पात्र हर क्षण मृत्यु-मुख में है और उस मनुष्य की आयु-वृद्धि के साथ साथ सदा उसके मन में भी

परिवर्तन हो रहा है, तो ऐसी अवस्था में संसार में किस शाश्वत प्रेम की आशा की जा सकती है? ईश्वर को छोड़ प्रेम कहीं अन्यत्र कैसे ठहर सकता है? तो फिर इन भिन्न भिन्न प्रेमों का क्या प्रयोजन है? ये प्रेम केवल सोपान मात्र हैं। इसके पीछे एक ऐसी शक्ति है, जो हमें सदा यथार्थ प्रेम की ओर प्रेरित कर रही है। हमें पता नहीं कि हम यथार्थ वस्तु को कहाँ ढूँढ़ें। पर यह प्रेम ही हमें उस मार्ग में--अर्थात् उसकी खोज में--अग्रसर कर रहा है। बारम्बार हमें अपनी ग़लती सूझती है। हम एक वस्तु को ग्रहण करते हैं, पर देखते हैं कि वह हमारी मुट्ठी में से निकली जा रही है, तब हम किसी दूसरी वस्तु को पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार हम क्रमशः आगे बढ़ते चले जाते हैं। एक दिन हमें प्रकाश दिखायी देता है और तब हम परमात्मा के पास पहुँच जाते हैं, और वही एकमात्र प्रेमी है। उसके प्रेम में कभी कोई विकार नहीं होता और उसका प्रेम हमें सदा अपने में लीन करने को प्रस्तुत रहता है। उसके प्रेम में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता और वह सदा हमें अपनाने को तैयार रहता है। यदि मैं तुम लोगों को कष्ट दूँ, तो तुम मुझे कब तक क्षमा करोगे? जिसके मन में क्रोध, घृणा या द्वेष है ही नहीं, जो अपनी समता कभी नहीं खोता, जो न कभी मरता है, न कभी जन्म लेता है, वह ईश्वर के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? पर ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बहुत लम्बा और बड़ा कठिन है, और बहुत ही थोड़े लोग उसे प्राप्त कर पाते हैं। हम सब तो हाथ-पैर पटकनेवाले बच्चे हैं। लाखों मनुष्य तो धर्म को व्यापार बना देते हैं। शताब्दी भर इने-गिने व्यक्ति ही ईश्वर के प्रेम को प्राप्त करते हैं और इनसे समस्त देश कृतार्थ और पवित्र हो जाता है। जब ईश्वर के भक्त का अवतार होता है, तब सारा देश धन्य और पवित्र हो जाता है। यद्यपि सारे संसार में शताब्दी भर में ऐसे भगवद्भक्त बहुत ही कम संख्या में जन्म लेते हैं, तथापि उस ईश्वर-प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न हम सबको करना चाहिए। कौन जानता है कि ईश्वर का पूर्ण प्रेम तुमको या मुझको ही प्राप्त होनेवाला हो? अतः हमें इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

हम कहते हैं कि स्त्री अपने पति से प्रेम करती है, और स्त्री भी समझती है कि उसकी सम्पूर्ण आत्मा अपने पति में ही लीन है। पर उसके जब एक बच्चा उत्पन्न होता है और उसके प्रेम का आधा या उससे भी अधिक अंश उस बालक की ओर खिच जाता है, तब उस स्त्री को स्वयं ऐसा मालूम होने लगता है कि अब पति की ओर उसका प्रेम उसी प्रकार का नहीं रहा। ऐसा ही पिता के प्रेम के साथ भी होता है। हम सदैव यही देखते हैं कि जब हमें कोई अधिक प्रिय वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब हमारे पहले के प्रेम का धीरे धीरे लोप हो जाता है। पाठ-

शाला में पढ़नेवाले बच्चे समझते हैं कि कुछ सहपाठी अथवा उनके माता-पिता ही उनके जीवन में सबसे बढ़कर प्रिय हैं, उसके बाद पति या पत्नी आती है और तुरन्त ही पहले के वे भाव बदल जाते हैं और ये नये प्रेमी ही सर्वोच्च प्रेम-पात्र बन जाते हैं। एक तारे का उदय होता है, उसके बाद उससे बड़ा तारा उगता है, तत्पश्चात् उससे भी बड़ा तारा दिखायी देता है और अन्त में सूर्य का दर्शन होता है, और तब तमाम छोटे छोटे आलोक-बिन्दु विलीन हो जाते हैं। परमात्मा मानो सूर्य है और ये छोटे छोटे प्रेम-पात्र तारा-मंडल। जब वह सूर्य मनुष्य पर प्रकट होता है, तब वह उन्मत्त हो जाता है। ऐसे मनुष्य को इमर्सन 'भगवतोन्मत्त पुरुष' कहते हैं। वह मनुष्य ईश्वर-रूप हो जाता है और समस्त पदार्थ उस प्रेम के समुद्र में डूब जाते हैं। साधारण प्रेम केवल पाशविक आकर्षण मात्र होता है। यदि ऐसा न होता, तो स्त्री-पुरुष के भेद की आवश्यकता ही क्या थी? कैसी विचित्र बात है कि यदि मूर्ति के सामने कोई घुटना टेकता है, तब तो वह कार्य भयावह मूर्ति-पूजा कहलाता है और जब कोई अपने पति या पत्नी के पैरों पर गिरता है, तो वह क्षम्य माना जाता है!

इस संसार में हमें प्रेम के विविध स्तर प्राप्त होते हैं। पहले हमें अपना मार्ग परिष्कृत करना होगा। हम अपने जीवन को जिस दृष्टि से देखेंगे, उसीके आधार पर हमारे प्रेम का सारा सिद्धान्त अवलम्बित रहेगा। इस संसार को ही जीवन का अन्तिम ध्येय और साध्य मान लेना निरी पाशविक और अवनतिकारी भावना है। जो मनुष्य ऐसी भावना लेकर अपने जीवन-पथ पर क़दम रखता है, वह अपने को अवनत करता है। ऐसा मनुष्य कभी अपने को ऊँचा नहीं उठा सकता; वह कभी भी जगत् के पीछे की उस दिव्य ज्योति की झलक प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो सदा इन्द्रियों का ही दास बना रहेगा और केवल पूंजी बटोरने के संघर्ष में लगा रहेगा, जिससे उसे खाने को कुछ रोटियाँ मिल जाया करें। ऐसी ज़िन्दगी से तो मर जाना ही बेहतर है! हम इस संसार के दास हैं; इन इन्द्रियों के दास हैं, हमें अपने को जगाना है, इन भोगों के जीवन से कोई ऊँची वस्तु है। तुम क्या समझते हो कि यह मानव—यह अनन्त आत्मा—अपनी आँख, कान और नाक का दास बनने के लिए ही पैदा हुआ है? इसके पीछे एक अनन्त सर्वदर्शी आत्मा विद्यमान है, जो सब कुछ करने में समर्थ है, जो समस्त बन्धनों को तोड़ सकती है। यथार्थ में हम वह आत्मा ही हैं और प्रेम के द्वारा ही वह शक्ति हम प्राप्त कर सकते हैं। अतः स्मरण रखो कि यही हमारा आदर्श है। पर यह आदर्श हमें एक ही दिन में प्राप्त होनेवाला नहीं है। हम कल्पना कर सकते हैं कि हमें वह आदर्श प्राप्त हो गया, पर आखिर वह कल्पना मात्र होगी। वह आदर्श हमसे दूर—बहुत दूर—

है। जिस अवस्था में मनुष्य अभी है, उसे वहीं से आगे बढ़ने में सहायता देनी चाहिए। मनुष्य इस जड़-सृष्टि को यथार्थ मानता है। हम-तुम सभी जड़वादी हैं। हम ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में बातें करते हैं, सो ठीक है, पर इस प्रकार बातें करना समाज का प्रचलन मात्र ही है। हमने इन शब्दों को तोते की तरह रट लिया है और हम उन शब्दों का उच्चारण कर दिया करते हैं। अतः आज हम जड़वादी के रूप में जहाँ भी हैं, वहीं से प्रारम्भ करना होगा। हमें जड़-वस्तु की सहायता लेते हुए क्रमशः धीरे धीरे आगे बढ़ना होगा। तभी हम अंततः यथार्थ आत्मवादी बन सकेंगे; तभी हम यह अनुभव करने लगेंगे कि हम आत्मा हैं; तभी हम आत्मा को समझेंगे और हमें यह पता लगेगा कि यह संसार, जिसे हम अनन्त कहा करते हैं, उस वस्तु का केवल स्थूल बाह्य रूप है, जो उसके पीछे वर्तमान है।

परन्तु इसके सिवा कुछ और भी आवश्यक है। तुम लोगों ने बाइबिल में ईसा मसीह के 'शैलोपदेश' (Sermon on the Mount) में पढ़ा होगा—'माँगो और वह तुमको दे दिया जायगा; ढूँढ़ो और तुम पा जाओगे, दरवाज़ा खटखटाओ और वह तुम्हारे लिए खोल दिया जायगा।' पर कठिनाई तो यह है कि ढूँढ़ता कौन है? चाहता कौन है? हम सब कहते हैं कि हम ईश्वर को जानते हैं। यदि एक मनुष्य यह सिद्ध करने के लिए कि 'ईश्वर नहीं है' एक बृहत् ग्रन्थ लिखता है, तो दूसरा, ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए एक दूसरा ग्रन्थ लिख डालता है। एक मनुष्य अपनी सारी उम्र ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना ही अपना कर्तव्य समझता है, तो दूसरा उस मत का खण्डन करना ही उचित समझता है; और इसलिए वह मनुष्यों को यही उपदेश देता फिरता है कि ईश्वर है ही नहीं। ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन या मण्डन करने के लिए पुस्तकें लिखने का क्या प्रयोजन? ईश्वर हो, चाहे न हो, इससे अधिकांश लोगों का क्या बनता-बिगड़ता है? अधिकांश मनुष्य यन्त्र के सदृश काम करते रहते हैं, न तो ईश्वर का कोई विचार उनके मन में आता है और न ईश्वर की कोई आवश्यकता उन्हें प्रतीत होती है। ऐसा करते करते एक दिन काल आ पहुँचता है और पुकारता है, "चलो!" उस समय वह मनुष्य कहता है, "ज़रा ठहरो, मुझे कुछ समय और चाहिए, मेरा बेटा थोड़ा बड़ा हो जाय!" परन्तु काल कहता है, "चलो, तुरन्त चलो।" बस, ऐसा ही हुआ करता है। बेचारे श्री अमुक चल दिये। उस बेचारे से हम क्या कहें? अपनी ज़िन्दगी में उसे कभी कोई ऐसी चीज़ नहीं मिली, जो उसे बतला देती कि ईश्वर ही सर्वोत्तम पदार्थ है। सम्भवतः वह पूर्व जन्म में शूकर रहा हो और अब मनुष्य-योनि में अधिक अच्छी अवस्था

में था। पर इस दुनिया में कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिनकी कुछ जागृति हो चुकी है। कोई विपत्ति आ पड़ती है, हमारे किसी प्रियतम की मृत्यु हो जाती है, जिस पर हमने अपनी सारी आत्मा समर्पित कर दी थी, जिसके लिए हम सारे संसार को, यहाँ तक कि अपने सगे भाई को भी ठगा करते थे, जिसके लिए हम तरह तरह के घृणित कार्य करते भी नहीं हिचकते थे, वही एक दिन मृत्यु के कराल गाल में प्रविष्ट हो जाता है, तब हमें एक ज़ोर का धक्का लगता है। हमारी आत्मा से एक आवाज़ निकलती है, और पूछती है, "कहो, अब आगे क्या होगा?" हाँ, कभी कभी मृत्यु से कोई आघात नहीं पहुँचता, पर ऐसे प्रसंग बहुत कम होते हैं। जब कोई वस्तु हमारे हाथ से निकल जाती है, तब हममें से अधिकांश चिल्ला उठते हैं, "अब क्या होगा?" इन्द्रियों पर यह हमारी कैसी घोर आसक्ति है! तुमने सुना ही है कि डूबता मनुष्य तिनके का सहारा पकड़ता है। मनुष्य पहले तो तिनके को ही पकड़ता है और जब वह तिनका उसकी सहायता नहीं कर पाता, तब वह किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा करता है। फिर भी लोग उच्चतर वस्तुओं की प्राप्ति होने के पूर्व यौवन की मूर्खताओं में अवश्य पड़ जाते हैं।

भक्ति एक धर्म है। धर्म बहुत से लोगों की चीज़ नहीं होती। ऐसा होना **असम्भव है।** घुटनों की कवायद, उठक-बैठक तो बहुत से लोगों के करने की चीज़ हो सकती है, पर 'धर्म' तो केवल थोड़े से ही व्यक्तियों की वस्तु है। प्रत्येक देश में कुछ सौ ही मनुष्य ऐसे होते हैं, जो धार्मिक हो सकते हैं और होंगे। शेष लोग धार्मिक नहीं हो सकते, क्योंकि एक तो वे जाग्रत नहीं होते, और न उन्हें वैसी इच्छा ही होती है। मुख्य बात है ईश्वर-प्राप्ति की आकांक्षा। हमारे सभी स्वार्थों की पूर्ति बाहरी संसार के द्वारा हो जाती है। अतः हमें ईश्वर के सिवा अन्य सभी वस्तुओं की आकांक्षा होती है। अतः जब हमें इस बाह्य संसार के उस पार की चीज़ों की आवश्यकता होती है, तभी हम उनकी पूर्ति अन्तःस्थ स्रोत या ईश्वर से करना चाहते हैं। हमारी आवश्यकताएँ जब तक इस भौतिक सृष्टि की संकुचित सीमा के भीतर की वस्तुओं तक ही परिसीमित रहती हैं, तब तक हमें ईश्वर की कोई ज़रूरत नहीं पडती। जब हम यहाँ की हर एक चीज़ से तृप्त होकर ऊब जाते हैं, तभी हमारी दृष्टि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस सृष्टि के परे दौड़ती है। जब आवश्यकता होती है, तभी उसकी माँग भी होती है। इसलिए इस संसार की बालक्रीड़ा से, जितनी जल्दी हो सके, निपट लो। तभी तुम्हें इस संसार के परे की किसी वस्तु की आवश्यकता प्रतीत होगी और धर्म के प्रथम सोपान पर तुम क़दम रख सकोगे।

धर्म का एक वह रूप है, जो केवल फ़ैशन हो गया है ! मेरी मित्र की बैठक फ़र्नीचर से भरी हुई है; जापानी फूलदान रखना एक फ़ैशन है, अतः वे भी जापानी फूलदान रखेंगी, चाहे उसके लिए उन्हें हज़ार डॉलर भले ही खर्च करने पड़ें ! इसी तरह वे एक नन्हा सा धर्म भी अपनाना चाहती हैं और किसी धर्म-संघ या चर्च में शामिल हो जाती हैं। पर 'भक्ति' ऐसों के लिए नहीं है। यह 'चाह' नहीं है। 'चाह' वह है, जिसके बिना हम जी न सकें। हमें हवा की आवश्यकता है, भोजन की आवश्यकता है, कपड़ों की आवश्यकता है; इनके बिना हम जी नहीं सकते। जब मनुष्य इस संसार में किसी स्त्री से प्रेम करता है, तब कभी कभी उसे प्रतीत होता है कि उस स्त्री के बिना वह जी ही नहीं सकता, यद्यपि उसकी यह भावना मिथ्या है। जब पति मरता है, तब पत्नी समझती है कि मैं पति के बिना नहीं जी सकती, पर फिर भी वह जीती ही है। किसी वस्तु की आवश्यकता की जाँच यही है कि उस वस्तु के अभाव में जीना असम्भव हो जाय ——या तो हमें उस वस्तु की प्राप्ति हो या उसके बिना हम मर जायँ। जब हमें ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा ही लगने लगे, अर्थात् संसार के उस पार की किसी वस्तु की——ऐसी वस्तु की आवश्यकता अनुभव करने लगें, जो इन समस्त जड़ या भौतिक शक्तियों से परे है, उनसे ऊपर है——तभी हम 'भक्त' बनते हैं। जब क्षण भर के लिए बादल हट जाता है और हम इस संसार के उस पार की एक झलक पा जाते हैं, जब उस एक क्षण के लिए ये ऐहिक नीच वासनाएँ सिन्धु में एक बिन्दु के समान मालूम पड़ती हैं, उस समय हमारे लघु जीवन में क्या रह जाता है ? तभी आत्मा का विकास होता है, उसे ईश्वर का अभाव खटकता है, ईश्वर-प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कण्ठा होती है और उसे पाये बिना वह रह नहीं सकता !

इसलिए पहली सीढ़ी यह है कि हम चाहते क्या हैं ? क्या हमें ईश्वर चाहिए ? हम यह प्रश्न अपने से प्रतिदिन करें। तुम भले ही संसार की सारी पुस्तकें पढ़ डालो; पर यह प्रेम न तो वाग्मिता द्वारा, न तीव्र बुद्धि से और न शास्त्रों के अभ्यास से ही प्राप्त किया जा सकता है। जिसे ईश्वर की चाह है, उसीको भक्ति की प्राप्ति होगी, और ईश्वर स्वयं को उसे देता है।[१] प्रेम सर्वदा पारस्परिक और परावर्तक होता है। तुम मुझसे घृणा करते हो, और यदि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, तो तुम मुझे दूर ही रखना चाहोगे। पर यदि मैं तुमसे सतत प्रेम करता ही रहूँ,

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

——कठोपनिषद्॥१।२।२३॥

तो महीने या वर्ष भर में तुम मुझसे अवश्य ही प्रेम करने लगोगे। यह एक सुविज्ञात मनोवैज्ञानिक तथ्य है। जिस प्रकार प्रेमव्रता पत्नी अपने गत पति का चिन्तन करती है, उसी प्रकार के प्रेम से हमें ईश्वर-प्राप्ति के लिए व्याकुल होना चाहिए, तभी हमें ईश्वर की प्राप्ति होगी। समस्त ग्रन्थ और शास्त्र हमें कुछ भी नहीं सिखा सकते। पुस्तकों को रटकर हम तोते बन जाते हैं। पुस्तकों को पढ़कर कोई पंडित नहीं होता। जो मनुष्य केवल 'प्रेम' का एक शब्द पढ़ लेता है, वही पंडित है। अतः हमारी पहली आवश्यकता है, व्याकुलता।

प्रतिदिन हम अपने आपसे यही प्रश्न करें—क्या हमें ईश्वर को प्राप्त करने की लालसा है? जब हम धर्म की बातें करें और खासकर जब हम ऊँचा आसन ग्रहण करके दूसरों को उपदेश देने लगें, तब हमें अपने से यही प्रश्न पूछना चाहिए। मैं अनेक बार देखता हूँ कि मुझे ईश्वर की चाह नहीं है; मुझे रोटी की चाह उससे अधिक है। यदि मुझे एक टुकड़ा रोटी न मिले, तो मैं पागल हो जाऊँगा। हीरे की पिन बिना बहुतेरी महिलाएँ पागल हो जायँगी। पर उन्हें ईश्वर-प्राप्ति के लिए इसी प्रकार की लालसा नहीं है। विश्व की 'उस एकमात्र यथार्थ वस्तु' का उन्हें ज्ञान नहीं है। हमारी भाषा में एक कहावत प्रचलित है—'मारै तो हाथी, लूटै तो भण्डार।' भिखारियों को लूटकर या चीटियों का शिकार करके क्या लाभ हो सकता है? अतः यदि प्रेम करना है, तो ईश्वर से प्रेम करो। इन सांसारिक वस्तुओं की परवाह कौन करता है? यह संसार बिल्कुल मिथ्या है। संसार के सभी महान् मनीषी इसी नतीज़े पर पहुँचे हैं। इस संसार से निकलने का मार्ग ईश्वर के अतिरिक्त और दूसरा नहीं है। वही (ईश्वर) हमारे जीवन का ध्येय है। वे मत, जो संसार को जीवन का ध्येय बताते हैं, अनर्थकारी हैं। इस संसार और इस शरीर का भी मूल्य है, पर वह गौण है, वे साध्य की प्राप्ति के साधन मात्र हैं। किन्तु संसार हमारा साध्य नहीं बन सकता। दुर्भाग्यवश हम संसार को प्रायः साध्य वस्तु और ईश्वर को उसका साधन बना बैठते हैं। हम देखते हैं, लोग गिरजाघर में जाकर कहा करते हैं, "हे ईश्वर! मुझे यह वस्तु दे, वह वस्तु दे! हे ईश्वर! मेरी बीमारी अच्छी कर दे।" उनको सुन्दर नीरोग शरीर चाहिए और उन्होंने सुन रखा है कि ऐसा कोई व्यक्ति एक जगह बैठा है, जो उनके इस काम को कर देगा; इसलिए वे जाते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं। धर्म के संबंध में ऐसे विचार रखने की अपेक्षा नास्तिक होना बेहतर है। जैसा मैं बता चुका हूँ, यह 'भक्ति' सर्वोच्च आदर्श है। मैं कह नहीं सकता कि भविष्य में करोड़ों वर्षों में भी हमें उस आदर्श (या भक्ति) की प्राप्ति होगी या नहीं। पर हमें तो उस (भक्ति) को अपना सर्वोच्च आदर्श बनाना ही चाहिए

और अपनी समस्त इन्द्रियों को उस सर्वोच्च आदर्श की ओर ही उन्मुख कर देना चाहिए। इससे यदि हमें अपने साध्य की प्राप्ति न भी होगी, तो कम से कम हम उसके अधिक निकट तो अवश्य पहुँच जायँगे। संसार और इन्द्रियों में से ही धीरे धीरे अपना रास्ता बनाते हुए हमें ईश्वर तक पहुँचना है।

आध्यात्मिक गुरु

यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा को पूर्णता की प्राप्ति होगी और अन्त में सभी प्राणी उस पूर्णावस्था को प्राप्त करेंगे। हम इस समय जो भी हैं, वह हमारे पिछले अस्तित्व और विचारों का परिणाम है तथा हमारी भविष्य की अवस्था हमारे वर्तमान कार्यों और विचारों पर अवलम्बित रहेगी। किन्तु इससे हमारे लिए दूसरों से सहायता प्राप्त करना वर्जित नहीं हो जाता। किसी बाह्य सहायता से आत्मशक्तियों का विकास अधिक तेज़ी से होने लगता है। अतः संसार के अधिकांश मनुष्यों के लिए बाह्य सहायता की प्रायः अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। हमारे विकास को स्फुरित करनेवाला प्रभाव बाहर से आता है और हमारी प्रसुप्त शक्तियों को जगा देता है। तभी से हमारी उन्नति का प्रारम्भ होता है, आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ होता है और अन्त में हम पावन और पूर्ण बन जाते हैं। यह स्फुरित शक्ति, जो बाहर से आती है, हमें पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकती; एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही प्रेरणा प्राप्त कर सकती है, किसी अन्य वस्तु से नहीं। हम जन्म भर पुस्तकों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक भी हो जायँ, पर अन्त में देखेंगे कि आध्यात्मिक दृष्टि से हम कुछ भी विकसित नहीं हुए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उच्च श्रेणी के बौद्धिक विकास के साथ मनुष्य का आत्मिक विकास भी समतुल्य हो जाय। प्रत्युत हम प्रायः यही देखते हैं कि बुद्धि का उच्च विकास आत्मा की ही वेदी पर होता है।

बुद्धि की उन्नति करने में तो हमें पुस्तकों से बहुत सहायता प्राप्त होती है, पर आत्मा के विकास में उनसे लगभग शून्यप्राय ही सहायता प्राप्त होती है। ग्रन्थों का अध्ययन करते करते कभी कभी हम भ्रमवश ऐसा सोचने लगते हैं कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति में इस अध्ययन से सहायता मिल रही है। पर जब हम अपना आत्म-विश्लेषण करते हैं, तब पता लगता है कि ग्रन्थों से केवल हमारी बुद्धि को ही सहायता मिली है, आत्मा को नहीं। यही कारण है कि हर व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों पर अद्‌भुत व्याख्यान तो दे सकता है, पर जब कार्य करने का अवसर आता है, तो वह अपने को बिलकुल निकम्मा पाता है। कारण यह है कि जो बाह्य शक्ति हमें आत्मोन्नति के पथ में आगे बढ़ाती है, वह हमें पुस्तकों

द्वारा नहीं मिल सकती। आत्मा को स्फुरित करने के लिए ऐसी शक्ति किसी दूसरी आत्मा से ही प्राप्त होनी चाहिए।

जिस आत्मा से यह शक्ति मिलती है, उसे गुरु या आचार्य कहते हैं और जिस आत्मा को यह शक्ति प्रदान की जाती है, वह शिष्य या चेला कहलाता है। इस शक्ति के संप्रेषण के लिए पहले तो यह आवश्यक है कि जिस आत्मा से यह शक्ति संचारित होती है, उसमें उस शक्ति को अपने पास से दूसरे में संप्रेषित कर सकने की क्षमता हो, और दूसरी आवश्यकता यह है कि जिसको वह शक्ति संप्रेषित की जाय, उसमें उसको ग्रहण करने की क्षमता हो। बीज सजीव हो और खेत अच्छी तरह से जुता हुआ हो। जब ये दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब धर्म की आश्चर्यजनक उन्नति होती है। 'धर्म का वक्ता अलौकिक हो और श्रोता भी वैसा ही हो।' और जब दोनों अलौकिक या असाधारण होंगे, तभी अत्युत्तम आत्मिक विकास सम्भव है, अन्यथा नहीं। ऐसे ही लोग यथार्थ गुरु हैं और ऐसे ही लोग यथार्थ शिष्य। अन्य तो मानो धर्म का केवल खिलवाड़ करते हैं। वे थोडा सा बौद्धिक प्रयास तथा कुछ कुतूहलपूर्ण शंकाओं का समाधान करते रहते हैं। उनके बारे में हम कह सकते हैं कि वे मानो धर्म-क्षेत्र की केवल बाहरी परिधि पर खड़े हैं। पर उसकी भी कुछ न कुछ सार्थकता है--धर्म की सच्ची प्यास उससे जाग्रत हो सकती है; समय आने पर ही सब कुछ प्राप्त होता है। प्रकृति का यह एक रहस्यपूर्ण नियम है कि खेत तैयार होते ही बीज मिलता है। ज्यों ही आत्मा को धर्म की आवश्यकता होती है, त्यों ही धार्मिक शक्ति का देनेवाला कोई न कोई आना ही चाहिए। 'खोज करनेवाले पापी की भेंट खोज करनेवाले उद्धारक से हो ही जाती है।' जब ग्रहण करनेवाली आत्मा की आकर्षण-शक्ति पूर्ण और परिपक्व हो जाती है, उस समय उस आकर्षण का उत्तर देनेवाली शक्ति आनी ही चाहिए।

पर मार्ग में बड़े ख़तरे भी हैं। एक खतरा यह है कि कहीं ग्रहीता आत्मा (शिष्य) अपने क्षणिक आवेश को यथार्थ धार्मिक पिपासा न समझने लगे। ऐसा हमें स्वयं अपने में भी मिलेगा। हमारे जीवन में प्रायः ऐसा घटित होता है कि जिस व्यक्ति पर हमारा बहुत प्रेम है, वह अचानक मर जाता है, उसकी मृत्यु से हमें धक्का पहुँचता है; क्षण भर के लिए हम सोचते हैं कि यह संसार हाथ से निकला जा रहा है, हमें संसार से कुछ उच्चतर वस्तु चाहिए और अब हम धार्मिक होने जा रहे हैं। पर कुछ दिनों के बाद वह तरंग निकल जाती है और हम जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं। हमें अनेक बार इन आवेशों में धर्म की सच्ची पिपासा का भ्रम हो जाता है। पर जब तक इन क्षणिक आवेशों में हमें इस प्रकार का भ्रम होता रहेगा, तब

तक हमारी आत्मा की वह सतत यथार्थ पिपासा जाग्रत नहीं होगी और हमें 'शक्ति-दाता' (गुरु) प्राप्त न होंगे।

अतः जब हमारे मन में यह शिकायत उठे कि हमें सत्य की प्राप्ति नहीं हुई है, यद्यपि हम उसकी प्राप्ति के लिए इतने व्याकुल हैं, उस समय हमारा प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम आत्म-निरीक्षण करें और पता लगायें कि क्या हमें वास्तव में उस (सत्य या धर्म) की पिपासा है? अक्सर तो यही दिखेगा कि हमीं उसके योग्य नहीं हैं, हमें धर्म की आवश्यकता ही नहीं है, हममें अभी आध्यात्मिक पिपासा ही नहीं है।

'शक्तिदाता' गुरु के लिए तो और भी अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। बहुतेरे तो ऐसे हैं, जो स्वयं अज्ञान में डूबे रहने पर भी अपने अन्तःकरण में भरे अहंकार के कारण, अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरों का भार अपने कन्धे पर उठाना चाहते हैं और इस प्रकार 'अन्धा अन्धे को राह दिखावे' वाली कहावत चरितार्थ करते हुए अपने साथ उन्हें भी गड्ढे में ले गिरते हैं। संसार में ऐसों की ही भरमार है। हर कोई गुरु होना चाहता है, हर भिखारी लक्ष मुद्रा का दान करना चाहता है। जैसे ये भिखारी हँसी के पात्र हैं, वैसे ही ये गुरु भी।

तब प्रश्न यह है कि गुरु की पहचान हमें कैसे हो? सूर्य को दिखाने के लिए मशाल या दीपक की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य को देखने के लिए हम मोम-बत्ती नहीं जलाते। सूर्य का उदय होते ही उसके उदित होने का ज्ञान हमें स्वभावतः ही हो जाता है। उसी प्रकार जब हमें सहायता देने के लिए किसी जगद्गुरु का आगमन होता है, तब आत्मा को अपने स्वभाव से ही ऐसा लगने लगता है कि उसे सत्य की प्राप्ति हो गयी। सत्य स्वयंसिद्ध होता है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। सत्य स्वयंप्रकाश होता है। वह हमारी प्रकृति की अन्तरतम गुहाओं तक को भेद देता है और समस्त विश्व उठ खड़ा होता और कहता है, 'यही सत्य है।' महान् आचार्य ऐसे ही होते हैं। पर हम तो इनकी अपेक्षा छोटे आचार्यों से भी सहायता पा सकते हैं। किन्तु जिनके पास से हम दीक्षा लेना चाहते हैं या जिन्हें हम गुरु बनाना चाहते हैं, उनके विषय में ठीक या उचित राय क़ायम कर सकने के लिए पर्याप्त अन्तःशक्ति हममें बहुधा नहीं होती; इसलिए कुछ कसौटियों की आवश्यकता है। जिस प्रकार शिष्य में कुछ लक्षणों का रहना आवश्यक है, उसी प्रकार गुरु में भी कुछ लक्षण होने चाहिए।

पवित्रता, यथार्थ ज्ञान-पिपासा और धैर्य—ये लक्षण शिष्य में अवश्य हों। अपवित्र आत्मा कभी धार्मिक नहीं हो सकती। सबसे बड़ी आवश्यकता इसी पवित्रता की है। सब प्रकार की पवित्रता नितान्त आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति की यथार्थ पिपासा हो। प्रश्न यही है

कि चाहता कौन है? हम जो चाहते हैं, वही मिलता है, यह पुराना नियम है। जो चाहता है, वह पाता है। धर्म की चाह बड़ी कठिन बात है। इसे हम साधारणत: जितना सरल समझते हैं, उतना सरल नहीं है। फिर हम यह तो सदा भूल ही जाते हैं कि व्याख्यान सुनना या पुस्तकें पढ़ना धर्म नहीं है। धर्म तो एक सतत संघर्ष है। स्वयं अपनी प्रकृति का दमन करते रहना; जब तक उस पर विजय प्राप्त न हो जाय, तब तक निरन्तर लड़ते रहने का नाम धर्म है। यह एक या दो दिन, कुछ वर्षों या जन्मों का प्रश्न नहीं है। इसमें तो सैकड़ों जन्म बीत जायँ, तो भी हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सम्भव है, हमें अपनी प्रकृति पर तुरन्त विजय मिल जाय; या सम्भव है, सैकड़ों जन्म तक हमें यह विजय प्राप्त न हो; पर हमें उसके लिए तैयार रहना आवश्यक है। जो शिष्य इस भावना के साथ अग्रसर होता है, उसको सफलता मिलती है।

गुरु में पहले तो हमें यह देखना चाहिए कि वह शास्त्रों के मर्म को जानता हो। सारा संसार बाइबिल, वेद, क़ुरान आदि आदि धर्मशास्त्रों को पढ़ता है, पर ये सब तो केवल शब्द, बाह्य विन्यास, वाक्य-रचना, शब्द-रचना और भाषाविज्ञान ही हैं, धर्म की सूखी, नीरस अस्थियाँ मात्र। गुरु चाहे किसी ग्रन्थ का काल-निर्णय कर ले, पर शब्द तो वस्तुओं का बाहरी रूप मात्र है। जो शब्द की ही उलझन में अधिक पड़े रहते हैं और अपने मन को शब्दों की शक्ति में ही दौड़ाया करते हैं, वे भाव को खो बैठते हैं। इसीलिए गुरु को धर्मशास्त्रों के मर्म को जानना आवश्यक है। शब्दों का जाल गहन अरण्य के समान है, जहाँ मनुष्य का मन भटक जाता है और बाहर निकलने का मार्ग नहीं पाता। 'शब्द-योजना की विभिन्न रीतियाँ, सुन्दर भाषा बोलने की विभिन्न शैलियाँ, शास्त्रों के अर्थ समझाने के अनेक रूप—ये सब विद्वानों के आनन्द-भोग की वस्तुएँ हैं; इनसे किसीको मुक्ति नहीं मिल सकती।'[१] जो लोग इन सबका प्रयोग करते हैं, वे तो अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए ही ऐसा करते हैं, जिससे संसार उनकी स्तुति करे और यह जाने कि वे विद्वान् हैं। तुम देखोगे कि संसार के किसी भी महान् आचार्य ने शास्त्र के वाक्यों के अनेक अर्थ नहीं किये, न शब्दों की खींचातानी का कोई प्रयत्न किया, न उन्होंने यह कहा कि इस शब्द का अर्थ अमुक है और इस शब्द तथा उस शब्द के बीच भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार का सम्बन्ध है। संसार में जितने महान् आचार्य हुए हैं, उनका चरित्र अध्ययन करो, तो कोई भी ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने इस मार्ग

---

१. वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये।। विवेकचूडामणि ।।५८।।

का अवलम्बन किया हो। फिर भी इन्ही आचार्यों ने यथार्थ शिक्षा दी। और दूसरे लोगों ने, जिनके पास सिखाने को कुछ नहीं था, एक ही शब्द को ले लिया और उस पर तीन तीन जिल्दों की पोथी रच डाली! मेरे गुरुदेव मुझसे कहा करते थे कि तुम ऐसे लोगों को क्या कहोगे, जो आम के बाग़ में जाने पर पेड़ों की पत्तियाँ गिनने, पत्तों के रंग जाँचने, शाखाओं की मोटाई नापने तथा उनकी संख्या गिनने इत्यादि में लगे रहें, जब कि उनमें से केवल एक ही में आम खाने की बुद्धि हो। अतः पत्ते और शाखाओं की गिनती करना और टिप्पणी तैयार करना दूसरों के लिए छोड़ दो। इन सब कार्यों का महत्त्व अपने उपयुक्त स्थान में है, पर इस धार्मिक क्षेत्र में नहीं। ऐसी चेष्टा से मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकते। इन 'पत्ते गिनने-वालों' में तुम्हें श्रेष्ठ धार्मिक शक्तिसम्पन्न मनुष्य कदापि नहीं मिल सकता। मनुष्य का सर्वोपरि उद्देश्य, सर्वश्रेष्ठ पराक्रम धर्म है, किंतु उसके लिए 'पत्ते गिनने' की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि तुम ईसाई होना चाहते हो, तो यह जानना आवश्यक नहीं कि ईसा मसीह कहाँ पैदा हुए थे—जेरूसलेम में या बेथेलहम में; या उन्होंने 'शैलोपदेश' ठीक किस तारीख़ को सुनाया था; तुम्हें तो केवल उस 'शैलोपदेश' के अनुभव करने की आवश्यकता है। यह उपदेश किस समय दिया गया, इस विषय में दो हज़ार शब्द पढ़ने की ज़रूरत नहीं। वह सब विद्वानों के विलास के लिए है। उन्हें उसे भोगने दो; 'तथास्तु' कह दो और आओ, हम आम खायें।

दूसरी आवश्यकता यह है कि गुरु निष्पाप हों। इंग्लैण्ड में मुझसे एक मित्र पूछने लगे, "गुरु के व्यक्तित्व को हम क्यों देखें? हमें तो उनके उपदेशों को ही विचार करके ग्रहण कर लेना चाहिए?" नहीं, ऐसा ठीक नहीं। यदि कोई मनुष्य मुझे गतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, या कोई अन्य भौतिक विज्ञान सिखाना चाहता है, तब तो उस शिक्षक का आचरण चाहे जैसा भी हो, वह मुझे इन विषयों की शिक्षा दे सकता है, क्योंकि इन विषयों के सिखाने के लिए केवल बौद्धिक ज्ञान की ही आवश्यकता है। केवल बुद्धि-बल के द्वारा ही इन विषयों की शिक्षा दी जा सकती है, क्योंकि इन विषयों में, आत्मा की ज़रा सी भी उन्नति हुए बिना मनुष्य में बुद्धि की विराट् शक्ति का उत्पन्न होना संभव है। पर आध्यात्मिक विज्ञानों के सम्बन्ध में तो आदि से अन्त तक अपवित्र आत्मा में धर्म की ज्योति का होना असंभव है। ऐसी आत्मा सिखलायेगी ही क्या? वह तो कुछ जानती ही नहीं। पवित्रता ही आध्यात्मिक सत्य है। 'पवित्र हृदयवाले धन्य हैं, क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करेंगे।' इस एक वाक्य में सब धर्मों का निचोड़ है। यदि तुमने इतना ही जान लिया, तो भूतकाल में जो कुछ इस विषय में कहा गया है और भविष्य काल में

जो कुछ कहा जा सकता है, उन सबका ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो गया। तुम्हें और किसी ओर दृष्टिपात करने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि तुम्हें इस एक वाक्य में ही सारी आवश्यक सामग्री प्राप्त हो गयी। यदि संसार के सभी धर्मशास्त्र नष्ट हो जायँ, तो अकेला यह वाक्य ही संसार का उद्धार कर सकेगा। आत्मा के पवित्र हुए बिना, ईश्वर का दर्शन, इस जगत् के परे की झाँकी कभी नहीं मिल सकती। इसीलिए आध्यात्मिकता का उपदेश करनेवाले गुरु में पवित्रता का होना अनिवार्य है; पहले हमें यह देखना चाहिए कि वे (गुरु) 'क्या हैं', और तदुपरान्त वे 'क्या कहते हैं।' बौद्धिक विषयों के आचार्यों के पक्ष में यह बात आवश्यक नहीं है, वहाँ तो जो वे हैं, उसकी अपेक्षा जो वे कहते हैं, उसीको हम महत्त्व देते हैं। पर धार्मिक गुरु के विषय में हमें पहले और सर्वोपरि यह देख लेना चाहिए कि वे क्या हैं, और तभी उनके उपदेश का मूल्य है; क्योंकि वह तो संप्रेषण करनेवाला होता है। यदि स्वयं गुरु में वह आध्यात्मिक शक्ति न हो, तो वह शिष्य में किसका संचार करेगा? जैसे, यदि गर्मी पहुँचानेवाला पदार्थ स्वयं गर्म हो, तभी वह गर्मी के स्पंदन संप्रेषित कर सकेगा, अन्यथा नहीं। ठीक यही बात गुरु के उन मानस-स्पंदनों के संबंध में सत्य है, जिन्हें वह शिष्य में संचरित करता है। प्रश्न संवाहन का है, केवल हमारी बौद्धिक क्षमताओं को उत्तेजित करने की बात नहीं है। कोई यथार्थ तथा प्रत्यक्ष शक्ति गुरु से निकलकर जाती है और शिष्य के हृदय में पल्लवित होने लगती है। इसी कारण गुरु का सच्चा होना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

तीसरी बात है उद्देश्य। हमें देखना चाहिए कि गुरु नाम, यश अथवा अन्य किसी ऐसे ही उद्देश्य से तो उपदेश नहीं देते, वरन् केवल प्रेम के निमित्त शिष्य के प्रति शुद्ध प्रेम से परिचालित होकर उपदेश देते हैं। क्योंकि केवल प्रेम के ही माध्यम द्वारा गुरु से शिष्य में आध्यात्मिक शक्तियों का संचार किया जा सकता है। अन्य किसी माध्यम द्वारा इन शक्तियों का संचार नहीं हो सकता। अर्थ-प्राप्ति या कीर्ति-लाभ आदि किसी अन्य उद्देश्य से प्रेरित होने पर संप्रेषण का माध्यम तत्काल नष्ट हो जाता है। अतः यह सब प्रेम द्वारा ही होना चाहिए। जिसने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, वही गुरु हो सकता है। जब तुमको गुरु में ये आवश्यक बातें मिल जायँ, तो तुम निरापद हो, तुम्हें कोई डर नहीं। और यदि ये बातें गुरु में न हों, तो उनको स्वीकार करना बुद्धिमानी नहीं है। कारण, यदि वे सद्भाव का संचार नहीं कर सकते, तो कभी कभी उनसे दुर्भाव के ही संचार होने का डर रहता है। इस बात के प्रति सजग रहना चाहिए। अतः स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि हम किसी भी ऐरे-ग़ैरे से उपदेश नहीं ले सकते।

नदी-नालों और पत्थरों के प्रवचन करने की बात काव्यालंकार के रूप में तो ठीक हो सकती है, पर जिसके भीतर सत्य नहीं है, वह सत्य का अणु मात्र भी उपदेश नहीं कर सकता। नदी-नाले किसे प्रवचन देते हैं? उसी मानव आत्मा को, जिसका जीवन-कमल पहले ही मुकुलित हो चुका है। जब हृदय खुल जाता है, तब उसे नालों, पत्थरों से भी उपदेश प्राप्त हो सकता है, इन सबसे धार्मिक शिक्षा मिल सकती है। पर जो हृदय खुला नहीं है, उसे तो नाले और पत्थर के अतिरिक्त और कुछ दिखेगा ही नहीं। अन्धा आदमी अजायबघर भले ही चला जाय, पर उसके हाथ केवल आना और जाना ही लगेगा। यदि उसे कुछ देखना है, तो पहले उसकी आँखें खुलनी चाहिए। धर्म की आँखों को खोलनेवाला गुरु होता है। अतः गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध पूर्वज और वंशज का होता है। गुरु धार्मिक पूर्वज और शिष्य उसका धार्मिक वंशज होता है। स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की बातें चाहे जितनी अच्छी लगें, पर विनय, नम्रता, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास के बिना कोई धर्म नहीं रह सकता। यह उल्लेखनीय बात है कि जहाँ गुरु और शिष्य में ऐसे सम्बन्ध का अस्तित्व अब भी है, वहीं महान् आध्यात्मिक आत्माओं का विकास होता है, पर जहाँ उसे बहिष्कृत कर दिया गया है, वहाँ धर्म केवल एक दिल-बहलाव की वस्तु बन जाता है। उन सब राष्ट्रों और धर्मसंघों में, जहाँ गुरु और शिष्य में यह सम्बन्ध विद्यमान नहीं है, आध्यात्मिकता प्रायः नहीं के बराबर रह जाती है। उस भावना के बिना आध्यात्मिकता कदापि नहीं आ सकती। वहाँ न तो कोई देनेवाला—संचार करनेवाला ही है और न ग्रहण करनेवाला; क्योंकि वे सब स्वाधीन हैं। वे सीखेंगे किससे? यदि वे सीखने आते हैं, तो असल में विद्या खरीदने आते हैं। हमें एक डॉलर का धर्म दो, क्या हम उसके लिए एक डॉलर खर्च नहीं कर सकते? धर्म की प्राप्ति इस प्रकार नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक गुरु के द्वारा संप्रेषित जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है, उससे उच्चतर एवं पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है, तो वह स्वतः ही उसे प्राप्त हो जाता है। किंतु पुस्तकों द्वारा तो उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। तुम दुनिया के चारों कोनों में—हिमालय, आल्प्स, काकेशस पर्वत अथवा गोबी या सहारा की मरुभूमि या समुद्र की तली में जाकर अपना सिर पटको, पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु को प्राप्त करो, बालकवत् उनकी सेवा करो, उनका प्रभाव ग्रहण करने के लिए अपना हृदय खोल दो, उनमें परमात्मा के व्यक्त रूप का दर्शन करो। गुरु को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति समझकर उनमें हमें अपना ध्यान केन्द्रीभूत कर देना चाहिए, और ज्यों ज्यों उनमें हमारी यह ध्यान-शक्ति एकाग्र होगी, त्यों त्यों गुरु के मानव रूप का चित्र विलीन

हो जायगा, मानव शरीर का लोप हो जायगा और यथार्थ ईश्वर ही वहाँ शेष रह जायगा। सत्य की ओर जो इस श्रद्धा और प्रेम से अग्रसर होते हैं, उनके प्रति सत्य के भगवान् परम अद्भुत वचन कहते हैं। 'अपने पैरों से जूते अलग कर दो, क्योंकि जिस जगह तुम खड़े हो, वह स्थान पवित्र है।' जिस स्थान में उस (भगवान्) का नाम लिया जाता है, वह स्थान पवित्र है; तब जो मनुष्य उसका नाम लेता है, वह कितना अधिक पवित्र होगा! और जिस मनुष्य से आध्यात्मिक सत्यों की प्राप्ति होती है, उसके निकट हमें कितनी श्रद्धा और भक्ति के साथ पहुँचना उचित है! इसी भाव से हमें शिक्षा ग्रहण करनी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे गुरु इस संसार में कम मिलते हैं, पर ऐसा भी नहीं है कि जगत् उनसे बिल्कुल शून्य हो। जिस क्षण यह संसार ऐसे गुरुओं से रहित हो जायगा, उसी क्षण इसका अन्त हो जायगा, यह घोर नरक बनकर झड़ जायगा। ये गुरु ही मानव जीवन के सुन्दर तथा अनुपम पुष्प हैं, जो संसार को चला रहे हैं। जीवन के इन हृदयों के द्वारा व्यक्त शक्ति ही समाज की मर्यादाओं को सुरक्षित रखती है।

इनसे परे गुरुओं की एक श्रेणी है, जो इस पृथ्वी के ईसा मसीह होते हैं। वे 'गुरुओं के भी गुरु' होते हैं—स्वयं भगवान् मनुष्य के रूप में आते हैं। वे बहुत ऊँचे होते हैं और अपने स्पर्श या इच्छा मात्र से दूसरों के भीतर धार्मिकता एवं पवित्रता का संचार करते हैं, जिससे नितान्त अधम और चरित्रहीन मनुष्य भी क्षण भर में साधु बन जाता है। उनके इस प्रकार के कार्यों के अनेक दृष्टान्त क्या हमने नहीं पढ़े हैं? ये उस प्रकार के गुरु नहीं हैं, जिनकी चर्चा मैं कर रहा था, ये तो सब गुरुओं के गुरु हैं, मनुष्य को उपलब्ध होनेवाली ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्तियाँ हैं, बिना उनको माध्यम बनाये हम भगवान् के दर्शन और किसी तरह नहीं कर सकते। हम इनकी पूजा किये बिना नहीं रह सकते; ये ही ऐसी विभूतियाँ हैं, जिनकी पूजा करने को हम विवश हैं।

ईश्वर ने अपने को जिस रूप में (अपने) इन पुत्रों में व्यक्त किया है, उसके अतिरिक्त मनुष्य ईश्वर का दर्शन किसी अन्य रूप में नहीं कर पाया है। हम ईश्वर को देख नहीं सकते। यदि हम ईश्वर को देखने का प्रयत्न करते हैं, तो हम ईश्वर का एक विकृत और भयानक व्यंग्यचित्र बना डालते हैं। एक भारतीय कथा है कि एक अज्ञानी मनुष्य से भगवान् शिव की मूर्ति बनाने के लिए कहा गया। वह कई दिनों तक खटपट करता रहा और अन्त में उसने एक वानर की प्रतिमा बना डाली! इसी प्रकार जब कभी हम ईश्वर की मूर्ति बनाने का प्रयत्न करते हैं, तब हम उसका एक विकृत आकार ही बना पाते हैं; क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हम ईश्वर को मनुष्य से बढ़कर और कुछ समझ ही नहीं सकते। ऐसा समय अवश्य

जायेगा, जब हम अपनी मानव-प्रकृति को पारकर आगे बढ़ जायंगे और उस समय हम ईश्वर को जैसा वह है, वैसा ही जान सकेंगे। किन्तु जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक उनकी हमें मनुष्य-रूप में ही पूजा करनी होगी। हम बातें चाहे जैसी कर लें, प्रयत्न चाहे जो भी कर लें, परमात्मा को मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में देख ही नहीं सकते। हम चाहे बड़े बड़े बौद्धिक व्याख्यान दे डालें, बड़े तर्कवादी हो जायँ और यह भी सिद्ध कर दें कि ईश्वर संबंधी सारी कथाएँ बेवकूफ़ी की बातें हैं, पर साथ ही हमें अपने सहज बोध से भी तो कुछ काम लेना चाहिए। इस विचित्र बुद्धि का आधार क्या है? उत्तर मिलता है--शून्य, कुछ नहीं। इसके बाद जब कभी तुम किसी मनुष्य की ईश्वर-पूजा के विरुद्ध बड़े बड़े बौद्धिक व्याख्यान फटकारते सुनो, तो उसे पकड़कर यह पूछो कि ईश्वर के सम्बन्ध में उसकी कल्पना क्या है; 'सर्वशक्तिमत्ता', 'सर्वव्यापिता', 'सर्वव्यापी प्रेम' इत्यादि शब्दों का उनकी वर्तनी के अतिरिक्त वह और क्या अर्थ समझता है? देखागे, वह कुछ नहीं जानता; वह इन शब्दों के भावों की कोई कल्पना अपने सामने नहीं ला सकता; एक रास्ता चलनेवाले अपढ़ निरक्षर व्यक्ति की अपेक्षा वह किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। बल्कि यह राहगीर शान्त है और दुनिया की शान्ति को भंग नहीं करता, जब कि वह दुनिया को क्षुब्ध करता रहता है। उस पढ़े-लिखे व्यक्ति भी कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, अतः वह और राहगीर एक ही स्तर पर अवस्थित हैं।

प्रत्यक्ष अनुभव या साक्षात्कार ही धर्म है। मौखिक विवाद और प्रत्यक्ष अनुभव में महान् अन्तर है, यह समझ लेना चाहिए। अपनी आत्मा में जो अनुभव हो, वही प्रत्यक्ष सत्यानुभव है। मनुष्य के पास आत्मा की कोई कल्पना नहीं है, उसके सम्मुख जो आकार हैं, उन्हींकी सहायता से वह आत्मा के विषय में सोच सकता है। नील आकाश, विस्तृत खेतों का समूह, समुद्र या ऐसी ही किसी विशाल वस्तु की भावना उसे करनी पड़ती है। नहीं तो वह और किस तरह ईश्वर का विचार करेगा? अतः तुम वस्तुतः क्या कर रहे हो? 'सर्वव्यापिता' की बातें करते हो और समुद्र का चिन्तन करते हो! क्या ईश्वर समुद्र है? अतः संसार के इस व्यर्थ विवाद को दूर करो। सहज बोध की ज़रा अधिक आवश्यकता है। साधारण बुद्धि बड़ी दुर्लभ वस्तु है। संसार में बातों की भरमार है। हम अपनी वर्तमान संरचना के अनुसार सीमित हैं और ईश्वर को मनुष्य के ही रूप में देखने के लिए बाध्य हैं। यदि भैंसे ईश्वर की पूजा कर सकते, तो वे ईश्वर को एक बड़ा भैंसा ही समझते! यदि मछली ईश्वर की पूजा करना चाहे, तो वह ईश्वर को एक बड़ी मछली के आकार का समझेगी। ये सब केवल कल्पनाएँ हैं। तुम और हम, भैंसा और मछली मानो भिन्न भिन्न पात्रों के समान हैं। ये पात्र अपनी अपनी आकृति

के अनुसार समुद्र में पानी भरने जाते हैं। प्रत्येक पात्र में पानी के सिवा और कोई वस्तु नहीं है। ऐसा ही ईश्वर के विषय में सत्य है। जब मनुष्य ईश्वर को देखता है, तो वह उसे मनुष्य के रूप में देखता है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी ईश्वर को अपनी अपनी कल्पना के अनुसार देखते हैं। परमेश्वर को तुम केवल इसी तरह देख सकते हो। मनुष्य के ही रूप में उसकी उपासना कर सकते हो; क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं। दो वर्ग के मनुष्य ऐसे हैं, जो ईश्वर की उपासना मनुष्य के रूप में नहीं करते, एक तो मानवरूपधारी पशु, जिनका कोई धर्म ही नहीं होता, और दूसरे 'परमहंस', जो मनुष्यता के परे पहुँच गये हैं, और जिन्होंने मन और शरीर को अलग कर दिया है, एवं प्रकृति की मर्यादा के उस पार चले गये हैं। समस्त प्रकृति उनकी आत्मा बन गयी है। उनके न मन है, न शरीर। वे ईसा या बुद्ध के समान ईश्वर की उपासना ईश्वर के ही रूप में कर सकते हैं। ईसा और बुद्ध ईश्वर की पूजा मनुष्य के रूप में नहीं करते थे। दूसरे सिरे पर मानव-पशु हैं। ये दोनों छोरवाले व्यक्ति एक-जैसे दीखते हैं। उसी प्रकार, अत्यन्त अज्ञानी और अत्युच्च ज्ञानी भी समान से प्रतीत होते हैं---ये दोनों ही किसीकी उपासना नहीं करते। अत्यन्त अज्ञानी मनुष्य को, पर्याप्त विकास न होने के कारण, ईश्वर की उपासना की ज़रूरत ही नहीं मालूम पड़ती, इसलिए वह ईश्वर की पूजा नहीं करता। जो मनुष्य उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति कर चुके हैं, वे भी ईश्वर की पूजा नहीं करते; क्योंकि वे तो परमात्मा का साक्षात्कार कर चुके हैं और ईश्वर के साथ एक हो चुके हैं। ईश्वर ईश्वर की पूजा नहीं करता। इन दो सीमान्त अवस्थाओं का मध्यवर्ती कोई मनुष्य यदि यह कहे कि मैं मनुष्य-रूप में ईश्वर की पूजा नहीं करता, तो उससे सावधान रहो। वह उत्तरदायित्वहीन बातें करनेवाला मनुष्य है। उसका धर्म उथले विचारवालों के लिए है, केवल बौद्धिक बकवास है।

अतः ईश्वर की मनुष्य के रूप में उपासना करना अनिवार्य है और जिन जातियों के पास ऐसे उपास्य 'देव-मानव' हैं, वे धन्य हैं। ईसाइयों में ईसा मसीह के रूप में ऐसे मानवरूपधारी ईश्वर हैं। अतः उन्हें ईसा के प्रति दृढ़ आसक्ति रखनी चाहिए और उन्हें ईसा को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। मनुष्य में ईश्वर के दर्शन करना यही ईश्वर-दर्शन का स्वाभाविक मार्ग है। ईश्वर सम्बन्धी हमारे समस्त विचार वहीं केन्द्रित हो सकते हैं। ईसाइयों में सबसे बड़ी कमी इस बात की है कि वे ईसा के अतिरिक्त ईश्वर के अन्य अवतारों के प्रति श्रद्धा नहीं रखते। जैसे ईसा ईश्वर के अवतार थे, उसी तरह बुद्ध भी ईश्वर के अवतार थे तथा अन्य सैकड़ों अवतार होंगे। ईश्वर को कहीं पर सीमाबद्ध मत करो। ईसाइयों को चाहिए कि ईश्वर की जो कुछ भक्ति करना वे उचित समझें, वह वे ईसा के प्रति करें; यही

एक उपासना उनके लिए सम्भव है। ईश्वर की पूजा नहीं हो सकती; क्योंकि ईश्वर तो सृष्टि में सर्वव्यापी है। उनके मानव रूप की ही हम उपासना कर सकते हैं। 'ईसा मसीह के नाम पर'—ईसाई लोगों का ऐसी प्रार्थना करना बहुत अच्छा होगा। उनका ईश्वर से प्रार्थना करना छोड़ केवल ईसा से ही प्रार्थना करना अधिक अच्छा होगा। ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओं को समझता है और मानव जाति का उपकार करने के लिए वह मनुष्य बनकर आता है। कृष्ण का कथन है, 'जब जब धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं मानव जाति का उद्धार करने आता हूँ।'[१] 'अज्ञानी लोग यह न जानकर कि सृष्टि के सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी ईश्वर मैंने यह मानव रूप धारण किया है, मेरी अवहेलना करते हैं और सोचते हैं कि यह सम्भव नहीं है।'[२] उनका मन आसुरी अज्ञान से आच्छादित रहता है, इसलिए वे उस मानव रूप ईश्वर में सृष्टि के स्वामी ईश्वर का दर्शन नहीं कर पाते। ईश्वर के महान् अवतार पूजनीय हैं। यही नहीं, पूजा तो केवल इन्हीं की हो सकती है। इनके जन्म-दिवस तथा महासमाधि-दिवस पर हमें विशेष श्रद्धांजलि समर्पित करनी चाहिए। ईसा की पूजा करने में मैं उनकी पूजा ठीक उसी तरह करूँगा, जैसे उनकी इच्छा थी, उनके जन्म-दिवस पर मैं दावत उड़ाने के बदले प्रार्थना और उपवास द्वारा उनकी पूजा करूँगा। जब हम इन अवतारों का, इन महान् विभूतियों का चिन्तन करते हैं, तब ये हमारी आत्मा के भीतर प्रकट होते हैं और हमें अपने समान बना देते हैं। हमारी सम्पूर्ण प्रकृति बदल जाती है और हम उनके समान हो जाते हैं।

पर तुम ईसा या बुद्ध को वायु में उड़नेवाले भूत-प्रेतों तथा उसी प्रकार की अन्य मिथ्या कल्पनाओं के समान मत समझ लेना। शान्तं पापम्! ईसा मसीह प्रेतचक्र (spiritualistic seance) में नाचने आते हैं! मैंने यह ढोंग इसी देश में देखा है। परमात्मा के ये अवतार इस तरह नहीं आया करते। किसी भी अवतार के स्पर्श मात्र से मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है, वह बोल उठता है। जब ईसा का स्पर्श होगा, तो मनुष्य का दिव्यांतर हो जायगा और वह मनुष्य दिव्यां-

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
—गीता ॥४।७॥

२. अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
—गीता ॥९।११॥

तरित होकर ईसा जैसा ही बन जायगा। उसका सारा जीवन आध्यात्मिक बन जायगा और उसके शरीर के रोम रोम से आध्यात्मिक शक्ति प्रवाहित होने लगेगी। ईसा की जो शक्तियाँ उनके चमत्कारों में और आरोग्य प्रदान करने की घटनाओं में दीख पड़ती हैं, वे यथार्थ में क्या थीं ? वे तो तुच्छ और ग्राम्य चीजें थीं, और वह सब करने के लिए वे असंस्कृत मनुष्यों के बीच रहने के कारण विवश हुए। वे चमत्कारपूर्ण कृत्य कहाँ किये गये ? यहूदी लोगों के बीच। और यहूदियों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। और वैसे चमत्कार कहाँ नहीं किये गये ? यूरोप में। वे चमत्कार तो यहूदियों को मिले, जिन्होंने ईसा का परित्याग किया। उनका 'शैलोपदेश' यूरोप को मिला, जिसने उनको अंगीकार किया। मनुष्य की आत्मा ने जो सत्य था, उसे ग्रहण किया और जो मिथ्या था, उसका परित्याग। ईसा की महान् शक्ति आरोग्य-दान के उनके चमत्कारों में नही है। यह तो एक मूर्ख भी कर सकता है। मूर्ख दूसरों को आरोग्य कर सकते हैं, शैतान भी दूसरों के रोग भगा सकते हैं। मैंने भयानक आसुरी मनुष्यों को अद्‌भुत चमत्कार करते देखा है। ऐसे लोग मिट्टी से असली फल बना लेते हैं। मैंने मूर्खों और आसुरी मनुष्यों को भूत, वर्तमान और भविष्य की बातें बताते देखा है। मैंने उन्हें केवल एक दृष्टिपात द्वारा इच्छा-शक्ति से बड़े भयानक रोगों को आराम करते देखा है। ये निस्सन्देह शक्तियाँ हैं, पर बहुधा ये आसुरी हुआ करती हैं। दूसरी शक्ति ईसा की आध्यात्मिक शक्ति है—वह जीवित रहेगी और सदा जीवित रहती आयी है, और वह है उनका सर्वशक्तिशाली विराट् प्रेम और सत्य के वे शब्द, जिनका उन्होंने उपदेश दिया। उनका अपनी एक नज़र से मनुष्यों को नीरोग कर देना कभी विस्मृत भी हो सकता है, पर 'जिनका अन्तःकरण पवित्र है, वे धन्य हैं' उनकी, यह उक्ति आज भी अमर है। यह शब्द-समूह शक्ति का महान् अक्षय भाण्डार है। जब तक मनुष्य का मन क़ायम रहेगा, जब तक हम ईश्वर के नाम को न भूलेंगे, तब तक ये शब्द चलते रहेंगे और इनका कभी अन्त न होगा। इन्हीं शक्तियों का उपदेश ईसा ने किया और ये ही शक्तियाँ उनके पास थीं। पवित्रता की शक्ति यथार्थ शक्ति होती है। अतः हमें ईसा की उपासना करते समय, उनसे प्रार्थना करते समय यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम किस वस्तु की इच्छा कर रहे हैं। चामत्कारिक प्रदर्शन की उन मूर्खतापूर्ण वस्तुओं को हम नहीं चाहते, वरन् आत्मा की उन अद्‌भुत शक्तियों की आकांक्षा करते हैं, जो मनुष्य को स्वतंत्र बना देती हैं, उसे समग्र प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करा देती हैं और उसे दासत्व की शृंखला से मुक्त कर ईश्वर के दर्शन करा देती हैं।

प्रतीकों की आवश्यकता

भक्ति के दो विभाग हैं। एक वैधी भक्ति, जो विधिमयी या अनुष्ठानात्मक होती है और दूसरी मुख्या भक्ति या पराभक्ति। अत्यन्त निम्न श्रेणी से लेकर उच्चतम श्रेणी तक की उपासना के सभी रूपों का समावेश 'भक्ति' शब्द में होता है। दुनिया के सभी देशों और सभी धर्मों में जितनी भी उपासनाएँ की जाती हैं, उन सबका नियमन प्रेम द्वारा होता है। इन उपासनाओं में बहुत सा भाग तो केवल विधियों का होता है और बहुत सा भाग विधियों का न होने पर भी प्रेम नहीं कहा जा सकता; असल में वह तो प्रेम से नीची श्रेणी का होता है। तथापि ये विधियाँ आवश्यक होती हैं। भक्ति का यह बाहरी भाग आत्मा को उन्नति के मार्ग में सहायता देने के लिए नितान्त आवश्यक है। मनुष्य यदि सोचे कि मैं कूदकर एकदम उच्चतम अवस्था पर पहुँच जाऊँगा, तो यह उसकी बड़ी भूल है। यदि बालक सोचे कि मैं एक दिन में वृद्ध बन जाऊँगा, तो यह उसका अज्ञान है। मैं आशा करता हूँ कि तुम सदा इस बात का ध्यान रखोगे कि धर्म न तो पुस्तकों में है, न बौद्धिक सम्मति देने में और न तर्कवाद में ही। तर्क-सिद्धान्त, आप्त-वाक्य, शास्त्राज्ञा, धार्मिक अनुष्ठान, ये सब धर्म के सहायक होते हैं, पर असली धर्म तो साक्षात्कार ही है। हम सब कहा करते हैं कि 'ईश्वर है।' क्या तुमने ईश्वर को देखा है? यही प्रश्न है। तुम किसी मनुष्य को यह कहते सुनते हो कि 'स्वर्ग में एक ईश्वर है।' तुम उससे पूछते हो कि क्या तुमने ईश्वर को देखा है। यदि वह कहता है कि 'हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है', तो तुम उस पर हँसोगे और उसे पागल कहोगे। धर्म अधिकांश लोगों के लिए एक प्रकार की बौद्धिक सम्मति देने मात्र में ही समाप्त हो जाता है। मैं इसे धर्म नहीं कहता। इस तरह का धर्म पालन करने की अपेक्षा तो नास्तिक होना अच्छा है। हमारी बौद्धिक सम्मति या असम्मति पर धर्म अवलम्बित नहीं रहता। तुम कहते हो कि आत्मा है। क्या तुमने आत्मा को देखा है? हम सबमें आत्मा है, पर उसे हम देख नहीं पाते, यह कैसी बात है? तुमको इस प्रश्न का उत्तर देना होगा और आत्मा को देखने का उपाय निकालना होगा। यदि ऐसा नहीं हो सकता, तो धर्म की बात करना निरर्थक है। यदि कोई धर्म सच्चा है, तो उसे हमें अपने आप में ही आत्मा, ईश्वर और सत्य का दर्शन करा सकने में समर्थ होना चाहिए। यदि तुम और हम किसी धार्मिक सूत्र या शास्त्र के सम्बन्ध

में सदा लड़ते रहें, तो हम कभी किसी निर्णय पर न पहुंच सकेंगे। इसी तरह लोग युगों से लड़ते आये हैं, पर नतीजा क्या हुआ ? बुद्धि वहाँ तक कदापि पहुँच नहीं सकती। हमें तो बुद्धि के उस पार जाना होगा। धर्म का प्रमाण प्रत्यक्ष अनुभव से ही होता है। इस दीवाल के अस्तित्व का प्रमाण यही है कि इसे हम देखते हैं। यदि हम बैठ जायँ और दीवाल के अस्तित्व के सम्बन्ध में युग-युगान्तर तक बहस करें, तो कभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकेंगे। पर यदि तुम इसे प्रत्यक्ष देख लो, तो उतना ही पर्याप्त है। फिर यदि संसार के सारे मनुष्य तुमसे कहें कि दीवाल नहीं थी, तो तुम उनका कभी विश्वास न करोगे, क्योंकि तुम जानते हो कि अपने चक्षुओं का प्रमाण संसार के सूत्रों और सिद्धान्तों से बढ़कर है।

धार्मिक होने के लिए सर्वप्रथम तुम्हें पुस्तकें फेंक देनी होंगी। पुस्तकें जितनी कम पढ़ो, उतनी ही तुम्हारी भलाई है। एक समय में एक ही काम करो। इस जमाने में पाश्चात्य देशों में दिमाग़ की खिचड़ी करने की प्रवृत्ति चल रही है। सभी तरह के अपरिपक्व विचार दिमाग़ में उत्पात मचाते हैं और अराजकता फैला देते हैं। इन विचारों को दिमाग़ में ठंडा होने का और निश्चित आकार में जमने का मौक़ा ही नहीं मिलता। बहुधा यह एक प्रकार का रोग सा हो जाता है। यह तो धर्म कदापि नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों को कुछ सनसनी पैदा करनेवाला चाहिए। उन्हें बताओ कि ऐसे ऐसे भूत होते हैं, या कि उत्तरी ध्रुव या और किसी दूर देश से लोग पंखों के सहारे उड़ते उड़ते अथवा और किसी विचित्र रूप से आ रहे हैं, अदृश्य रूप से उपस्थित हैं और उनकी ओर ताक रहे हैं। उन्हें ऐसी ऐसी बातें बताओ, जिनको सुनकर उनके हृदय में सनसनी पैदा हो। तब वे सन्तुष्ट होकर अपने घर जायँगे। पर चौबीस घंटे बाद पुनः वे नयी उत्तेजना के लिए तैयार मिलेंगे। इसे ही कुछ लोग धर्म कहते हैं। पर यह पागलखाने का रास्ता है, न कि धर्म का। यदि तुम इसी राह में एक शताब्दी तक चलोगे, तो इस देश को तुम एक बड़ा पागलखाना बना डालोगे। परमात्मा के पास दुर्बल लोग नहीं पहुँच सकते और ये सब अलौकिक वस्तुएँ दुर्बलता उत्पन्न करनेवाली हैं। अतः भूलकर भी इनके निकट न जाओ। इनसे मनुष्य केवल कमज़ोर बनता है, दिमाग़ में गड़बड़ी पैदा होती है, मन दुर्बल हो जाता है, आत्मा का नैतिक पतन होता है और नैराश्यपूर्ण सम्भ्रम ही इसका अन्तिम फल होता है। तुम इस बात को ध्यान में रखो कि धर्म न बातों में है, न सिद्धान्तों में और न पुस्तकों में, वह है प्रत्यक्ष अनुभव में। वह 'सीखना' नहीं है, 'होना' है। 'चोरी मत करो', इसे सब जानते हैं, पर इससे क्या ? इसे तो यथार्थ में उसीने जाना, जिसने चोरी नहीं की। 'दूसरों को हानि मत पहुँचाओ', यह बात हर एक को

मालूम है, पर इससे क्या लाभ ? जिन्होंने दूसरों को हानि नहीं पहुँचायी, उन्होंने इस वाक्य का अनुभव किया। उन्होंने इसे जाना और इस सिद्धान्त पर अपने चरित्र का निर्माण किया। धर्म अनुभव करना है, और मैं तुमको ईश्वर का उपासक तभी कहूँगा, जब तुम इस आदर्श को सिद्ध करने में समर्थ हो जाओगे। उसके पूर्व ये सारे व्यापार शब्द की वर्तनी मात्र हैं। साक्षात्कार या प्रत्यक्षानुभूति की यह शक्ति ही धर्म की निर्मायक है। अपने मस्तिष्क में सिद्धान्तों, दर्शनों और नैतिक पुस्तकों को जितना चाहे ठूँस लो, उससे कुछ लाभ नहीं होने का; असली चीज़ है--वह, जो तुम हो तथा वह सत्य, जिसे तुमने उपलब्ध किया है। अतः हमें धर्म को जीवन में सिद्ध करना है, और धर्म की यह सिद्धि एक लंबी प्रक्रिया है।

जब लोग किसी उच्च अद्भुत विषय के सम्बन्ध में सुनते हैं, तब वे यह समझने लगते हैं कि वे उसे एकदम प्राप्त कर लेंगे। क्षण भर भी वे यह नहीं विचारते कि उसकी प्राप्ति के लिए उन्हें उसका रास्ता तय करना पड़ेगा। वे तो वहाँ एकदम कूदकर पहुँच जाना चाहते हैं। यदि वह स्थान उच्चतम है, तो भी हम वहाँ पहुँच जाना चाहते हैं। हम यह सोचने के लिए ज़रा भी नहीं रुकते कि हममें उतनी शक्ति है या नहीं। नतीजा यह होता है कि हम कुछ नहीं कर पाते। तुम किसी मनुष्य को ज़बरदस्ती उठाकर वहाँ ढकेलकर नहीं भेज सकते। हम सबको क्रमशः प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। अतः धर्म का यह पहला चरण वैधी भक्ति, उपासना की निचली श्रेणी है।

उपासना के ये निम्न स्तर क्या हैं? ये अनेक हैं। उस अवस्था में पहुँचने के लिए, जिसमें हम ईश्वर का अनुभव कर सकेंगे, हमें साकार वस्तु के माध्यम से जाना होगा--ठीक उसी तरह, जैसे कि बच्चे प्रथम साकार वस्तुओं का अभ्यास करके तदुपरान्त क्रमशः भाववाचक की ओर जाते हैं। यदि तुम किसी बालक को 'दो पंचे दस' बताते हो, तो वह नहीं समझता। पर यदि तुम उसे दस चीज़ें दो और दो दो चीज़ें पाँच बार उठाने से दस कैसे हुए, यह दिखा दो, तो वह उसे ठीक ठीक समझ लेगा। यहाँ धर्म के क्षेत्र में हम सब बच्चे ही हैं। हम उम्र में चाहे बूढ़े हों, संसार की सारी पुस्तकों का अध्ययन चाहे हमने कर लिया हो, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हम सब बच्चे ही हैं।

हमने सूत्रों और सिद्धान्तों का तो अध्ययन किया है, पर अपने जीवन में अनुभूति या साक्षात्कार कुछ भी नहीं किया। अब हमें स्थूल या साकार रूप में विधि, मंत्र, स्तोत्र, संस्कार और अनुष्ठानों द्वारा प्रारम्भ करना होगा। ये स्थूल विधियाँ हज़ारों हो सकती हैं। सबके लिए एक ही विधि होना आवश्यक नहीं है। किसीको मूर्ति से सहायता मिल सकती है और किसीको नहीं। किसीको

बाहरी मूर्ति की आवश्यकता होती है और किसीको अपने मन में ही मूर्ति की कल्पना करने की आवश्यकता पड़ती है। मन में ही मूर्ति की कल्पना कर लेनेवाला कहता है, "मैं उच्च श्रेणी का हूँ, क्योंकि मानस-पूजा ठीक है; बाहरी मूर्ति की पूजा करना बुतपरस्ती है, निन्दनीय है; मैं उसका विरोध करूँगा।" जब मनुष्य गिरजाघर या मन्दिर के रूप में मूर्ति बनाता है, तो वह उसे पवित्र समझता है; पर यदि वह मूर्ति मनुष्य की आकृति हुई, तो उस पर वह आपत्ति करता है।

अतः, मन अपना यह स्थूल अभ्यास भिन्न भिन्न रूपों द्वारा करेगा और धीरे धीरे हमें सूक्ष्म का ज्ञान प्राप्त होगा, सूक्ष्म का अनुभव होगा। एक ही विधि सबके लिए ठीक नहीं हो सकती। एक विधि मेरे लिए उपयुक्त हो सकती है। दूसरी, किसी और के लिए, आदि आदि। सभी मार्ग यद्यपि उसी ध्येय तक पहुँचाते हैं, तथापि वे सभी सबके योग्य नहीं होते। साधारणतः यहाँ पर हम एक गलती और करते हैं। मेरा आदर्श तुम्हारे लायक़ नहीं है, तो मैं उसे ज़बरदस्ती तुम्हारे गले क्यों मढ़ूँ? गिरजाघर बनाने का मेरा नमूना या स्तोत्र-पाठ करने की मेरी विधि यदि तुमको ठीक नहीं जँचती, तो मैं उस सम्बन्ध में तुम पर ज़बरदस्ती क्यों करूँ? तुम दुनिया में जाओ। हर मूर्ख यही कहेगा कि मेरी ही विधि ठीक है तथा अन्य सब विधियाँ आसुरी हैं, संसार से मेरे सिवा ईश्वर का और कृपापात्र पैदा ही नहीं हुआ! पर वस्तुतः सभी विधियाँ अच्छी और उपयोगी हैं। मानव-प्रकृति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। अतः यह आवश्यक है कि धर्म भिन्न भिन्न प्रकार का हो। और जितने ही अधिक प्रकार के धर्म हों, उतना ही संसार के लिए अच्छा है। यदि संसार में बीस प्रकार के धर्म हैं, तो बहुत अच्छा है, और यदि चार सौ प्रकार के धर्म हो गये, तो और भी अच्छा; क्योंकि उस अवस्था में धर्म पसन्द करने का अवसर तथा क्षेत्र अधिक रहेगा। अतः हमें तो धर्म तथा धार्मिक आदर्शों की संख्या बढ़ने पर प्रसन्न ही होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी धर्म-पालन का अवसर मिलेगा तथा मानव जाति को और अधिक सहायता मिलेगी। ईश्वर करे, धर्मों की संख्या यहाँ तक बढ़े कि प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए हर किसीके धर्म से अलग एक अपना धर्म मिल जाय। भक्तियोग की यही कल्पना है।

अन्तिम भाव यही है कि मेरा धर्म तुम्हारा नहीं हो सकता और न तुम्हारा धर्म मेरा। यद्यपि ध्येय और उद्देश्य एक ही हैं, तथापि हर एक का मार्ग अपनी अपनी मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार अलग अलग है। और यद्यपि ये मार्ग भिन्न भिन्न हैं, तो भी सभी मार्ग ठीक होने ही चाहिए, क्योंकि वे सभी उसी स्थान

को पहुँचाते हैं। इनमें से एक ही सत्य हो और बाक़ी सब ग़लत हों, यह सम्भव नहीं। अपना मार्ग पसन्द कर लेना ही भक्ति की भाषा में 'इष्ट' कहलाता है।

फिर हैं 'शब्द'। तुम सबने शब्दों की शक्ति के सम्बन्ध में सुना है। उनमें कैसी अद्भुत शक्ति होती है! धर्मग्रन्थ बाइबिल, क़ुरान और वेद इन शब्दों की शक्ति से भरे पड़े हैं। कुछ शब्दों का मानव जाति पर अद्भुत प्रभाव होता है। फिर, उपासना के दूसरे रूप भी हैं—जैसे, प्रतीक। प्रतीक मनुष्य के मन पर बड़ा प्रभाव रखते हैं। धर्म के बड़े बड़े प्रतीक ऐसे ही नहीं बना दिये गये हैं। वे विचारों को प्रकट करने की स्वाभाविक अभिव्यक्तियाँ हैं। हम प्रतीकों द्वारा ही विचार करते हैं। हमारे शब्द उनके पीछे रहनेवाले विचारों के प्रतीक मात्र हैं। भिन्न भिन्न जाति के लोग भिन्न भिन्न प्रतीकों का उपयोग बिना उसका कारण जाने ही करने लगे हैं। कारण पीछे रहते हैं और इन प्रतीकों का इन भावों और विचारों से सम्बन्ध रहता है। जिस तरह विचार इन प्रतीकों को बाहर प्रकट करते हैं, उसी प्रकार इसके विपरीत ये प्रतीक विचारों को भीतर ले जाते हैं। इसलिए भक्ति के एक अंश में इन प्रतीकों, शब्दों और प्रार्थनाओं का वर्णन है। प्रत्येक धर्म में प्रार्थनाएँ हैं। पर एक बात ध्यान में रखनी होगी कि आरोग्य या धन के लिए प्रार्थना करना भक्ति नहीं है—वह सब कर्म या स्तुत्य कार्य है। किसी भौतिक लाभ के लिए प्रार्थना करना निरा कर्म है; जैसे स्वर्ग-प्राप्ति अथवा अन्य किसी कार्य के लिए प्रार्थना करना। जो ईश्वर से प्रेम करना चाहता है, भक्त होना चाहता है, उसे ऐसी प्रार्थनाएँ छोड़ देनी चाहिए। जो ज्योतिर्मय प्रदेश में प्रवेश चाहता है, उसे इस क्रय-विक्रय, इस 'दूकानदारी' के धर्म की गठरी बाँधकर अलग रख देनी होगी; तत्पश्चात् उस द्वार में प्रवेश करना होगा। ऐसी बात नहीं कि जिस वस्तु के लिए प्रार्थना करते हो, वह मिलती नहीं। तुम सब कुछ पा सकते हो। पर यह तो भिखारी का धर्म हुआ। 'वह सचमुच मूर्ख है, जो गंगा के किनारे रहकर पानी के लिए कुआँ खोदता है। जो हीरों की खान में आकर काँच के टुकड़ों की खोज करता है, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है?'[1] यह शरीर कभी न कभी तो मरेगा ही। तब इसकी आरोग्यता के लिए बार बार प्रार्थना करने से क्या लाभ? आरोग्य और धन में रखा ही क्या है? धनी से धनी मनुष्य भी अपने धन के थोड़े से ही अंश का उपभोग कर सकता है। हम संसार की सभी चीजें प्राप्त नहीं कर सकते। जब हम उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते, तो क्या हमें उनकी चिन्ता में डूबे रहना चाहिए? जब यह शरीर ही नष्ट हो जायगा, तब इन वस्तुओं की चिंता कैसी?

---

१. उषित्वा जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः।

यदि अच्छी चीज़ें आयें, तो उनका स्वागत है! यदि वे जाती हैं, तो भी स्वागत है! जाने दो! जब वे आती हैं, तो भी धन्य हैं; जब जाती हैं, तो भी धन्य हैं। हम तो राजाधिराज के समक्ष पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं। हम वहाँ भिखारी के वेश में नहीं पहुँच सकते। यदि हम भिखारी के वेश में बादशाह के दरबार में प्रवेश करना चाहें भी, तो क्या हमें प्रवेश पा सकना चाहिए? कदापि नहीं। हमें भगा दिया जाना चाहिए। वह सम्राटों का सम्राट् है और हम उसके समक्ष भिखारियों के चिथड़ों में प्रवेश नहीं कर सकते। वहाँ दूकानदारों को प्रवेश करने की आज्ञा कभी नहीं मिलती। वहाँ क्रय-विक्रय की भी गुंजाइश नहीं है। तुमने बाइबिल में पढ़ा ही है, ईसा ने ख़रीदने और बेचनेवालों को मन्दिर से भगा दिया था। तुच्छ वस्तुओं के लिए कभी प्रार्थना न करो, यदि तुम केवल शारीरिक आराम की ही आकांक्षा करते हो, तो पशु और मनुष्य में अंतर ही क्या है? अपने को पशुओं से थोड़ा ऊँचा तो समझो।

अतः यह स्पष्ट है कि भक्त बनने में पहला काम है, स्वर्ग तथा अन्य सभी विषयों के प्रति समस्त कामनाओं का त्याग। किंतु प्रश्न यह है कि इन सब कामनाओं का त्याग कैसे किया जाय? मनुष्य दुःखी क्यों है? इसलिए कि वह दास है, नियमों से जकड़ा, प्रकृति की कठपुतली और खिलौनों की भाँति इधर से उधर लुढ़का दिया जानेवाला है। जिस शरीर को कोई भी वस्तु चूर्ण कर दे सकती है, उसी शरीर की चिन्ता हम निरंतर करते रहते हैं, और इसी कारण हम निरन्तर भय की स्थिति में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मैंने पढ़ा है कि मृग को भयभीत होते रहने के कारण प्रतिदिन ६०-७० मील की दौड़ लगानी पड़ती है। परन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि हम मृग से भी गयी-बीती स्थिति में हैं। मृग को तो कुछ आराम मिलता भी है, पर हमें आराम कहाँ? यदि मृग को पर्याप्त घास मिल जाती है, तो वह सन्तुष्ट हो जाता है, पर हम तो अपनी आवश्यकताएँ सदा बढ़ाते ही रहते हैं। अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने की हमारी प्रवृत्ति एक रुग्ण प्रवृत्ति है। हम ऐसे विक्षिप्त और अस्वाभाविक बन गये हैं कि हमें किसी भी स्वाभाविक वस्तु से सन्तोष नहीं होता। हम सदा विकृत चीज़ों के पीछे, अस्वाभाविक उत्तेजनाओं के पीछे दौड़ा करते हैं, हमें खान-पान, वातावरण और जीवन भी अस्वाभाविक चाहिए। और जहाँ तक भय का प्रश्न है, हमारा सारा जीवन भय की पोटली मात्र है। मृग को तो केवल बाघ, भेड़िया इत्यादि का ही डर रहता है, पर मनुष्य को सारी सृष्टि से डर बना रहता है।

अब प्रश्न यह है कि इससे हम अपने को मुक्त कैसे कर सकते हैं। उपयोगितावादी कहते हैं, 'ईश्वर और परलोक की बातें मत करो। हम इनके विषय में

कुछ नहीं जानते। इस संसार में ही सुख की ज़िन्दगी बिताना उचित है।' यदि हम ऐसा कर सकते, तो सबसे पहले मैं ही यह करता, पर दुनिया हमें जब ऐसा करने दे, तब न? जब तक तुम प्रकृति के दास हो, तब तक ऐसा कर ही कैसे सकते हो? तुम जितना ही अधिक प्रयत्न करते हो, उतना ही अधिक उलझते जाते हो। न जाने कितने वर्ष अपने को सुखी बनाने की योजनाओं में व्यस्त रहते हो, पर हर वर्ष यही देखते हो कि अवस्था उत्तरोत्तर बुरी होती जा रही है। दो सौ वर्ष पहले 'पूर्वी गोलार्द्ध' में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थीं, पर जैसे जैसे मनुष्य का ज्ञान अंकगणितीय क्रम से बढ़ता गया, वैसे वैसे उसकी आवश्यकताएँ ज्यामितीय क्रम से बढ़ती गयीं। हम सोचते हैं कि मुक्ति में तो कम से कम हमारी सारी इच्छाएँ अवश्य पूर्ण हो जायँगी और इसलिए हम स्वर्ग जाने की इच्छा करते हैं। पर यह तृष्णा अनन्त है, यह कभी बुझनेवाली नहीं! सदा किसी न किसी वस्तु की कमी बनी ही रहती है! यदि मनुष्य भिखारी है, तो उसे धन चाहिए। यदि धन मिला, तो उसे अन्य चीज़ें चाहिए, समाज चाहिए, और उसके बाद भी कुछ और चाहिए। आराम या शान्ति कभी मिलती ही नहीं! तो, इस तृष्णा को हम कैसे बुझा सकते हैं? यदि हम स्वर्ग को जाते हैं, तो हमारी इच्छाओं की और भी वृद्धि होती है। यदि गरीब आदमी धनी हो जाता है, तो उसकी वासना तृप्त नहीं होती। धन तो अग्नि में घृत छोड़ने के समान उसकी प्रदीप्त ज्वालाओं की वृद्धि ही करता है। स्वर्ग जाने का अर्थ है अत्यधिक धनवान होना, और तब वासना अधिकाधिक बढ़ती जाती है। हम संसार के विभिन्न धर्मग्रन्थों में स्वर्ग में अनेक मानवीय विषयों के संबंध में पढ़ते हैं। वहाँ सभी बातें सर्वदा अच्छी ही नहीं होतीं; आखिर यह स्वर्ग जाने की इच्छा भी तो सुख-भोग की वासना ही है। इस इच्छा का परित्याग करना चाहिए। तुम लोगों के लिए स्वर्ग जाने का विचार करना बहुत हीन और तुच्छ है। यह ठीक उसी विचार के सदृश है कि मैं करोड़पति होऊँगा और लोगों पर हुकूमत करूँगा। ऐसे स्वर्ग तो अनेक हैं, पर धर्म और प्रेम के द्वार में प्रवेश करने का अधिकार इन स्वर्गों के द्वारा तुम कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

राजयोग का उद्देश्य

हमारे समस्त ज्ञान अनुभव पर आधारित हैं। जिसे हम आनुमानिक ज्ञान कहते हैं, और जिसमें हम सामान्य से अधिक सामान्य या सामान्य से विशेष तक पहुँचते हैं, उसकी आधार-भूमि अनुभव ही है। जिनको निश्चित विज्ञान[1] कहते हैं, उनकी सत्यता सहज ही लोगों की समझ में आ जाती है, क्योंकि वे प्रत्येक मनुष्य के विशेष अनुभवों की ही ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। वैज्ञानिक तुमको किसी भी विषय पर विश्वास कर बैठने को न कहेंगे। उन्होंने स्वयं कुछ तथ्यों का प्रत्यक्ष अनुभव किया है, जिससे वे कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे हैं और उन अनुभवों पर तर्क देते समय जब वे अपने उन निष्कर्षों पर हमसे विश्वास करने के लिए कहते हैं, तब वे मनुष्य जाति के कुछ सार्वभौम अनुभव की ओर हमारी दृष्टि आकृष्ट करते हैं। प्रत्येक निश्चित विज्ञान की एक आधार-भूमि है, जो समस्त मनुष्य जाति में सामान्य है और उससे जो निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं, इच्छा करने पर कोई भी उनका सत्यासत्य तत्काल समझ ले सकता है। अब प्रश्न यह है: धर्म की ऐसी आधार-भूमि कोई है या नहीं? मुझे सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों ही रूप से इस प्रश्न का उत्तर देना होगा।

संसार में धर्म के सम्बन्ध में सर्वत्र ऐसी शिक्षा मिलती है कि धर्म केवल श्रद्धा और विश्वास पर स्थापित है, और अधिकांश स्थलों में तो वह भिन्न भिन्न मतों का प्रकार मात्र है। इसी कारण हम देखते हैं कि सभी धर्म आपस में लड़ रहे हैं; ये मत फिर विश्वास पर स्थापित हैं। कोई मनुष्य कहता है कि बादलों के ऊपर एक महान् पुरुष बैठा है, वही सारे संसार का शासन करता है; और वह केवल अपने दावे के अधिकार पर ही मुझसे इसमें विश्वास करने को कहता है। मेरे भी ऐसे अनेक विचार हो सकते हैं, जिन पर विश्वास करने के लिए मैं दूसरों से कहता हूँ; और यदि वे कोई तर्क चाहें, तो मैं उन्हें कुछ नहीं दे सकता। इसीलिए आजकल धर्म और दर्शन-शास्त्रों की इतनी निन्दा सुनी जाती है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का

---

१. निश्चित विज्ञान (exact science)--अर्थात् वे विज्ञान, जिनके तत्त्व इतनी दूर तक सत्य निर्णीत हुए हैं कि गणना के बल पर उनके द्वारा भविष्य निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है; जैसे गणित, गणित-ज्योतिष इत्यादि। स०

मानो यही मनोभाव है—'अहो, ये धर्म कुछ मतों के गट्ठे भर हैं ! उनके सत्यासत्य-निर्णय का कोई मापदण्ड नहीं है; जिसके जी में जो आया, बस, वही, बक गया !' इन सबके बावजूद भी सभी धर्मों में सार्वभौमिक विश्वास की एक आधार-भूमि है, जो विभिन्न देशों के विभिन्न सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न मतवादों और सब प्रकार की विभिन्न धारणाओं को नियमित करती है। उन सबके मूल में जाने पर हम देखते हैं कि वे भी सार्वजनिक अनुभव पर आधारित हैं।

पहली बात तो यह कि यदि तुम पृथ्वी के भिन्न भिन्न धर्मों का ज़रा विश्लेषण करो, तो तुमको ज्ञात हो जायगा कि वे दो श्रेणियों में विभक्त हैं; कुछ की शास्त्र-भित्ति है, और कुछ की शास्त्र-भित्ति नहीं। जो शास्त्र-भित्ति पर स्थापित हैं, वे सुदृढ़ हैं, उन धर्मों के अनुयायियों की संख्या भी अधिक है। जिनकी शास्त्र-भित्ति नहीं है, वे धर्म प्रायः लुप्त हो गये हैं। कुछ नये उठे अवश्य हैं, पर उनके अनुयायी बहुत थोड़े हैं। फिर भी उक्त सभी सम्प्रदायों में यह मतैक्य दीख पड़ता है कि उनकी शिक्षा विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभवों के परिणाम हैं। ईसाई तुमसे अपने धर्म पर, ईसा पर, ईसा के अवतार के रूप पर, ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व पर और उस आत्मा की उन्नत भविष्य-स्थिति पर विश्वास करने को कहता है। यदि मैं उससे इस विश्वास का कारण पूछूँ, तो वह कहता है, "यह मेरा विश्वास है।" किन्तु यदि तुम ईसाई धर्म के मूल स्रोत में जाओ, तो देखोगे कि वह भी अनुभव पर आधारित है। ईसा ने कहा है, "मैंने ईश्वर के दर्शन किये हैं।" उनके शिष्यों ने भी कहा है, "हमने ईश्वर का अनुभव किया है।"—आदि आदि। बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। बुद्ध के अनुभव पर यह धर्म आधारित है। उन्होंने कुछ सत्यों का अनुभव किया था, उनको देखा था, उनके संस्पर्श में आये थे, और उन्हींका उन्होंने संसार में प्रचार किया। हिन्दुओं के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है; उनके शास्त्रों में ऋषि नाम से सम्बोधित किये जानेवाले ग्रंथकर्ता घोषणा करते हैं कि उन्होंने कुछ सत्यों के अनुभव किये हैं और उन्हींका वे संसार में प्रचार कर गये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि संसार के समस्त धर्म उस प्रत्यक्ष अनुभव पर स्थापित हैं, जो हमारे समस्त ज्ञान की सार्वभौमिक और सुदृढ़ आधारशिला है। सभी धर्माचार्यों ने ईश्वर के दर्शन किये थे; उन सभी ने अपनी आत्मा का दर्शन किया था; अपने अनन्त स्वरूप का ज्ञान सभी को हुआ था, सबने अपनी भविष्य-अवस्था देखी थी, और जो कुछ उन्होंने देखा था, उसीका वे प्रचार कर गये। भेद इतना ही है कि इनमें से अधिकांश धर्मों में, विशेषतः आजकल, एक अद्भुत दावा हमारे सामने उपस्थित होता है, और वह यह कि इस समय ये अनुभव असम्भव हैं। जो धर्म के प्रथम संस्थापक थे, बाद में जिनके नाम से उस धर्म का प्रवर्तन और प्रचलन हुआ, ऐसे केवल थोड़े

व्यक्तियों के लिए ही ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव सम्भव हुआ था। अब ऐसे अनुभव के लिए कोई रास्ता नहीं रहा, फलतः अब धर्म पर विश्वास भर कर लेना होगा। इस बात को मैं पूरी शक्ति से अस्वीकृत करता हूँ। यदि संसार में किसी प्रकार के विज्ञान के किसी विषय की किसीने कभी प्रत्यक्ष उपलब्धि की है, तो इससे इस सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है कि पहले भी कोटि कोटि बार उसकी उपलब्धि की सम्भावना थी और भविष्य में भी अनन्त काल तक उसकी उपलब्धि की सम्भावना बनी रहेगी। एकरूपता ही प्रकृति का एक बड़ा नियम है। एक बार जो घटित हुआ है, वह पुनः घटित हो सकता है।

इसीलिए योग-विद्या के आचार्य कहते हैं कि धर्म पूर्वकालीन अनुभवों पर केवल स्थापित ही नहीं, वरन् इन अनुभवों से स्वयं सम्पन्न हुए बिना कोई भी धार्मिक नहीं हो सकता। जिस विद्या के द्वारा ये अनुभव प्राप्त होते हैं, उसका नाम है योग। धर्म के सत्यों का जब तक कोई अनुभव नहीं कर लेता, तब तक धर्म की बात करना ही वृथा है। भगवान् के नाम पर इतनी लड़ाई, विरोध और झगड़ा क्यों? भगवान् के नाम पर जितना खून बहा है, उतना और किसी कारण से नहीं। ऐसा क्यों? इसीलिए कि कोई भी व्यक्ति मूल तक नहीं गया। सब लोग पूर्वजों के कुछ आचारों का अनुमोदन करके ही सन्तुष्ट थे। वे चाहते थे कि दूसरे भी वैसा ही करें। जिन्हें आत्मा की अनुभूति या ईश्वर-साक्षात्कार न हुआ हो, उन्हें यह कहने का क्या अधिकार है कि आत्मा या ईश्वर है? यदि ईश्वर हो, तो उसका साक्षात्कार करना होगा; यदि आत्मा नामक कोई चीज़ हो, तो उसकी उपलब्धि करनी होगी। अन्यथा विश्वास न करना ही भला। ढोंगी होने से स्पष्टवादी नास्तिक होना अच्छा है। एक ओर, आजकल के विद्वान् कहलानेवाले मनुष्यों के मन का भाव यह है कि धर्म, दर्शन और एक परम पुरुष का अनुसन्धान, यह सब निष्फल है और दूसरी ओर, जो अर्धशिक्षित हैं, उनका मनोभाव ऐसा जान पड़ता है कि धर्म, दर्शन आदि की वास्तव में कोई बुनियाद नहीं; उनकी इतनी ही उपयोगिता है कि वे संसार के मंगल-साधन की बलशाली प्रेरक शक्तियाँ हैं। यदि लोगों का ईश्वर की सत्ता में विश्वास रहेगा, तो वे सत् और नीतिपरायण बनेंगे और इसीलिए अच्छे नागरिक होंगे। जिनके ऐसे मनोभाव हैं, इसके लिए उनको दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे धर्म के सम्बन्ध में जो शिक्षा पाते हैं, वह केवल सारशून्य, अर्थहीन अनन्त शब्द-समष्टि पर विश्वास मात्र है। उन लोगों से शब्दों पर जीवित रहने के लिए कहा जाता है; क्या ऐसा कोई कभी कर सकता है? यदि मनुष्य द्वारा यह सम्भव होता, तो मानव-प्रकृति पर मेरी तिल मात्र श्रद्धा न रहती। मनुष्य चाहता है सत्य, वह सत्य का स्वयं अनुभव करना चाहता है; और जब वह सत्य की

धारणा कर लेता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, हृदय के अन्तरतम प्रदेश में उसका अनुभव कर लेता है, वेद कहते हैं, 'केवल तभी उसके सारे सन्देह दूर होते हैं, सारा तमोजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है और सारी वक्रता सीधी हो जाती है।'[1] 'हे अमृत के पुत्रो, यहाँ तक कि हे दिव्यधामनिवासियो, सुनो--मैंने अज्ञानान्धकार से आलोक में जाने का रास्ता पा लिया है। जो समस्त तम के पार है, उसको जानने पर ही वहाँ जाया जा सकता है--मुक्ति का और कोई दूसरा उपाय नहीं।'[2]

इस सत्य को प्राप्त करने के लिए, राजयोग-विद्या मानव के समक्ष यथार्थ व्यावहारिक और साधनोपयोगी वैज्ञानिक प्रणाली रखने का प्रस्ताव करती है। पहले तो, प्रत्येक विद्या के अनुसन्धान और साधन की प्रणाली पृथक् पृथक् है। यदि तुम ज्योतिषी होने की इच्छा करो और बैठे बैठे केवल ज्योतिष ज्योतिष कहकर चिल्लाते रहो, तो तुम कभी ज्योतिषशास्त्र के अधिकारी न हो सकोगे। रसायन-शास्त्र के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है; उसमें भी एक निर्दिष्ट प्रणाली का अनुसरण करना होगा; प्रयोगशाला (laboratory) में जाकर विभिन्न द्रव्यादि लेने होंगे, उनको एकत्र करना होगा, उन्हें उचित अनुपात में मिलाना होगा, फिर उनको लेकर उनकी परीक्षा करनी होगी, और तभी इससे रसायनशास्त्र का ज्ञान प्राप्त होगा। यदि तुम ज्योतिषी होना चाहते हो, तो तुम्हें वेधशाला में जाकर दूरबीन की सहायता से ताराओं और ग्रहों का पर्यवेक्षण करके उनके विषय में अध्ययन करना होगा, तभी तुम ज्योतिषी हो सकोगे। प्रत्येक विद्या की अपनी एक निर्दिष्ट प्रणाली है। मैं तुम्हें सैकड़ों उपदेश दे सकता हूँ, परन्तु तुम यदि साधना न करो, तो तुम कभी धार्मिक न हो सकोगे। सभी युगों में, सभी देशों में, निष्काम, शुद्ध-स्वभाव साधु-महापुरुष इसी सत्य का प्रचार कर गये हैं। संसार का हित छोड़कर अन्य कोई कामना उनमें नहीं थी। उन सभी लोगों ने कहा है कि इन्द्रियाँ हमें जहाँ तक सत्य का अनुभव करा सकती हैं, हमने उससे उच्चतर सत्य प्राप्त कर

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

--मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।८॥

२. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

* * *

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

--श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥२।५: ३।८॥

लिया है; और वे उसकी परीक्षा के लिए तुम्हें बुलाते हैं। वे कहते हैं कि हम एक निर्दिष्ट साधन-प्रणाली लेकर ईमानदारी से साधना करते रहें, और यदि यह उच्चतम सत्य प्राप्त न हो, तो फिर भले ही कह सकते हैं कि इस उच्चतर सत्य के सम्बन्ध की बातें केवल कपोलकल्पित हैं। पर हाँ, इससे पहले इन उक्तियों की सत्यता को बिल्कुल अस्वीकृत कर देना किसी तरह युक्तिपूर्ण नहीं है। अतएव निर्दिष्ट साधन-प्रणाली लेकर श्रद्धापूर्वक साधना करना हमारे लिए आवश्यक है, और तब प्रकाश अवश्य आयेगा।

कोई ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम साधारणीकरण की सहायता लेते हैं और साधारणीकरण घटनाओं के पर्यवेक्षण पर आधारित है। हम पहले घटनावली का पर्यवेक्षण करते हैं, फिर उनका साधारणीकरण करते हैं और फिर उनसे अपने सिद्धान्त या निष्कर्ष निकालते हैं। हम जब तक यह प्रत्यक्ष नहीं कर लेते कि हमारे मन के भीतर क्या हो रहा है और क्या नहीं, तब तक हम अपने मन के सम्बन्ध में, मनुष्य की आभ्यन्तरिक प्रकृति के सम्बन्ध में, मनुष्य के विचार के सम्बन्ध में कुछ भी नही जान सकते। बाह्य जगत् के व्यापारों का पर्यवेक्षण करना अपेक्षाकृत सहज है, क्योंकि उसके लिए हज़ारों यन्त्र निर्मित हो चुके हैं, पर अन्तर्जगत् के व्यापार को समझने में मदद करनेवाला कोई भी यन्त्र नहीं। किन्तु फिर भी हम यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्यवेक्षण आवश्यक है। उचित विश्लेषण के बिना विज्ञान निरर्थक और निष्फल होकर केवल भित्तिहीन अनुमान में परिणत हो जाता है। इसी कारण, उन थोड़े से मनस्तत्त्वान्वेषियों को छोड़कर, जिन्होंने पर्यवेक्षण करने के उपाय जान लिये हैं, शेष सब लोग चिरकाल से परस्पर केवल विवाद ही करते आ रहे हैं।

राजयोग-विद्या पहले मनुष्य को उसकी अपनी आभ्यन्तरिक अवस्थाओं के पर्यवेक्षण का इस प्रकार उपाय दिखा देती है। मन ही उस पर्यवेक्षण का यन्त्र है। मनोयोग की शक्ति का सही सही नियमन कर जब उसे अन्तर्जगत् की ओर परिचालित किया जाता है, तभी वह मन का विश्लेषण कर सकती है, और तब उसके प्रकाश से हम यह सही समझ सकते हैं कि अपने मन के भीतर क्या हो रहा है। मन की शक्तियाँ इधर-उधर बिखरी हुई प्रकाश की किरणों के समान हैं। जब उन्हें केन्द्रीभूत किया जाता है, तब वे सब कुछ आलोकित कर देती हैं। यही ज्ञान का हमारा एकमात्र उपाय है। बाह्य जगत् में हो अथवा अन्तर्जगत् में, लोग इसीको काम में ले आ रहे हैं। पर वैज्ञानिक जिस सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का प्रयोग बहिर्जगत् में करता है, मनस्तत्त्वान्वेषी उसीका मन पर करते हैं। इसके लिए काफ़ी अभ्यास आवश्यक है। बचपन से हमने केवल बाहरी वस्तुओं में मनोनिवेश

करना सीखा है, अन्तर्जगत् में मनोनिवेश करने की शिक्षा नहीं पायी। इसी कारण हममें से अधिकांश आभ्यन्तरिक क्रिया-विधि की निरीक्षण-शक्ति खो बैठे हैं। मन को अन्तर्मुखी करना, उसकी बहिर्मुखी गति को रोकना, उसकी समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत कर, उस मन के ही ऊपर उनका प्रयोग करना, ताकि वह अपना स्वभाव समझ सके, अपने आपको विश्लेषण करके देख सके---एक अत्यन्त कठिन कार्य है। पर इस विषय में वैज्ञानिक प्रथा के अनुसार अग्रसर होने के लिए यही एकमात्र उपाय है।

इस तरह के ज्ञान की उपयोगिता क्या है? पहले तो, ज्ञान स्वयं ज्ञान का सर्वोच्च पुरस्कार है; दूसरे, इसकी उपयोगिता भी है। यह हमारे समस्त दुःखों का हरण करेगा। जब मनुष्य अपने मन का विश्लेषण करते करते ऐसी एक वस्तु के साक्षात् दर्शन कर लेता है, जिसका किसी काल में नाश नहीं, जो स्वरूपतः नित्य-पूर्ण और नित्यशुद्ध है, तब उसको फिर दुःख नहीं रह जाता, उसका सारा विषाद न जाने कहाँ ग़ायब हो जाता है। भय और अतृप्त वासना ही समस्त दुःखों का मूल है। पूर्वोक्त अवस्था के प्राप्त होने पर मनुष्य समझ जाता है कि उसकी मृत्यु किसी काल में नहीं है, तब उसे फिर मृत्यु-भय नहीं रह जाता। अपने को पूर्ण समझ सकने पर असार वासनाएँ फिर नहीं रहतीं। पूर्वोक्त कारणद्वय का अभाव हो जाने पर फिर कोई दुःख नहीं रह जाता। उसकी जगह इसी देह में परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकमात्र उपाय है एकाग्रता। रसायनवित् अपनी प्रयोगशाला में जाकर अपने मन की समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत करके, जिन वस्तुओं का विश्लेषण करता है, उन पर प्रयोग करता है; और इस प्रकार वह उनके रहस्य जान लेता है। ज्योतिषी अपने मन की समुदय शक्तियों को एकत्र करके दूरबीन के भीतर से आकाश में प्रक्षिप्त करता है, और बस, त्यों ही सूर्य, चन्द्र और ताराएँ अपने अपने रहस्य उसके निकट खोल देती हैं। मैं जिस विषय पर बातचीत कर रहा हूँ, उस विषय में मैं जितना मनोनिवेश कर सकूँगा, उतना ही उस विषय का गूढ़ तत्त्व तुम लोगों के निकट प्रकट कर सकूँगा। तुम लोग मेरी बात सुन रहे हो और तुम लोग जितना इस विषय में मनोनिवेश करोगे, उतनी ही मेरी बात की स्पष्ट रूप से धारणा कर सकोगे।

मन की शक्तियों को एकाग्र करने के सिवा अन्य किस तरह संसार में ये समस्त ज्ञान उपलब्ध हुए हैं? यदि प्रकृति के द्वार पर कैसे खटखटाना चाहिए---उस पर कैसे आघात देना चाहिए, केवल यह ज्ञात हो गया, तो बस, प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से

ही आती है। मानव-मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर केन्द्रित होती है; यही रहस्य है।

मन को बाहरी विषय पर स्थिर करना अपेक्षाकृत सहज है। मन स्वभावतः बहिर्मुखी है। किन्तु धर्म, मनोविज्ञान अथवा दर्शन के विषय में ऐसा नहीं है। यहाँ तो ज्ञाता और ज्ञेय (विषयी और विषय) एक हैं। यहाँ प्रमेय (विषय) एक अन्दर की वस्तु है—मन ही स्वयं यहाँ प्रमेय है। मन का अध्ययन करना ही यहाँ प्रयोजन है, और मन ही मन के अध्ययन का कर्ता है। हमें मालूम है कि मन की एक ऐसी शक्ति है, जिससे वह अपने अन्दर जो कुछ हो रहा है, उसे देख सकता है—इसको अन्तःपर्यवेक्षण-शक्ति कह सकते हैं। मैं तुमसे बातचीत कर रहा हूँ; फिर साथ ही मैं मानो एक और व्यक्ति होकर बाहर खड़ा हूँ और जो कुछ कह रहा हूँ, वह जान-सुन रहा हूँ। तुम एक ही समय काम और चिन्तन, दोनों कर रहे हो, परन्तु तुम्हारे मन का एक और अंश मानो बाहर खड़े होकर तुम जो कुछ चिन्तन कर रहो हो, उसे देख रहा है। मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके मन पर ही उनका प्रयोग करना होगा। जैसे सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के सामने घने अन्धकारमय स्थान भी अपने गुप्त तथ्य खोल देते हैं, उसी तरह यह एकाग्र मन अपने सब अन्तरतम रहस्य प्रकाशित कर देगा। तब हम विश्वास की सच्ची बुनियाद पर पहुँचेंगे। तभी हमको सही धर्म-प्राप्ति होगी। तभी, आत्मा है या नहीं, जीवन केवल पाँच मिनट का है अथवा अनन्तकाल-व्यापी है और संसार में कोई ईश्वर है या नहीं, यह सब हम स्वयं देख सकेंगे। सब कुछ हमारे ज्ञान-चक्षुओं के सामने उद्भासित हो उठेगा। राजयोग हमें यही शिक्षा देना चाहता है। इसमें जितने उपदेश हैं, उन सबका उद्देश्य, प्रथमतः मन की एकाग्रता का साधन है; इसके बाद है—उसके गम्भीरतम प्रदेश में कितने प्रकार के भिन्न भिन्न कार्य हो रहे हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करना; और तत्पश्चात् उनसे साधारण सत्यों को निकालकर उनसे अपने एक सिद्धान्त पर उपनीत होना। इसीलिए राजयोग की शिक्षा किसी धर्मविशेष पर आधारित नहीं है। तुम्हारा धर्म चाहे जो हो—तुम चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, यहूदी या बौद्ध या ईसाई—इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; तुम मनुष्य हो, बस, यही पर्याप्त है। प्रत्येक मनुष्य में धर्म-तत्त्व का अनुसन्धान करने की शक्ति है, उसे उसका अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति का, किसी भी विषय से क्यों न हो, कारण पूछने का अधिकार है, और उसमें ऐसी शक्ति भी है कि वह अपने भीतर से ही उन प्रश्नों के उत्तर पा सके। पर हाँ, उसे इसके लिए कुछ कष्ट उठाना पड़ेगा।

अब तक हमने देखा, इस राजयोग की साधना में किसी प्रकार के विश्वास

की आवश्यकता नहीं। जब तक कोई बात स्वयं प्रत्यक्ष न कर सको, तब तक उस पर विश्वास न करो---राजयोग यही शिक्षा देता है। सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए अन्य किसी सहायता की आवश्यकता नहीं। क्या तुम कहना चाहते हो कि जाग्रत अवस्था की सत्यता के प्रमाण के लिए स्वप्न अथवा कल्पना की सहायता की ज़रूरत है? नहीं, कभी नहीं। इस राजयोग की साधना में दीर्घ काल और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। इस अभ्यास का कुछ अंश शरीर-संयम विषयक है, परन्तु इसका प्रमुख अंश मनःसंयमात्मक है। हम क्रमशः समझेंगे, मन और शरीर में किस प्रकार का सम्बन्ध है। यदि हम विश्वास करें कि मन शरीर की केवल एक सूक्ष्म अवस्थाविशेष है और मन शरीर पर कार्य करता है, तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि शरीर भी मन पर कार्य करता है। शरीर के अस्वस्थ होने पर मन भी अस्वस्थ हो जाता है, शरीर स्वस्थ रहने पर मन भी स्वस्थ और तेजस्वी रहता है। जब किसी व्यक्ति को क्रोध आता है, तब उसका मन अस्थिर हो जाता है। मन की अस्थिरता के कारण शरीर भी पूरी तरह अस्थिर हो जाता है। अधिकांश लोगों का मन शरीर के सम्पूर्ण अधीन रहता है। असल में उनके मन की शक्ति बहुत थोड़े परिमाण में विकसित हुई रहती है। अधिकांश मनुष्य पशु से बहुत थोड़े ही उन्नत हैं; क्योंकि अधिकांश स्थलों में तो उनकी संयम की शक्ति पशु-पक्षियों से कोई विशेष अधिक नहीं। हममें मन के निग्रह की शक्ति बहुत थोड़ी है। मन पर यह अधिकार पाने के लिए, शरीर और मन पर आधिपत्य लाने के लिए कुछ बहिरंग साधनाओं की---दैहिक साधनाओं की आवश्यकता है। शरीर जब पूरी तरह अधिकार में आ जायगा, तब मन को हिलाने-डुलाने का समय आयेगा। इस तरह मन जब बहुत कुछ वश में आ जायगा, तब हम इच्छानुसार उससे काम ले सकेंगे, उसकी वृत्तियों को एकमुखी होने के लिए मजबूर कर सकेंगे।

राजयोगी के मतानुसार यह सम्पूर्ण बहिर्जगत् अन्तर्जगत् या सूक्ष्म जगत् का स्थूल विकास मात्र है। सभी स्थलों में सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य समझना होगा। इस नियम से, बहिर्जगत् कार्य है और अन्तर्जगत् कारण। इसी हिसाब से, स्थूल जगत् की परिदृश्यमान शक्तियाँ आभ्यन्तरिक सूक्ष्मतर शक्तियों का स्थूल भाग मात्र हैं। जिन्होंने इन आभ्यन्तरिक शक्तियों का आविष्कार करके उन्हें इच्छानुसार चलाना सीख लिया है, वे सम्पूर्ण प्रकृति को वश में कर सकते हैं। सम्पूर्ण जगत् को वशीभूत करना और सारी प्रकृति पर अधिकार हासिल करना---इस बृहत् कार्य को ही योगी अपना कर्तव्य समझते हैं। वे एक ऐसी अवस्था में जाना चाहते हैं, जहाँ, हम जिन्हें 'प्रकृति के नियम' कहते हैं वे

उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते, जिस अवस्था में वे उन सबको पार कर जाते हैं। तब वे आभ्यन्तरिक और बाह्य समस्त प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य-जाति की उन्नति और सभ्यता इस प्रकृति को वशीभूत करने की शक्ति पर ही निर्भर है।

इस प्रकृति को वशीभूत करने के लिए भिन्न भिन्न जातियाँ भिन्न भिन्न प्रणालियों का सहारा लेती हैं। जैसे एक ही समाज के भीतर कुछ व्यक्ति वाह्य प्रकृति को और कुछ अन्तःप्रकृति को वशीभूत करने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही भिन्न भिन्न जातियों में कोई कोई जातियाँ बाह्य प्रकृति को, तो कोई कोई अन्तः-प्रकृति को वशीभूत करने का प्रयत्न करती हैं। किसीके मत से, अन्तःप्रकृति को वशीभूत करने पर सब कुछ वशीभूत हो जाता है; फिर दूसरों के मत से, वाह्य प्रकृति को वशीभूत करने पर सब कुछ वश में आ जाता है। इन दो सिद्धान्तों के चरम भावों को देखने पर यह प्रतीत होता है कि दोनों ही सिद्धान्त सही हैं; क्योंकि यथार्थतः प्रकृति में वाह्य और आभ्यन्तर जैसा कोई भेद नहीं। यह केवल एक काल्पनिक विभाग है। ऐसे विभाग का कोई अस्तित्व ही नहीं, और यह कभी था भी नहीं। बहिर्वादी और अन्तर्वादी जब अपने अपने ज्ञान की चरम सीमा प्राप्त कर लेंगे, तब दोनों अवश्य एक ही स्थान पर पहुँच जायँगे। जैसे भौतिक विज्ञानी जब अपने ज्ञान को चरम सीमा पर ले जायँगे, तो अन्त में उन्हें दार्शनिक होना होगा, उसी प्रकार दार्शनिक भी देखेंगे कि वे मन और भूत के नाम से जो दो भेद कर रहे थे, वह वास्तव में कल्पना मात्र है; वह एक दिन विल्कुल विलीन हो जायगी।

जिस एक से यह बहु उत्पन्न हुआ है, जो एक बहु रूपों में प्रकाशित हुआ है, उस एकत्व को प्राप्त करना ही समस्त विज्ञान का उद्देश्य और लक्ष्य है। राजयोगी कहते हैं, हम पहले अन्तर्जगत् का ज्ञान प्राप्त करेंगे, फिर उसीके द्वारा बाह्य और अन्तर, उभय प्रकृति को वशीभूत कर लेंगे। प्राचीन काल से ही लोग इसके लिए प्रयत्नशील रहे हैं। भारतवर्ष में इसकी विशेष चेष्टा होती रही है, परन्तु दूसरी जातियों ने भी इस ओर कुछ प्रयत्न किये हैं। पाश्चात्य देशों में लोग इसको रहस्य या गुप्त विद्या सोचते थे; जो लोग इसका अभ्यास करने जाते थे, उन पर अघोरी, डाइन, ऐन्द्रजालिक आदि अपवाद लगाकर उन्हें जला दिया अथवा मार डाला जाता था। भारतवर्ष में अनेक कारणों से यह विद्या ऐसे व्यक्तियों के हाथ पड़ी, जिन्होंने इसका ९० प्रतिशत अंश नष्ट कर डाला और शेष को गुप्त रीति से रखने की चेष्टा की। आजकल पश्चिमी देशों में, भारतवर्ष के गुरुओं की अपेक्षा निकृष्टतर अनेक गुरु नामधारी व्यक्ति दिखायी पड़ते हैं। भारतवर्ष के गुरु फिर भी कुछ जानते थे, पर ये आधुनिक व्याख्याकार तो कुछ भी नहीं जानते।

इन सारी योग-प्रणालियों में जो कुछ गुह्य या रहस्यात्मक है, सब छोड़ देना पड़ेगा। जिससे बल मिलता है, उसीका अनुसरण करना चाहिए। अन्यान्य विषयों में जैसा है, धर्म में भी ठीक वैसा ही है—जो तुमको दुर्बल बनाता है, वह समूल त्याज्य है। रहस्य-स्पृहा मानव-मस्तिष्क को दुर्बल कर देती है। इसके कारण ही आज योगशास्त्र नष्ट सा हो गया है। किन्तु वास्तव में यह एक महाविज्ञान है। चार हज़ार वर्ष से भी पहले यह आविष्कृत हुआ था। तब से भारतवर्ष में यह प्रणालीवद्ध होकर वर्णित और प्रचारित होता रहा है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि व्याख्याकार जितना आधुनिक है, उसका भ्रम भी उतना ही अधिक है; और लेखक जितना प्राचीन है, उसने उतनी ही अधिक युक्तियुक्त बात कही है। आधुनिक लेखकों में ऐसे अनेक हैं, जो नाना प्रकार की रहस्यात्मक और अद्‌भुत अद्‌भुत बातें कहा करते हैं। इस प्रकार, जिनके हाथ यह शास्त्र पड़ा, उन्होंने समस्त शक्तियाँ अपने अधिकार में कर रखने की इच्छा से इसको महा गोपनीय बना डाला और युक्तिरूप प्रभाकर का पूर्ण आलोक इस पर न पड़ने दिया।

मैं पहले ही कह देना चाहता हूँ कि मैं जो कुछ प्रचार कर रहा हूँ, उसमें गुह्य नाम की कोई चीज़ नहीं है। मैं जो कुछ थोड़ा सा जानता हूँ, वही तुमसे कहूँगा। जहाँ तक यह युक्ति से समझाया जा सकता है, वहाँ तक समझाने की कोशिश करूँगा। परन्तु मैं जो नहीं समझ सकता, उसके बारे में कह दूंगा, "शास्त्र का यह कथन है।" अन्धविश्वास करना ठीक नहीं। अपनी विचार-शक्ति और युक्ति काम में लानी होगी। यह प्रत्यक्ष करके देखना होगा कि शास्त्र में जो कुछ लिखा है, वह सत्य है या नहीं। भौतिक विज्ञान तुम जिस ढंग से सीखते हो, ठीक उसी प्रणाली से यह धर्मविज्ञान भी सीखना होगा। इसमें गुप्त रखने की कोई बात नहीं, किसी विपत्ति की भी आशंका नहीं। इसमें जहाँ तक सत्य है, उसका सबके समक्ष राजपथ पर, स्पष्ट दिवालोक में प्रचार करना आवश्यक है। यह सब किसी प्रकार छिपा रखने की चेष्टा करने से अनेक प्रकार की महान् विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

कुछ और अधिक कहने के पहले मैं सांख्य दर्शन के सम्बन्ध में कुछ कहूँगा। इस सांख्य दर्शन पर राजयोग आधारित है। सांख्य दर्शन के मत से किसी विषय के ज्ञान की प्रणाली इस प्रकार है—प्रथमत: विषय के साथ चक्षु आदि बाह्य करणों का संयोग होता है। ये चक्षु आदि बाहरी करण फिर उसे मस्तिष्क-स्थित अपने अपने केन्द्र अर्थात् इन्द्रियों के पास भेजते हैं; इन्द्रियाँ मन के निकट, और मन उसे निश्चयात्मिका बुद्धि के पास ले जाता है; तब पुरुष या आत्मा उसका ग्रहण करती है। फिर जिस सोपानक्रम में से होता हुआ वह विषय अन्दर आया था, उसीमें से होते हुए लौट जाने की पुरुष मानो उसे आज्ञा देता है।

इस प्रकार विषय गृहीत होता है। पुरुष को छोड़कर शेष सब जड़ हैं। पर आँख आदि बाहरी करणों की अपेक्षा मन सूक्ष्मतर भूत से निर्मित है। मन जिस उपादान से निर्मित है, उसीसे तन्मात्रा नामक सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। उनके स्थूल हो जाने पर परिदृश्यमान भूतों की उत्पत्ति होती है। यही सांख्य का मनोविज्ञान है। अतएव बुद्धि और परिदृश्यमान स्थूल भूत में अन्तर केवल स्थूलता के तारतम्य में है। एकमात्र पुरुष ही चेतन है। मन तो मानो आत्मा के हाथों एक यन्त्र है। उसके द्वारा आत्मा बाहरी विषयों को ग्रहण करती है। मन सतत परिवर्तनशील है, इधर से उधर दौड़ता रहता है, कभी सभी इन्द्रियों से लगा रहता है, तो कभी एक से, और कभी किसी भी इन्द्रिय से संलग्न नहीं रहता। मान लो, मैं मन लगाकर एक घड़ी की टिक टिक सुन रहा हूँ। ऐसी दशा में आँखें खुली रहने पर भी मैं कुछ देख न पाऊँगा। इससे स्पष्ट समझ में आ जाता है कि मन जब श्रवणेन्द्रिय से लगा था, तो दर्शनेन्द्रिय से उसका संयोग न था। पर पूर्णताप्राप्त मन सभी इन्द्रियों से एक साथ लगाया जा सकता है। उसी अन्तर्दृष्टि की शक्ति है, जिसके बल से मनुष्य अपने अन्तर के सबसे गहरे प्रदेश तक में नज़र डाल सकता है। इस अन्तर्दृष्टि का विकास-साधन ही योगी का उद्देश्य है। मन की समस्त शक्तियों को एकत्र करके भीतर की ओर मोड़कर वे जानना चाहते हैं कि भीतर क्या हो रहा है। इसमें केवल विश्वास की कोई बात नहीं; यह तो दार्शनिकों के मनस्तात्त्व-विश्लेषण का फल मात्र है। आधुनिक शरीर-विज्ञानवित् का कथन है कि आँखें यथार्थतः दर्शनेन्द्रिय नहीं हैं; वह इन्द्रिय तो मस्तिष्क के अन्तर्गत स्नायु-केन्द्र में अवस्थित है और समस्त इन्द्रियों के सम्बन्ध में ठीक ऐसा ही समझना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि मस्तिष्क जिस पदार्थ से निर्मित है, ये केन्द्र भी ठीक उसी पदार्थ से बने हैं। सांख्य भी ऐसा ही कहता है। अंतर यह है कि सांख्य का सिद्धान्त मनोविज्ञान पर आधारित है और वैज्ञानिकों का भौतिकता पर। फिर भी दोनों एक ही बात है। हमारे शोध के क्षेत्र इन दोनों के परे हैं।

योगी प्रयत्न करते हैं कि वे अपने को ऐसा सूक्ष्म अनुभूतिसम्पन्न कर लें, जिससे वे विभिन्न मानसिक अवस्थाओं को प्रत्यक्ष कर सकें। समस्त मानसिक प्रक्रियाओं को पृथक् पृथक् रूप से मानस-प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इन्द्रिय-गोलकों पर विषयों का आघात होते ही उससे उत्पन्न हुई संवेदनाएँ उस उस करण की सहायता से किस तरह स्नायु में से होती हुई जाती हैं, मन किस प्रकार उनको ग्रहण करता है, किस प्रकार फिर वे निश्चयात्मिका बुद्धि के पास जाती हैं, तत्पश्चात् किस प्रकार वह पुरुष के पास उन्हें पहुँचाता है—इन समस्त व्यापारों

को पृथक् पृथक् रूप से देखना होगा। प्रत्येक विषय की शिक्षा की अपनी एक निर्दिष्ट प्रणाली है। कोई भी विज्ञान क्यों न सीखो, पहले अपने आपको उसके लिए तैयार करना होगा, फिर एक निर्दिष्ट प्रणाली का अनुसरण करना होगा, इसके अतिरिक्त उस विज्ञान के सिद्धान्तों को समझने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। राजयोग के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही है।

भोजन के सम्बन्ध में कुछ नियम आवश्यक हैं। जिससे मन खूब पवित्र रहे, ऐसा भोजन करना चाहिए। तुम यदि किसी अजायबघर में जाओ, तो भोजन के साथ जीव का क्या सम्बन्ध है, यह भली भाँति समझ में आ जायगा। हाथी बड़ा भारी प्राणी है, परन्तु उसकी प्रकृति बड़ी शान्त है। और यदि तुम सिंह या बाघ के पिंजड़े की ओर जाओ, तो देखोगे, वे बड़े चंचल हैं। इससे समझ में आ जाता है कि आहार का तारतम्य कितना भयानक परिवर्तन कर देता है। हमारे शरीर के अन्दर जितनी शक्तियाँ कार्यशील हैं, वे आहार से पैदा हुई हैं। और यह हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। यदि तुम उपवास करना आरम्भ कर दो, तो तुम्हारा शरीर दुर्बल हो जायगा, दैहिक शक्तियों का ह्रास हो जायगा और कुछ दिनों बाद मानसिक शक्तियाँ भी क्षीण होने लगेंगी। पहले स्मृति-शक्ति जाती रहेगी, फिर ऐसा एक समय आयेगा, जब सोचने के लिए भी सामर्थ्य न रह जायगा---किसी विषय पर गम्भीर रूप से विचार करना तो दूर की बात रहे। इसीलिए साधना की पहली अवस्था में, भोजन के सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना होगा; फिर बाद में साधना में विशेष प्रगति हो जाने पर उतना सावधान न रहने से भी चलेगा। जब तक पौधा छोटा रहता है, तब तक उसे घेरकर रखते हैं, नहीं तो जानवर उसे चर जायँ। उसके बड़े वृक्ष हो जाने पर घेरा निकाल दिया जाता। तब वह सारे आघात झेलने के लिए पर्याप्त शक्त है।

योगी को अधिक विलास और कठोरता, दोनों को ही त्याग देना चाहिए। उनके लिए उपवास करना या देह को किसी प्रकार कष्ट देना उचित नहीं। गीता कहती है, जो अपने को अनर्थक क्लेश देते हैं, वे कभी योगी नहीं हो सकते। अतिभोजनकारी, उपवासशील, अधिक जागरणशील, अधिक निद्रालु, अत्यन्त कर्मी अथवा बिल्कुल आलसी---इनमें से कोई भी योगी नहीं हो सकता।[1]

---

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता ॥६।१६-७॥

क्रियात्मक आध्यात्मिकता के प्रति संकेत

(लॉस एंजिलस, कैलिफ़ोर्निया में दिया हुआ भाषण)

आज प्रातःकाल मैं प्राणायाम तथा अन्य साधनाओं के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करूँगा। हमने अभी तक केवल सैद्धांतिक चर्चा ही की है, अब क्रियात्मक पक्ष की ओर ध्यान देना आवश्यक है। भारत में इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं। जिस तरह तुम लोग अनेक बातों में व्यवहारकुशल हो, उसी तरह हम भारतवासी इस विषय में हैं। तुम लोगों में से पाँच मनुष्य इकट्ठे हो जाते हैं और उनका विचार हो जाता है कि वे एक 'ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनी' खोलें, और पाँच घंटे बाद कम्पनी खुल भी जाती है। पर भारत में लोगों से पचास साल में भी ऐसी कम्पनी नहीं खुल सकती। भारतवासी इन बातों में व्यवहार-कुशल हैं ही नहीं। लेकिन यदि कोई नयी दर्शन-प्रणाली प्रवर्तित करे, तो तुम निश्चय ही समझ लो कि वह चाहे जितना ही विलक्षण क्यों न हो, उसके अनुयायी निकल ही पड़ेंगे। उदाहरणार्थ, यदि कोई सम्प्रदाय यह कहे कि बारह साल दिन-रात एक पैर पर खड़े रहने से मुक्ति मिल जायगी, तो एक पैर पर खड़े रहने के लिए प्रस्तुत सैकड़ों आदमी मिल जायँगे। वे सारा कष्ट चुपचाप सह लेंगे। वहाँ ऐसे भी मनुष्य हैं, जो पुण्य प्राप्त करने के लिए लगातार सालों हाथ उठाये ही रह जायँगे। मैंने स्वयं ऐसे सैकड़ों व्यक्ति देखे हैं। और, देखो, इनमें सभी मूर्ख होते हों, ऐसी बात नहीं, उनकी गम्भीर तथा विशाल बुद्धि देखकर तुम चकरा जाओगे। इस तरह हम देखते हैं कि व्यवहारकुशलता शब्द भी सापेक्ष है।

दूसरों की समीक्षा करते समय हम सदा यही भूल कर बैठते हैं; हम सदा यही सोचा करते हैं कि हमारी छोटी बुद्धि जितना समझ सकती है, उतना ही यह विश्व है; हमारा नीतिशास्त्र, हमारा आचरणशास्त्र, हमारी अपनी कर्तव्यविषयक भावना, हमारी अपनी उपयोगिता के विचार—केवल ये ही श्रेयस्कर हैं। एक दिन, मार्सेल्स से होकर यूरोप जाते समय मैंने देखा कि साँड़ लड़ाये जा रहे हैं। यह देखकर जहाज में बैठे हुए सब अंग्रेज़ जोश से पागल हो गये; कहने लगे, "यह तो बिल्कुल निष्ठुर है," और बड़े दोष बतलाकर गालियाँ देने लगे। जब मैं इंग्लैंड गया, तो वहाँ मैंने मुक्केबाज़ों के एक दल के विषय में सुना, जो पेरिस गये थे और जिन्हें फ़्रांसीसियों ने

ठोकरें मारकर निकाल दिया था; क्योंकि फ़ांसीसी मुक्केबाज़ी को बेरहम समझते हैं। जब इस तरह की बातें मैं अनेक देशों में सुनता हूँ, तो ईसा के अप्रतिम शब्दों का तात्पर्य मेरी समझ में आ जाता है: "दूसरों की समीक्षा न करो, जिससे तुम्हारी भी समीक्षा न हो।" जितना ही अधिक हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, उतना ही अधिक हमें पता लगता है कि हम कितने अज्ञ हैं और मनुष्य का मन कितना बहुमुखी और बहुपक्षीय है। जब मैं छोटा था, तब मैं अपने देशवासियों की तापस साधनाओं के सम्बन्ध में नुक्ताचीनी किया करता था। हमारे देश के बड़े बड़े आचार्यों ने भी उनके सम्बन्ध में नुक़्ताचीनी की है; यही नहीं, दुनिया के श्रेष्ठतम पुरुष भगवान् बुद्ध ने भी उसकी आलोचना की है। लेकिन जैसे जैसे मैं बड़ा होता जा रहा हूँ, मैं देखता हूँ कि उनकी इस तरह समीक्षा करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। यद्यपि उनकी बातें असंबद्ध होती हैं, तो भी कभी कभी मैं चाहता हूँ कि उनकी कार्यक्षमता तथा सहनशक्ति का एक अंश मुझमें आ जाय। मुझे अक्सर लगता है कि मैं जो समीक्षा और आलोचना करता हूँ, वह इसलिए नहीं कि मुझे देह-यातना पसंद नहीं, बल्कि इसलिए कि मैं डरपोक हूँ—मुझमें वह करने की हिम्मत नहीं, मैं उसे आचरण में नहीं ला सकता।

फिर तुम यह भी देखते हो कि बल, शक्ति तथा साहस, ये ऐसी बातें हैं, जो बहुत विचित्र हैं। हम प्रायः कहा करते हैं कि यह मनुष्य शूर है, हिम्मतवाला या वीर है; लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि शौर्य, साहस या अन्य गुण हमें उस मनुष्य में सभी अवस्थाओं में दिखायी देंगे, ऐसा नहीं। एक मनुष्य, जो तोप के मुँह में घुस जायगा, डॉक्टर का चाकू देखकर पीछे हट जाता है; लेकिन दूसरा मनुष्य, जो तोप को देखने तक की हिम्मत न करेगा, मौक़ा पड़ने पर डॉक्टर के द्वारा किये बड़े आपरेशन को शांति से सहन कर लेता है। इसलिए दूसरों की समीक्षा करते समय तुम्हें पहले 'साहस' या 'महानता' की अपनी व्याख्या देनी चाहिए। हो सकता है कि जिस मनुष्य को मैं बुरा कहता हूँ, वह अन्य कुछ बातों में आश्चर्यजनक रूप से अच्छा हो, जिनमें मैं कभी अच्छा नहीं हो सकता।

दूसरा उदाहरण लो। जब लोग पुरुष और स्त्री की कार्य-शक्ति के सम्बन्ध में बातचीत करते हैं, तो तुम देखोगे कि वे यही भूल कर बैठते हैं। पुरुष युद्ध तथा कठिन शारीरिक श्रम कर सकता है, इसलिए वे समझते हैं कि वह अधिक श्रेष्ठ है, और इसके साथ स्त्री-जाति की शारीरिक दुर्बलता तथा युद्धपराङ्मुखता की तुलना करते हैं। पर यह अन्याय है। स्त्री भी उतनी ही साहसी होती है, जितना कि पुरुष। अपने अपने ढंग से दोनों ही अच्छे हैं। भला एक ऐसा पुरुष तो बताओ, जो बच्चे का लालन-पालन उतनी सहनशीलता, धैर्य एवं प्यार के साथ कर सकता

हो, जितना एक स्त्री। पुरुष ने यदि अपनी कर्मठता का सामर्थ्य बढ़ाया है, तो स्त्री ने सहनशीलता का। स्त्री में यदि कार्यक्षमता की कमी है, तो पुरुष कष्ट सहने में कच्चा है। यह सम्पूर्ण विश्व पूर्णतया संतुलित है। कौन कह सकता है कि शायद एक दिन एक कीड़े में भी कुछ ऐसा गुण दिखे, जो हमारी मनुष्यता को संतुलित करता हो। अत्यन्त दुष्ट मनुष्य में भी वे गुण हो सकते हैं, जो मुझमें बिल्कुल न हों। अपने जीवन में यह सत्य मैं प्रतिदिन देख रहा हूँ। एक जंगली व्यक्ति की ओर ही देखो। मैं कितना चाहता हूँ कि मेरा शरीर भी ऐसा ही मज़बूत होता। वह भर पेट खाता-पीता है, और बीमारी क्या चीज़ है, यह शायद जानता तक नहीं। इसके विपरीत मैं सर्वदा बीमार रहता हूँ। अगर मैं अपने मस्तिष्क से इसका शरीर बदल ले सकता, तो मुझे कितना हर्ष होता! सारा विश्व लहर और गर्त के सदृश है, ऐसी कोई लहर नहीं, जिसके साथ गर्त न हो। संतुलन सर्वत्र विद्यमान है। यदि तुम्हारे पास एक वस्तु बड़ी है, तो तुम्हारे पड़ोसी के पास दूसरी। पुरुष या स्त्री की समीक्षा करते समय उनके विशिष्टताओं के मानदंड से निर्णय करो। प्रत्येक का कार्यक्षेत्र भिन्न है। किसीको भी 'वह दुष्ट है', ऐसा कहने का अधिकार नहीं। यह तो वही पुराना अन्धविश्वास हुआ, जो कहता है, "अगर तुम ऐसा करोगे, तो संसार नष्ट हो जायगा।" यह तो चलता ही आ रहा है और फिर भी संसार आज तक नष्ट नहीं हुआ। इस देश में ऐसा कहा जाता था कि अगर हब्शी मुक्त कर दिये जायँ, तो यह सारा देश रसातल को पहुँच जायगा। पर क्या ऐसा हुआ? लोग यह भी कहते थे कि अगर साधारण जनता में शिक्षा का प्रसार होगा, तो दुनिया का नाश हो जायगा। पर इस शिक्षा-प्रसार से तो उन्नति ही हुई। कई वर्ष पहले एक पुस्तक छपी थी, जिसमें यह बतलाया गया था कि इंग्लैण्ड का सबसे अधिक बुरा क्या हो सकता है। लेखक ने यह दिखलाया था कि मज़दूरी बढ़ती जा रही है और इस कारण इंग्लैण्ड का व्यापार घटता जा रहा है। यह आवाज़ उठायी गयी थी कि अंग्रेज़ मज़दूर बेहद मज़दूरी माँगते हैं, जब कि जर्मन मज़दूर बहुत कम वेतन पर काम करते हैं। इस बात की जाँच के लिए एक समिति जर्मनी भेजी गयी और उसने आकर यह बतलाया कि जर्मनी के मज़दूर तो अधिक वेतन पाते हैं। ऐसा क्यों हुआ? जन-साधारण में शिक्षा के प्रसार के कारण। साधारण जनता के पढ़ी-लिखी होने से दुनिया नष्ट होनेवाली थी न? पर ऐसा हुआ तो नहीं। विशेषकर भारत में, हमें समस्त देश में ऐसे पुराने सठियाये बूढ़े मिलते हैं, जो सब कुछ साधारण जनता से गुप्त रखना चाहते हैं। इसी कल्पना में वे अपना बड़ा समाधान कर लेते हैं कि वे सारे विश्व में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे समझते हैं कि ये भयावह प्रयोग उनको हानि नहीं पहुँचा सकते। केवल साधारण जनता को ही उनसे हानि पहुँचेगी!

अच्छा, अब हम क्रियात्मक साधना की ओर आयें। व्यावहारिक जीवन में मनोविज्ञान के उपयोग की ओर भारत ने बहुत प्राचीन काल से ध्यान दिया है। ईसा के लगभग १४०० वर्ष पूर्व भारत में एक बहुत बड़े तत्त्वज्ञ हो गये हैं, जिनका नाम पतंजलि था। उन्होंने मनोविज्ञान के समस्त तथ्य, प्रमाण तथा आविष्कृत सिद्धान्त संकलित किये और पूर्वकालीन सभी अनुभवों से लाभ उठाया। यह न भूलना चाहिए कि दुनिया बहुत पुरानी है। ऐसा मत समझो कि यह केवल दो-तीन हज़ार वर्ष पूर्व ही रची गयी है। इधर तुम पाश्चात्यों को यह सिखलाया जाता है कि समाज का आरम्भ १८०० वर्ष पूर्व 'नव व्यवस्थान' के साथ ही हुआ, इसके पहले समाज नहीं था। सम्भव है, यह बात पश्चिम के बारे में सत्य हो, परन्तु सारी दुनिया के लिए यह सत्य नहीं हो सकती। जब मैं लन्दन में भाषण दिया करता था, तब एक बुद्धिमान और बौद्धिक मित्र मुझसे वाद-विवाद किया करता था। एक दिन अपने सारे शस्त्र चला चुकने के बाद वह एकदम बोल उठा, "लेकिन यह तो बताओ कि तुम्हारे ऋषि इस इंग्लैण्ड में हमें ज्ञान देने क्यों नहीं आये ?" मैंने उत्तर दिया, "तब इंग्लैंड था ही कहाँ, जो ज्ञान देने आते ? क्या वे जंगलों को सिखलाते ?"

इंगरसोल ने मुझसे कहा था, "यदि तुम पचास साल पहले यहाँ ज्ञान सिखलाने आते, तो या तो तुम्हें फाँसी पर चढ़ा दिया जाता या जिन्दा जला दिया जाता अथवा पत्थर मार मारकर तुम्हें गाँवों से बाहर निकाल दिया जाता।"

अतएव यह मानने में कोई असंगति नहीं है कि सभ्यता ईसा के १४०० वर्ष पूर्व भी विद्यमान थी। यह बात अभी तक निश्चित नहीं हुई है कि सभ्यता की गति सदैव नीचे से ऊपर की ओर ही हुई है। यह सिद्धान्त प्रस्थापित करने के लिए जो आधार तथा प्रमाण पेश किये गये हैं, उनसे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि आज का जंगली समाज एक समय के उन्नत समाज का अधःपतित रूप है। चीन के लोगों का ही उदाहरण लो। उनका कभी इस बात पर विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्कृति का उदय जंगली स्तर से हुआ है। उनका अनुभव इसके बिलकुल प्रतिकूल है। लेकिन जब तुम अमेरिका की सभ्यता के बारे में बात करते हो, तो तुम्हारी दृष्टि से उसका अर्थ केवल स्वजाति का चिरजीवत्व तथा उसका सतत विकास होता है।

यह सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि जिन हिन्दुओं का आज ७०० वर्षों से पतन हो रहा है, वे एक समय निश्चय ही विशेष सुसंस्कृत रहे होंगे। इसके प्रतिकूल प्रमाण हम उपस्थित कर ही नहीं सकते।

ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जहाँ सभ्यता आप ही आप पैदा हो गयी हो। ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी दूसरी सभ्य जाति के संपर्क में आये बिना कोई जाति

उन्नत हो गयी हो। सभ्यता का उदय पहले एक या दो जातियों में हुआ होगा और फिर ये जातियाँ दूसरी जातियों से मिलीं; उन्होंने अपने विचार फैलाये और इस तरह सभ्यता का विस्तार हुआ।

व्यावहारिकता की दृष्टि से आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में ही हमें चर्चा करनी चाहिए; लेकिन मुझे तुमको सचेत कर देना चाहिए कि जिस तरह धर्म के सम्बन्ध में अन्धविश्वास है, उसी तरह वैज्ञानिक विषयों में भी है। धार्मिक कार्य को अपना वैशिष्ट्य माननेवाले पुरोहितों के सदृश भौतिक विज्ञान के भी पुरोहित होते हैं, जो वैज्ञानिक कहलाते हैं। ज्यों ही डार्विन या हक्सले जैसे वैज्ञानिक का नाम लिया जाता है, त्यों ही हम आँख बन्द कर उनका अनुसरण करने लगते हैं। यह तो आजकल का एक फ़ैशन हो गया है। जिसे हम वैज्ञानिक ज्ञान कहते हैं, उसका नव्वे प्रतिशत केवल परिकल्पना ही होता है। और इसमें से बहुत सा तो अनेक हाथ और सिरवाले भूतों में अन्धविश्वास के सदृश ही होता है। अन्तर केवल इतना है कि इस दूसरी परिकल्पना में मनुष्य को पत्थरों अथवा डंठलों से कुछ पृथक् माना जाता है। सच्चा विज्ञान हमें सावधान रहना सिखलाता है। जिस तरह पुरोहितों से हमें सावधान रहना चाहिए, उसी तरह वैज्ञानिकों से भी। पहले अविश्वास से आरम्भ करो। छान-बीन करो, परीक्षा करो और प्रत्येक वस्तु का प्रमाण माँगने के बाद उसे स्वीकार करो। आजकल के विज्ञान के बहुत से प्रचलित सिद्धान्त, जिनमें हम विश्वास करते हैं, सिद्ध नहीं हुए हैं। गणित जैसे शास्त्र में भी बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं, जो केवल कामचलाऊ परिकल्पना के सदृश ही हैं। जब ज्ञान की वृद्धि होगी, तो ये फेंक दिये जायँगे।

ईसा के १४०० वर्ष पूर्व एक बड़े महात्मा ने मनोविज्ञान के कुछ सत्यों की व्यवस्थित रचना तथा विश्लेषण कर उनसे व्यापक सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न किया था। उनके बाद उनके अनेक अनुयायी आये, जिन्होंने उनके आविष्कृत ज्ञान के अंशों को लेकर उनका विशेष रूप से अध्ययन आरम्भ किया। प्राचीन जातियों में केवल हिन्दुओं ने ही ज्ञान के इस विभाग का अध्ययन लगन से किया है। मैं अब तुम्हें उसीकी शिक्षा दूंगा, लेकिन प्रश्न यह है कि तुममें से कितने उस पर चलेंगे? कितने दिन या कितने महीनों के बाद तुम उसे छोड़ दोगे? मैं जानता हूँ कि इस विषय में तुम लोग कर्मकुशल नहीं हो। भारत में लोग युगों तक धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहते हैं। तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि न तो उनका कोई गिरजाघर है और न कोई सामुदायिक प्रार्थना। वहाँ इस तरह के अन्य कोई साधन नहीं हैं; परन्तु फिर भी वे प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करते हैं तथा मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी उपासना का मुख्य अंश यही है।

असल में यह तो उस देश का धर्म ही है। हाँ, उनमें से प्रत्येक की, प्राणायाम तथा मन को एकाग्र करने की कोई विशेष पद्धति हो सकती है, पर यह आवश्यक नहीं कि किसी व्यक्ति की स्त्री भी उसकी वह विशेष पद्धति जाने, या बाप लड़के का विशेष तरीक़ा जाने। हिन्दुओं को ये अभ्यास करने ही पड़ते हैं। इन अभ्यासों में कोई 'गुह्य' नहीं है। 'गुह्य' शब्द इन पर लागू नहीं होता। रोज़ हज़ारों मनुष्य गंगा के किनारे आँखें मूँदकर ध्यान लगाये हुए प्राणायाम का अभ्यास करते हुए दिखायी देते हैं। साधारण जनता किसी किसी प्रक्रिया को आचरण में नहीं ला सकती, इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि आचार्यों के मत से जनसाधारण इस अभ्यास के योग्य नहीं होते। इस मत में कुछ सत्यांश हो सकता है, लेकिन अधिक सच्चा कारण है गर्व। दूसरा कारण है अत्याचार का भय। उदाहरणार्थ, तुम्हारे देश में सबके सामने प्राणायाम करना कोई पसंद न करेगा, क्योंकि लोग उस व्यक्ति को शायद सोचने लगें कि कैसा विचित्र प्राणी है यह! कारण, इस देश का रिवाज़ ऐसा नहीं है। इसके विपरीत, भारत में अगर कोई ऐसी प्रार्थना करे, "हे प्रभो, आज के दिन हमें हमारी हर रोज़ की रोटी दो", तो लोग उस पर हँसेंगे। "हे पिता, जो तू स्वर्ग में रहता है", इसके समान दूसरी मूर्खता की कल्पना तो हिन्दुओं की दृष्टि में हो ही नहीं सकती। जब हिन्दू उपासना करता है, तो समझता है कि परमेश्वर अपने हृदय में विराजमान है।

योगियों के मत से मुख्यतः तीन नाड़ियाँ हैं। 'इड़ा', 'पिंगला' और बीच में 'सुषुम्णा', और यह तीनों मेरुदंड में स्थित हैं। इड़ा और पिंगला दाहिनी और बायीं, नाड़ी-तंतुओं के गुच्छ हैं। पर सुषुम्णा उनका गुच्छ नहीं है, वह पोली है। सुषुम्णा बन्द रहती है और साधारण मनुष्य के लिए इसका कोई उपयोग नहीं होता। वह इड़ा और पिंगला से ही अपना काम लिया करता है। इन्हीं नाड़ियों द्वारा संवेदना का प्रवाह लगातार आता-जाता रहता है और वे सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए नाड़ीय सूत्रों द्वारा शरीर की पृथक् पृथक् इन्द्रियों तक आदेश पहुँचाती रहती हैं।

इड़ा और पिंगला का व्यवहार नियमित करना और उनमें लय उत्पन्न करना प्राणायाम का महत् उद्देश्य है। पर यह कोई बड़ी बात नहीं है। यह तो केवल अपने फेफड़ों में काफ़ी हवा लेना है, रक्त साफ़ करने के अतिरिक्त इसका और कोई विशेष उपयोग नहीं। श्वासोच्छ्वास द्वारा हवा फेफड़ों में खींचना और उसके द्वारा ख़ून साफ करना, इसमें कुछ गुह्य नहीं है; यह तो केवल गति मात्र है। इस गति को ऐकिक गति में विकसित किया जा सकता है, जिसे प्राण कहते हैं। विश्व में सर्वत्र दिखायी देनेवाली सब क्रियाएँ इस प्राण की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

यह प्राण विद्युत् शक्ति है, चुम्बक शक्ति है, मस्तिष्क के द्वारा वह विचार के रूप में बहिर्गत होती है। सब वस्तुएँ प्राण ही हैं और यह प्राण ही सूर्य, चन्द्र, तारे आदि को चला रहा है। हम कहते हैं कि इस विश्व में जो कुछ विद्यमान है, वह सब प्राण के स्पन्दन से ही उत्पन्न हुआ है। प्राण के सर्वोच्च स्पन्दनों का कार्य है 'विचार'। इससे उच्च अगर कुछ है, तो वह हमारी कल्पनाशक्ति के बाहर है। इस प्राण द्वारा इडा और पिंगला का कार्य होता है। विभिन्न शक्तियों का रूप लेकर शरीर के प्रत्येक भाग को प्राण ही चलाता है। यह पुरानी कल्पना छोड़ दो कि ईश्वर नाम की कोई वस्तु है, जो कार्य या फल उत्पन्न करता है, और जो सिंहासन पर बैठकर न्याय कर रहा है। काम करते समय हम थक जाते हैं, क्योंकि उसमें उतने प्राण का क्षय हो जाता है।

प्राणायाम नामक श्वासोच्छ्वास का व्यायाम श्वासोच्छ्वास को नियमित करता और प्राण की क्रिया को लयात्मक बनाता है। जब प्राण की गति लयात्मक होती है, तो सब कार्य ठीक ठीक होते हैं। जब योगियों का शरीर उनके वश में हो जाता है, तब यदि शरीर के किसी अंग में रोग उत्पन्न होता है, तो वे जान लेते हैं कि उस अंग में प्राण की गति लयात्मक नहीं हो रही है और फिर वे प्राण को उस विकृत अंग की ओर प्रेरित करते हैं, जिससे लय फिर से नियमित हो जाती है।

जिस तरह तुम अपने शरीरस्थ प्राण को नियंत्रित कर सकते हो, उसी तरह अगर तुम काफ़ी शक्तिमान हो, तो यहाँ से ही भारत के किसी मनुष्य के प्राण का भी नियंत्रण कर सकते हो। प्राण विभक्त नहीं है। एकत्व ही उसका धर्म है। भौतिक, दैविक, आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक और तात्त्विक, सभी दृष्टियों से सब एक ही है। जीवन तो सिर्फ़ एक स्पन्दन है। आकाश के सागर को जो स्पन्दित करता है, वही तुमको भी स्पन्दित करता है। जिस तरह सरोवर में बर्फ़ के विभिन्न घनत्व के भिन्न भिन्न स्तर होते हैं, या जैसे वाष्प के सागर में घनत्व के विविध परिमाण होते हैं, उसी प्रकार यह विश्वब्रह्माण्ड भी जड़ द्रव्य का सागर है। यह सागर आकाश का है, जिसमें हमें सूर्य, चंद्र, तारे और हम स्वयं, विविध घनत्व की वस्तुएँ मिलती हैं, लेकिन सातत्य खंडित नहीं होता, वह सर्वत्र एकरस है।

जब हम दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं, तो हमें यह ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण विश्व एक है। आध्यात्मिक, भौतिक, मानसिक तथा ऊर्जा जगत्, ये भिन्न भिन्न नहीं हैं। विश्व एक है, अलग अलग दृष्टिकोणों से देखे जाने के कारण विभिन्न प्रतीत होता है। 'मैं शरीर हूँ', इस भावना से जब तुम अपनी ओर देखते हो, तो 'मैं मन भी हूँ', यह भूल जाते हो, और जब तुम अपने को मनोरूप देखने लगते हो, तो तुम्हें अपने शरीरत्व की विस्मृति हो जाती है। विद्यमान वस्तु केवल एक है और

वह तुम हो। वह तुम्हें या तो जड़ या शरीर के रूप में अथवा मन या आत्मा के रूप में दिख सकती है। जन्म, जीवन, मरण, ये सब भ्रम मात्र हैं। न कोई कभी मरता है और न कोई कभी जन्म लेता है, केवल मनुष्य एक स्थिति से दूसरी स्थिति में चला जाता है। पाश्चात्यों को मृत्यु से इतना भय खाते देख मुझे दुःख होता है—वे मानो जीवन को पकड़ रखने की सतत चेष्टा करते रहते हैं। वे कहते हैं, "मृत्यु के बाद हमें जीवन दो! हमें मरणोत्तर जीवन दो!" यदि कोई आये और उन्हें बताये कि मृत्यु के बाद भी वे विद्यमान रहेंगे, तो वे कितने आनन्दित होते हैं। वस्तुतः मनुष्य के अमरत्व में मैं अविश्वास ही किस तरह कर सकता हूँ! मैं मृत हूँ, यह कल्पना ही किस प्रकार कर सकता हूँ! तुम यदि अपने को मरा सोचने की कोशिश करो, तो देखोगे कि तुम अपने मृत शरीर को देखने के लिए वर्तमान हो ही। जीवन का अस्तित्व एक ऐसा आश्चर्यमय सत्य है कि तुम एक क्षण भी उसका विस्मरण नहीं कर सकते। तब तो तुम अपने अस्तित्व में भी संदेह कर सकते हो। मैं हूँ—यह ज्ञान ही चैतन्य का आदि तथ्य है। जिसका कभी अस्तित्व ही नही था, उसकी कल्पना ही कौन कर सकता है? सभी सत्यों में यह सर्वाधिक स्वयंसिद्ध सत्य है। अतः अमरत्व की भावना मनुष्य में स्वभावतः विद्यमान रहती है। अकल्पनीय विषय पर कोई विवाद ही नहीं कर सकता। और इसीलिए इस स्वयंसिद्ध विषय पर किसी विवाद की आवश्यकता नहीं है।

अतएव हम किसी भी दृष्टि से देखें, हमें प्रतीत होगा कि यह सम्पूर्ण जगत् एक इकाई है। अभी हमें यह समग्र विश्व प्राण तथा आकाश अर्थात् शक्ति एवं जड़ का बना हुआ प्रतीत होता है। और तुम लोग ख्याल रखो कि अन्य मूलभूत सिद्धान्तों के समान यह सिद्धान्त भी स्वविरोधी है। शक्ति क्या है? शक्ति वह है, जो जड़ को गति देती है। और जड़ क्या है? जड़ वह है, जो शक्ति द्वारा गतिशील होता है। यह तो गोल-मोल बात हुई! हमें अपने ज्ञान तथा विज्ञान का गर्व होते हुए भी हमारे कोई कोई मूलभूत तर्कसिद्धान्त बड़े विचित्र होते हैं। संस्कृत कहावत के अनुसार यह तो 'बेसिर के सिर-दर्द' के समान हुआ। इस वस्तु-स्थिति का नाम है 'माया'। न तो वह विद्यमान है और न अविद्यमान ही। तुम उसे विद्यमान नहीं कह सकते, क्योंकि केवल वही वस्तु विद्यमान कहलाती है, जो देश-काल से परे हो और जिसके अस्तित्व के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता न हो। फिर भी यह विश्व आंशिक रूप में हमारी अस्तित्व की धारणा की पूर्ति करता है। अतएव उसका प्रतीयमान अस्तित्व है।

परन्तु इस समस्त विश्व में एक सत् वस्तु ओतप्रोत है; और वह देश, काल तथा कार्य-कारण के जाल में मानो फँसी हुई है। मनुष्य का सच्चा स्वरूप वह है, जो

अनादि, अनन्त, आनन्दमय तथा नित्य मुक्त है; वही देश, काल और परिणाम के फेर में फँसा है। यही प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में भी सत्य है। प्रत्येक वस्तु का परमार्थस्वरूप वही अनन्त है। यह विज्ञानवाद (प्रत्ययवाद) नहीं है; इसका अर्थ यह नहीं कि विश्व का अस्तित्व ही नहीं है। इसका अस्तित्व सापेक्ष है और सापेक्षता के सब लक्षण इसमें विद्यमान हैं। लेकिन इसकी स्वयं की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यह इसलिए विद्यमान है कि इसके पीछे देश-काल-निमित्त से अतीत निरपेक्ष अद्वितीय सत्ता मौजूद है।

ख़ैर, यह विषयान्तर हो गया है। आओ, अब हम फिर अपने मुख्य विषय की ओर आयें।

सारी क्रियाएँ, चाहे वे सहज हों या ऐच्छिक, नाड़ियों के माध्यम से प्राण के ही कार्य हैं। इससे तुम्हें अब मालूम होगा कि अपनी सहज क्रियाओं पर नियंत्रण रखना एक बहुत अच्छी बात होगी।

एक दूसरे अवसर पर मैंने तुम्हें मनुष्य और परमेश्वर की परिभाषा बतलायी थी। मनुष्य एक असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, लेकिन जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है, और परमेश्वर एक ऐसा असीम वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, परन्तु जिसका केन्द्र सर्वत्र है। वह सब हाथों द्वारा काम करता है, सब आँखों द्वारा देखता है, सब पैरों द्वारा चलता है, सब शरीरों द्वारा साँस लेता है, सब जीवों में वास करता है, सब मुखों द्वारा बोलता है और सब मस्तिष्क द्वारा विचार करता है। यदि मनुष्य अपनी आत्मचेतना को अनंत गुना कर ले, तो वह ईश्वररूप बन सकता है और सम्पूर्ण विश्व पर अपना अधिकार चला सकता है। इसलिए चैतन्य का ज्ञान परमावश्यक है। मान लो, अँधेरे में एक अनन्त रेखा है। हम वह रेखा देख नहीं सकते, लेकिन उस रेखा पर एक तेजोमय बिन्दु है, जो गतिमान है। इस रेखा पर चलते हुए जैसे जैसे वह बिन्दु आगे बढ़ता है, वैसे वैसे वह विभिन्न भागों पर क्रमशः प्रकाश डालता जाता है और जो हिस्से पीछे होते जाते हैं, वे फिर अँधेरे में डूब जाते हैं। हमारी चेतनावस्था को भी ठीक इस प्रकाशमान बिन्दु की उपमा दी जा सकती है। इस चेतनावस्था के गत अनुभवों का स्थान वर्तमान अनुभव ने ले लिया है या यों कहो कि गत अनुभव अवचेतन-स्तर में जा चुके हैं। इनके अस्तित्व का हमें बोध नहीं होता, परन्तु फिर भी ये विद्यमान हैं और हमारे मन तथा शरीर को अज्ञात रूप से प्रभावित करते जा रहे हैं। आज जो जो कार्य बिना चेतना की सहायता के होते दिखायी दे रहे हैं, वे सब पहले चेतनायुक्त थे। अब उनमें इतनी गति आ गयी है कि वे स्वयं ही कार्य कर सकते हैं।

सभी नीतिशास्त्रों का, अनपवाद रूप से, एक बड़ा दोष यह है कि उन्होंने उन साधनों का कभी उपदेश नहीं दिया, जिनके द्वारा मनुष्य बुरा करने से अपने को रोक सके। सभी नीतिशास्त्र कहते हैं कि 'चोरी मत करो।' ठीक है; लेकिन मनुष्य चोरी करता ही क्यों है? कारण यह है कि चोरी, डाका, दुर्व्यवहार आदि कुकर्म यांत्रिक सहज क्रियाएँ बन बैठे हैं। डाका डालनेवाले, चोर, झूठे तथा अन्यायी स्त्री-पुरुष—ये ऐसे इसलिए हो गये हैं कि अन्यथा होना उनके हाथ नहीं। सचमुच यह मनोविज्ञान के लिए एक बड़ी विकट समस्या है। मनुष्य की ओर हमें बड़ी उदारता की दृष्टि से देखना चाहिए। अच्छा बनना इतनी सरल बात नहीं है। जब तक तुम मुक्त नहीं होते, तब तक एक यंत्र के सिवा तुम और क्या हो? क्या तुम्हें इस बात पर अभिमान होना चाहिए कि तुम अच्छे मनुष्य हो? बिल्कुल नहीं। तुम इसलिए अच्छे हो कि तुम अन्यथा नहीं हो सकते। दूसरा मनुष्य इसलिए बुरा है कि अन्यथा होना उसके बस की बात नहीं। अगर तुम उसकी जगह होते, तो कौन जानता है कि तुम क्या होते? एक वेश्या या जेलबंद चोर मानो ईसा मसीह है, जो इसलिए सूली पर चढ़ाया गया है कि तुम अच्छे बनो। प्रकृति में इसी तरह साम्यावस्था रहती है। सब चोर और ख़ूनी, सब अन्यायी और पतित, सब बदमाश और राक्षस मेरे लिए ईसा मसीह हैं! देवरूपी ईसा तथा दानवरूपी ईसा, दोनों ही मेरे लिए आराध्य हैं! यही मेरा धर्म है, इससे अन्यथा मेरे बस की बात नहीं। अच्छे और साधु पुरुषों को मेरा प्रणाम! बदमाश और शैतानों को भी मेरा प्रणाम! वे सभी मेरे गुरु हैं, मेरे धर्मोपदेशक आचार्य हैं, मेरे त्राता हैं। मैं चाहे किसी एक को शाप दूँ, परन्तु सम्भव है, फिर उसीके दोषों से मेरा लाभ भी हो; दूसरे को मैं आशीर्वाद दूँ और उसके शुभ कर्मों से मेरा हित हो। यह सूर्य-प्रकाश के समान सत्य है। दुराचारी स्त्री को मुझे इसलिए दुत्कारना पड़ता है कि समाज वैसा चाहता है। आह, वह! वह मेरी तारिणी, जिसकी वेश्या-वृत्ति के ही कारण दूसरी स्त्रियों का सतीत्व सुरक्षित रहा, इसका विचार तो करो! भाइयो और बहनो, इस प्रश्न को ज़रा अपने मन में सोचो। यह सत्य है—बिल्कुल सत्य है। मैं जितनी ही अधिक दुनिया देखता हूँ, जितना ही अधिक स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आता हूँ, उतनी ही मेरी यह धारणा दृढ़तर होती जाती है। मैं किसे दोष दूँ? मैं किसकी तारीफ़ करूँ? हमें वस्तु-स्थिति का सभी पक्षों से विचार करना चाहिए।

हमारे सामने बहुत बड़ा कार्य है, और इसमें सर्वप्रथम और सबसे महत्त्व का काम है, अपने सहस्रों सुप्त संस्कारों पर अधिकार चलाना, जो अनैच्छिक सहज क्रियाओं में परिणत हो गये हैं। यह बात सच है कि असत्कर्म-समूह मनुष्य के जाग्रत

क्षेत्र में रहता है, लेकिन जिन कारणों ने इन बुरे कामों को जन्म दिया, वे इसके पीछे प्रसुप्त और अदृश्य जगत् के हैं और इसलिए अधिक प्रभावशाली हैं।

व्यावहारिक मनोविज्ञान प्रथम हमें यह सिखलाता है कि हम अपने अचेतन मन का नियंत्रण किस तरह कर सकते हैं। हम जानते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं। क्यों ? इसलिए कि हम जानते हैं, चेतन मन ही अचेतन का कारण है। हमारे जो लाखों पुराने चेतन विचार और चेतन कार्य थे, वे ही घनीभूत होकर प्रसुप्त हो जाने पर हमारे अचेतन विचार बन जाते हैं। हमारा उधर ख्याल ही नहीं जाता, हमें उनका ज्ञान नहीं होता, हम उन्हें भूल जाते हैं। लेकिन देखो, यदि प्रसुप्त अज्ञात संस्कारों में बुरा करने की शक्ति है, तो उनमें अच्छा करने की भी शक्ति है। हमारे भीतर नाना प्रकार के संस्कार भरे पड़े हैं—मानो एक जेब में बहुत सी चीजें भरी हुई हैं। उन्हें हम भूल गये हैं, हम उनका विचार तक नहीं करते। उनमें से बहुत से तो वहीं पड़े सड़ते रहते हैं और सचमुच भयावह बनते जाते हैं। वे ही प्रसुप्त कारण एक दिन मन के ज्ञानयुक्त क्षेत्र पर आ उठते हैं और मानवता का नाश कर देते हैं। अतएव सच्चा मनोविज्ञान उनको चेतन मन के अधीन लाने का प्रयत्न करेगा। अतएव महत्त्वपूर्ण बात है, पूरे मनुष्य को पुनरुज्जीवित जैसा कर देना, जिससे कि वह अपना पूर्ण स्वामी बन जाय। शरीरान्तर्गत यकृत आदि अवयवों की स्वतःप्रवृत्त क्रियाओं को भी हम अपनी आज्ञापालक बना सकते हैं।

अचेतन को अपने अधिकार में लाना हमारी साधना का पहला भाग है। दूसरा है चेतन के परे जाना। जिस तरह, अचेतन चेतन के नीचे—उसके पीछे रहकर कार्य करता रहता है, उसी तरह चेतन के ऊपर—उसके अतीत भी एक अवस्था है। जब मनुष्य इस अतिचेतन अवस्था को पहुँच जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है, ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है। तब मृत्यु अमरत्व में परिणत हो जाती है, दुर्बलता असीम शक्ति बन जाती है और अज्ञान की लौहशृंखलाएँ मुक्ति बन जाती हैं। अतिचेतन का यह असीम राज्य ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है।

अतएव यह स्पष्ट है कि हमें दो कार्य अवश्य ही करने होंगे। एक तो यह कि इड़ा और पिंगला के प्रवाहों का नियमन कर अचेतन कार्यों को नियमित करना; और दूसरा, इसके साथ ही साथ चेतन के भी परे चले जाना।

ग्रंथों में कहा है कि योगी वही है, जिसने दीर्घ काल तक चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करके इस सत्य की उपलब्धि कर ली है। अब सुषुम्णा का द्वार खुल जाता है और इस मार्ग में वह प्रवाह प्रवेश करता है, जो इसके पूर्व उसमें कभी नहीं गया था, वह (जैसा कि आलंकारिक भाषा में कहा है) धीरे धीरे विभिन्न कमल-चक्रों में से होता हुआ, कमल-दलों को खिलाता हुआ अन्त में मस्तिष्क

तक पहुँच जाता है। तब योगी को अपने सत्यस्वरूप का ज्ञान हो जाता है, वह जान लेता है कि वह स्वयं परमेश्वर ही है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति, बिना किसी अपवाद के, योग की इस अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर सकता है। लेकिन यह अत्यन्त कठिन कार्य है। यदि मनुष्य को इस सत्य का अनुभव करना हो, तो उसे केवल वक्तृता सुनने और श्वासोच्छ्वास की थोड़ी सी क्रियाओं का अभ्यास करने के अतिरिक्त कुछ और विशेष साधनाएँ भी करनी होंगी। महत्त्व है तैयारी ही का। दीपक जलाने में कितनी देर लगती है? केवल एक सेकंड। लेकिन उस मोमबत्ती को बनाने में कितना समय लग जाता है! खाना खाने में कितनी देर लगती है? शायद आधा घंटा। लेकिन वही खाना पकाने के लिए कितने घंटे लग जाते हैं! हम चाहते हैं कि दीप एक क्षण में जल उठे, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि मोमबत्ती बनाना ही तो मुख्य है।

इस प्रकार यद्यपि ध्येय-प्राप्ति बहुत कठिन है, तथापि हमारे द्वारा किया गया लघुतम प्रयास भी व्यर्थ नहीं जाता। हम जानते हैं कि कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। गीता में अर्जुन ने कृष्ण से प्रश्न किया है कि वे मनुष्य, जिनकी योग-साधना इस जन्म में सिद्ध नहीं हुई, किस दशा को प्राप्त होते हैं? क्या वे ग्रीष्मकाल के मेघों की तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं? कृष्ण उत्तर देते हैं, "हे मित्र, कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसका अपना हो जाता है। और यदि योग की सिद्धि इस जन्म में न हुई, तो दूसरे जन्म में मनुष्य फिर वह अभ्यास आरम्भ कर देता है।"[1] यदि ऐसा न हो, तो ईसा मसीह, बुद्ध अथवा शंकराचार्य की अलौकिक बाल्यावस्था की व्याख्या तुम कैसे करोगे?

आसन, प्राणायाम इत्यादि योग के सहायक हैं अवश्य, लेकिन वे केवल शारीरिक क्रियाएँ मात्र हैं। मुख्य तैयारी तो मन की है। सबसे पहले यह आवश्यक है कि हमारा जीवन शान्तिपूर्ण तथा समाधानयुक्त हो।

यदि तुम योगी बनना चाहते हो, तो तुम्हें स्वतंत्र होना होगा, और अपने को ऐसे वातावरण में रखना होगा, जहाँ तुम एकाकी और सर्व चिन्ताओं से मुक्त होकर रह सको। 'जो भोग-विलासपूर्ण जीवन की इच्छा रखते हुए आत्मानुभूति की चाह रखता है, वह उस मूर्ख के समान है, जिसने नदी पार करने के लिए एक मगर को लकड़ी का लट्ठा समझकर पकड़ लिया।'[2]

---

१. गीता ॥६।३८-४०॥

२. शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स गच्छति॥ विवेकचूड़ामणि ॥८४॥

'पहले भगवत् राज्य को प्राप्त कर लो, शेष सब कुछ तुम्हें स्वयं ही मिल जायगा।' यही एक महान् कर्तव्य है, यही त्याग है। एक आदर्श के लिए ज़िंदा रहो और मन में कोई दूसरे विचार आने ही न दो। आओ, हम अपनी सब शक्तियाँ उस आध्यात्मिक पूर्णता की ओर लगायें, जिसका कभी क्षय नहीं होता। अगर हमें आत्मबोध की सच्ची लगन है, तो हमें साधना करनी चाहिए और उसीके द्वारा हमारी उन्नति होगी। हमसे ग़लतियाँ होंगी ही, लेकिन वे हमारे लिए अज्ञात वरदानस्वरूप हो सकती हैं।

आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा सहायक 'ध्यान' है। ध्यान के द्वारा हम अपनी भौतिक भावनाओं से अपने आपको स्वतंत्र कर लेते हैं और अपने ईश्वरीय स्वरूप का अनुभव करने लगते हैं। ध्यान करते समय हमें कोई बाहरी साधनों पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ता। गहरे अँधेरे स्थान को भी आत्मा की ज्योति दिव्य प्रकाश से भर देती है, बुरी से बुरी वस्तु में भी वह अपना सौरभ उत्पन्न कर सकती है, वह अत्यन्त दुष्ट मनुष्य को भी देवता बना देती है—और सम्पूर्ण स्वार्थी भावनाएँ, सम्पूर्ण शत्रुभाव नष्ट हो जाते हैं। शरीर का जितना कम ख़्याल हो, उतना ही अच्छा, क्योंकि यह शरीर ही है, जो हमें नीचे गिराता है। इस शरीर से आसक्ति और उससे तादात्म्य ही हमारे दुःखों का कारण है। 'मैं आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ; यह विश्व और उसके सम्पूर्ण संबंध, उसकी भलाई और उसकी बुराई—यह सब एक चित्रावली—चित्रपट पर खिंचे हुए विभिन्न दृश्य हैं और मैं उनका साक्षी हूँ'—यह निदिध्यासन ही धर्मजीवन का रहस्य है।

वेदान्त दर्शन

(२५ मार्च, १८९६ ई० को हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय की स्नातक दर्शन परिषद् में दिया गया भाषण)

भारत में सम्प्रति जितने दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, वे सभी वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत आते हैं। वेदान्त की कई प्रकार की व्याख्याएँ हुई हैं और मेरे विचार से वे सभी प्रगतिशील रही हैं। प्रारम्भ में व्याख्याएँ द्वैतवादी हुई, अन्त में अद्वैतवादी। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है 'वेद का अंत'। वेद हिन्दुओं के आदि धर्मग्रंथ हैं।[1] कभी कभी पाश्चात्य देशों में 'वेद' को केवल ऋचाएँ और कर्मकांड ही समझा जाता है। किन्तु अब इनको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, और भारत में साधारणतः वेद शब्द से वेदान्त ही समझा जाता है। यहाँ के भाष्यकार जब धर्मग्रंथों से कुछ उद्धृत करना चाहते हैं, तो साधारणतः वे वेदान्त से ही उद्धृत करते हैं। ये लोग वेदान्त को श्रुति[2] कहते हैं। ऐसी बात नहीं है कि जो ग्रंथ वेदान्त के नाम से विख्यात हैं, उनकी रचना वैदिक कर्मकाण्ड के बाद हुई।

---

१. वेद दो अंशों में विभक्त है—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ब्राह्मणों के प्रख्यात मन्त्र तथा अनुष्ठान आते हैं। जिन ग्रंथों में अनुष्ठानादि से भिन्न आध्यात्मिक विषयों का विवरण है, उन्हें उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं। सभी उपनिषदों की रचना वेदों से पृथक् हुई हो, ऐसा नहीं है। कुछ उपनिषद् तो ब्राह्मणों के अन्तर्गत हैं। कम से कम एक उपनिषद् तो संहिता भाग या ऋचाओं के ही अन्तर्गत है। कभी कभी उपनिषद् शब्द उन ग्रन्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है, जो वेद के अन्तर्गत नहीं हैं, जैसे गीता। किन्तु साधारणतः उपनिषद् शब्द का प्रयोग वेदों के मध्य विकीर्ण दार्शनिक प्रकरणों के लिए ही होता है। इन दार्शनिक प्रकरणों का संकलन हुआ है और उसे वेदान्त कहते हैं। स०

२. 'श्रुति' का अर्थ है 'जो सुना हुआ है।' यद्यपि श्रुति के अन्तर्गत समस्त वैदिक साहित्य आ जाता है, फिर भी भाष्यकार श्रुति शब्द का मुख्यतः उपनिषदों के लिए ही प्रयोग करते हैं। स०

ईशोपनिषद् जो यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है, वेदों के प्राचीनतम अंशों में एक है। ऐसे भी उपनिषद् हैं, जो ब्राह्मणों के अंश हैं। अन्य उपनिषद्[1] न तो ब्राह्मणों के, न वेद के अन्य भागों के ही अन्तर्गत हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे वेद के अन्य भागों से पूर्णतः स्वतंत्र हैं। यह तो हम जानते हैं कि वेद के अनेक भाग सर्वथा अप्राप्य हैं तथा अनेक ब्राह्मण भी नष्ट हो चुके हैं। अतः यह संभव है कि जो उपनिषद् अव स्वतंत्र ग्रंथ जैसे प्रतीत होते हैं, वे ब्राह्मणों के अन्तर्गत रहे हों। ऐसे ब्राह्मण-ग्रंथ लुप्त हो गये हैं, मात्र उपनिषद् अवशिष्ट हैं। इन उपनिषदों को आरण्यक भी कहते हैं।

व्यावहारिक रूप में वेदान्त ही हिन्दुओं का धर्मग्रंथ है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, सभी इसीको अपना आधार मानते हैं। यदि उनके उद्देश्य के अनुकूल होता है, तो बौद्ध तथा जैन भी वेदान्त को प्रमाण मानकर उससे एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि भारत के सभी आस्तिक दर्शन वेदों पर आधारित हैं, फिर भी उनके नाम भिन्न भिन्न हैं। अन्तिम दर्शन, जो व्यास का है, पूर्व प्रतिपादित दर्शनों की अपेक्षा वैदिक विचारों पर अधिक आधारित है। इसमें सांख्य और न्याय जैसे प्राचीन दर्शनों का वेदान्त के साथ यथासंभव सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इसलिए इसे विशेष रूप से वेदान्त कहा जाता है। आधुनिक भारतीयों के अनुसार व्यास-सूत्र ही वेदान्त दर्शन का आधार माना जाता है। विभिन्न भाष्यकारों ने व्यास के सूत्रों की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। सामान्यतः अभी भारत में तीन प्रकार के व्याख्याकार हैं।[2] उनकी व्याख्याओं से तीन दार्श-

---

१. उपनिषदों की संख्या १०८ मानी जाती है। निश्चित रूप से इनका समय-निर्धारण नहीं किया जा सकता। किन्तु यह तो निश्चित है कि वे बौद्ध मत से प्राचीन हैं। यह ठीक है कि कुछ गौण उपनिषदों में ऐसे निर्देश हैं, जिनसे उनके अर्वाचीन होने का संकेत मिलता है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे उपनिषद् अर्वाचीन हैं। संस्कृत साहित्य के प्राचीन मूल ग्रन्थों को सम्प्रदायवादी अपने अपने मतों की उत्कृष्टता स्थापित करने के लिए परिवर्तित करते रहे हैं। स०

२. व्याख्याएँ कई प्रकार की होती हैं—भाष्य, टीका, टिप्पणी, चूर्णिका आदि। भाष्य को छोड़ अन्य सबों में मूल ग्रन्थ या उसके कठिन शब्दों की व्याख्या की जाती है। भाष्य सही अर्थ में व्याख्या नहीं है। इसमें मूल ग्रन्थ के आधार पर एक विचार-पद्धति का स्पष्टीकरण किया जाता है। भाष्य का उद्देश्य शब्दों की व्याख्या नहीं, वरन् किसी विचार-पद्धति का प्रतिपादन करना होता है। भाष्यकार मूल ग्रन्थों को प्रमाण मानकर अपनी विचार-पद्धति को [illegible] है।

निक पद्धतियों एवं सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई है—द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत। अधिकांश भारतीय द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत के अनुयायी हैं। अद्वैतवादियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। मैं इन तीन सम्प्रदायों की विचार-पद्धतियों की चर्चा तुम्हारे सम्मुख करना चाहता हूँ। इसके पहले कि मैं ऐसा करूँ, मैं तुमको यह बतला देना चाहता हूँ कि इन तीनों वेदान्त दर्शनों की मनोवैज्ञानिक पद्धति सांख्य की मनोवैज्ञानिक पद्धति के समान ही है। सांख्य दर्शन का मनोविज्ञान न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के मनोविज्ञानों के सदृश ही है। इनके मनोविज्ञानों में केवल गौण विषयों में भेद पाया जाता है।

सभी वेदान्ती तीन बातों में एक मत हैं। ये सभी ईश्वर को, वेदों के श्रुत रूप को तथा सृष्टि-चक्र को मानते हैं। वेदों की चर्चा तो हम कर चुके हैं। सृष्टि सम्बन्धी मत इस प्रकार है। समस्त विश्व का जड़ पदार्थ आकाश नामक मूल जड़-सत्ता से उद्‌भूत हुआ है। गुरुत्वाकर्षण, आकर्षण या विकर्षण, जीवन आदि जितनी शक्तियाँ हैं, वे सभी आदि शक्ति प्राण से उद्‌भूत हुई हैं। आकाश पर प्राण का प्रभाव पड़ने से विश्व का सर्जन या प्रक्षेपण[1] होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में

वेदान्त की अनेक व्याख्याएँ हुई हैं। इसके विचारों की अन्तिम अभिव्यक्ति व्यास के दार्शनिक सूत्रों में हुई है। वेदान्त मत का प्रामाणिक ग्रन्थ उत्तर मीमांसा है। उत्तर मीमांसा हिन्दू धर्मशास्त्र का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। कट्टर विरोधी धर्म-संप्रदायों ने भी विवश होकर व्यास की उक्तियों को अपनी विचार-पद्धति के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है। अति प्राचीन काल में ही वेदान्त के व्याख्याकार तीन प्रसिद्ध हिन्दू सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। इन सम्प्रदायों के नाम द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत हैं। अति प्राचीन व्याख्याएँ तो शायद लुप्त हो गयी हैं, किन्तु अर्वाचीन काल में बौद्ध धर्म के उत्थान के बाद शंकर, रामानुज तथा मध्व ने उनका पुनरुद्धार किया है। शंकर ने अद्वैत को, रामानुज ने विशिष्टाद्वैत को तथा मध्व ने द्वैत को पुनः संस्थापित किया है। भारतीय सम्प्रदायों के पारस्परिक भेद का कारण उनकी विचार-पद्धति है। कर्मानुष्ठान के बारे में उनमें कम भेद है, क्योंकि उनके धर्मशास्त्र का आधार एक ही है। स०

१. अंग्रेज़ी भाषा का 'क्रियेशन' (creation) **तथा संस्कृत का प्रक्षेपण** (projection) **समानार्थक शब्द हैं। [illegible]त का कोई भी मत पाश्चात्य देशों के उस सृष्टिवाद को नहीं मानता, जिसके [illegible]ार असत् से सत् की उत्पत्ति मानी जाती है। हम सष्टि से जो अर्थ समझते [illegible] वह उसीका प्रक्षेपण है, जो पहले से ही विद्यमान था। स०**

आकाश स्थिर तथा अव्यक्त रहता है। बाद में प्राण ज्यों ज्यों अधिकाधिक क्रियाशील होता है, त्यों त्यों अधिकाधिक स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते जाते हैं, यथा पेड़, पौधे, पशु, मनुष्य, नक्षत्र आदि। कालान्तर में सृष्टि की प्रगति समाप्त हो जाती है और प्रलय प्रारम्भ होता है। सभी पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों को प्राप्त करते हुए मूलभूत आकाश एवं प्राण में परिवर्तित हो जाते हैं। तब नया सृष्टि-चक्र प्रारम्भ होता है। आकाश एवं प्राण के परे भी एक सत्ता है, जिसे महत् कहते हैं। महत् आकाश एवं प्राण का निर्माण नहीं करता, स्वयं उनका रूप धारण कर लेता है।

अब मैं मन, आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध में चर्चा करूँगा। सर्वमान्य सांख्य दर्शन के अनुसार चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए चक्षु जैसे उपकरणों की आवश्यकता होती है। इन उपकरणों के पीछे चाक्षुष स्नायु-तंतु तथा उसके स्नायु-केन्द्र—-दर्शनेन्द्रिय हैं। ये बाह्य उपकरण नहीं हैं, फिर भी इनके बिना आँखें देख नहीं सकतीं। प्रत्यक्ष के लिए अन्य उपकरण की भी आवश्यकता होती है। इन्द्रिय के साथ मन का संयोग भी आवश्यक है। फिर बुद्धि से भी संवेदना का संयोग आवश्यक है, क्योंकि मन की वह शक्ति, जिससे रूप निर्धारण करनेवाली प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, बुद्धि ही है। बुद्धि के कारण जब प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, तब साथ ही साथ बाह्य जगत् तथा अहंकार प्रतिभासित हो उठते हैं। और तब इच्छा उत्पन्न होती है। मन के स्वरूप का वर्णन यहीं पूरा नहीं होता। जैसे प्रकाश के आनुक्रमिक संवेगों से रचित चित्र को सम्पूर्ण बनाने के लिए उसका किसी स्थिर आधार पर संघटित होना आवश्यक है, उसी प्रकार मन के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी प्रत्यय सम्मिलित हों और शरीर एवं मन से अपेक्षाकृत अधिक स्थिर सत्ता पर उनका प्रक्षेपण हो। ऐसी स्थिर सत्ता को पुरुष या आत्मा कहते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार मन की प्रतिक्रियात्मक शक्ति, जिसे बुद्धि की संज्ञा दी जाती है, महत् से उद्भूत होती है। ऐसा कहा जा सकता है कि बुद्धि महत् का परिवर्तित रूप है या उसकी अभिव्यक्ति है। महत् स्पंदनशील बुद्धि में परिवर्तित होता है। बुद्धि का एक अंश इन्द्रियों में तथा दूसरा अंश तन्मात्राओं में परिवर्तित होता है। इन सबके संयोग से विश्व का निर्माण होता है। सांख्य के अनुसार महत् के परे भी सत् की एक अवस्था है, जिसे अव्यक्त कहते हैं। इस अवस्था में मन का अस्तित्व नहीं रहता, केवल इसके कारण विद्यमान रहते हैं। सत् की अवस्था को प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति से पुरुष सतत भिन्न होता है। सांख्य के अनुसार पुरुष ही आत्मा है, जो निर्गुण सर्वव्यापी होता है। पुरुष कर्ता नहीं, द्रष्टा मात्र है। पुरुष का स्वरूप समझाने के लिए स्फटिक का उदाहरण दिया जाता है। स्फटिक स्वयं बिना रंग का होता है, किन्तु यदि किसी प्रकार का रंग के समीप रखा

जाता है, तो वह उसी प्रकार के रंग में रँगा दीख पड़ता है। वेदान्ती सांख्य के आत्मा एवं जगत् सम्बन्धी मतों को नहीं मानते। सांख्य के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के बीच बड़ा पार्थक्य है। इस पार्थक्य को दूर करना आवश्यक है। सांख्य इसे दूर करना चाहता है, पर सफल नहीं होता। जब पुरुष वास्तव में रंगहीन है, तो उस पर प्रकृति का रंग कैसे चढ़ सकता है? इसलिए वेदान्ती मौलिक स्तर पर ही यह मानते हैं कि पुरुष और प्रकृति अभिन्न हैं।[1] द्वैतवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा या ईश्वर संसार का केवल निमित्त कारण ही नहीं, उपादान कारण भी है। किन्तु यथार्थ में वे ऐसा केवल कहते हैं। उनके कहने का अभिप्राय दूसरा होता है, क्योंकि उनके विचारों से जो सही परिणाम निकलते हैं, उनको वे स्वीकार नहीं करना चाहते। वे कहते हैं कि विश्व में तीन प्रकार की सत्ताएँ हैं—ईश्वर, आत्मा और प्रकृति। प्रकृति और आत्मा मानो ईश्वर का शरीर हैं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि ईश्वर और प्रकृति अभिन्न हैं। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो प्रकृति और आत्माओं में भिन्नता रह ही जाती है। सृष्टि-चक्र के प्रारम्भ होने पर वे व्यक्त रूप धारण करती हैं। और जब सृष्टि-चक्र का अन्त होता है, तो वे सूक्ष्म रूप धारण कर लेती हैं और सूक्ष्मावस्था में ही रहती हैं। अद्वैत वेदान्ती आत्मा की इस व्याख्या को नहीं मानते और इनके मत का समर्थन तो प्रायः सभी उपनिषदों में पाया जाता है। उपनिषदों के आधार पर ही वे अपने दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। सभी उपनिषदों का विषय एक है, उद्देश्य एक है—निम्नलिखित विचार को स्थापित करना: 'मिट्टी के एक टुकड़े के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेने से हम संसार की सभी मिट्टी के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार अवश्य ऐसा कोई तत्त्व है, जिसको जान लेने से हम संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर ले सकते हैं। वह तत्त्व क्या है?'[2] अद्वैतवादी समस्त विश्व को एक सामान्य रूप देना चाहते हैं, विश्व के एकमात्र तत्त्व को बतलाना

---

१. वेदान्त और सांख्य में परस्पर विरोध बहुत कम है। वेदान्त की ईश्वर-कल्पना सांख्य की पुरुष-कल्पना से निकली है। सभी दर्शन सांख्य के मनोविज्ञान को मानते हैं। वेदान्त और सांख्य, दोनों ही शाश्वत पुरुष को मानते हैं। भेद केवल इतना है कि सांख्य अनेक पुरुषों को मानता है। सांख्य के अनुसार विश्व के अस्तित्व के लिए किसी अन्य सत्ता की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, जो अनेक जैसी प्रतिभासित होती है। इस एक विचार को छोड़कर वेदान्त के अन्य विचार तो प्रायः सांख्य पर ही आधारित हैं। स०

२. छान्दोग्योपनिषद् ।।६।१।४।।

चाहते हैं। उनका मूल सिद्धान्त यह है कि सारा विश्व एक है और एक ही सत् नाना रूपों में प्रतिभासित होता है। उनके अनुसार सांख्य की प्रकृति का अस्तित्व तो है, परन्तु प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है। विश्व, मनुष्य, जीवात्मा तथा जितनी भी अन्य सत्ताएँ हैं, सभी सत् के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। मन तथा महत् उसी सत् के व्यक्त रूप हैं। इस मत के विरोध में कहा जा सकता है कि यह तो सर्वेश्वर-वाद (pantheism) है। यह भी प्रश्न उठ सकता है कि अपरिवर्तनशील सत् (वेदान्ती सत् को ऐसा ही मानते हैं, क्योंकि जो निरपेक्ष है, वह अपरिवर्तनशील है) परिवर्तनशील तथा नाशवान में कैसे परिवर्तित हो सकता है? इस समस्या के समाधान में (अद्वैत) वेदान्ती विवर्तवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं। सांख्य मतानुयायियों तथा द्वैतवादियों के अनुसार समस्त विश्व प्रकृति से उद्भूत हुआ है। कुछ अद्वैतवादियों तथा कुछ द्वैतवादियों के अनुसार सारा विश्व ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। किन्तु शंकराचार्य के अनुयायियों के अनुसार (सही अर्थ में ये ही अद्वैत-वादी हैं) समस्त विश्व ब्रह्म का प्रातिभासिक रूप है। ब्रह्म विश्व का वास्तविक नहीं, केवल आभासी उपादान कारण है, इस सम्बन्ध में रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। रज्जु सर्प जैसी आभासित होती है, वह वास्तव में सर्प नहीं है। उसका सर्प में परिवर्तन नहीं होता। इसी तरह सारा विश्व वास्तव में सत् है। सत् का परिवर्तन नहीं होता। हम इसमें जितने भी परिवर्तन पाते हैं, सभी आभास मात्र हैं। ये परिवर्तन देश, काल तथा निमित्त के कारण होते हैं; अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की दृष्टि से नाम-रूप के कारण होते हैं। नाम और रूप के द्वारा ही एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद किया जाता है। अतः नाम और रूप ही उन वस्तुओं के भेद के कारण हैं। वास्तव में दोनों वस्तुएँ एक हैं। (अद्वैत) वेदान्तियों के अनुसार सत् और जगत् (phenomenon) परस्पर भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। रज्जु का सर्प जैसा दीखना भ्रमात्मक है। भ्रम के समाप्त होने पर सर्प का दीखना भी समाप्त हो जाता है। अज्ञानवश व्यक्ति जगत् को देखता है, ब्रह्म को नहीं। जब उसे ब्रह्म का ज्ञान होता है, तब उसके लिए जगत् नहीं होता। अज्ञान, जिसे माया कहते हैं, जगत् का कारण है, क्योंकि इसीके कारण निरपेक्ष अपरि-वर्तनशील सत् व्यक्त जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है। माया शून्य या असत् नहीं है। यह सत् भी नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष अपरिवर्तनशील तत्त्व ही एकमात्र सत् है। पारमार्थिक दृष्टि से तो माया को असत् कहा जाना चाहिए, किन्तु इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो इसके कारण जगत् का प्रतिभासित होना भी संभव नहीं हो सकता। अतः यह न तो सत् है, न असत् है। वेदान्त में इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। यही जगत् का यथार्थ कारण है। ब्रह्म उपादान कारण

है और माया नाम-रूप का कारण है। ब्रह्म नाना रूपों में परिवर्तित जैसा प्रतिभासित होता है। इस प्रकार अद्वैतियों के लिए जीवात्मा का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार माया ही जीवात्मा के अस्तित्व का कारण है। पारमार्थिक दृष्टि से उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार सत्ता यदि केवल एक है, तो यह कैसे संभव हो सकता है कि मैं एक पृथक् सत्ता हूँ और तुम एक पृथक् सत्ता हो? यथार्थ में हम लोग सभी एक हैं। हमारी द्वैत दृष्टि ही सभी अनिष्ट का कारण है। जभी मैं यह समझता हूँ कि मैं संसार से पृथक् हूँ, तभी पहले भय उत्पन्न होता है और तब दुःख का अनुभव होता है। जहाँ व्यक्ति दूसरे से सुनता है, दूसरे को देखता है, वह अल्प है। जहाँ व्यक्ति दूसरे को देखता नहीं, दूसरे को सुनता नहीं, वह भूमा है; वह ब्रह्म है। भूमा में परम सुख है, अल्प में नहीं?[१]

अद्वैत दर्शन के अनुसार परम तत्त्व के विघटन से सांसारिक नाम-रूपों के प्रतिभासित होने के कारण मनुष्य का पारमार्थिक स्वरूप छिप जाता है। पर उसमें वास्तविक परिवर्तन कदापि नहीं होता। निम्न से निम्न कीट में तथा उच्च से उच्च मनुष्य में एक ही आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान है। कीट निम्न कोटि का इसलिए है कि उसके देवत्व पर मायाजनित अध्यास अधिक रहता है। जिस पदार्थ में इस तरह का अध्यास सबसे कम रहता है, वह सबसे ऊँची कोटि का होता है। सभी वस्तुओं के पीछे उसी देवत्व का अस्तित्व है, और इसीसे नैतिकता का आधार प्रस्तुत होता है। दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अभिन्न समझकर उसके साथ प्रेम करना चाहिए, क्योंकि समस्त विश्व मौलिक स्तर पर एक है। दूसरे को कष्ट देना अपने आपको कष्ट देना है। दूसरे के साथ प्रेम करना अपने आपसे प्रेम करना है। इसीसे अद्वैत नैतिकता का वह सिद्धान्त उद्भूत होता है, जिसका समाहार एक आत्मोत्सर्ग शब्द में किया गया है। अद्वैतवादियों के अनुसार जीवात्मा ही दुःखों का कारण है। व्यक्ति-सीमित जीवात्मा के कारण मैं अपने को अन्य वस्तुओं से भिन्न समझता हूँ। अतः यही घृणा, ईर्ष्या, दुःख, संघर्ष आदि अनिष्टों का कारण है। इसके परिहार से सभी संघर्ष, सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं। अतः इसका परिहार आवश्यक है। निम्न से निम्न सत्ताओं के लिए भी हमें अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर रहना चाहिए। मनुष्य जब एक लघु कीट के लिए अपने जीवन तक का उत्सर्ग करने को तत्पर हो जाता है, तो वह पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। अद्वैतवादियों के अनुसार पूर्णत्व ही जीवन का अभीष्ट है। मनुष्य जब उत्सर्ग के योग्य हो जाता है, तो उसके अज्ञान का

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ॥७।२३-४।१॥

आवरण दूर हो जाता है और वह अपने को पहचान लेता है। जीवन-काल में ही उसे यह अनुभव हो जाता है कि उसमें और संसार में कोई अन्तर नहीं है। कुछ समय के लिए तो ऐसे व्यक्ति के लिए जगत् का नाश हो जाता है और वह समझ लेता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। किन्तु जब तक उसके वर्तमान शरीर का कर्म अवशिष्ट रहता है, तब तक उसे जीवन धारण करते रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अविद्या का आवरण तो नष्ट हो चुका रहता है, पर शरीर को कुछ अवधि के लिए रहना पड़ता है। इसे वेदान्ती जीवन्मुक्ति कहते हैं। मनुष्य मरीचिका को देखकर कुछ समय के लिए भ्रम में अवश्य पड़ जाता है, किन्तु एक दिन मरीचिका विलीन हो जाती है। बाद में मरीचिका के सम्मुख आने पर भी मनुष्य भ्रम में नहीं पड़ता। मरीचिका जब पहली बार घटित होती है, मनुष्य सत्य और मिथ्या में भेद नहीं कर सकता। किन्तु जब वह एक बार नष्ट हो जाती है, तब नेत्रादि इन्द्रियों के वर्तमान रहने के कारण मनुष्य उसे देखता तो है, पर उसके कारण भ्रम में नहीं पड़ता। अब तो उसे मरीचिका तथा वास्तविक जगत् के भेद का ज्ञान प्राप्त रहता है। इसीलिए वह मरीचिका के कारण भ्रम में नहीं पड़ता। इस प्रकार अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार व्यक्ति जब अपने आपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो उसके लिए संसार का मानो लोप हो जाता है। संसार का फिर से प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु अब वह दुःखमय नहीं रह जाता। जो संसार पहले दुःखमय कारागार था, वह सच्चिदानन्द हो जाता है। अद्वैत के अनुसार सच्चिदानन्द की अवस्था को प्राप्त करना ही जीवन का अभीष्ट है।

माया और भ्रम

(लन्दन में दिया हुआ भाषण)

माया शब्द प्रायः तुम सभी ने सुना होगा। इसका व्यवहार साधारणतः कल्पना, कुहक अथवा इसी प्रकार के अर्थ में किया जाता है। किन्तु मायावाद उन स्तम्भों में से एक है, जिन पर वेदान्त की स्थापना हुई है, अतः उसका ठीक ठीक अर्थ समझ लेना आवश्यक है। मैं तुम लोगों से तनिक धैर्यपूर्वक सुनने की प्रार्थना करता हूँ, क्योंकि मुझे भय है कि कहीं तुम माया के सिद्धान्त को ग़लत न समझ बैठो। वैदिक साहित्य में 'माया' शब्द का प्रयोग कुहक के अर्थ में ही देखा जाता है। यही माया शब्द का सबसे प्राचीन अर्थ है। किन्तु उस समय यथार्थ मायावाद-तत्त्व का उदय नहीं हुआ था। हम वेद में इस प्रकार के वाक्य पाते हैं—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते,** अर्थात् इन्द्र ने माया द्वारा नाना रूप धारण किये। यहाँ पर 'माया' शब्द इन्द्रजाल अथवा उसी प्रकार के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। वेद के अनेक स्थलों में माया शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत देखा जाता है। इसके बाद कुछ समय तक माया शब्द का व्यवहार एकदम लुप्त हो गया। किन्तु इसी बीच उस शब्द द्वारा प्रतिपादित जो अर्थ या भाव था, वह क्रमशः परिपुष्ट हो रहा था। बाद में हम देखते हैं कि एक प्रश्न उठाया गया है, 'हम जगत् के इस रहस्य को क्यों नहीं जान पाते?' और उसका जो उत्तर दिया गया है, वह बड़ा ही अर्थगंभीर है: 'हम सब थोथी बकवास करते हैं, इन्द्रिय-सुख से ही सन्तुष्ट हैं और वासनाओं के पीछे दौड़ते रहते हैं, इसलिए इस सत्य को हमने मानो कुहरे से ढक रखा है।'[1] यहाँ पर माया शब्द का व्यवहार बिल्कुल नहीं हुआ है, पर उससे यही भाव प्रकट होता है कि हमारी अज्ञता का कारण कुछ कुहरे जैसा है, जो इस सत्य और हमारे बीच आ गया है। इसके बहुत समय बाद, एक अपेक्षाकृत आधुनिक उपनिषद् में, माया शब्द पुनः दीख पड़ता है। पर इस बीच उसका रूप काफ़ी बदल चुका है; उसके साथ कई नये अर्थ संयोजित हो गये हैं। नाना प्रकार के मतवादों का प्रचार हुआ, उनकी पुनरुक्ति हुई, और अन्त में मायाविषयक धारणा ने एक स्थिर रूप

---

१. **नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ऋग्वेद॥१०।८२।७॥**

प्राप्त कर लिया। हम श्वेताश्वतरोपनिषद् में पढ़ते हैं—**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्**—'माया को ही प्रकृति समझो और मायी को महेश्वर जानो।' भगवान् शंकराचार्य के पूर्ववर्ती दार्शनिक पण्डितों ने इस माया शब्द का विभिन्न अर्थों में व्यवहार किया है। बौद्धों ने भी मायावाद का उपयोग किया है। किन्तु बौद्धों के हाथों यह बहुत कुछ विज्ञानवाद (idealism)[1] में परिणत हो गया था, और अब माया शब्द को साधारणतः यही अर्थ दिया जाता है। हिन्दू लोग जब कहते हैं कि 'संसार माया है', तो साधारण मनुष्य के मन में यही भाव उदित होता है कि 'संसार एक भ्रम मात्र है।' इस प्रकार की व्याख्या का कुछ आधार है; क्योंकि बौद्ध दार्शनिकों की एक श्रेणी के दार्शनिकगण बाह्य जगत् के अस्तित्व में बिल्कुल विश्वास नहीं करते थे। किन्तु वेदान्त में माया का जो अन्तिम निश्चित स्वरूप है, वह न तो विज्ञानवाद है, न यथार्थवाद (realism)[2] और न किसी प्रकार का सिद्धान्त ही। वह तो तथ्यों का सहज वर्णन मात्र है—हम क्या हैं और अपने चारों ओर हम क्या देखते हैं।

मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि जिन पुरुषों के अन्तःकरण से वेद निकले, उनकी चिन्तन-शक्ति मूल तत्त्वों के अनुसरण तथा खोज में ही लगी हुई थी। इन तत्त्वों के ब्योरों के अनुशीलन के लिए मानो उन्हें समय ही नहीं मिला और उन्होंने प्रतीक्षा भी नहीं की। वे तो वस्तुओं के अन्तस्तल में पहुँचने के लिए व्यग्र थे। इस जगत् से अतीत की कोई वस्तु मानो उन्हें पुकार रही थी, वे मानो और अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। उपनिषदों में यत्र-तत्र, आज जिन्हें हम आधुनिक विज्ञान कहते हैं, उन विषयों के ब्योरों का प्रतिपादन बहुधा बड़ा भ्रमात्मक मिलता है, पर तो भी उनके मूल सिद्धान्त बिल्कुल सही हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक विज्ञान का ईथर अर्थात् आकाशविषयक नवीन सिद्धान्त उपनिषदों में आधुनिक वैज्ञानिकों के ईथर-सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक विकसित रूप में विद्यमान है। किन्तु वह बस, मूल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। इस आकाश-तत्त्व के कार्य की व्याख्या करने में उन्होंने अनेक भूलें कीं। वह सर्वव्यापी प्राण-तत्त्व, जगत् के समस्त जीवन जिसकी विविध अभिव्यक्ति मात्र है, वेदों में—ब्राह्मण भाग में पाया जाता

---

१. हमारी इन्द्रियों से ग्राह्य सारा जगत् हमारे मन की ही विभिन्न अनुभूति मात्र है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है; इस मत को विज्ञानवाद या idealism कहते हैं। स०

२. जगत् हमारे मन की अनुभूति मात्र नहीं है, वरन् उसकी यथार्थ सत्ता है; इस मत को यथार्थवाद या realism कहते हैं। स०

है। संहिता के एक लम्बे मंत्र में समस्त जीवनी-शक्ति के विकासक प्राण की प्रशंसा की गयी है। शायद तुम लोगों में से कुछ को यह जानकर आनन्द हो कि इस पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ आधुनिक यूरोपीय वैज्ञानिकों के जो सिद्धान्त हैं, बहुत कुछ वैसे ही सिद्धान्त वैदिक दर्शन में भी पाये जाते हैं। तुम सभी निश्चित ही जानते हो कि जीवन अन्य ग्रहों से संक्रमित होकर पृथ्वी पर आता है, इस प्रकार का एक मत प्रचलित है। कतिपय वैदिक दार्शनिकों का यह निश्चित मत है कि जीवन इस प्रकार चन्द्रलोक से पृथ्वी पर आता है।

मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि वैदिक विचारकों ने व्यापक सिद्धांतों की व्याख्या करने में अतिशय साहस और आश्चर्यजनक निर्भीकता का परिचय दिया है। इस विश्व के रहस्य के मर्म को बाह्य जगत् से ढूँढ़ निकालने के प्रयास में उन्हें यथासम्भव संतोषजनक उत्तर मिला। मौलिक सिद्धांतों के असफल हो जाने के कारण आधुनिक विज्ञान का विशद कार्य भी इस प्रश्न के समाधान को एक पग आगे नहीं बढ़ा सका है। जब प्राचीन काल में आकाश-तत्त्व विश्व-रहस्य का भेद खोलने में समर्थ नहीं हुआ, तब उसका सविस्तर अनुशीलन भी हमें सत्य की ओर कोई अधिक अग्रसर नहीं करा सकता। यदि यह सर्वव्यापी प्राण-तत्त्व विश्व-रहस्य का भेद खोलने में असमर्थ रहा हो, तो उसका विस्तृत अनुशीलन निरर्थक है; क्योंकि ब्योरे मौलिक तत्त्व के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि तत्त्वानुशीलन में हिन्दू दार्शनिक आधुनिक विद्वानों की भाँति ही, एवं कभी कभी उनसे भी अधिक, साहसी थे। उन्होंने अनेक भव्यतम सिद्धांतों का आविष्कार किया और कुछ अब भी परिकल्पनाओं के रूप में ही विद्यमान हैं, जिन्हें वर्तमान विज्ञान अभी तक परिकल्पना के रूप में भी प्राप्त नहीं कर सका है। उदाहरणार्थ, वे केवल आकाश-तत्त्व पर पहुँचकर ही नहीं रुक गये, वरन् और आगे बढ़कर मन को भी एक सूक्ष्मतर आकाश के रूप में वर्गीकृत किया। फिर उसके भी परे उन्होंने और भी अधिक सूक्ष्म आकाश की प्राप्ति की। पर वह भी समाधान नहीं था, उससे समस्या का समाधान नहीं हुआ। बाह्य जगत् के बारे में कितना भी ज्ञान क्यों न हो जाय, पर उससे रहस्य का भेद नहीं खुल सकता। किन्तु वैज्ञानिक कहता है, "अरे, हमने अभी ही तो कुछ जानना शुरू किया है। ज़रा कुछ हज़ार वर्ष ठहरो, देखोगे, हमें समाधान मिल जायगा।" किन्तु वेदान्तवादी ने तो निःसन्दिग्ध रूप से मन की ससीमता को प्रमाणित कर दिया है, अतएव वह उत्तर देता है, "नहीं, सीमा से बाहर जाने की हमारी शक्ति नहीं। हम देश, काल और निमित्त की चहारदीवारी के बाहर नहीं जा सकते।" जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपनी सत्ता को नहीं लाँघ सकता, उसी प्रकार देश और काल के नियम ने

जो सीमा खड़ी कर दी है, उसका अतिक्रमण करने की क्षमता किसीमें नहीं। देश-काल-निमित्त सम्बन्धी रहस्य को खोलने का प्रयत्न ही व्यर्थ है, क्योंकि इसकी चेष्टा करते ही इन तीनों की सत्ता स्वीकार करनी होगी। तब भला यह किस प्रकार सम्भव है? और ऐसा होने पर फिर जगत् के अस्तित्ववाद का क्या रूप रहेगा? 'इस जगत् का अस्तित्व नहीं है', 'जगत् मिथ्या है'—इसका अर्थ क्या है? इसका यही अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। मेरे, तुम्हारे और अन्य सबके मन के सम्बन्ध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं, यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती, तो हम इसमें और भी कुछ अधिक प्रत्यक्ष करते तथा और अधिक इन्द्रिय-सम्पन्न होने पर हम इसे और भी भिन्न रूप में देख पाते। अतएव इसकी यथार्थ सत्ता नहीं है—वह अपरिवर्तनीय, अचल, अनन्त सत्ता इसकी नहीं है। पर इसको अस्तित्वशून्य या असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसमें तथा इसीके माध्यम से हम कार्य करते हैं। यह सत् और असत् का मिश्रण है।

सूक्ष्म तत्त्वों से लेकर जीवन के साधारण दैनिक स्थूल कार्यों तक पर्यालोचना करने पर हम देखते हैं कि हमारा सम्पूर्ण जीवन सत् और असत्, इन दो विरुद्ध भावों का सम्मिश्रण है। ज्ञान के क्षेत्र में भी यह विरुद्ध भाव दिखायी पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य यदि जानना चाहे, तो समस्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है; पर दो-चार पग चलने के बाद ही उसे एक ऐसा अभेद्य व्यवधान देखने में आता है, जिसको लाँघ जाना उसके वश के बाहर हो जाता है। उसके सभी कार्य एक परिधि के अन्दर घूमते रहते हैं और वह इस परिधि को कभी लाँघ नहीं सकता। उसके अन्तरतम एवं प्रियतम रहस्य उसे समाधान के लिए दिन-रात उत्तेजित करते रहते हैं, उसका आह्वान करते रहते हैं, पर उनका उत्तर देने में वह असमर्थ है, क्योंकि वह अपनी बुद्धि की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता। फिर भी वह इच्छा उसके भीतर गहरी जड़ें जमाये हुए है। और इस उत्तेजना का दमन ही एकमात्र मंगलकर पथ है, यह भी हम अच्छी तरह जानते हैं। हमारे हृदय का प्रत्येक स्पन्दन, प्रत्येक निःश्वास के साथ हमें स्वार्थी होने का आदेश देता है। पर दूसरी ओर, एक पराशक्ति कहती है कि एकमात्र निःस्वार्थता ही शुभ का साधन है। जन्म से ही प्रत्येक बालक आशावादी होता है; वह केवल सुनहले स्वप्न देखता है। यौवन में वह और भी अधिक आशावादी हो जाता है। मृत्यु, पराजय अथवा अपमान नाम की भी कोई चीज़ है, यह बात किसी युवक की समझ में आनी कठिन है। फिर बुढ़ापा आता है; जीवन एक ध्वंसावशेष मात्र रह जाता है, सुनहले स्वप्न हवा में उड़ जाते हैं और मनुष्य निराशावादी हो जाता है। प्रकृति के थपेड़े खाकर हम बस, इसी

प्रकार दिशाहीन व्यक्ति की भाँति एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ते रहते हैं। इस सम्बन्ध में मुझे बुद्ध की जीवनी 'ललितविस्तर' का एक प्रसिद्ध गीत याद आता है। वर्णन इस प्रकार है कि बुद्ध ने मनुष्य-जाति के परित्राता के रूप में जन्म ग्रहण किया, किन्तु जब राजप्रासाद की विलासिता में वे अपने को भूल गये, तब उनको जगाने के लिए देवदूतों ने एक गीत गाया, जिसका मर्मार्थ इस प्रकार है-- 'हम एक प्रवाह में बहते चले जा रहे हैं, हम अविरत रूप से परिवर्तित हो रहे हैं-- कहीं निवृत्ति नहीं है, कहीं विराम नहीं है।' इसी प्रकार हमारा जीवन भी विराम नहीं जानता--अविरत चलता ही रहता है। तब फिर उपाय क्या है? जिसके पास खाने-पीने की प्रचुर सामग्री है, वह तो आशावादी हो जाता है, कहता है, "भय उत्पन्न करनेवाली दुःख की बातें मत कहो, संसार के दुःख-कष्ट की बातें मत सुनाओ।" उसके पास जाकर यदि कहो--"सभी शुभ है", तो वह कहेगा, "सचमुच, मैं मज़े में हूँ; यह देखो, कितनी सुन्दर अट्टालिका में मैं वास करता हूँ। मुझे भूख या शीत का कोई भय नहीं। अतएव मेरे सम्मुख ऐसे भयावह चित्र मत लाओ।" पर दूसरी ओर कितने ही लोग ऐसे हैं, जो शीत और अनाहार से मर रहे हैं। उनके पास जाकर यदि कहो कि 'सभी शुभ है', तो वे तुम्हारी बात सुनने के नहीं। वे सारा जीवन दुःख-कष्ट से पिसते आ रहे हैं, उनके लिए सुख, सौन्दर्य और शुभ कहाँ? वे तो कहेंगे, "नहीं, मैं यह सब विश्वास नहीं करता। जीवन में केवल रोना है-- केवल दुःख है।" बस, हम इसी प्रकार आशावाद से निराशावाद में झूलते रहते हैं।

इसके बाद मृत्युरूपी भयावह तथ्य आता है--सारा संसार मृत्यु के मुख में चला जा रहा है; सभी मरते जा रहे हैं। हमारी उन्नति, हमारे व्यर्थ के आडम्बर-पूर्ण कार्य-कलाप, समाज-संस्कार, विलासिता, ऐश्वर्य, ज्ञान--इन सबकी मृत्यु ही एकमात्र गति है। इससे अधिक निश्चित बात और कुछ नहीं। नगर पर नगर बनते हैं और नष्ट हो जाते हैं। साम्राज्य पर साम्राज्य उठते हैं और पतन के गर्त में समा जाते हैं, ग्रह आदि चूर चूर होकर विभिन्न ग्रहों की वायु के झोंको से इधर-उधर बिखरे जा रहे हैं। इसी प्रकार अनादि काल से चलता आ रहा है। इस सबका आखिर लक्ष्य क्या है? मृत्यु। मृत्यु ही सबका लक्ष्य है। वह जीवन का लक्ष्य है, सौन्दर्य का लक्ष्य है, ऐश्वर्य का लक्ष्य है, शक्ति का लक्ष्य है, और तो और, धर्म का भी लक्ष्य है। साधु और पापी, दोनों मरते हैं, राजा और भिक्षुक, दोनों मरते हैं--सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। फिर भी जीवन के प्रति यह विषम आसक्ति विद्यमान है। हम क्यों इस जीवन से आसक्ति करते हैं? क्यों हम इसका परित्याग नहीं कर पाते? यह हम नहीं जानते। और यही माया है।

माता बड़े यत्न से सन्तान का लालन-पालन करती है। उसका सारा मन-प्राण, सारा जीवन मानो उसी बच्चे में केन्द्रित रहता है। बालक बड़ा हुआ, युवावस्था को प्राप्त हुआ और शायद दुश्चरित्र एवं पशुवत् होकर प्रतिदिन अपनी माता को मारने-पीटने लगा, किन्तु माता फिर भी पुत्र से चिपकी रहती है। जब उसकी विचार-शक्ति जाग्रत होती है, तब वह उसे अपने स्नेह के आवरण में ढक लेती है। किन्तु वह नहीं जानती कि यह स्नेह नहीं है; एक अज्ञात शक्ति ने उसकी स्नायुओं पर अधिकार कर रखा है। वह इसे दूर नहीं कर सकती। वह कितनी ही चेष्टा क्यों न करे, इस बन्धन को तोड़ नहीं सकती। और यही माया है।

हम सभी कल्पित सुवर्ण लोम[1] की खोज में दौड़ते रहते हैं। सभी सोचते हैं कि वह हमें ही मिलेगा; किन्तु उनमें से कितने मनुष्य इस संसार में जीवित हैं? प्रत्येक विचारशील व्यक्ति देखता है कि इस सुवर्ण लोम को प्राप्त करने की उसकी दो करोड़ में एक से अधिक सम्भावना नहीं है; तथापि प्रत्येक मनुष्य उसके लिए कठोर संघर्ष करता है। बस, यही माया है।

---

१. सुवर्ण लोम (Golden Fleece)--ग्रीक पौराणिक साहित्य की कथा है कि ग्रीस के अन्तर्गत थेंसाली देश में राजवंश के आयामास की पत्नी नेफ़ेल के गर्भ से फ़्रिक्सस नामक पुत्र और हेल नाम की कन्या ने जन्म लिया। कुछ दिन के बाद नेफ़ेल की मृत्यु होने पर आयामास ने कैडमस की कन्या ईनो के साथ विवाह कर लिया। ईनो का नेफ़ेल की सन्तानों के प्रति विद्वेष रहने के कारण, उसने नाना उपायों से अपने पति को देवताओं के लिए फ़्रिक्सस की बलि दे देने के लिए राजी कर लिया। किन्तु बलिदान के पूर्व ही फ़्रिक्सस की स्वर्गीया माता की आत्मा फ़्रिक्सस के सम्मुख आविर्भूत हुई और एक सुवर्ण लोमयुक्त मेढ़े को उसके निकट लाकर भाई-बहन को उस पर चढ़कर समुद्र-पार भाग जाने का आदेश देने लगी। मार्ग में उसकी बहन हेल गिरकर डूब गयी--फ़्रिक्सस ने काले समुद्र की पूर्व दिशा में कलचिस नामक स्थान में उतरकर वहाँ के ज़िउस देवता को उस मेढ़े की बलि चढ़ा दी और उसकी खाल को मार्स (मंगल) देवता के कुंज में टाँग दिया। एक दैत्य उसकी देख-भाल के लिए नियुक्त हुआ। कुछ दिन बाद इस सुवर्ण लोम की खाल को लाने के लिए आयामास का भतीजा जैसन अपने प्रतिद्वन्द्वी पेलियस द्वारा नियुक्त किया गया और वह आर्गो नामक एक बड़े जहाज में अनेक प्रसिद्ध वीर पुरुषों सहित बैठकर नाना प्रकार के बाधा-विघ्नों को पार करता हुआ उक्त सुवर्ण लोम को लाने में सफल हुआ। ग्रीक पुराणों में यह कथा Argonautic Expedition नाम से विख्यात है। स०

इस संसार में मृत्यु रात-दिन गर्व से मस्तक ऊँचा किये घूम रही है; पर हम सोचते हैं कि हम सदा जीवित रहेंगे। किसी समय राजा युधिष्ठिर से यह प्रश्न पूछा गया, "इस पृथ्वी पर सबसे आश्चर्य की बात क्या है?" राजा ने उत्तर दिया, "हमारे चारों ओर प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, फिर भी जो जीवित हैं, वे समझते हैं कि वे कभी मरेंगे ही नहीं।" बस, यही माया है।

हमारी बुद्धि में, हमारे ज्ञान में, यही क्यों, हमारे जीवन की प्रत्येक घटना में ये विषम विरुद्ध भाव दिखायी पड़ते हैं। सुख दुःख का पीछा करता है और दुःख सुख का। एक सुधारक उठता है और किसी राष्ट्र के दोषों को दूर करना चाहता है। पर इसके पहले कि वे दोष दूर हों, हज़ार नये दोष दूसरे स्थान में उत्पन्न हो जाते हैं। यह बस एक ढहते हुए पुराने मकान के समान है। तुम उस मकान के एक भाग की मरम्मत करते हो, तो उसका कोई दूसरा भाग ढह जाता है। भारत में हमारे समाज-सुधारक जीवन भर जबरन वैधव्य-धारण रूपी दोष के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं और उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। तो पश्चिमी देशों में विवाह न होना ही सबसे बड़ा दोष है। एक ओर अविवाहिताओं का कष्ट दूर करने में सहायता करनी होगी, तो दूसरी ओर विधवाओं के आँसू पोंछने का प्रयत्न करना होगा। यह तो बस पुरानी गठिया की बीमारी के समान है—उसे सिर से भगाओ, तो कमर में आ जाती है; कमर से भगाओ, तो पैर में उतर जाती है। सुधार करनेवाले उठते हैं और शिक्षा देते हैं कि विद्या, धन, संस्कृति कुछ इने-गिनों के हाथों ही नहीं रहनी चाहिए; और वे इनको सर्वसाधारण तक पहुँचा देने का भरसक प्रयत्न करते हैं। हो सकता है, इससे कुछ लोग अधिक सुखी हो जायँ, पर जैसे जैसे ज्ञानानुशीलन बढ़ता जाता है, वैसे वैसे शारीरिक सुख भी कम होने लगता है। सुख का ज्ञान अपने साथ ही दुःख का ज्ञान भी लाता है। तब हम फिर किस मार्ग का अवलम्बन करें? हम लोग जो कुछ थोड़ा सा सुख भोगते हैं, दूसरे स्थान में उससे उतने ही परिमाण में दुःख भी उत्पन्न होता है। बस, यही नियम है—सब वस्तुओं पर यही नियम लागू होता है। जो युवक हैं, जिनका खून अभी गरम है, वे इस बात को शायद स्पष्ट रूप से समझ न पायें, पर जिन्होंने धूप में बाल पकाये हैं, अपने जीवन में आँधी और तूफ़ान के दिन देखे हैं, वे इसे सहज ही समझ लेंगे। बस, यही माया है। दिन-रात ये बातें घट रही हैं, पर इनका ठीक ठीक समाधान करना असम्भव है। ऐसा भला क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर पाना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रश्न ही तर्कसंगत नहीं है। जो बात घट रही है, उसमें न 'कैसे' है, न 'क्यों', हम बस इतना ही जानते हैं कि वह है और हमारा उसमें कोई हाथ नहीं। यहाँ तक कि उसकी धारणा करना—अपने मन में उसका

ठीक ठीक चित्र खींचना भी हमारी शक्ति के बाहर है। तब हम भला उसे कैसे सुलझायें ?

अतः इस संसार की गति के तथ्यात्मक वर्णन का नाम माया है। साधारणतया लोग यह बात सुनकर भयभीत हो जाते हैं। हमें साहसी होना पड़ेगा। घटनाओं पर परदा डालना रोग का प्रतिकार नहीं है। कुत्तों से पीछा किये जाने पर जिस प्रकार खरगोश अपने मुँह को टाँगों में छिपाकर अपने को सुरक्षित समझ बैठता है, उसी प्रकार हम लोग भी आशावादी होकर ठीक उस खरगोश के समान आचरण करते हैं। पर यह कोई उपाय नहीं है। दूसरी ओर, सांसारिक जीवन की प्रचुरता, सुख और स्वच्छन्दता भोगनेवाले इस मायावाद के सम्बन्ध में बड़ी आपत्तियाँ उठाते हैं। इस देश (इंग्लैण्ड) में निराशावादी होना बहुत कठिन है। सभी मुझसे कहते हैं---संसार का कार्य कितने सुन्दर रूप से चल रहा है, संसार कितना उन्नतिशील है ! किन्तु उनका अपना जीवन ही उनका संसार है। एक पुराना प्रश्न उठता है---ईसाई धर्म ही एकमात्र धर्म है। क्यों ? इसलिए कि ईसाई धर्म को माननेवाले सभी राष्ट्र समृद्धिशाली हैं। पर इस प्रकार की युक्ति से तो यह सिद्धान्त स्वयं ही भ्रामक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अन्य राष्ट्रों का दुर्भाग्य ही तो ईसाई धर्मावलम्बी राष्ट्रों की समृद्धि का कारण है, और एक का सौभाग्य बिना दूसरों का खून चूसे नहीं बनता। यदि सारी पृथ्वी ही ईसाई धर्म को मानने लग जाय, तब तो भक्ष्यस्वरूप कोई अ-ईसाई राष्ट्र न रहने के कारण ईसाई राष्ट्र स्वयं दरिद्र हो जायगा। अतः यह युक्ति अपना ही खण्डन कर लेती है। पशु उद्भिज पर जीवित रहते हैं, मनुष्य पशुओं पर, और सबसे खराब बात तो यह है कि मनुष्य एक दूसरे पर जीवित रहते हैं---बलवान दुर्बल पर। बस, ऐसा ही सर्वत्र हो रहा है। और यही माया है। इसका समाधान तुम क्या करते हो ? हम प्रतिदिन नयी नयी युक्तियाँ सुनते हैं। कोई कोई कहते हैं कि अन्त में सबका कल्याण होगा। मान लो कि हमने यह बात स्वीकार कर ली, तो अब प्रश्न यह है कि शुभ की साधना का क्या केवल पैशाचिक उपाय ही है ? पैशाचिक रीति को छोड़कर क्या शुभ द्वारा शुभ नहीं हो सकता ? वर्तमान मनुष्यों के वंशज सुखी होंगे, किन्तु इस समय इस भीषण दुःख-कष्ट का होना क्यों ज़रूरी है ? इसका समाधान नहीं है। यही माया है।

फिर, हम बहुधा सुनते हैं कि अशुभ विकास के क्रम में क्रमशः धीरे धीरे दूर होते जायँगे और संसार से दोष के इस प्रकार क्रमशः दूर हो जाने पर अन्त में केवल शुभ ही शुभ रह जायगा। यह बात सुनने में तो बड़ी अच्छी लगती है। इस संसार में जिनके पास किसी बात का अभाव नहीं, जिन्हें रोज़ एड़ी-चोटी का पसीना

एक करना नहीं पड़ता, जिन्हें क्रमविकास की चक्की में पिसना नहीं पड़ता, उन लोगों के दम्भ को इस प्रकार के सिद्धान्त बढ़ा सकते हैं, और उनके लिए ये सिद्धान्त सचमुच अत्यन्त हितकर और शान्तिप्रद हैं। साधारण जनसमूह दुःख-कष्ट भोगे--उससे उनका क्या? वे सब मर भी जायें--उसके लिए वे क्यों छटपटायें? ठीक है, पर यह युक्ति आदि से अन्त तक भ्रमपूर्ण है। पहले तो, इन लोगों ने विना किसी प्रमाण के ही यह धारणा कर ली है कि संसार में अभिव्यक्त शुभ और अशुभ, दोनों बिल्कुल निरपेक्ष सत्य हैं। और दूसरे, इससे भी अधिक दोषयुक्त धारणा तो यह है कि शुभ का परिणाम क्रमशः बढ़ता जा रहा है और अशुभ क्रमशः घटता जा रहा है। अतएव एक समय ऐसा आयेगा, जब अशुभ का अंश विकास द्वारा इस प्रकार घटते घटते अन्त में बिल्कुल शून्य हो जायगा और केवल शुभ ही बच रहेगा। ऐसा करना है तो बड़ा सरल, पर क्या यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अशुभ परिमाण में घटता जा रहा है? क्या अशुभ की भी क्रमशः वृद्धि नहीं हो रही है? उदाहरणार्थ, एक जंगली मनुष्य को ले लो। वह मन का संस्कार करना नहीं जानता, एक अक्षर तक नहीं पढ़ सकता, लिखना किसे कहते हैं, उसने कभी सुना तक नहीं। यदि उसे कोई गहरी चोट लग जाय, तो वह शीघ्र चंगा हो उठता है। पर हम हैं, जो खरोंच लगते ही मर जाते हैं। मशीनों से चीज़ें सुलभ और सस्ती होती जा रही हैं, उनसे उन्नति और विकास के मार्ग की बाधाएँ दूर होती जा रही हैं, पर साथ ही, एक के धनी होने के लिए लाखों लोग पिसे जा रहे हैं--उधर एक के धनी होने के लिए इधर हज़ारों लोग दरिद्र से दरिद्रतर होते जा रहे हैं, और असंख्य मानव-समूह क्रीतदास बनाया जा रहा है। जगत् की रीति ही ऐसी है। पाशवी प्रकृतिवाले मनुष्य का सुख-भोग इन्द्रियों में आबद्ध रहता है; उसके सुख और दुःख इन्द्रियों में ही रहते हैं। यदि उसे पर्याप्त भोजन न मिले, तो वह दुःखी हो जाता है। यदि उसका शरीर अस्वस्थ हो जाय, तो वह अपने को अभागा समझता है। इन्द्रियों में ही उसके सुख और दुःख, दोनों का आरम्भ और अन्त होता है। जैसे जैसे वह उन्नति करता जाता है, जैसे जैसे उसके सुख की सीमा-रेखा विस्तृत होती जाती है, वैसे वैसे उसका दुःख भी, उसी परिमाण में, बढ़ता जाता है। जंगल में रहनेवाला मनुष्य ईर्ष्या के वश में होना नहीं जानता; वह नहीं जानता कि कचहरी में जाना, नियमित रूप से कर अदा करना, समाज द्वारा निन्दित होना, पैशाचिक मानव-प्रकृति से उत्पन्न भीषण अत्याचार से अहर्निश शासित होना, जो एक दूसरे के हृदय के गुप्त से गुप्त भावों का अन्वेषण करने में लगा हुआ है, वह नहीं जानता। वह नहीं जानता कि भ्रान्त ज्ञान से सम्पन्न, गर्वीला मानस किस प्रकार पशु से भी सहस्र गुना पैशाचिक स्वभाव-

वाला हो जाता है। बस, इसी प्रकार हम ज्यों ज्यों इन्द्रियपरायणता से ऊपर उठते जाते हैं, त्यों त्यों हमारी सुख अनुभव करने की शक्ति बढ़ती जाती है, और उसके साथ ही दुःख अनुभव करने की शक्ति भी बढ़ती रहती है। नाड़ियाँ और भी सूक्ष्म होकर अधिक यन्त्रणा के अनुभव में समर्थ हो जाती हैं। सभी समाजों में हम देखते हैं कि एक साधारण, मूर्ख मनुष्य तिरस्कृत होने पर उतना दुःखी नहीं होता, पर पिट जाने पर अवश्य दुःखी हो जाता है। किन्तु सभ्य पुरुष एक साधारण सी बात भी सहन नहीं कर सकता, उसकी नाड़ियाँ इतनी सूक्ष्म हो गयी हैं। उसकी सुख-प्रवणता बढ़ जाने के कारण, उसका दुःख भी बढ़ गया है। इससे तो दार्शनिकों के क्रमविकासवाद की कोई पुष्टि नहीं होती। हम अपनी सुखी होने की शक्ति को जितना ही बढ़ाते हैं, हमारी दुःख-भोग की शक्ति भी उसी परिमाण में बढ़ जाती है। मेरा तो विनीत मत यह है कि हमारी सुखी होने की शक्ति यदि 'गणितीय क्रम' (arithmetical progression) के नियम से बढ़ती है, तो दुःखी होने की शक्ति 'ज्यामितीय क्रम' (geometrical progression)[१] के नियम से बढ़ेगी। जंगली मनुष्य समाज के सम्बन्ध में अधिक नहीं जानता। किन्तु हम उन्नतिशील लोग जानते हैं कि हम जितने ही उन्नत होंगे, हमारे सुख और दुःख की वीथियाँ और भी अधिक बढ़ती जायँगी। और यही माया है।

अतएव, हम देखते हैं कि माया विश्व की व्याख्या करने के निमित्त कोई सिद्धांत नहीं है। वह संसार की वस्तु-स्थिति का वर्णन मात्र है—विरुद्ध भाव ही हमारे अस्तित्व की भित्ति हैं, सर्वत्र इन्हीं भयानक विरुद्ध भावों में से होकर हम जा रहे हैं। जहाँ शुभ है, वहीं अशुभ भी है; और जहाँ अशुभ है, वहीं अवश्य शुभ है। जहाँ जीवन है, वहीं मृत्यु छाया की भाँति उसका अनुसरण कर रही है। जो हँस रहा है, उसीको रोना पड़ेगा; और जो रो रहा है, वह भी हँसेगा। यह क्रम बदल नहीं सकता। हम भले ही ऐसे स्थान की कल्पना करें, जहाँ केवल शुभ रहेगा, अशुभ नहीं, जहाँ हम केवल हँसेंगे, रोयेंगे नहीं,—पर जब ये सब कारण समान रूप से सर्वत्र विद्यमान हैं, तो इस प्रकार होना वस्तु के स्वभाव में ही असम्भव है। जहाँ हमें हँसाने की शक्ति विद्यमान है, वहीं फिर रुलाने की भी शक्ति निहित है। जहाँ सुख उत्पन्न करनेवाली शक्ति विद्यमान है, दुःख देनेवाली शक्ति भी वहीं छिपी हुई है।

---

१. 'गणितीय क्रम' जैसे ३।५।७।९ इत्यादि; यहाँ पर प्रत्येक परवर्ती अंक अपने पूर्ववर्ती अंक से दो दो अधिक है। 'ज्यामितीय क्रम' जैसे ३।६।१२।२४ इत्यादि; यहाँ पर प्रत्येक परवर्ती अंक अपने पूर्ववर्ती अंक का दुगुना है। स०

अतएव वेदान्त दर्शन आशावादी भी नहीं है और निराशावादी भी नहीं। वह तो दोनों ही वादों का प्रचार करता है; सारी घटनाएँ जिस रूप में होती हैं, वह उन्हें बस उसी रूप में ग्रहण करता है; अर्थात् उसके मत से यह संसार शुभ और अशुभ, सुख और दुःख का मिश्रण है; एक को बढ़ाओ, तो दूसरा भी साथ साथ बढ़ेगा। केवल सुख का संसार अथवा केवल दुःख का संसार हो नहीं सकता। इस प्रकार की धारणा ही स्वतःविरोधी है। किन्तु इस प्रकार का मत व्यक्त करके और इस विश्लेषण के द्वारा वेदान्त ने इस महान् रहस्य का भेद किया है कि शुभ और अशुभ, ये दो एकदम विभिन्न, पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। इस संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जिसे एकदम शुभ या एकदम अशुभ कहा जा सके। एक ही घटना, जो आज शुभजनक मालूम पड़ती है, कल अशुभजनक मालूम पड़ सकती है। एक ही वस्तु, जो एक व्यक्ति को दुःखी करती है, दूसरे को सुखी बना सकती है। जो अग्नि बच्चे को जला देती है, वही भूख से मरते व्यक्ति के लिए स्वादिष्ट खाना भी पका सकती है। जिस स्नायुमण्डल के द्वारा दुःख का संवेदन हमारे अन्दर पहुँचता है, सुख का संवेदन भी उसीके द्वारा भीतर जाता है। अशुभ को दूर करना चाहो, तो साथ ही तुम्हें शुभ को भी दूर करना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। मृत्यु को दूर करने के लिए जीवन को भी दूर करना पड़ेगा। मृत्युहीन जीवन और दुःखहीन सुख, ये बातें परस्पर विरोधी हैं, इनमें कोई सत्य नहीं है; क्योंकि दोनों एक ही वस्तु की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। कल जो शुभप्रद लगता था, आज वह वैसा नहीं लगता। जब हम बीते जीवन पर नज़र डालते हैं और भिन्न भिन्न समय के अपने आदर्शों की आलोचना करते हैं, तो इस बात की सत्यता हमें तुरन्त दीख पड़ती है। एक समय था, जब शक्तिशाली घोड़ों के जोड़े हाँकना ही मेरा आदर्श था। अब वैसी भावना नहीं होती। बचपन में सोचता था कि यदि मैं अमुक मिठाई बना सकूँ, तो मैं पूर्ण सुखी होऊँगा। कभी सोचता था, स्त्री-पुत्र और धन-धान्य से भरा घर होने से मैं सुखी होऊँगा। अब लड़कपन की ये सब निरर्थक बातें सोचकर हँसी आती है।

वेदान्त कहता है कि एक समय ऐसा अवश्य आयेगा, जब हम पीछे नज़र डालेंगे और आदर्शों पर हँसेंगे, जिनके कारण अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्व का त्याग करते हममें भय का संचार होता है। सभी अपनी अपनी देह की रक्षा करने में व्यस्त हैं। कोई भी उसे छोड़ना नहीं चाहता। हम सोचते हैं कि इस देह की यथेच्छ समय तक रक्षा कर लेने से हम अत्यन्त सुखी होंगे, पर समय आने पर हम इस बात पर भी हँसेंगे। अतएव, यदि हमारी वर्तमान अवस्था सत् भी न हो और असत् भी नहीं—पर दोनों का सम्मिश्रण हो, दुःख भी न हो और सुख

भी नहीं---पर दोनों का सम्मिश्रण हो, अर्थात् हम यदि ऐसे निराशाजनक अन्तर्विरोध की स्थिति में हों, तो फिर वेदान्त तथा अन्यान्य दर्शनशास्त्र और धर्ममत आदि की क्या आवश्यकता है? और सर्वोपरि, शुभ कर्म आदि करने का भी भला क्या प्रयोजन है? यही प्रश्न मन में उठता है, क्योंकि लोग यही पूछेंगे कि यदि शुभ कर्म करने पर भी अशुभ रहता ही हो और सुख उत्पन्न करने का प्रयत्न करने पर भी घोर दुःख बना ही रहता हो, तो फिर इस प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता ही क्या? तो इसका उत्तर यह है कि पहले तो, हमें दुःख को कम करने के लिए कर्म करना ही चाहिए, क्योंकि स्वयं सुखी होने का यही एकमात्र उपाय है। हममें से प्रत्येक अपने अपने जीवन में, देर-सबेर इस बात की यथार्थता समझ लेते हैं। तीक्ष्ण बुद्धिवाले कुछ शीघ्र समझ जाते हैं और मन्द बुद्धिवाले कुछ देरी से। मन्द बुद्धिवाले कड़ी यातना भोगने के बाद इसे समझ पाते हैं, तो तीक्ष्ण बुद्धिवाले थोड़ी ही यातना भोगने के बाद। और दूसरे, यद्यपि हम जानते हैं कि ऐसा समय कभी न आयेगा, जब यह जगत् केवल सुख से भरा रहेगा और दुःख बिलकुल न रहेगा, फिर भी हमें यही कार्य करना होगा। अन्तर्विरोध से बचने के लिए यही एकमात्र उपाय है। ये दोनों शक्तियाँ---शुभ एवं अशुभ जगत् को जीवित रखेंगी; और अन्त में एक दिन ऐसा आयेगा, जब हम स्वप्न से जाग जायँगे और यह सब मिट्टी के घरौंदे बनाना बन्द कर देंगे। सचमुच, हम चिरकाल से घरौंदे बनाने में ही लगे हुए हैं। हमें यह शिक्षा लेनी ही होगी; और इसके लिए समय भी बहुत लग जायगा।

जर्मनी में इस भित्ति पर कि---असीम ससीम हो गया है---दर्शनशास्त्र रचने की चेष्टा की गयी है। इंग्लैण्ड में अब भी इस प्रकार की चेष्टा चल रही है। पर इन सब दार्शनिकों के मत का विश्लेषण करने पर यही पाया जाता है कि असीम अपने को जगत् में व्यक्त करने की चेष्टा कर रहा है, और एक समय आयेगा, जब वह ऐसा करने में सफल हो जायगा। बहुत ठीक है, और हमने 'असीम', 'विकास', 'अभिव्यक्ति' आदि दार्शनिक शब्दों का भी प्रयोग किया। किन्तु ससीम किस प्रकार असीम को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकता है, इस सिद्धान्त की न्यायसंगत मूल भित्ति क्या है, यह प्रश्न दार्शनिक स्वभावतः ही पूछ सकते हैं। निरपेक्ष और असीम सत्ता सोपाधिक होकर ही इस जगद्रूप में प्रकाशित हो सकती है। जो कुछ इन्द्रिय, मन और बुद्धि के माध्यम से आयेगा, उसे स्वतः ही सीमाबद्ध होना पडेगा, अतएव ससीम का असीम होना नितान्त असंगत है, ऐसा हो नहीं सकता। दूसरी ओर, वेदान्त कहता है, यह ठीक है कि निरपेक्ष या असीम सत्ता अपने को ससीम रूप में व्यक्त करने की चेष्टा कर रही है, किन्तु एक समय ऐसा आयेगा,

जव इस प्रयत्न को असम्भव जानकर उसे पीछे लौटना पड़ेगा। यह पीछे लौटना ही धर्म का यथार्थ आरम्भ है, जिसका अर्थ है वैराग्य। आधुनिक मनुष्य से वैराग्य की वात कहना अत्यन्त कठिन है। अमेरिका में मेरे वारे में लोग कहते थे कि मैं पाँच हज़ार वर्ष तक मृत और विस्मृत एक देश से आकर वैराग्य का उपदेश दे रहा हूँ। इंग्लैण्ड के दार्शनिक भी शायद ऐसा ही कहें। पर यह भी सत्य है कि धर्म का एकमात्र पथ यही है। त्याग दो और विरक्त वनो। ईसा ने क्या कहा है? 'जो मेरे निमित्त अपने जीवन का त्याग करेगा, वही जीवन को प्राप्त करेगा।' पूर्णता की प्राप्ति के लिए त्याग ही एकमात्र साधन है, इसकी शिक्षा उन्होंने बारंबार दी है। ऐसा समय आता है, जब अन्तरात्मा इस लम्बे विषादमय स्वप्न से जाग उठती हैं, बच्चा खेल-कूद छोड़कर अपनी माता के निकट लौट जाने को अधीर हो उठता है। तव इस उक्ति की यथार्थता सिद्ध होती है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

—'काम्य वस्तु के उपभोग से कभी वासना की निवृत्ति नहीं होती, वरन् घृताहुति के द्वारा अग्नि के समान वह तो और भी बढ़ जाती है।'

इस प्रकार, इन्द्रिय-विलास, बौद्धिक आनन्द, मानवात्मा का उपभोग्य सव प्रकार का सुख––सभी मिथ्या है––सभी माया के अधीन है। सभी इस संसार के वन्धन के अन्तर्गत है, हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते। हम उसके अन्दर भले ही अनन्त काल तक दौड़ते फिरें, पर उसका अन्त नहीं पा सकते; और जव कभी हम थोड़ा सा सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, तभी दुःख का ढेर हमारे सिर पर आ गिरता है। कितनी भयानक अवस्था है यह! जब मैं इस पर विचार करता हूँ, तो मैं निस्सन्दिग्ध रूप से यह अनुभव करता हूँ कि यह मायावाद, यह कथन कि सब कुछ माया है, इसकी एकमात्र ठीक ठीक व्याख्या है। इस संसार में कितना दुःख है! यदि तुम विभिन्न देशों में भ्रमण करो, तो तुम समझ सकोगे कि एक राष्ट्र अपने दोषों को एक उपाय के द्वारा दूर करने की चेष्टा कर रहा है, तो दूसरा राष्ट्र किसी अन्य उपाय द्वारा। एक ही दोष को विभिन्न राष्ट्रों ने विभिन्न उपायों से दूर करने का प्रयत्न किया है, पर कोई भी कृतकार्य न हो सका। यदि किसी स्थान पर दोष कुछ कम हो भी गया, तो किसी दूसरे स्थान पर दोषों का एक ढेर खड़ा हो जाता है। वस, ऐसा ही चलता रहता है। हिन्दुओं ने अपने जातीय जीवन में सतीत्व धर्म को पुष्ट करने के लिए बाल-विवाह के प्रचलन द्वारा अपनी सन्तान को, और धीरे धीरे सारी जाति को, अधोगामी कर दिया है। पर यह

बात भी मैं अस्वीकार नहीं कर सकता कि बाल-विवाह ने हिन्दू जाति को सतीत्व-धर्म से विभूषित किया है। तुम क्या चाहते हो? यदि जाति को सतीत्व-धर्म से थोड़ा-बहुत विभूषित करना चाहो, तो इस भयानक बाल-विवाह द्वारा सारे स्त्री-पुरुषों को शारीरिक दृष्टि से दुर्बल करना पड़ेगा। दूसरी ओर, क्या तुम्हारी स्थिति इंग्लैण्ड में कुछ भी अच्छी है? नहीं, क्योंकि सतीत्व ही तो जाति की जीवनी शक्ति है। क्या तुमने इतिहास में नहीं पढ़ा है कि देश की मृत्यु का चिह्न असतीत्व के भीतर से होकर आया है—जब यह किसी जाति में प्रवेश कर जाता है, तो समझना कि उसका विनाश निकट आ गया है। इन सब दुःखजनक प्रश्नों की मीमांसा कहाँ मिलेगी। यदि माता-पिता अपनी सन्तान के लिए वर-वधू का निर्वाचन करें, तो यह दोष कम हो सकता है। भारत की बेटियाँ भावुक होने की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक होती हैं। किंतु उनके जीवन में फिर कविता बहुत कम रह जाती है। पर यदि लोग स्वयं पति और पत्नी का निर्वाचन करते हैं, तो इससे भी उन्हें कोई अधिक सुख नहीं मिलता। भारतीय नारियाँ अधिक सुखी हैं। स्त्री और स्वामी के बीच कलह अधिकतर नहीं होता। दूसरी ओर, अमेरिका में, जहाँ स्वाधीनता की अधिकता है, सुखी परिवार बहुत कम देखने में आते हैं। दुःख यहाँ, वहाँ, सभी जगह है। इससे क्या सिद्ध होता है? यही कि इन सब आदर्शों के द्वारा अधिक सुख प्राप्त नहीं हो सका। हम सभी सुख के लिए उत्कट संघर्ष कर रहे हैं, पर एक ओर कुछ प्राप्त होने के पहले ही दूसरी ओर दुःख आ उपस्थित होता है।

तब क्या हम कोई शुभ कर्म न करें? अवश्य करें, और पहले की अपेक्षा अधिक उत्साहित होकर हम ऐसा करें। इन बातों के ज्ञान से इतना होगा कि हमारी धर्मान्धता, कट्टरता नष्ट हो जायगी। तब अंग्रेज लोग उत्तेजित होकर 'ओह, पैशाचिक हिन्दू! नारियों के प्रति कैसा दुर्व्यवहार करता है!'—ऐसा कहते हुए हिन्दू की ओर अँगुली नहीं उठायेंगे। तब वे विभिन्न देशों के रीति-रिवाजों का आदर करना सीखेंगे। धर्मान्धिता कम होगी, कार्य अधिक होगा। धर्मान्ध अधिक कार्य नहीं कर पाता। वह अपनी शक्ति का तीन-चौथाई व्यर्थ ही नष्ट कर देता है। जो धीर, प्रशान्तचित्त, 'काम के आदमी' कहे जाते हैं, वे ही कर्म करते हैं। थोथी बकवास करनेवाला धर्मान्ध व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। अतएव यह जान लेने से कि वस्तु-स्थिति ऐसी ही है, हमारी तितिक्षा अधिक होगी। दुःख और अशुभ के दृश्य हमें साम्यभाव से च्युत न कर सकेंगे और छाया के पीछे पीछे दौड़ा न सकेंगे। अतएव यह जानकर कि संसार की गति ही ऐसी है, हम धैर्यशाली बनेंगे। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि सभी मनुष्य दोषशून्य हो

जायँगे, पशु भी क्रमशः मनुष्यत्व प्राप्त कर इन्हीं अवस्थाओं में से होकर गुज़रेंगे, और वनस्पतियों की भी यही दशा होगी। पर यह एक बात निश्चित है--यह महती नदी प्रबल वेग से समुद्र की ओर बह रही है; तृण, पत्ते आदि सब इसके स्रोत में बहे जा रहे हैं और सम्भवतः विपरीत दिशा में बहने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु ऐसा समय आयेगा, जब प्रत्येक वस्तु उस अनन्त सागर के वक्षःस्थल में समा जायगी। अतएव यह निश्चित है कि जीवन सारे दुःख और क्लेश, आनन्द, हास्य और क्रन्दन के साथ उस अनन्त सागर की ओर प्रबल वेग से प्रवाहित हो रहा है, और यह केवल समय का प्रश्न है, जब तुम, मैं, जीव, उद्भिद् और सामान्य जीवाणु कण तक, जो जहाँ पर है, सब कुछ उसी अनन्त जीवन-समुद्र में--मुक्ति और ईश्वर में आ पहुँचेगा।

मैं एक बार फिर कहता हूँ कि वेदान्त का दृष्टिकोण न तो आशावादी है और न निराशावादी ही। वह ऐसा नहीं कहता कि संसार केवल शुभ ही शुभ है अथवा केवल अशुभ ही अशुभ। वह कहता है कि हमारे शुभ और अशुभ, दोनों का मूल्य बराबर है। ये दोनों इसी प्रकार हिल-मिलकर रहते हैं। संसार ऐसा ही है, यह समझकर तुम धैर्यपूर्वक कर्म करो। पर क्यों? क्यों हम कर्म करें? यदि घटना-चक्र ही इस प्रकार का हो, तो हम क्या करें? हम अज्ञेयवादी क्यों न हो जायँ? आजकल के अज्ञेयवादी भी तो कहते हैं कि इस समस्या का कोई समाधान नहीं है; वेदान्त की भाषा में कहेंगे कि इस मायापाश से छुटकारा नहीं है। अतएव सन्तुष्ट रहो और सबका उपभोग करो। पर यहाँ भी एक अत्यन्त असंगत और महान् भ्रम है। और वह यह है। तुम जिस जीवन से चारों ओर से घिरे हुए हो, उस जीवन के विषय में तुम्हारा ज्ञान किस प्रकार का है? क्या 'जीवन' शब्द से तुम केवल पाँच इन्द्रियों में आबद्ध जीवन को ही लेते हो? यदि ऐसा हो, तो हम पशुओं से कोई अधिक भिन्न नहीं हैं। किन्तु मुझे विश्वास है कि यहाँ बैठे हुए लोगों में से एक भी ऐसा नहीं है, जिसका जीवन सम्पूर्ण रूप से केवल इन्द्रियों में आबद्ध हो। अतएव हमारे वर्तमान जीवन का अर्थ इन्द्रियों की अपेक्षा और भी कुछ अधिक है। सुख-दुःख अनुभव करानेवाली हमारी मनोवृत्ति और हमारे विचार भी तो हमारे जीवन के अंगस्वरूप हैं। और उस महान् आदर्श, उस पूर्णता की ओर अग्रसर होने की कठोर चेष्टा भी क्या हमारे जीवन का उपादान नहीं है? अज्ञेयवादी कहते हैं कि जीवन जैसा है, बस, वैसा ही उसका भोग करो। पर जीवन कहने से सर्वोपरि इस आदर्श के अन्वेषण की, इस पूर्णता की ओर अग्रसर होने की कठोर चेष्टा का बोध होता है। हमें इसीको प्राप्त करना होगा। अतएव हम अज्ञेयवादी नहीं हो सकते और अज्ञेयवादी के संसार को नहीं अपना सकते। अज्ञेयवादी तो

जीवन के आदर्शात्मक उपादान को छोड़कर अवशिष्ट अंश को ही सर्वस्व मानते हैं। वे इस आदर्श को ज्ञान का अगोचर समझकर इसका अन्वेषण त्याग देते हैं। बस, इस प्रकृति, इस जगत् को ही माया कहते हैं।

सभी धर्म इसी प्रकृति के बन्धन को तोड़ने की अल्पकालिक चेष्टा कर रहे हैं। चाहे देवोपासना द्वारा हो, चाहे प्रतीकोपासना द्वारा, चाहे दार्शनिक विचारों द्वारा हो, अथवा देव-चरित्र, प्रेत-चरित्र, साधु-चरित्र, ऋषि-चरित्र, महात्मा-चरित्र अथवा अवतार-चरित्र की सहायता से अनुष्ठित हो, सभी धर्मों का, चाहे वे विकसित हों, चाहे अविकसित, उद्देश्य एक ही है--सभी सीमाओं के परे जाना। संक्षेप में, सभी धर्म स्वाधीनता की ओर अग्रसर होने का कठोर प्रयत्न कर रहे हैं। जाने या अनजाने मनुष्य समझ गया है कि वह बद्ध है। वह जो कुछ होने की इच्छा करता है, सो नहीं है। जिस क्षण से उसने अपने चारों ओर दृष्टि फेरी, उसी क्षण से उसे यह ज्ञान हो गया। उसी क्षण से उसे अनुभव हो गया कि वह बन्दी है। उसने यह भी जाना कि इस सीमा से जकड़ा हुआ कोई मानो उसके अन्तर में विद्यमान है, जो देह के भी अगम्य स्थान में उड़ जाना चाहता है। संसार के उन निम्नतम धर्मों में भी, जहाँ दुर्दान्त, नृशंस, आत्मीयों के घरों में लुक-छिपकर फिरनेवाले, हत्या और सुराप्रिय मृत पितरों या अन्य भूत-प्रेतों की पूजा की जाती है, हम स्वाधीनता का यह भाव पाते हैं। जो लोग देवताओं की उपासना करते हैं, वे उन देवताओं को अपनी अपेक्षा अधिक स्वाधीन देखते हैं। उनका ऐसा विश्वास रहता है कि द्वार बन्द होने पर भी देवता लोग घर की दीवारों को भेदकर आ सकते हैं; दीवारें उनके मार्ग में बाधा नहीं डाल सकतीं। स्वाधीनता का यह भाव क्रमशः बढ़ते बढ़ते अन्त में सगुण ईश्वर के आदर्श में परिणत हो जाता है। इस आदर्श का केन्द्रीय भाव यह है कि ईश्वर माया से अतीत है। मैं मानो अपने मनश्चक्षु के सामने भारत के उन प्राचीन आचार्यों को अरण्यस्थित आश्रम में इन्हीं सब प्रश्नों पर विचार करते देख रहा हूँ और सुन रहा हूँ उनके स्वर; बड़े बड़े वयोवृद्ध पवित्र महर्षिगण भी इन प्रश्नों का समाधान करने में असमर्थ हो रहे हैं, पर एक युवक उनके बीच खड़ा हो घोषणा करता है--'हे अमृत के पुत्रगण ! सुनो, हे दिव्यधामवासी, तुम भी सुनो, मुझे मार्ग मिल गया है। जो अन्धकार या अज्ञान से अतीत है, उसे जान लेने पर हम मृत्यु के परे जा सकते हैं।'[1]

---

१. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।
--श्वेताश्वतरोपनिषद् ।।२।५।: ३।८।।

यह माया हमें चारों ओर से घेरे हुए है और वह अति भयंकर है। फिर भी हमें माया में से होकर ही कार्य करना पड़ता है। जो कहता है, "संसार को पूर्ण शुभमय हो जाने दो, तब मैं कार्य करूँगा और आनन्द भोगूँगा", तो उसकी बात उसी व्यक्ति की तरह है, जो गंगातट पर बैठकर कहता है कि जब इसका सारा पानी समुद्र में पहुँच जायगा, तब मैं इसके पार जाऊँगा। दोनों बातें असम्भव हैं। रास्ता माया के साथ नहीं है, वह तो माया के विरुद्ध है---यह बात भी हमें जान लेनी होगी। हम प्रकृति के सहायक होकर नहीं जन्मे हैं, वरन् हम तो प्रकृति के विरोधी होकर जन्मे हैं। हम बाँधनेवाले होकर भी स्वयं बँधे जा रहे हैं। यह मकान कहाँ से आया? प्रकृति ने तो दिया नहीं। प्रकृति कहती है, 'जाओ, जंगल में जाकर बसो।' मनुष्य कहता है, 'नहीं, मैं मकान बनाऊँगा और प्रकृति के साथ युद्ध करूँगा।' और वह ऐसा कर भी रहा है। मानव जाति का इतिहास प्राकृतिक नियमों के साथ उसके युद्ध का इतिहास है और अन्त में मनुष्य ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है। अन्तर्जगत् में आकर देखो, वहाँ भी यही युद्ध चल रहा है---पशु-मानव और आध्यात्मिक मानव का, प्रकाश और अन्धकार का यह संग्राम निरन्तर जारी है। मानव यहाँ भी जीत रहा है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रकृति के बन्धन को चीरकर मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

हमने अभी तक देखा कि वेदान्ती दार्शनिकों ने इस माया के परे ऐसी किसी वस्तु को जान लिया है, जो माया के अधीन नहीं है, और यदि हम उसको प्राप्त कर सकें, तो हम भी माया से बँध नहीं जायँगे। किसी न किसी रूप में यह भाव सभी धर्मों की सामान्य सम्पत्ति है। किन्तु वेदान्त के मत में यह धर्म का केवल प्रारम्भ है, अन्त नहीं। जो विश्व की सृष्टि तथा पालन करनेवाले हैं, जो मायाधिष्ठित हैं, जिन्हें माया या प्रकृति का कर्ता कहा जाता है, उन सगुण ईश्वर का ज्ञान ही वेदान्त का अन्त नहीं है, केवल आदि है। यह ज्ञान क्रमशः बढ़ता जाता है और अन्त में वेदान्ती देखता है कि जिसे वह बाहर खड़ा हुआ समझता था, वह उसके अन्दर ही है और वह स्वयं वस्तुतः वही है। जिसने अपने को अध्यास के कारण बद्ध समझ रखा था, वह वास्तव में वही मुक्तस्वरूप है।

मनुष्य का वास्तविक और प्रातिभासिक स्वरूप

(न्यूयार्क में दिया हुआ भाषण)

हम यहाँ खड़े हैं, परन्तु हमारी दृष्टि दूर, बहुत दूर, और कभी कभी तो, कोसों दूर चली जाती है। जब से मनुष्य ने विचार करना आरम्भ किया, तभी से वह ऐसा करता आ रहा है। मनुष्य सदैव आगे और दूर देखने का प्रयत्न करता है। वह जानना चाहता है कि इस शरीर के नष्ट होने के बाद वह कहाँ चला जाता है। इसकी व्याख्या करने के लिए अनेक सिद्धांतों का प्रचार हुआ, सैकड़ों मतों की स्थापना हुई। इनमें से कुछ मत खण्डित करके छोड़ भी दिये गये। और कुछ स्वीकार किये गये; और जब तक मनुष्य इस जगत् में रहेगा, जब तक वह विचार करता रहेगा, तब तक ऐसा चलेगा। इन सभी मतों में कुछ न कुछ सत्य है, और साथ ही, उनमें बहुत सा असत्य भी है। इस सम्बन्ध में भारत में जो सब अनुसन्धान हुए हैं, उन्हींका सार, उन्हींका फल मैं तुम्हारे सामने रखने का प्रयत्न करूँगा। भारतीय दार्शनिकों के इन सब विभिन्न मतों का समन्वय और, यदि हो सका तो, उनके साथ आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी समन्वय करने का प्रयत्न करूँगा।

वेदान्त दर्शन का एक ही उद्देश्य है और वह है—एकत्व की खोज। हिन्दू लोग किसी विशेष के पीछे नहीं दौड़ते, वे तो सदैव सर्वसामान्य की, यही क्यों, सर्वव्यापी सार्वभौमिक की खोज करते हैं। 'वह क्या है, जिसके जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है ?' यही उनका विषय है। जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर जगत् की सारी मिट्टी को जान लिया जाता है, उसी प्रकार ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसे जान लेने पर जगत् की सारी वस्तुएँ जानी जा सकती हैं ? उनकी यही एक खोज है, यही एक जिज्ञासा है। उनके मत से, समस्त जगत् का विश्लेषण करके उसे 'आकाश' में पर्यवसित किया जा सकता है। हम अपने चारों ओर जो कुछ देखते हैं, छूते हैं, आस्वादन करते हैं, और तो और, हम जो कुछ अनुभव करते हैं, वह सब इसी आकाश की विभिन्न अभिव्यक्ति मात्र है। यह आकाश सूक्ष्म और सर्वव्यापी है। ठोस, तरल और वाष्पीय सब प्रकार के पदार्थ, सब प्रकार के रूप, शरीर, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे—सब इसी आकाश से निर्मित हैं।

किस शक्ति ने इस आकाश पर कार्य करके इसमें से जगत् की सृष्टि की? आकाश के साथ एक सर्वव्यापी शक्ति रहती है। जगत् में जितनी भी भिन्न भिन्न शक्तियाँ हैं--आकर्षण, विकर्षण, यहाँ तक कि विचार-शक्ति भी, सभी 'प्राण' नामक एक महाशक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी प्राण ने आकाश पर कार्य करके इस जगत्-प्रपंच की रचना की है। कल्प के प्रारम्भ में यह प्राण मानो अनन्त आकाश-समुद्र में प्रसुप्त रहता है। प्रारम्भ में यह आकाश गतिहीन होकर अवस्थित था। बाद में प्राण के प्रभाव से इस आकाश-समुद्र में गति उत्पन्न होने लगती है। और जैसे जैसे इस प्राण की गति होने लगती है, वैसे वैसे इस आकाश-समुद्र में से नाना ब्रह्माण्ड, नाना जगत्, कितने ही सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथ्वी, मनुष्य, जन्तु, उद्भिद् और नानाविध शक्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अतएव हिन्दुओं के मत से सब प्रकार की शक्तियाँ प्राण के और सब प्रकार के दृश्य पदार्थ आकाश के विभिन्न रूप मात्र हैं; कल्पान्त में सभी घन पदार्थ पिघल जायँगे, और वह तरल पदार्थ वाष्पीय आकार में परिणत हो जायगा। वह फिर तेज-रूप धारण करेगा। अन्त में सब कुछ जिस आकाश से उत्पन्न हुआ था, उसीमें विलीन हो जायगा। और आकर्षण, विकर्षण, गति आदि समस्त शक्तियाँ धीरे धीरे मूल प्राण में परिणत हो जायँगी। उसके बाद जब तक फिर से कल्पारम्भ नहीं होता, तब तक यह प्राण मानो निद्रित अवस्था में रहेगा। कल्पारम्भ होने पर वह जागकर पुनः नाना रूपों को प्रकाशित करेगा और कल्पान्त में फिर से सबका लय हो जायगा। बस, इसी प्रकार वह आता है और चला जाता है, मानो एक बार पीछे और एक बार आगे झूल रहा है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहेंगे कि एक समय वह स्थितिशील (static) रहता है, फिर गतिशील (dynamic) हो जाता है; एक समय प्रसुप्त रहता है और फिर क्रियाशील हो जाता है। बस, इसी प्रकार अनन्त काल से चला आ रहा है।

पर यह विश्लेषण भी अधूरा है। इतना तो आधुनिक भौतिक विज्ञान को भी ज्ञात है। इसके ऊपर भौतिक विज्ञान की गति नहीं है। पर इस अनुसन्धान का यहीं अन्त नहीं हो जाता। हमने अभी तक उस वस्तु को प्राप्त नहीं किया, जिसे जान लेने पर सब कुछ जाना जा सके। हमने समस्त जगत् को भूत और शक्ति में अथवा, प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के शब्दों में, आकाश और प्राण में पर्यवसित कर दिया। अब आकाश और प्राण को उनके मूल तत्त्व में पर्यवसित करना होगा; इन्हें मन नामक उच्चतर सत्ता में पर्यवसित किया जा सकता है। महत् अथवा समष्टि विचार-शक्ति से प्राण और आकाश, दोनों की उत्पत्ति होती है। विचार-शक्ति ही इन दो शक्तियों के रूप में विभक्त हो जाती है। प्रारम्भ

में यह सर्वव्यापी मन ही था। इसने परिणत होकर आकाश और प्राण ये दो रूप धारण किये और इन दोनों के सम्मिश्रण से सारा जगत् बना।

अब हम मनोविज्ञान की चर्चा करेंगे। मैं तुमको देख रहा हूँ। आँखें विषय को ग्रहण कर रही हैं और संवेदक नाड़ियाँ उसे मस्तिष्क में ले जा रही हैं। आँखें देखने का साधन नहीं हैं, वे उसकी केवल बाहरी यन्त्र हैं, क्योंकि देखने का जो वास्तविक साधन है, जो मस्तिष्क में विषय-ज्ञान का संवाद ले जाता है, उसको यदि नष्ट कर दिया जाय, तब बीस आँखें रहते हुए भी मैं तुममें से किसीको भी न देख सकूँगा। नेत्रपट (retina) पर भले ही पूरा प्रतिबिम्ब पड़े, फिर भी मैं तुमको न देख सकूँगा। अतएव वास्तविक इन्द्रिय इस यन्त्र से कोई भिन्न वस्तु है। यथार्थ चक्षुरिन्द्रिय, अवश्य, चक्षुयन्त्र के पीछे अवस्थित है। सब प्रकार की विषयानुभूतियों के सम्बन्ध में ऐसा ही समझना चाहिए। नासिका घ्राणेन्द्रिय नहीं है; वह तो यन्त्र मात्र है, घ्राणेन्द्रिय उसके पीछे है। प्रत्येक इन्द्रिय के सम्बन्ध में समझना चाहिए कि बाह्य यन्त्र इस स्थूल शरीर में अवस्थित हैं और उनके पीछे, इस स्थूल शरीर में ही, इन्द्रिय भी मौजूद हैं। पर इतने से ही काम नहीं चलता! मान लो, मैं तुमसे कुछ कह रहा हूँ और तुम बड़े ध्यान से मेरी बात सुन रहे हो। इसी समय यहाँ एक घण्टा बजता है और शायद तुम उस घण्टे की ध्वनि को नहीं सुन पाते। यह शब्द-तरंग तुम्हारे कान में पहुँचकर कान के परदे में आघात करती है, नाड़ियों के द्वारा यह संवाद मस्तिष्क में पहुँचा, पर फिर भी तुम उसे नहीं सुन सके। ऐसा क्यों? यदि मस्तिष्क में आवेग संवाहित करने से ही सुनने की सारी क्रिया सम्पूर्ण हो जाती है, तो फिर तुम क्यों सुन नहीं सके? किसी अन्य घटक का अभाव था, मन इन्द्रिय से युक्त नहीं था। जिस समय मन इन्द्रियों से पृथक् रहता है, उस समय इन्द्रियों द्वारा लाये गये किसी भी संवाद को मन ग्रहण नहीं करता। जब मन उनसे युक्त रहता है, तभी वह किसी संवाद को ग्रहण करने में समर्थ होता है। पर इससे भी विषयानुभूति पूर्ण नहीं हो जाती। बाहरी यन्त्र भले ही बाहर से संवाद ले आयें, इन्द्रियाँ भले ही उसे भीतर ले जायँ और मन भी इन्द्रियों से संयुक्त रहे, पर तो भी विषयानुभूति पूर्ण न होगी। एक और वस्तु आवश्यक है--भीतर से प्रतिक्रिया होनी चाहिए। प्रतिक्रिया से ज्ञान उत्पन्न होगा। बाहर की वस्तु ने मानो मेरे अन्दर संवाद-प्रवाह भेजा। मेरे मन ने उसे ले जाकर बुद्धि के निकट अर्पण कर दिया, बुद्धि ने पहले से बने हुए मन के संस्कारों के अनुसार उसे सजाया और बाहर की ओर प्रतिक्रिया-प्रवाह भेजा। बस, इस प्रतिक्रिया के साथ ही विषयानुभूति होती है। जो शक्ति मन में यह प्रतिक्रिया भेजती है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं। किन्तु इससे भी विषयानुभूति पूर्ण नहीं हुई। मान लो, एक कैमरा

है और एक परदा है। मैं इस परदे पर एक चित्र डालना चाहता हूँ। तो मुझे क्या करना होगा? मुझे उस यन्त्र में से नाना प्रकार की प्रकाश-किरणों को इस परदे पर डालने का और उन्हें एक स्थान में एकत्र करने का प्रयत्न करना होगा। इसके लिए एक अचल वस्तु की आवश्यकता है, जिस पर चित्र डाला जा सके। किसी चलनशील वस्तु पर ऐसा करना असम्भव है––कोई स्थिर वस्तु चाहिए; क्योंकि मैं जो प्रकाश-किरणें डालना चाहता हूँ; वे सचल हैं और इन सचल प्रकाश-किरणों को किसी अचल वस्तु पर एकत्र, एकीभूत, समन्वित और संपूरित करना होगा। यही बात उन संवेदनों के विषय में भी है, जिन्हें इन्द्रियाँ मन के निकट और मन बुद्धि के निकट समर्पित करता है। जब तक ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल जाती, जिस पर यह चित्र डाला जा सके, जिस पर ये भिन्न भिन्न भाव एकत्रीभूत होकर मिल सकें, तब तक यह विषयानुभूति पूर्ण नहीं होती। वह कौन सी वस्तु है, जो समुदय को एकत्व का भाव प्रदान करती है? वह कौन सी वस्तु है, जो विभिन्न गतियों के भीतर भी प्रतिक्षण एकत्व की रक्षा किये रहती है? वह कौन सी वस्तु है, जिस पर भिन्न भिन्न भाव मानो एक ही जगह गुँथे रहते हैं, जिस पर विभिन्न विषय आकर मानो एक जगह वास करते हैं और एक अखण्ड भाव धारण करते हैं? हमने देखा है कि इस प्रकार की कोई वस्तु अवश्य चाहिए, और उस वस्तु का, शरीर और मन की तुलना में, अचल होना आवश्यक है। जिस परदे पर यह कैमरा चित्र डाल रहा है, वह इन प्रकाश-किरणों की तुलना में अचल है। यदि ऐसा न हो, तो चित्र पड़ेगा ही नहीं। अर्थात् उस वस्तु को, उस द्रष्टा को एक व्यक्ति (individual) होना चाहिए। जिस वस्तु पर मन यह सब चित्रांकन करता है, जिस पर मन और बुद्धि द्वारा ले जायी गयी हमारी संवेदनाएँ स्थापित, श्रेणीबद्ध और एकत्रीभूत होती हैं, बस, उसीको मनुष्य की आत्मा कहते हैं।

तो, हमने देखा कि समष्टि-मन या महत् आकाश और प्राण, इन दो भागों में विभक्त है। और मन के पीछे है आत्मा। समष्टि-मन के पीछे जो आत्मा है, उसे ईश्वर कहते हैं। व्यष्टि में यह मनुष्य की आत्मा मात्र है। जिस प्रकार जगत् में समष्टि-मन आकाश और प्राण के रूप में परिणत हो गया है, उसी प्रकार समष्टि-आत्मा भी मन के रूप में परिणत हो गयी है। अब प्रश्न उठता है––क्या इसी प्रकार व्यष्टि-मनुष्य के सम्बन्ध में भी समझना होगा? मनुष्य का मन भी क्या उसके शरीर का स्रष्टा है और क्या उसकी आत्मा उसके मन की स्रष्टा है? अर्थात् मनुष्य का शरीर, मन और आत्मा––ये क्या तीन विभिन्न वस्तुएँ हैं, अथवा ये एक के भीतर ही तीन हैं, अथवा ये सब एक ही पदार्थ की तीन विभिन्न

अवस्थाएँ हैं? हम क्रमश: इसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे। जो भी हो, हमने अब तक यही देखा कि पहले तो यह स्थूल देह है, उसके बाद हैं इन्द्रियाँ, फिर मन, तत्पश्चात् बुद्धि और बुद्धि के भी बाद आत्मा। तो पहली बात यह हुई कि आत्मा शरीर से पृथक् है तथा वह मन से भी पृथक् है। बस, यहीं से धर्म-जगत् में मतभेद देखा जाता है। द्वैतवादी कहते हैं कि आत्मा सगुण है अर्थात् भोग, सुख, दुःख आदि सभी यथार्थ में आत्मा के धर्म हैं; पर अद्वैतवादी कहते हैं कि वह निर्गुण है, उसमें ये लक्षण नहीं हैं।

हम पहले द्वैतवादियों के मत का—आत्मा और उसकी गति के सम्बन्ध में उनके मत का—वर्णन करके, उसके बाद उस मत का वर्णन करेंगे, जो इसका सम्पूर्ण रूप से खण्डन करता है, और अन्त में अद्वैतवाद के द्वारा दोनों मतों का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे। यह मानवात्मा शरीर और मन से पृथक् होने के कारण एवं आकाश और प्राण से गठित न होने के कारण अमर है। क्यों? मृत्यु या विनाश का क्या अर्थ है?—विघटित हो जाना; और जो वस्तु कुछ पदार्थों के संयोग से बनती है, वही विघटित होती है। जो अन्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न नहीं है, वह कभी विघटित नहीं होती, इसलिए उसका विनाश भी कभी नहीं हो सकता। वह अविनाशी है। वह अनन्त काल से है, उसकी कभी सृष्टि नहीं हुई। सृष्टि तो संयोग अथवा संघात मात्र है। शून्य से कभी किसीने सृष्टि नहीं देखी। सृष्टि के सम्बन्ध में हम बस इतना ही जानते हैं कि वह पहले से वर्तमान कुछ वस्तुओं का नये नये रूपों में एकत्र मिलन मात्र है। यदि ऐसा है, तो फिर यह मानवात्मा भिन्न भिन्न वस्तुओं के संयोग से उत्पन्न नहीं है, अतः वह अवश्य अनन्त काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। इस शरीर का नाश हो जाने पर भी आत्मा रहेगी। वेदान्तवादियों के मत से, जब इस शरीर का नाश हो जाता है, तब मनुष्य की इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, मन का प्राण में लय हो जाता है, प्राण आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है और तब मानव की वह आत्मा मानो सूक्ष्म शरीर अथवा लिंगशरीररूपी वस्त्र पहनकर चली जाती है। इस सूक्ष्म शरीर में ही मनुष्य के सारे संस्कार वास करते हैं। संस्कार क्या हैं? मन मानो सरोवर के समान है और हमारा प्रत्येक विचार मानो उस सरोवर की लहर के समान है। जिस प्रकार सरोवर में लहर उठती है, गिरती है, गिरकर अन्तर्हित हो जाती है, उसी प्रकार मन में ये सब विचार-तरंगें लगातार उठती और अन्तर्हित होती रहती हैं। किन्तु वे एकदम अन्तर्हित नहीं हो जातीं। वे क्रमशः सूक्ष्मतर होती जाती हैं, पर वर्तमान रहती ही हैं। प्रयोजन होने पर फिर उठती हैं। जिन विचारों ने सूक्ष्मतर रूप धारण कर लिया है, उन्हींमें से कुछ को फिर से तरंगाकार

में लाने को ही स्मृति कहते हैं। इस प्रकार, हमने जो कुछ सोचा है, जो कुछ किया है, सारा का सारा मन में अवस्थित है। ये सब सूक्ष्म भाव से स्थित रहते हैं और मनुष्य के मर जाने पर भी ये संस्कार उसके मन में विद्यमान रहते हैं---वे फिर सूक्ष्म शरीर पर कार्य करते रहते हैं। आत्मा यह सब संस्कार एवं सूक्ष्मशरीररूपी वस्त्र धारण करके चली जाती है और विभिन्न संस्कारों की इन विभिन्न शक्तियों का समवेत फल ही आत्मा के भविष्य को निर्धारित करता है। उनके मत से आत्मा की तीन प्रकार की गति होती है।

जो अत्यन्त धार्मिक हैं, वे मृत्यु के बाद सूर्यरश्मियों का अनुसरण करते हैं; सूर्यरश्मियों का अनुसरण करते हुए वे सूर्यलोक में जाते हैं; वहाँ से वे चन्द्रलोक और चन्द्रलोक से विद्युल्लोक में उपस्थित होते हैं; वहाँ एक मुक्त आत्मा से उनका साक्षात्कार होता है; वह इन जीवात्माओं को सर्वोच्च ब्रह्मलोक में ले जाती है। यहाँ उन्हें सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त होती है; उनकी शक्ति और ज्ञान प्रायः ईश्वर के समान हो जाता है; और द्वैतवादियों के मत से वे अनन्त काल तक वहाँ वास करते हैं; अथवा अद्वैतवादियों के अनुसार, कल्पान्त में ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करते हैं। जो लोग सकाम भाव से सत्कार्य करते हैं, वे मृत्यु के बाद चन्द्रलोक में जाते हैं। वहाँ नाना प्रकार के स्वर्ग हैं। वे वहाँ पर सूक्ष्म शरीर---देवशरीर---प्राप्त करते हैं। वे देवता होकर वहाँ वास करते हैं और दीर्घ काल तक स्वर्ग के सुखों का उपभोग करते हैं। इस भोग का अन्त होने पर फिर उनका प्राचीन कर्म बलवान हो जाता है; अतः फिर से उनका मर्त्यलोक में पतन हो जाता है। वे वायुलोक, मेघलोक आदि लोकों में से होते हुए अन्त में वृष्टिधारा के साथ पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। वृष्टि के साथ गिरकर वे किसी शस्य का आश्रय लेकर रहते हैं। इसके बाद जब कोई व्यक्ति उस शस्य को खाता है, तब उसके वीर्य से वे फिर से शरीर धारण करते हैं। जो लोग अत्यन्त दुष्ट हैं, वे मरने पर भूत अथवा दानव हो जाते हैं एवं चन्द्रलोक और पृथ्वी के बीच किसी स्थान में वास करते हैं। उनमें से कुछ मनुष्यों को त्रस्त करते हैं। और कुछ लोग मनुष्यों से मैत्री भाव रखते हैं। वे कुछ समय तक उस स्थान में रहकर फिर पृथ्वी पर आकर पशु-जन्म लेते हैं। कुछ समय पशु-देह में रहकर वे फिर से मनुष्य-योनि में आते हैं---वे और एक बार मुक्ति-लाभ करने की उपयुक्त अवस्था प्राप्त करते हैं। तो इस प्रकार हमने देखा कि जो लोग मुक्ति की निकटतम सीढ़ी पर पहुँच गये हैं, जिनमें अपवित्रता बहुत कम रह गयी है, वे ही सूर्य की किरणों के सहारे ब्रह्मलोक में जाते हैं। जो मध्यम वर्ग के लोग हैं, जो स्वर्ग जाने की इच्छा से सत्कर्म करते हैं, वे चन्द्रलोक में जाकर वहाँ के स्वर्गों में वास करते हैं और देवशरीर प्राप्त करते हैं, पर उन्हें मुक्ति की

प्राप्ति के लिए फिर से मनुष्य-देह धारण करनी पड़ती है। और जो अत्यन्त दुष्ट हैं, वे भूत, दानव आदि रूपों में परिणत होते हैं, उसके बाद वे पशु होते हैं, और मुक्ति-लाभ के लिए उन्हें फिर से मनुष्य-जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस पृथ्वी को कर्मभूमि कहा जाता है। अच्छा-बुरा सभी कर्म यहीं करना होता है। मनुष्य स्वर्ग-काम होकर सत्कार्य करने पर स्वर्ग में जाकर देवता हो जाता है; इस अवस्था में वह कोई नया कर्म नहीं करता, वह तो बस, पृथ्वी पर किये हुए अपने सत्कर्मों के फलों का ही भोग करता है। और जब ये सत्कर्म समाप्त हो जाते हैं, तो उसी समय जो असत् या बुरे कर्म उसने पृथ्वी पर किये थे, उन सबका संचित फल वेग के साथ उस पर आ जाता है और उसे वहाँ से फिर एक बार पृथ्वी पर घसीट लाता है। इसी प्रकार जो भूत हो जाते हैं, वे उस अवस्था में कोई नूतन कर्म न करते हुए केवल अपने पूर्व कर्मों का फल भोगते रहते हैं, तत्पश्चात् पशु-जन्म ग्रहण कर वे वहाँ भी कोई नया कर्म नहीं करते। उसके बाद वे भी फिर मनुष्य हो जाते हैं। शुभ और अशुभ कर्मों द्वारा प्राप्त पुरस्कार और दंड की अवस्थाओं में नूतन कर्मों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती, वे केवल भोगी जाती हैं। अत्यन्त शुभ और अत्यन्त अशुभ कर्मों का फल बहुत शीघ्र प्राप्त होता है। मान लो कि एक व्यक्ति ने जीवन भर अनेक बुरे काम किये, पर एक बहुत अच्छा काम भी किया। ऐसी दशा में उस सत्कार्य का फल उसी क्षण प्रकाशित हो जायगा, और इस सत्कार्य का फल समाप्त होते ही बुरे कार्य भी अपना फल दिखाने लगेंगे। जिन लोगों ने कुछ अच्छे अच्छे, बड़े बड़े कार्य किये हैं, पर जिनके सारे जीवन की गति अच्छी नहीं रही, वे सब देवता हो जायँगे। देव-देह धारण कर देवताओं की शक्ति का कुछ काल तक भोग करके उन्हें फिर से मनुष्य होना पड़ेगा। जब सत्कर्मों की शक्ति क्षय हो जायगी, तब फिर से उस पुराने असत्कार्यों का फल होने लगेगा। जो अत्यन्त बुरे कर्म करते हैं, उन्हें भूत-योनि, दानव-योनि में जाना पड़ेगा, और जब उनके बुरे कर्मों का फल समाप्त हो जायगा, तो उस समय उनका जितना भी सत्कर्म शेष है, उसके फल से वे फिर मनुष्य हो जायँगे। जिस मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं, जहाँ से पतन होने अथवा लौटने की सम्भावना नहीं रहती, उसे देवयान कहते हैं, और चन्द्रलोक के मार्ग को पितृयान कहते हैं।

अतएव वेदान्त दर्शन के मत से मनुष्य ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह कर्मभूमि पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि एकमात्र यहीं पर उसके पूर्णत्व प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सम्भावना है। देवता आदि को भी पूर्ण होने के लिए मनुष्य-जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। यह मानव-जन्म एक महान् केन्द्र, अद्भुत स्थिति और अद्भुत अवसर है।

अब हम इसके एक अन्य पक्ष पर विचार करेंगे। बौद्ध लोग इस आत्मा का, जिसकी व्याख्या मैंने अभी की है, अस्तित्व एकदम अस्वीकार करते हैं। हम विचारों के प्रवाह को ही क्यों न चलने दें? शरीर और मन के पीछे आत्मा नामक कोई पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? इस शरीर और मनरूपी यन्त्र से ही क्या यथेष्ट व्याख्या नहीं हो जाती? और एक तीसरे पदार्थ की कल्पना से क्या लाभ? यह युक्ति है तो बड़ी प्रबल। जहाँ तक बाह्य अनुसन्धान की पहुँच है, वहाँ तक तो यही प्रतीत होता है कि यह शरीर और मनरूपी यन्त्र अपनी व्याख्या के लिए स्वयं ही पर्याप्त है; कम से कम हममें से अनेक इस तत्त्व को इसी दृष्टि से देखते हैं। तब फिर शरीर और मन से भिन्न, पर साथ ही शरीर और मन के आश्रयस्वरूप आत्मा नामक एक पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना की क्या आवश्यकता? बस, शरीर और मन कहना ही तो पर्याप्त है; सतत परिणामशील जड़-प्रवाह का नाम है शरीर, और सतत परिणामशील विचार-प्रवाह का नाम है मन। तब, यह जो एकत्व की प्रतीति हो रही है, वह कैसे होती है? बौद्ध कहते हैं कि यह एकत्व वास्तविक नहीं है। मान लो, एक जलती मशाल को घुमाया जा रहा है। तो इससे वह आग का एक वृत्त सी प्रतीत होती है। वास्तव में कहीं कोई वृत्त नहीं है, पर मशाल के सतत घूमने से आग ने यह वृत्त-रूप धारण कर लिया है। इसी प्रकार हमारे जीवन में भी एकत्व नहीं है; जड़ की राशि लगातार चल रही है। यदि सम्पूर्ण जड़राशि को एक कहकर सम्बोधित करने की इच्छा हो, तो करो, पर उसके अतिरिक्त वास्तव में कोई एकत्व नहीं है। मन के सम्बन्ध में भी यही बात है; प्रत्येक विचार दूसरे विचारों से पृथक् हैं। यह प्रबल विचार-प्रवाह ही इस भ्रमात्मक एकत्व का भाव उत्पन्न कर देता है; अतएव फिर तीसरे पदार्थ की क्या आवश्यकता? जो कुछ दिखता है, यह जड़-प्रवाह और यह विचार-प्रवाह--बस, इन्हींका अस्तित्व है; इनके पीछे और कुछ है, यह सोचने की आवश्यकता ही क्या? बहुत से आधुनिक सम्प्रदायों ने बौद्धों के इस मत को ग्रहण कर लिया है, और वे सभी इसे नयी तथा अपनी अपनी खोज कहकर प्रतिपादित करना चाहते हैं। अधिकतर बौद्ध दर्शनों में मुख्य बात यही है कि यह परिदृश्यमान जगत् पर्याप्त है; इसके पीछे और कुछ है या नहीं, यह अनुसन्धान करने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं। यह इन्द्रियग्राह्य जगत् ही सर्वस्व है--किसी वस्तु को इस जगत् के आश्रयरूप में कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या? सब कुछ गुणों का ही संघात है। ऐसे किसी आनुमानिक द्रव्य की कल्पना करने की क्या आवश्यकता, जिसमें वे सब गुण आश्रित हों? द्रव्य का ज्ञान आता है केवल गुणराशि के त्वरित स्थान-परिवर्तन के कारण, इसलिए नहीं कि कोई अपरि-

णामी वस्तु वास्तव में उनके पीछे है। हम देखते हैं कि ये युक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं और मानवता के सामान्य अनुभव को सत्य लगती हैं। वास्तव में लाखों मनुष्यों में एक व्यक्ति भी इस दृश्य जगत् से अतीत किसी वस्तु की धारणा नहीं कर सकता। अधिकांश लोगों के लिए प्रकृति केवल परिवर्तन की परिणामी, घूर्णित, मिश्रित और परस्पर घुलती हुई राशि मात्र है। हममें से बहुत कम लोगों ने ही अपने पीछे स्थित उस स्थिर समुद्र का थोड़ा सा आभास पाया होगा। हमारे लिए तो वह समुद्र तरंगों से आलोड़ित रहता है और जगत् हमें तरंगों की चंचल राशि मात्र प्रतीत होता है। इस प्रकार हम दो मत देखते हैं। एक तो यह कि इस शरीर और मन के पीछे एक स्थिर और अपरिणामी सत्ता है; और दूसरा यह कि इस जगत् में स्थिरता और नित्यता जैसा कुछ भी नहीं है; सब कुछ परिवर्तन ही परिवर्तन है। इस मत-वैभिन्य का समाधान हमें चिंतन के अगले सोपान, अद्वैत में मिलता है।

अद्वैतवादी कहते हैं, द्वैतवादियों की यह बात कि 'जगत् का एक अपरिणामी आश्रय है', सत्य है। किसी अपरिणामी वस्तु की कल्पना किये बिना हम परिणाम की कल्पना कर ही नहीं सकते। किसी अपेक्षाकृत अल्प परिणामी वस्तु की तुलना में ही किसी वस्तु के परिणाम की बात सोची जा सकती है, और पूर्वोक्त अल्प परिणामी वस्तु भी अपने से कम परिणामवाली वस्तु की तुलना में अधिक परिणामशील है। और इस प्रकार का क्रम चलता ही रहेगा, जब तक हम बाध्य होकर एक पूर्ण, अपरिणामी वस्तु को स्वीकार नहीं कर लेते। यह समस्त व्यक्त जगत्-प्रपंच निश्चय ही एक अव्यक्त, स्थिर और शान्त अवस्था में था, जब वह विरोधी शक्तियों का सामंजस्यस्वरूप था अर्थात् जब कोई भी शक्ति क्रियाशील नहीं थी; क्योंकि साम्यावस्था भंग होने पर ही शक्ति क्रियाशील होती है। यह ब्रह्माण्ड फिर उसी साम्यावस्था की प्राप्ति के लिए धावमान है। यदि हमारा किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान है, तो वह यही है। द्वैतवादी जब कहते हैं कि कोई अपरिणामी वस्तु है, तब वे ठीक ही कहते हैं; पर उनका यह विश्लेषण कि एक अन्तर्निहित वस्तु है, जो न शरीर है, न मन, वरन् इन दोनों से पृथक् है, भूल है। बौद्ध लोग जो कहते हैं कि समुदय जगत् परिणाम-प्रवाह मात्र है, तो यह भी पूर्णतया सत्य है; क्योंकि जब तक मैं जगत् से पृथक् हूँ, जब तक मैं अपने अतिरिक्त और कुछ देखता हूँ, जब तक एक द्रष्टा है और दृश्य वस्तु है—संक्षेप में, जब तक द्वैतभाव है, यह जगत् सदैव परिणामशील प्रतीत होगा। पर असल बात यह है कि इस जगत् में परिणाम भी है और अपरिणाम भी। आत्मा, मन और शरीर, ये तीनों पृथक् पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि वे एक ही हैं, क्योंकि इन तीनों

से बना हुआ यह प्राणी वस्तुतः एक है। एक ही वस्तु कभी देह, कभी मन और कभी देह और मन से अतीत आत्मा के रूप में प्रतीत होती है, किन्तु वह एक ही समय में यह तीनों नहीं होती। जो शरीर को देखते हैं, वे मन को नहीं देख पाते; जो मन को देखते हैं, वे आत्मा को नहीं देख पाते; और जो आत्मा को देखते हैं, उनके लिए शरीर और मन, दोनों न जाने कहाँ चले जाते हैं! जो लोग केवल गति देखते हैं, वे सम्पूर्ण स्थिर भाव को नहीं देख पाते, और जो इस सम्पूर्ण स्थिर भाव को देख पाते हैं, उनके लिए गति न जाने कहाँ चली जाती है। रज्जु में सर्प का भ्रम हुआ। जो व्यक्ति रज्जु में सर्प ही देखता है, उसके लिए रज्जु न जाने कहाँ चली जाती है, और जब भ्रान्ति दूर होने पर वह व्यक्ति रज्जु ही देखता है, तो उसके लिए फिर सर्प नहीं रह जाता।

तो हमने देखा कि सर्वव्यापी वस्तु एक ही है और वह एक ही नाना रूपों में प्रतीत होती है। इसको चाहे आत्मा कहो अथवा अन्य कोई द्रव्य कहो, जगत् में एकमात्र इसीका अस्तित्व है। अद्वैतवादियों की भाषा में यह आत्मा ही ब्रह्म है, जो नाम-रूप की उपाधि के कारण अनेक प्रतीत हो रहा है। समुद्र की तरंगों की ओर देखो; एक भी तरंग समुद्र से पृथक् नहीं है। फिर भी तरंग पृथक् क्यों प्रतीत होती है? नाम और रूप के कारण—तरंग की आकृति और उसे हमने जो 'तरंग' नाम दिया है, बस, इन दोनों ने उसे समुद्र से पृथक् कर दिया है। नाम-रूप के नष्ट हो जाने पर वह समुद्र की समुद्र ही रह जाती है। तरंग और समुद्र के बीच भला कौन भेद कर सकता है? अतएव यह समुदय जगत् एकस्वरूप है। जो भी पार्थक्य दिखता है, वह सब नाम-रूप के ही कारण है। जिस प्रकार सूर्य लाखों जलकणों पर प्रतिबिम्बित होकर प्रत्येक जलकण में अपनी एक सम्पूर्ण प्रतिकृति सृष्ट कर देता है, उसी प्रकार वही एक आत्मा, वही एक सत्ता विभिन्न वस्तुओं में प्रतिबिम्बित होकर नाना रूपों में दिखायी पड़ती है। किन्तु वास्तव में वह एक ही है। वास्तव में 'मैं' अथवा 'तुम' नामक कुछ नहीं है—सब एक ही है। चाहे कह लो—'सभी मैं हूँ', या कह लो—'सभी तुम हो।' यह द्वैत ज्ञान बिल्कुल मिथ्या है, और सारा जगत् इसी द्वैत ज्ञान का फल है। जब विवेक के उदय होने पर मनुष्य देखता है कि दो वस्तुएं नहीं हैं, एक ही वस्तु है, तब उसे यह बोध होता है कि वह स्वयं यह अनन्त ब्रह्माण्डस्वरूप है। 'मैं ही यह परिवर्तनशील जगत् हूँ, और मैं ही अपरिणामी, निर्गुण, नित्य पूर्ण, नित्यानन्दमय हूँ।' अतएव नित्य शुद्ध, नित्य पूर्ण, अपरिणामी, अपरिवर्तनीय एक आत्मा है; उसका कभी परिणाम नहीं होता, और ये सब विभिन्न परिणाम उस एक आत्मा में प्रतीत मात्र होते हैं।

उस पर नाम-रूप ने ये सब विभिन्न स्वप्न-चित्र अंकित कर दिये हैं। आकृति ने ही तरंग को समुद्र से पृथक् किया है। मान लो कि तरंग विलीन हो गयी, तो क्या यह रूप रहेगा? नहीं, वह बिल्कुल चला जायगा। तरंग का अस्तित्व पूर्ण रूप से समुद्र के अस्तित्व पर निर्भर है; पर समुद्र का अस्तित्व तरंग के अस्तित्व पर निर्भर नहीं है। जब तक तरंग रहती है, तब तक रूप भी रहता है, पर तरंग के विलीन हो जाने पर वह रूप फिर नहीं रह सकता। इस नाम-रूप को ही माया कहते हैं। यह माया ही भिन्न भिन्न व्यक्तियों का सृजन करके उनमें आपस में पार्थक्य का बोध करा रही है। पर वास्तव में इसका अस्तित्व नहीं है। माया का अस्तित्व है, यह नहीं कहा जा सकता। रूप या आकृति का अस्तित्व है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो दूसरे के अस्तित्व पर निर्भर रहती है। और उसका अस्तित्व नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसीने तो यह सारा भेद उत्पन्न किया है। अद्वैतवादियों के मत से, इस माया या अज्ञान या नाम-रूप, अथवा यूरोपीय लोगों की भाषा में, इस देश-काल निमित्त के कारण यह एक अनन्त सत्ता इस वैचित्र्यमय जगत् के रूप में दीख पड़ती है। परमार्थतः यह जगत् एक अखण्डस्वरूप है; जब तक कोई दो परमार्थतः सत्य वस्तुओं की कल्पना करता है, तब तक वह भ्रम में है। जब वह जान जाता है कि सत्ता केवल एक है, तभी वह यथार्थ में जानता है। जितना ही समय बीतता जाता है, उतना ही हमारे निकट यह सत्य प्रमाणित होता जाता है। क्या जड़ जगत् में, क्या मनोजगत् में और क्या अध्यात्म जगत् में, सर्वत्र यह सत्य प्रमाणित हो रहा है। अब प्रमाणित हो गया है कि तुम, मैं, सूर्य, चन्द्र, तारे—सभी एक ही जड़समुद्र के भिन्न भिन्न अंशों के नाम मात्र हैं और यह जड़राशि अपने रूपाकार में सतत परिवर्तित होती रहती है। शक्ति का जो कण कुछ मास पहले सूर्य में था, हो सकता है, आज वह मनुष्य के भीतर आ गया हो, कल शायद वह पशु के भीतर और परसों किसी उद्भिद् के भीतर प्रवेश कर जायगा। आना-जाना निरन्तर हो रहा है। यह सब एक अखण्ड जड़राशि है—भेद है केवल नाम और रूप में। इसके एक बिन्दु का नाम है सूर्य, एक का चन्द्र, एक का तारा, एक का मनुष्य, एक का पशु, एक का उद्भिद् आदि आदि। और ये सारे नाम भ्रमात्मक हैं, इसमें कोई वास्तविकता नहीं है; क्योंकि इस जड़राशि का लगातार परिवर्तन हो रहा है। इसी जगत् को एक दूसरे भाव से देखने पर यह एक विशाल विचार-समुद्र के समान प्रतीत होगा, जिसका एक एक बिन्दु एक एक मन है—तुम एक मन हो, मैं एक मन हूँ, प्रत्येक व्यक्ति केवल एक एक मन है। फिर इसी जगत् को ज्ञान की दृष्टि से देखने पर, अर्थात् जब आँखों पर से मोह का

आवरण हट जाता है, जब मन शुद्ध हो जाता है, तब यही नित्य शुद्ध, अपरिणामी, अविनाशी, अखण्ड पूर्णस्वरूप पुरुष के रूप में प्रतीत होता है।

तब फिर द्वैतवादियों के परलोकवाद का--मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग जाता है अथवा अमुक लोक में आता है और बुरा आदमी भूत हो जाता है, उसके बाद पशु होता है, आदि बातों का--क्या होता है? अद्वैतवादी कहते हैं--'न कोई आता है, न कोई जाता है--तुम्हारे लिए आना-जाना किस प्रकार सम्भव है? तुम तो अनन्तस्वरूप हो; तुम्हें जाने के लिए स्थान कहाँ?' किसी स्कूल में छोटे बच्चों की परीक्षा हो रही थी। परीक्षक उन छोटे छोटे बच्चों से कठिन कठिन प्रश्न कर रहे थे। उन प्रश्नों में एक प्रश्न यह भी था, "पृथ्वी गिरती क्यों नहीं?" उन्हें आशा थी कि बच्चों से उत्तर में गुरुत्वाकर्षण का भाव या दूसरा कोई जटिल वैज्ञानिक सत्य मिले। अनेक बालक इस प्रश्न को समझ न सके और अपनी अपनी समझ से उलटे-सीधे उत्तर देने लगे। पर एक बुद्धिमती बालिका ने एक दूसरा प्रश्न करते हुए उसका उत्तर दिया, "पृथ्वी गिरेगी कहाँ?" यह प्रश्न तो निरर्थक है! विश्व में ऊँचा-नीचा कुछ भी नहीं है। ऊँचा-नीचा तो सापेक्ष ज्ञान मात्र है। आत्मा के सम्बन्ध में भी यही बात है। इसके सम्बन्ध में जन्म-मृत्यु का प्रश्न ही निरी मूर्खता है। कौन जाता है, कौन आता है? तुम कहाँ नहीं हो? वह स्वर्ग कहाँ है, जहाँ तुम पहले से ही नहीं हो? मनुष्य की आत्मा सर्वव्यापी है। तुम कहाँ जाओगे? कहाँ नहीं जाओगे? आत्मा तो सब जगह है। अतएव पूर्ण जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए यह बालकों का सा स्वप्न, जन्म-मृत्यु रूप यह बालकों का सा भ्रम, स्वर्ग-नरक आदि का स्वप्न--सब कुछ एकदम ग़ायब हो जाता है। जिनके भीतर कुछ अज्ञान अवशिष्ट है, उनको वह ब्रह्मलोक पर्यन्त नाना प्रकार के दृश्य दिखाकर फिर अन्तर्हित होता है। और जो अज्ञानी हैं, उनके लिए वह रह जाता है।

स्वर्ग जायँगे, मरेंगे, पैदा होंगे--इन सब बातों पर सारा जगत् विश्वास क्यों करता है? मैं एक पुस्तक पढ़ रहा हूँ, उसके पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़े जा रहा हूँ और उन्हें उलटाते जा रहा हूँ। और एक पृष्ठ आया, वह भी उलट दिया गया। परिवर्तन किसमें हो रहा है? कौन आ-जा रहा है? मैं नहीं, इस पुस्तक के पन्ने ही उलटे जा रहे हैं। सारी प्रकृति आत्मा के सम्मुख रखी एक पुस्तक समान है। उसका एक के बाद दूसरा अध्याय पढ़ा जा रहा है। फिर एक नया दृश्य सामने आता है। पढ़ने के बाद उसे भी उलट दिया जाता है। फिर एक नया अध्याय सामने आता है; पर आत्मा जैसी थी, वैसी ही रहती है--वही अनन्तस्वरूप। परिणाम प्रकृति का हो रहा है, आत्मा का नहीं। आत्मा का कभी भी परिणाम नहीं होता। जन्म-

मृत्यु प्रकृति में हैं, तुममें नहीं। फिर भी अज्ञ लोग भ्रान्त होकर सोचते हैं कि हम मर रहे हैं, हम जी रहे हैं, प्रकृति नहीं। यह बात ठीक वैसी ही है, जैसे हम भ्रान्ति-वश समझते हैं कि सूर्य चल रहा है, पृथ्वी नहीं। अतः यह समस्त भ्रान्ति ही है। जैसे रेलगाड़ी के बदले हम खेत आदि को चलायमान समझते हैं, जन्म और मृत्यु की यह भ्रान्ति भी ठीक वैसी ही है। जब मनुष्य किसी विशेष भाव में रहता है, तब वह इसी सत्ता को पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि के रूप में देखता है; और जो लोग इसी मनोभाव से युक्त हैं, वे भी ठीक ऐसा ही देखते हैं। मेरे-तुम्हारे बीच अस्तित्व के विभिन्न स्तरों पर लाखों जीव हो सकते हैं। वे हमें कभी न देख पायेंगे और हम भी उन्हें कभी नहीं। हम केवल अपने ही प्रकार के चित्तवृत्तिसम्पन्न और अपने ही स्तर के प्राणियों को देख सकते हैं। जिन वाद्य-यन्त्रों में एक ही प्रकार का कम्पन है, उनमें से एक के बजने पर शेष सभी बज उठेंगे। मान लो, हम अभी जिस कम्पन से युक्त हैं, उसे हम 'मानव-कम्पन' नाम देते हैं। अब यदि यह कम्पन बदल जाय, तो फिर मनुष्य दिखायी नहीं देंगे। मनुष्य के बदले अन्य दृश्य हमारे सामने आ जायगा——हो सकता है, देव-जगत् और देवता आदि आ जायँ, अथवा दुष्ट मनुष्यों के लिए शैतान और शैतान-जगत् आ जाय; पर ये सभी एक ही जगत् के विभिन्न दृष्टिकोण हैं।

यह जगत् मानवीय स्तर से देखने पर पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारा आदि रूपों में दिखता है, फिर यही दुष्टता की दृष्टि से देखने पर नरक या दण्डालय के रूप में प्रतीत होता है। और जो स्वर्ग जाना चाहते हैं, वे इसी जगत् को स्वर्ग के रूप में देखते हैं। जो व्यक्ति आजीवन यह सोचता रहा है कि मैं स्वर्ग में सिंहासन पर बैठे हुए ईश्वर के निकट जाकर सारा जीवन उसकी उपासना करूँगा, वह मृत्यु के बाद अपने उसी मनोभाव के अनुरूप देखेगा। यह जगत् ही उसके लिए एक वृहत् स्वर्ग में परिणत हो जायगा; वह देखेगा कि नाना प्रकार की अप्सराएँ, किन्नर आदि उड़ते फिर रहे हैं और देवता लोग सिंहासनों पर बैठे हैं। स्वर्ग आदि सब कुछ मनुष्य के गढ़े हुए हैं। अतएव अद्वैतवादी कहते हैं——द्वैतवादियों की बात सत्य तो है, पर यह सब उनका अपना ही बनाया हुआ है। ये सब लोक, शैतान, पुनर्जन्म आदि सभी काल्पनिक हैं, और मानव-जीवन भी वैसा ही है। ये सब तो काल्पनिक हों और मानव-जीवन सत्य हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसी जीवन मात्र को सत्य मान-कर मनुष्य सर्वदा एक महान् भूल करता है। अन्यान्य वस्तुओं को तो——जैसे स्वर्ग, नरक आदि को——काल्पनिक कहने से वह ठीक समझ लेता है, पर अपने अस्तित्व को वह कभी काल्पनिक मानना नहीं चाहता। यह सारा दृश्यमान जगत् कल्पना मात्र है और सबसे बड़ा मिथ्या ज्ञान तो यह है कि हम शरीर हैं। हम कभी भी शरीर नहीं

थे, और न कभी हो सकते हैं। हम केवल मनुष्य हैं, यह कहना सबसे बड़ी मिथ्या बात है। हम तो जगत् के ईश्वर हैं। ईश्वर की उपासना करके हमने सदा अपनी अव्यक्त आत्मा की ही उपासना की है। अपने को जन्म से ही दुष्ट और पापी सोचना --यही सबसे बड़ी मिथ्या बात है। पापी तो वह है, जो दूसरों को पापी देखता है। मान लो, यहाँ एक बच्चा है और सोने की मोहरों से भरी एक थैली तुम यहाँ मेज़ पर रख देते हो। मान लो, एक चोर आया और थैली ले गया। बच्चे की दृष्टि में थैली का रखा जाना और चोरी हो जाना--दोनों समान हैं। उसके भीतर चोर नहीं है, इसलिए वह बाहर भी चोर नहीं देखता। पापी और दुष्ट मनुष्य को ही बाहर पाप दिखता है, साधु पुरुष को नहीं। अत्यन्त असाधु व्यक्ति इस जगत् को नरक-स्वरूप देखते हैं; मध्यम श्रेणी के लोग इसे स्वर्गस्वरूप देखते हैं; और जो पूर्ण, सिद्ध पुरुष हैं, वे इसे साक्षात् भगवान् के रूप में देखते हैं। बस, तभी नेत्रों पर से आवरण हट जाता है, और पवित्र एवं शुद्ध हुआ वह व्यक्ति देखता है कि उसकी दृष्टि बिल्कुल बदल गयी है। जो दुःस्वप्न उसे लाखों वर्षों से पीड़ित कर रहे थे, वे सब एकदम समाप्त हो जाते हैं। और जो अपने को इतने दिन मनुष्य, देवता, दानव आदि समझ रहा था, जो अपने को कभी ऊपर, कभी नीचे, कभी पृथ्वी पर, कभी स्वर्ग में, तो कभी और किसी स्थान में स्थित समझता था, वह देखता है कि वह वास्तव में सर्वव्यापी है, वह काल के अधीन नहीं है। काल ही उसके अधीन है, सारे स्वर्ग उसके भीतर हैं,वह स्वयं किसी स्वर्ग में अवस्थित नहीं है--और मनुष्य ने आज तक जितने देवताओं की उपासना की है, वे सबके सब उसके भीतर ही अवस्थित हैं, वह स्वयं किसी देवता में अवस्थित नहीं है। वह देव, असुर, मानव, पशु, उद्भिद्, प्रस्तर आदि सभी का सृष्टिकर्ता है। और उस समय मनुष्य का असल स्वरूप उसके निकट इस जगत् से श्रेष्ठतर, स्वर्ग से भी श्रेष्ठतर और सर्वव्यापी आकाश से भी अधिक सर्वव्यापी रूप में प्रकाशित होता है। तभी मनुष्य निर्भय हो जाता है, तभी वह मुक्त हो जाता है। तब सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है, सारे दुःख दूर हो जाते हैं, सारा भय एकदम चिरकाल के लिए समाप्त हो जाता है। तब जन्म न जाने कहाँ चला जाता है और उसके साथ मृत्यु भी; दुःख न जाने कहाँ ग़ायब हो जाता है और उसके साथ सुख भी। पृथ्वी उड़ जाती है और उसके साथ साथ स्वर्ग भी उड़ जाता है; शरीर चला जाता है और उसके साथ मन भी। उस व्यक्ति की दृष्टि में यह सारा जगत् मानो अन्तर्हित हो जाता है। यह जो शक्तियों का निरन्तर संग्राम, निरन्तर संघर्ष है, यह सब एकदम समाप्त हो जाता है, और जो, शक्ति और भूत के रूप में, प्रकृ त के विभिन्न संघर्षों के रूप में अभिव्यक्त हो रहा था, जो स्वयं प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त हो रहा था, जो स्वर्ग,

पृथ्वी, उद्भिद्, पशु, मनुष्य, देवता आदि के रूप में प्रकट हो रहा था, वह समस्त एक अनन्त, अच्छेद्य, अपरिणामी सत्ता के रूप में परिणत हो जाता है; और ज्ञानी पुरुष देख पाते हैं कि वे उस सत्ता से अभिन्न हैं। 'जिस प्रकार आकाश में नाना वर्ण के मेघ आकर, कुछ देर खेलकर फिर अन्तर्हित हो जाते हैं', उसी प्रकार इस आत्मा के सम्मुख पृथ्वी, स्वर्ग, चन्द्रलोक, देवता, सुख, दुःख आदि आते हैं, पर वे उसी अनन्त, अपरिणामी, नील आकाश को हमारे सम्मुख छोड़कर अन्तर्हित हो जाते हैं। आकाश में कभी परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन केवल मेघ में होता है। भ्रम के वश हो हम सोचते हैं कि हम अपवित्र हैं, हम सान्त हैं, हम पृथक् हैं। पर असल में यथार्थ मनुष्य एक अखण्ड सत्तास्वरूप है।

यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं। पहला यह कि 'क्या इसकी उपलब्धि सम्भव है? अब तक तो सिद्धान्त और दर्शन की बात हुई; क्या उसकी अपरोक्षानुभूति सम्भव है?' हाँ, बिल्कुल सम्भव है। ऐसे अनेक व्यक्ति संसार में इस समय भी जीवित हैं, जिनका अज्ञान सदा के लिए चला गया है। तो क्या सत्य की उपलब्धि के बाद उनकी तुरन्त मृत्यु हो जाती है? उतनी जल्दी नहीं, जितनी जल्दी हम समझते हैं। मान लो, एक लकड़ी से जुड़े हुए दो पहिये साथ साथ चल रहे हैं। अब यदि मैं एक पहिये को पकड़कर बीच की लकड़ी को कुल्हाड़ी से काट दूँ, तो जिस पहिये को मैंने पकड़ रखा है, वह तो रुक जायगा; पर दूसरा पहिया, जिसमें पहले का वेग अभी नष्ट नहीं हुआ है, कुछ दूर चलेगा और फिर गिर पड़ेगा। पूर्ण शुद्धस्वरूप आत्मा मानो एक पहिया है, और शरीर-मनरूप भ्रान्ति दूसरा पहिया; ये दोनों कर्मरूपी लकड़ी द्वारा जुड़े हुए हैं। ज्ञान मानो कुल्हाड़ी है, जो जोड़नेवाली इस लकड़ी को काट देता है। जब आत्मारूपी पहिया रुक जाता है, तब आत्मा यह सोचना छोड़ देती है कि वह आ रही है, जा रही है, अथवा उसका जन्म होता है, मृत्यु होती है; तब वह इस प्रकार के सभी अज्ञानात्मक भावों का त्याग कर देती है और तब उसका यह भाव कि वह प्रकृति के साथ संयुक्त है, उसके अभाव और वासनाएँ हैं, बिल्कुल चली जाती हैं। तब वह देखती है कि वह पूर्ण है, वासनारहित है। पर शरीर-मनरूपी पहिये में पूर्व कर्मों का वेग बचा रहता है। अतः जब तक पूर्व कर्मों का यह वेग पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाता, तब तक शरीर और मन बने रहते हैं। यह वेग समाप्त हो जाने पर इनका भी नाश हो जाता है और तब आत्मा मुक्त हो जाती है। तब फिर स्वर्गलोक जाना या स्वर्ग से पृथ्वी पर लौटना, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक जाना भी समाप्त हो जाता है; क्योंकि आत्मा भला कहाँ से आयेगी, और कहाँ जायगी? जिन व्यक्तियों ने इस जीवन में ही इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है, जिन्हें कम से कम एक मिनट के लिए भी संसार का यह दृश्य बदलकर

सत्य का ज्ञान मिल गया है, उन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवित रहते हुए यह मुक्ति प्राप्त करना ही वेदान्ती का लक्ष्य है।

एक बार मैं पश्चिमी भारत में हिन्द महासागर के तटवर्ती मरुस्थल में भ्रमण कर रहा था। बहुत दिन तक निरन्तर पैदल भ्रमण करता रहा। किन्तु प्रतिदिन यह देखकर मुझे महान् आश्चर्य होता था कि चारों ओर सुन्दर सुन्दर झीलें हैं, वे चारों ओर वृक्षों से घिरी हैं और वृक्षों की परछाइँ जल में पड़ रही है। मैं अपने मन में कहने लगा, 'कैसे अद्भुत दृश्य हैं ये! और लोग इसे रेगिस्तान कहते हैं!' एक मास तक वहाँ मैं घूमता रहा और प्रतिदिन मुझे वे सुन्दर दृश्य दिखायी देते रहे। एक दिन मुझे बड़ी प्यास लगी। मैंने सोचा कि चलूँ, वहाँ एक झील पर जाकर प्यास बुझा लूँ। अतएव मैं इन सुन्दर निर्मल झीलों में से एक ओर अग्रसर हुआ। जैसे मैं आगे बढ़ा कि वह सब दृश्य न जाने कहाँ लुप्त हो गया। और तब मेरे मन में एकदम यह ज्ञान हुआ कि 'जीवन भर जिस मरीचिका की बात पुस्तकों में पढ़ता रहा हूँ, यह तो वही मरीचिका है!' और उसके साथ साथ यह ज्ञान भी हुआ कि 'इस पिछले मास प्रतिदिन मैं मरीचिका ही देखता रहा, पर कभी जान न पाया कि यह मरीचिका है।' दूसरे दिन मैंने पुनः चलना प्रारम्भ किया। फिर से वही सुन्दर दृश्य दिखने लगे, पर अब साथ साथ यह ज्ञान भी रहने लगा कि यह सचमुच की झील नहीं है, यह मरीचिका है। बस, इस जगत् के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। हम प्रतिदिन, प्रतिमास, प्रतिवर्ष इस जगद्रूपी मरुस्थल में भ्रमण कर रहे हैं,पर मरीचिका को मरीचिका नहीं समझ पा रहे हैं। एक दिन यह मरीचिका अदृश्य हो जायगी। पर वह फिर से आ जायगी—शरीर को पूर्व कर्मों के अधीन रहना पड़ता है, अतः यह मरीचिका फिर से लौट आयेगी। जब तक हम कर्म से बँधे हुए हैं, तब तक जगत् हमारे सम्मुख आयेगा ही। नर, नारी, पशु, उद्भिद् आसक्ति, कर्तव्य—सब कुछ आयेगा, पर वे पहले की भाँति हम पर प्रभाव न डाल सकेंगे। इस नवीन ज्ञान के प्रभाव से कर्म की शक्ति का नाश हो जायगा, उसके विष के दाँत टूट जायँगे; जगत् हमारे लिए एकदम बदल जायगा; क्योंकि जैसे ही जगत् दिखायी देगा, वैसे ही उसके साथ सत्य और मरीचिका के भेद का ज्ञान भी हमारे सामने प्रकाशित हो जायगा।

तब यह जगत् पहले का सा जगत् नहीं रह जायगा। किन्तु इसमें एक भय की आशंका है। हम देखते हैं कि प्रत्येक देश में लोग इस वेदान्त मत को अपनाकर कहते हैं, "मैं धर्माधर्म से अतीत हूँ, मैं नैतिकता के किसी नियम से नहीं बँधा हूँ, अतः मेरी जो इच्छा होगी, वही करूँगा।" इस देश में देखोगे, अनेक मूर्ख कहते रहते हैं, "मैं बद्ध नहीं हूँ, मैं स्वयं ईश्वर हूँ; मेरी जो इच्छा होगी, वही करूँगा।"

यह ठीक नहीं है, यद्यपि यह वात सच है कि आत्मा भौतिक, मानसिक और नैतिक, सभी प्रकार के नियमों से अतीत है। नियम के अन्दर बन्धन है और नियम के वाहर मुक्ति। यह भी सच है कि मुक्ति आत्मा का जन्मगत स्वभाव है, यह उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है और आत्मा का यह वास्तविक मुक्त स्वभाव भौतिक आवरण के भीतर से मनुष्य की प्रतीयमान स्वतन्त्रता के रूप में प्रतीत होता है। अपने जीवन के प्रत्येक क्षण हम अपने को मुक्त अनुभव करते हैं। हम अपने को मुक्त अनुभव किये बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते, बोल नहीं सकते और श्वास-प्रश्वास भी नहीं ले सकते। किन्तु फिर कुछ विचार करने पर यह भी प्रमाणित हो जाता है कि हम एक मशीन के समान हैं, मुक्त नहीं। तब कौन सी वात सत्य मानी जाय? 'हम मुक्त हैं' यह धारणा क्या भ्रमात्मक है? एक पक्ष कहता है कि 'मैं मुक्त-स्वभाव हूँ' यह धारणा भ्रमात्मक है, और दूसरा पक्ष कहता है कि 'मैं बद्धभावापन्न हूँ' यह धारणा भ्रमात्मक है। यह कैसे? वास्तव में, मनुष्य मुक्त है; मनुष्य परमार्थतः जो है, वह मुक्त के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता, किन्तु ज्यों ही वह माया के जगत् में आता है, ज्यों ही नाम-रूप के भीतर पड़ जाता है, त्यों ही वह बद्ध हो जाता है? 'स्वाधीन इच्छा' कहना ही भूल है। इच्छा कभी स्वाधीन हो नहीं सकती। होगी कैसे? जो प्रकृत मनुष्य है, वह जब बद्ध हो जाता है, तभी उसकी इच्छा की उत्पत्ति होती है, उससे पहले नहीं। मनुष्य की इच्छा बद्ध है, किन्तु जो इसका मूल है, वह तो सदा ही मुक्त है। इसीलिए बन्धन की दशा में भी—चाहे मनुष्य-जीवन हो, चाहे देव-जीवन, चाहे पृथ्वी पर हो, चाहे स्वर्ग में—हममें इस स्वतन्त्र या मुक्ति की स्मृति रहती ही है, जो कि हमारा विधिप्रदत्त अधिकार है। और जान में हो या अनजान में, हम सब इस मुक्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। मनुष्य जब मुक्त हो जाता है, तब वह किस प्रकार नियम में बद्ध रह सकता है? तव जगत् का कोई भी नियम उसे बाँध नहीं सकता; क्योंकि यह विश्व-ब्रह्माण्ड ही उसका हो जाता है।

वह विश्व-ब्रह्माण्ड है। या तो कह लो कि वही विश्व-ब्रह्माण्ड है, या फिर कह लो कि उसके लिए विश्व-ब्रह्माण्ड का अस्तित्व ही नहीं है। तब फिर उसके लिए लिंग, देश आदि छोटे छोटे भाव किस प्रकार सम्भव हैं? वह कैसे कहेगा—मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ अथवा मैं वालक हूँ? क्या ये सब मिथ्या वातें नहीं हैं? उसने जान लिया है कि यह सब मिथ्या है। तव वह भला किस तरह कहेगा—ये ये पुरुष के अधिकार हैं और ये ये स्त्री के? किसीका कुछ अधिकार नहीं है, किसीका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पुरुष भी नहीं है और स्त्री भी नहीं; आत्मा तो लिंगहीन है, वह नित्य शुद्ध है। मैं पुरुष या स्त्री हूँ, मैं अमुक देशवासी हूँ, यह सब कहना

केवल मिथ्या है। सभी देश मेरे हैं, सारा जगत् मेरा है; क्योंकि मैंने अपने को मानो सारे जगत् से ढक लिया है, सारा जगत् ही मानो मेरा शरीर हो गया है। किन्तु हम देखते हैं कि बहुत से लोग विचार करते समय ये सब बातें मुख से कहने पर भी आचरण में सभी प्रकार के अपवित्र कार्य करते रहते हैं, और यदि उनसे पूछें, "तुम ऐसा क्यों कह रहे हो ?" तो वे उत्तर देंगे, "यह तुम्हारी समझ की भूल है। हमसे कोई अन्याय होना असम्भव है।" इन सब लोगों को किस कसौटी पर कसें ? कसौटी यह है।

यद्यपि शुभ और अशुभ, दोनों एक ही आत्मा के आंशिक प्रकाश मात्र हैं, फिर भी अशुभ मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का, उसकी आत्मा का वाह्यतम आवरण है, और शुभ अपेक्षाकृत निकटतर आवरण है। जब तक मनुष्य अशुभ के स्तर को छिन्न नहीं कर लेता, तब तक वह शुभ के स्तर पर नहीं पहुँच सकता; और जब तक वह शुभ और अशुभ, दोनों के स्तरों को पार नहीं कर लेता, तब तक वह आत्मा तक नहीं पहुँच सकता। आत्मा की प्राप्ति होने पर उसके लिए फिर क्या रह जाता है ?——अत्यन्त अल्प कर्म, अतीत जीवन के कर्मों का अति अल्प वेग; पर यह वेग भी शुभ कर्मों का ही वेग होता है। जब तक अशुभ-वेग एकदम समाप्त नहीं हो जाता, जब तक पहले की अपवित्रता बिल्कुल दग्ध नहीं हो जाती, तब तक कोई भी सत्य का साक्षात्कार और उसकी उपलब्धि नही कर सकता। अतएव जिन लोगों ने आत्मा को प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, उनके लिए अतीत जीवन के शुभ संस्कार, शुभ-वेग ही बच रहता है। शरीर में वास करते हुए भी और अनवरत कर्म करते हुए भी वे केवल सत्कर्म ही करते हैं; उनके मुख से सबके प्रति केवल आशीर्वाद ही निकलता है, उनके हाथ केवल सत्कार्य ही करते हैं, उनका मन केवल सच्चिन्तन ही कर सकता है, उनकी उपस्थिति ही, चाहे वे कहीं भी रहें, सर्वत्र मानव जाति के लिए महान् वरदान होती है। वह स्वयं एक सजीव वरदान होते हैं। यदि वह कुछ भी न बोले, तो भी उसका होना मात्र मानवता के लिए एक आशीषस्वरूप है। ऐसा व्यक्ति अपनी उपस्थिति मात्र से घोर दुरात्मा को भी संत बना देता है। इस प्रकार के व्यक्ति के द्वारा क्या कोई बुरा कार्य सम्भव है ? याद रखो, 'प्रत्यक्षानुभूति' और 'केवल मुख से कहने' में आकाश-पाताल का अन्तर है। अज्ञानी व्यक्ति भी नाना प्रकार की ज्ञान की बातें कहता है। तोता भी इस तरह बक लेता है। मुँह से कहना एक बात है और अनुभव करना दूसरी बात। दर्शन, मतामत, विचार, शास्त्र, मन्दिर, सम्प्रदाय आदि अपने स्थान पर ठीक हैं। पर प्रत्याक्षानुभूति होने पर यह सब पीछे छूट जाते हैं। जैसे, नक्शा अच्छी चीज है, पर नक़्शे में अंकित देश को स्वयं देखकर आने के बाद यदि

उसी नक़्शे को फिर से देखो, तो कितना अन्तर दिखायी पड़ेगा! अतएव जिन्होंने सत्य को प्रत्यक्ष कर लिया है, उन्हें फिर सत्य को समझने के लिए न्याय-युक्ति, तर्क-वितर्क आदि बौद्धिक व्यायामों की आवश्यकता नहीं रह जाती। उनके लिए तो सत्य जीवन का जीवन, प्रत्यक्ष से भी प्रत्यक्ष हो जाता है। वेदान्तियों की भाषा में, वह मानो उनके लिए हस्तामलकवत् हो गया है। प्रत्यक्ष उपलब्धि करनेवाले लोग निःसंकोच भाव से कह सकते हैं, 'यही आत्मा है।' तुम उनके साथ कितना ही तर्क क्यों न करो, वे तुम्हारी बात पर केवल हँसेंगे, वे उसे बच्चे की अण्ड-बण्ड बकवास समझेंगे; और उन्हें बकने देंगे। उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया और पूर्ण हो गये। मान लो, तुम एक देश देखकर आये और कोई व्यक्ति तुम्हारे पास आकर यह तर्क करने लगा कि उस देश का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। वह फिर कितना ही तर्क क्यों न करे, पर उसके प्रति तुम्हारा भाव यही रहेगा कि वह पागलखाने में भेज देने लायक़ है। इसी प्रकार, जो धर्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर चुके हैं, वे कहते हैं, "जगत् में धर्म सम्बन्धी जो बातें सुनी जाती हैं, वे सब केवल बच्चों की सी बातें हैं। प्रत्यक्षानुभूति ही धर्म का सार है।" धर्म की उपलब्धि की जा सकती है। प्रश्न यह है कि क्या तुम इसके अधिकारी हो चुके हो? क्या तुम्हें धर्म की सचमुच में आवश्यकता है? यदि तुम ठीक ठीक प्रयत्न करो, तभी तुम्हें प्रत्यक्ष उपलब्धि होगी, और तभी तुम वास्तव में धार्मिक होगे। जब तक यह उपलब्धि तुम्हें नहीं होती, तब तक तुममें और नास्तिक में कोई भेद नहीं। नास्तिक तो फिर भी निष्कपट होते हैं; किन्तु जो कहता है कि 'मैं धर्म में विश्वास करता हूँ, पर उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की चेष्टा नहीं करता', वह निष्कपट नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि उपलब्धि के बाद क्या होता है? मान लो कि हमने जगत् का यह अखण्ड भाव—यह भाव कि हमीं एकमात्र अनन्त पुरुष हैं—उपलब्ध कर लिया; मान लो, हमने जान लिया कि एकमात्र आत्मा ही विद्यमान है और वही विभिन्न रूपों से प्रकाशित हो रही है। तो अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार जान लेने से हमारा क्या हुआ? तब क्या हम निश्चेष्ट हो एक कोने में बैठकर मर जायँ? इससे जगत् का क्या उपकार होगा? वही प्राचीन प्रश्न फिर से घूम-फिरकर आता है! पहले तो, इससे जगत् का उपकार क्यों हो? क्यों? मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ। लोगों को यह प्रश्न करने का अधिकार ही क्या है कि इससे जगत् का भला होगा? ऐसा पूछने का अर्थ क्या? छोटे छोटे बच्चे मिठाई पसन्द करते हैं। मान लो, तुम विद्युत् के बारे में कुछ खोज कर रहे हो और बच्चा तुमसे पूछता है, 'इससे क्या मिठाई मिलेगी?' तुम कहते हो, 'नहीं।' तो वह कह उठता है, 'तो फिर इससे क्या लाभ?' तत्त्वज्ञान के अनुसंधान

में रत देखकर लोग ठीक इसी प्रकार पूछते हैं, 'इससे जगत् का क्या उपकार होगा? क्या इससे हमें रुपया मिलेगा?' 'नहीं।' 'तो फिर इससे क्या लाभ?' लोग उपकार का अर्थ बस, इतना ही समझते हैं।

तो भी, धर्म की इस प्रत्यक्षानुभूति से जगत् का पूरा उपकार होता है। लोगों को भय होता है कि जब वे यह अवस्था प्राप्त कर लेंगे, जब उन्हें यह ज्ञान हो जायगा कि सभी एक हैं, तब उनके प्रेम का स्रोत सूख जायगा, जीवन में जो कुछ मूल्यवान है, वह सब चला जायगा, इस जीवन में और पर-जीवन में जो कुछ उन्हें प्रिय था, उसमें से कुछ भी न बच रहेगा। पर लोग यह बात एक बार भी नहीं सोच सकते कि जो व्यक्ति अपने सुख की चिन्ता की ओर से उदासीन हो गये हैं, वे ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ कर्मी हुए हैं। मनुष्य तभी वास्तव में प्रेम करता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई क्षुद्र मर्त्य जीव नहीं है। मनुष्य तभी वास्तविक प्रेम कर सकता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र एक मिट्टी का ढेला नहीं, किन्तु स्वयं भगवान् हैं। स्त्री पति से अधिक प्रेम करेगी, यदि वह समझेगी कि स्वामी साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है। पति भी स्त्री से अधिक प्रेम करेगा, यदि वह जानेगा कि स्त्री स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। वे माताएँ सन्तान से अधिक स्नेह कर सकेंगी, जो सन्तान को ब्रह्मस्वरूप देखेंगी। वे ही लोग अपने महान् शत्रुओं के प्रति भी प्रेमभाव रख सकेंगे, जो जानेंगे कि ये शत्रु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही लोग पवित्र व्यक्तियों से प्रेम करेंगे, जो समझेंगे कि साधु व्यक्ति साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं। वे ही लोग अत्यन्त अपवित्र व्यक्तियों से भी प्रेम करेंगे, जो यह जान लेंगे कि इन महा दुष्टों के भी पीछे वही प्रभु विराजमान है। जिनका क्षुद्र अहंकार एकदम मर चुका है और उसके स्थान पर ईश्वर ने अधिकार जमा लिया है, वे ही लोग जगत् के हिलानेवाले होते हैं। उनके लिए समग्र विश्व दिव्य-भाव से रूपान्तरित हो जायगा। दुःखकर अथवा क्लेशकर जो कुछ भी है, वह सब उनकी दृष्टि से लुप्त हो जाता है; सभी प्रकार के द्वन्द्व और संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। तब यह जगत्, जहाँ हम प्रतिदिन एक टुकड़ा रोटी के लिए झगड़ा और मार-पीट करते हैं, उनके लिए कारागार होने के बदले एक क्रीड़ाक्षेत्र बन जाता है। तब जगत् बड़ा सुन्दर रूप धारण कर लेता है। ऐसे ही व्यक्ति को यह कहने का अधिकार है कि 'यह जगत् कितना सुन्दर है!' उन्हींको यह कहने का अधिकार है कि सब मंगलस्वरूप है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष उपलब्धि से जगत् का यह महान् हित होगा कि ये अविराम विवाद, द्वन्द्व आदि सब दूर होकर जगत् शान्ति का राज्य हो जायगा। यदि जगत् के सभी मनुष्य आज इस महान् सत्य के एक बिन्दु की भी उपलब्धि कर सकें, तो उनके लिए यह सारा जगत् एक दूसरा ही रूप धारण कर

लेगा और यह सब झगड़ा समाप्त हो शान्ति का राज्य आ जायगा। यह घिनौना उतावलापन, यह स्पर्धा, जो हमें, अन्य सबों को ठेलकर आगे बढ़ निकलने के लिए बाध्य करती है, इस संसार से उठ जायगी। इसके साथ साथ सब प्रकार की अशान्ति, घृणा, ईर्ष्या एवं सभी प्रकार का अशुभ सदा के लिए चला जायगा। उस समय देवता लोग इस जगत् में वास करेंगे। उस समय यही जगत् स्वर्ग हो जायगा। और जब देवता देवता से खेलेगा, देवता देवता से मिलकर कार्य करेगा, देवता देवता से प्रेम करेगा, तब क्या अशुभ ठहर सकता है? ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि का यही एक बड़ा सुफल है। समाज में तुम जो कुछ भी देख रहे हो, वह सभी उस समय परिवर्तित होकर एक दूसरा रूप धारण कर लेगा। तब तुम किसी मनुष्य को बुरा नहीं समझोगे। यही प्रथम महालाभ है। उस समय तुम लोग किसी अन्याय करनेवाले बेचारे नर-नारी की ओर घृणापूर्ण दृष्टि से नही देखोगे। हे महिलाओ, फिर तुम प्रणयाकांक्षा में रात भर रास्ते में भटकती फिरनेवाली दुखिया स्त्री की ओर घृणा से न देखोगी; क्योंकि तुम वहाँ भी साक्षात् ईश्वर को देखोगी! तब तुममें ईर्ष्या अथवा दूसरों पर शासन करने का भाव उदय नहीं होगा; वह सब चला जायगा! तब प्रेम इतना प्रबल हो जायगा कि मानव जाति को सत्पथ पर चलाने के लिए फिर चाबुक की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

यदि संसार के नर-नारियों का दश-लक्षांश भी बिलकुल चुप रहकर एक क्षण के लिए कहे, "तुम सभी ईश्वर हो; हे मानवो, हे पशुओ, हे सब प्रकार के जीवित प्राणियो! तुम सभी एक जीवन्त ईश्वर के प्रकाश हो," तो आधे घण्टे के अन्दर ही सारे जगत् का परिवर्तन हो जाय। उस समय चारों ओर घृणा के बीज न बोकर, ईर्ष्या और असत् चिन्ता का प्रवाह न फैलाकर सभी देशों के लोग सोचेंगे कि सभी 'वह' हैं। जो कुछ तुम देख रहे हो या अनुभव कर रहे हो, वह सब 'वही' है। तुम्हारे भीतर अशुभ न रहने पर तुम अशुभ किस तरह देखोगे? तुम्हारे भीतर यदि चोर न हो, तो तुम किस प्रकार चोर देखोगे? तुम स्वयं यदि खूनी नहीं हो, तो किस प्रकार खूनी देखोगे। साधु हो जाओ, तो असाधु-भाव तुम्हारे अन्दर से ए दम चला जायगा। इस प्रकार सारे जगत् का परिवर्तन हो जा । यही समाज का सबसे ब लाभ है। मनुष्य के लिए यही महान् लाभ है। ये सब भाव भारत में प्राचीन काल में अनेक महात्माओं द्वारा आविष्कृत और कार्य-रूप में परिणत हुए थे। पर आचार्यों की संकीर्णता और देश की पराधीनता आदि अनेकविध कारणों से ये सब भाव चारों ओर फैल न सके। फिर भी ये सब महान् सत्य हैं। जहाँ भी इन विचारों का प्रभाव पड़ा है, वहीं मनुष्य ने देवत्व प्राप्त कर लिया है। ऐसे ही एक देवस्वभाव मनुष्य के स्पर्श द्वारा मेरा समस्त जीवन परिवर्तित हो गया है; इनके सम्बन्ध में

आगामी रविवार को तुमसे कहूँगा। आज इन सब भावों का जगत् में प्रचार करने का समय आ गया है। अब मठों की चहारदीवारी में आबद्ध न रहकर, केवल पण्डितों के पढ़ने की दार्शनिक पुस्तकों में आबद्ध न रहकर, केवल कुछ सम्प्रदायों के अथवा कुछ पण्डितों के एकाधिकार में न रहकर, इन भावों का समस्त जगत् में प्रचार होगा, जिससे ये साधु, पापी, आबालवृद्धवनिता, शिक्षित, अशिक्षित सभी की साधारण सम्पत्ति हो जायँ। तब ये सब भाव इस जगत् के वातावरण को ओत-प्रोत कर देंगे और हम श्वास-प्रश्वास द्वारा जो वायु ले रहे हैं, वह अपने प्रत्येक स्पन्दन के साथ कहने लगेगी---**तत्त्वमसि** ! असंख्य चन्द्र-सूर्यपूर्ण यह समग्र ब्रह्माण्ड वाक्शक्तियुक्त प्रत्येक प्राणी के माध्यम से एक स्वर से कह उठेगा---**तत्त्वमसि** !

विश्व धर्म का आदर्श

(उसमें विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों और पद्धतियों का समावेश किस प्रकार होना चाहिए)

हमारी इन्द्रियाँ चाहे किसी वस्तु को क्यों न ग्रहण करें, हमारा मन चाहे किसी विषय की कल्पना क्यों न करे, सभी जगह हम दो शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया देखते हैं। ये एक दूसरे के विरुद्ध काम करती हैं, और हमारे चारों ओर वाह्य जगत् में होनेवाली तथा जिनका अनुभव हम अपने मन में करते हैं, उन जटिल घटनाओं की निरन्तर क्रीड़ा की कारण हैं। ये ही दो विपरीत शक्तियाँ वाह्य जगत् में आकर्षण-विकर्षण अथवा केन्द्रगामी, केन्द्रापसारी शक्तियों के रूप से, और अन्तर्जगत् में राग-द्वेष या शुभाशुभ के रूप से प्रकाशित होती हैं। हम कितनी ही चीजों को अपने सामने से हटा देते हैं और कितनी ही को अपने सामने खींच लाते हैं, किसीकी ओर आकृष्ट होते हैं और किसीसे दूर रहना चाहते हैं। हमारे जीवन में ऐसा अनेक बार होता है कि हमारा मन किसीकी ओर हमें बलात् आकृष्ट करता है, पर इस आकर्षण का कारण हमें ज्ञात नहीं होता और किसी किसी समय किसी आदमी को देखने ही से बिना किसी कारण मन भागने की इच्छा करता है। इस बात का अनुभव सभी को है। और इस शक्ति का कार्यक्षेत्र जितना ऊँचा होगा, इन दो विपरीत शक्तियों का प्रभाव उतना ही तीव्र और परिस्फुट होगा। धर्म मनुष्य के चिन्तन और जीवन का सबसे उच्च स्तर है और हम देखते हैं कि धर्म-जगत् में ही इन दो शक्तियों की क्रिया सबसे अधिक परिस्फुट हुई है। मानवता को जिस तीव्रतम प्रेम का ज्ञान है, वह धर्म से ही प्राप्त हुआ है, और वह घोरतम पैशाचिक घृणा भी, जिसे मानवता ने कभी अनुभव किया, वह भी धर्म से ही प्राप्त हुई है। संसार ने कभी भी महत्तम शान्ति की जो वाणी सुनी है, वह धर्म-राज्य के लोगों के मुख से ही निकली हुई है। और जगत् ने कभी भी जो तीव्रतम भर्त्सना सुनी है, वह भी धर्म-राज्य के मनुष्यों के मुख से उच्चरित हुई है। किसी धर्म का उद्देश्य जितना ही उच्च होता है, उसका संगठन जितना ही सूक्ष्म होता है, उसकी क्रियाशीलता भी उतनी ही अद्भुत होती है। धर्म-प्रेरणा से मनुष्यों ने संसार में जो खून की नदियाँ बहायी हैं, मनुष्य के हृदय की और किसी प्रेरणा ने वैसा नहीं

किया। और धर्म-प्रेरणा से मनुष्यों ने जितने चिकित्सालय, धर्मशाला, अन्न-क्षेत्र आदि बनाये, उतने और किसी प्रेरणा से नहीं। मनुष्य-हृदय की और कोई वृत्ति उसे, सारी मानव-जाति की ही नहीं, निकृष्टतम प्राणियों तक की सेवा करने को प्रवृत्त नहीं करती। धर्म-प्रेरणा से मनुष्य जितना निष्ठुर हो जाता है, उतना और किसी प्रेरणा से नहीं; उसी प्रकार धर्म-प्रेरणा से मनुष्य जितना कोमल हो जाता है, उतना और किसी प्रवृत्ति से नहीं। अतीत में ऐसा ही हुआ है और सम्भवतः भविष्य में भी ऐसा ही होगा। फिर भी विविध धर्मों और संप्रदायों के कलह और कोलाहल, द्वंद्व और संघर्ष, अविश्वास और ईर्ष्या-द्वेष से समय समय पर इस प्रकार की वज्रगम्भीर वाणियाँ निकली हैं, जिन्होंने इस सारे कोलाहल को दबाकर संसार में शान्ति और मेल की तीव्र घोषणा कर दी थी। एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक अपने वज्रगम्भीर आह्वान को सुनने के लिए मानव-जाति को विवश किया है। क्या संसार में किसी समय इस शांति-समन्वय का राज्य स्थापित होगा ?

प्रवल धार्मिक संघर्ष की इस भूमिका में क्या कभी सामंजस्य का अविच्छिन्न राज्य होना सम्भव है ! वर्तमान शताब्दी के अन्त में इस समन्वय को लेकर संसार में एक विवाद चल पड़ा है। इस समस्या का समाधान करने के लिए समाज में विविध योजनाएँ प्रस्तावित की जा रही हैं और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए अनेक चेष्टाएँ हो रही हैं। हम सभी लोग जानते हैं कि यह कितना कठिन है। सभी लोग जानते हैं कि जीवन-संग्राम की भीषणता को, मनुष्य के मन की प्रवल स्नायविक उत्तेजनाओं को कम करना लगभग एक प्रकार से असम्भव है। जीवन का जो स्थूल एवं वाह्यांश मात्र है, उस वाह्य जगत् में साम्य और शान्ति स्थापित करना यदि इतना कठिन है, तो मनुष्य के अन्तर्जगत् में शान्ति और साम्य स्थापित करना उससे हज़ार गुना कठिन है। तुम लोगों को थोड़ी देर के लिए शब्द-जाल से वाहर आना होगा। हम सभी लोग वाल्य काल से ही प्रेम, शान्ति, मैत्री, साम्य, सार्वजनीन भ्रातृभाव प्रभृति अनेक बातें सुनते आ रहे हैं। किन्तु इन सभी वातों में से हमारे निकट कितनी ही निरर्थक हो जाती हैं। हम लोग उन्हें तोते की तरह रट लेते हैं और वे मानो हम लोगों के स्वभाव हो गये हैं। हम ऐसा किये विना रह नहीं सकते। जिन महापुरुषों ने पहले अपने हृदय में इस महान् तत्त्व की उपलब्धि की थी, उन्होंने इन वाक्यों की रचना की है। उस समय बहुत से लोग इसका अर्थ समझते थे, आगे चलकर मूर्ख लोगों ने इन वातों को लेकर उनसे खिलवाड़ आरंभ कर दिया, और धर्म को केवल शब्दों का खेल वना दिया, उसे जीवन में परिणत करने की वस्तु ही नहीं रखा। धर्म अव 'पैत्रिक धर्म',

'राष्ट्रीय धर्म', 'देशी धर्म' इत्यादि के रूप में परिणत हो गया है। अन्त में किसी धर्म में विश्वास करना देशभक्ति का एक अंग हो जाता है। और देशभक्ति सदा पक्षपाती होती है। विभिन्न धर्मों में सामञ्जस्य-विधान करना बहुत ही कठिन काम है। फिर भी हम इस धर्म-समन्वय-समस्या पर विचार करेंगे।

हम देखते हैं कि प्रत्येक धर्म में तीन भाग हैं--मैं अवश्य ही प्रसिद्ध और प्रचलित धर्मों की बात कहता हूँ। पहला है, दार्शनिक भाग। इसमें उस धर्म का सारा विषय अर्थात् मूल तत्त्व, उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के साधन निहित होते हैं। दूसरा है, पौराणिक भाग। यह स्थूल उदाहरणों के द्वारा दार्शनिक भाग को स्पष्ट करता है। इसमें मनुष्यों एवं अलौकिक पुरुषों के जीवन के उपाख्यान आदि होते हैं। 'इसमें सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व, मनुष्यों या अतिप्राकृतिक पुरुषों के थोड़े-बहुत काल्पनिक जीवन के उदाहरणों द्वारा समझाये जाते हैं। तीसरा है, आनुष्ठानिक भाग। यह धर्म का स्थूल भाग है। इसमें पूजा-पद्धति, आचार, अनुष्ठान, विविध शारीरिक अंग-विन्यास, पुष्प, धूप, धूनी प्रभृति नाना प्रकार की इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ हैं। इन सबको मिलाकर आनुष्ठानिक धर्म का सगठन होता है। तुम देख सकते हो कि सारे प्रसिद्ध धर्मों के ये तीन विभाग हैं। कोई धर्म दार्शनिक भाग पर अधिक ज़ोर देता है, कोई अन्य दूसरे भागों पर। पहले दार्शनिक भाग की बातें लेनी चाहिए। प्रश्न उठता है, कोई सार्वभौमिक दर्शन है या नहीं! अभी तक तो नहीं। प्रत्येक धर्मवाले अपने मतों की व्याख्या करके उसीको एकमात्र सत्य कहकर उसमें विश्वास करने के लिए आग्रह करते हैं। वे सिर्फ़ इतना ही करके शान्त नहीं होते, वरन् समझते हैं कि जो उनके मत में विश्वास नहीं करते, वे किसी भयानक स्थान में अवश्य जायँगे। कोई कोई तो दूसरों को अपने मत में लाने के लिए तलवार तक काम में लाते हैं। वे ऐसा दुष्टता से करते हों, सो नहीं। मानव-मस्तिष्कप्रसूत धर्मान्धता नामक व्याधिविशेष की प्रेरणा से वे ऐसा करते हैं। ये धर्मान्ध सर्वथा निष्कपट होते हैं, मनुष्यों में सबसे अधिक निष्कपट। किन्तु संसार के दूसरे पागलों की भाँति उनमें उत्तरदायित्व नहीं होता। यह धर्मान्धता एक भयानक बीमारी है। मनुष्यों में जितनी दुष्ट बुद्धि है, वह सभी धर्मान्धता द्वारा जगायी गयी है। उसके द्वारा क्रोध उत्पन्न होता है, स्नायु-समूह अतिशय तन जाता है, और मनुष्य शेर जैसा हो जाता है।

विभिन्न धर्मों के पुराणों में क्या कोई सादृश्य या ऐक्य है! क्या ऐसा कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्त्व है, जिसे सभी धर्मवाले ग्रहण कर सकें? निश्चय ही नहीं है। सभी धर्मों का अपना अपना पुराण-साहित्य है, किन्तु सभी कहते हैं--"केवल हमारी पुराणोक्त कथाएँ उपकथा मात्र नहीं हैं।" इस बात को

मैं उदाहरण द्वारा समझाने की चेष्टा करता हूँ। मेरा उद्देश्य--अपनी कही बातों को उदाहरण द्वारा समझाना मात्र है--किसी धर्म की समालोचना करना नहीं। ईसाई विश्वास करते हैं कि ईश्वर पण्डुक (एक प्रकार का कबूतर) का रूप धारण कर पृथ्वी में अवतीर्ण हुआ था। उनके निकट यह ऐतिहासिक सत्य है--पौराणिक कहानी नहीं। हिन्दू लोग गाय को भगवती के आविर्भाव के रूप में मानते हैं। ईसाई कहता है कि इस प्रकार का विश्वास इतिहास नहीं है--यह केवल पौराणिक कहानी और अंधविश्वास मात्र है। यहूदी समझते हैं, यदि प्रतीक एक मंजूषा या संदूक के रूप में बनायी जाय, जिसके दो पल्लों में दो देवदूतों की मूर्तियाँ हों, तो उसे मन्दिर के सबसे पवित्र स्थान में स्थापित किया जा सकता है; वह जिहोवा की दृष्टि से परम पवित्र होगा; किन्तु यदि किसी सुन्दर स्त्री या पुरुष की मूर्ति हो, तो वे कहते हैं, "यह एक बीभत्स प्रतिमा है--इसे तोड डालो।" हमारा पौराणिक सामंजस्य यही है! यदि कोई खड़ा होकर कहे, "हमारे अवतारों ने इन आश्चर्यजनक कामों को किया," तो दूसरे लोग कहेंगे, "यह केवल अंधविश्वास मात्र है।" किन्तु उसी समय वे लोग कहेंगे कि हमारे अवतारों ने उसकी अपेक्षा और भी अधिक आश्चर्यजनक व्यापार किये थे और वे उन्हें ऐतिहासिक सत्य समझने का दावा करते हैं। मैंने जहाँ तक देखा है, इस पृथ्वी पर ऐसा कोई नहीं है, जो इन सब मनुष्यों के मस्तिष्क में रहनेवाले इतिहास और पुराण के सूक्ष्म पार्थक्य को पकड़ सके। इस प्रकार की कहानियाँ--वे चाहे किसी भी धर्म की क्यों न हों--सर्वथा पौराणिक ही हैं, पर कभी कभी उनमें भी ऐतिहासिक सत्य का लेश हो सकता है।

इसके बाद आनुष्ठानिक भाग आता है। एक सम्प्रदाय की एक विशेष प्रकार की अनुष्ठान-पद्धति होती है और उस सम्प्रदाय के अनुयायी उसीको धर्मसंगत समझकर विश्वास करते हैं तथा दूसरे सम्प्रदायों की अनुष्ठान-पद्धति को घोर अंधविश्वास समझते हैं। यदि एक सम्प्रदाय किसी विशेष प्रतीक की उपासना करता है, तो दूसरे सम्प्रदायवाले कह बैठते हैं, "आह, कैसा बीभत्स है!" एक साधारण प्रतीक की ही बात लो। लिंग-प्रतीक निश्चय ही यौन प्रतीक है, किन्तु उसका यह पक्ष क्रमशः विस्मृत हो गया है। और इस समय उसका ईश्वर के स्रष्टाभाव के प्रतीक-रूप में ग्रहण होता है। जिन जातियों ने उसका प्रतीक के रूप में ग्रहण किया है, वे कभी भी उसे लिंग नहीं समझते, वह भी एक प्रतीक है--बस, इतना ही। किन्तु दूसरी जाति या सम्प्रदाय का व्यक्ति उसे लिंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझ पाता और इसीलिए वह उसकी निन्दा करने लगता है। किन्तु यह भी संभव है कि स्वयं वह कुछ ऐसा करता है, जो लिंगोपासना करनेवालों को

अत्यन्त वीभत्स लगे। उदाहरण के लिए लिंग-प्रतीक और सैक्रेमेन्ट (sacrament) नामक ईसाई धर्म के अनुष्ठानविशेष की बात कही जा सकती है। ईसाइयों के लिए लिंगोपासना में व्यवहृत मूर्ति अति कुत्सित है और हिन्दुओं के लिए ईसाइयों का सैक्रेमेन्ट वीभत्स है। हिन्दू कहते हैं कि किसी मनुष्य की सद्‌गुणावली पाने के अभिप्राय से उसकी हत्या करके उसके मांस को खाना और खून को पीना नर-भक्षण है। कुछ जंगली जातियाँ भी ऐसा ही करती हैं। यदि कोई आदमी बहुत साहसी होता है, तो वे लोग उसकी हत्या करके उसके हृदय को खाते हैं। कारण, वे समझते हैं, उसके द्वारा उन्हें उस व्यक्ति का साहस और वीरत्व आदि गुण प्राप्त होगा। सर जॉन लूबक की तरह के भक्त ईसाई भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जंगली जातियों के रिवाज़ के आधार पर ही ईसाइयों के अनुष्ठान की रचना हुई है। दूसरे ईसाई अवश्य ही अनुष्ठान के उद्‌भव के सम्बन्ध में इस मत को स्वीकार नहीं करते और उसके द्वारा इस प्रकार के भाव का आभास मिलता है, यह भी उनकी समझ में नहीं आता। वह एक पवित्र वस्तु का प्रतिनिधि है, इतना ही वे जानना चाहते हैं। इसलिए आनुष्ठानिक भाग में भी कोई सार्वभौमिक प्रतीक नहीं है, जिसे सब धर्मवाले स्वीकार और ग्रहण कर सकें। तब किसी भी प्रकार का सार्वभौमिकत्व कहाँ है? सार्वभौमिक धर्म किस प्रकार सम्भव है? सच है, किन्तु वह पहले से ही विद्यमान है। अब देखें, वह कैसे।

हम सभी लोग विश्वबंधुत्व की बात सुनते हैं और विविध समाज में उसके प्रचार के लिए कितना उत्साह है, यह भी जानते हैं। मुझे एक पुरानी कहानी याद आती है। भारतवर्ष में शराबखोरी बहुत ही नीच समझी जाती है। दो भाई थे, उन दोनों ने रात्रि के समय छिपकर शराब पीने का इरादा किया। बगल के कमरे में उनके चाचा सोये थे, जो बहुत निष्ठावान व्यक्ति थे। इसीलिए शराब पीने के पहले वे लोग सलाह करने लगे, 'हम लोगों को चुपचाप पीना होगा, नहीं तो चाचा जाग जायँगे।' वे लोग शराब पीते समय बार बार 'चुप, चुप, जाग जायगा' की आवाज़ करके एक दूसरे को चुप कराते रहे। इस गड़बड़ में चाचा की नींद खुल गयी। उन्होंने कमरे में घुसकर सब कुछ देख लिया। हम लोग भी ठीक इन मतवालों की तरह शोर करते हैं, विश्वबंधुत्व। 'हम सभी लोग समान हैं, इसलिए हम लोग एक दल का संगठन करें!' किन्तु ध्यान रहे, ज्यों ही तुमने किसी दल का संगठन किया, त्यों ही तुम समता के विरुद्ध हो गये, और तब समता नामक कोई चीज़ तुम्हारे पास नहीं रह जायगी। मुसलमान विश्वबंधुत्व का शोर मचाते हैं। किन्तु वस्तुत: वे भ्रातृभाव से कितनी दूर हैं! जो मुसलमान नहीं हैं, वे भ्रातृ-संघ में शामिल नहीं किये जायँगे। उनके गले काटे जाने ही की अधिक

सम्भावना है। ईसाई भी विश्वबंधुत्व की बातें करते हैं; किन्तु जो ईसाई नहीं है, वह अवश्य ही ऐसे एक स्थान में जायगा, जहाँ अनन्त काल तक वह आग से झुलसाया जाय।

इस प्रकार हम लोग विश्वबंधुत्व और साम्य के अनुसन्धान में सारी पृथ्वी पर घूमते फिरते हैं। जिस समय तुम लोग कहीं पर इसकी बातें सुनो, मेरा अनुरोध है, तुम थोड़ा धैर्य रखो और सतर्क हो जाओ, कारण, इन सब बातों के भीतर प्राय: घोर स्वार्थपरता छिपी रहती है। 'जाड़ों में कभी कभी बादल आता है, बड़ा गर्जन-तर्जन करता है, लेकिन बरसता नहीं। किंतु वर्षा ऋतु में बादल गरजता नहीं, वह संसार को जल से प्लावित कर देता है।' इसी प्रकार जो लोग यथार्थ कर्मी हैं और अपने हृदय से विश्वबंधुत्व का अनुभव करते हैं, वे लम्बी-चौड़ी बातें नहीं करते, न उस निमित्त संप्रदायों की रचना करते हैं; किन्तु उनके क्रिया-कलाप, गतिविधि और सारे जीवन के ऊपर ध्यान देने से यह स्पष्ट समझ में आ जायगा कि उनके हृदय सचमुच ही मानव-जाति के प्रति बंधुता से परिपूर्ण हैं, वे सबसे प्रेम और सहानुभूति करते हैं। वे केवल बातें न बनाकर काम कर दिखाते हैं--आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। सारी दुनिया लम्बी-चौड़ी बातों से परिपूर्ण है। हम चाहते हैं कि बातें बनाना कम हो, यथार्थ काम कुछ अधिक हो।

अभी तक हम लोगों ने देखा है कि धर्म के सम्बन्ध में कोई सार्वभौमिक लक्षण खोज निकालना ज़रा टेढ़ी खीर है। तथापि हम जानते हैं कि ऐसा भाव वर्तमान है। हम सभी लोग मनुष्य तो अवश्य हैं, किन्तु क्या सभी समान हैं? निश्चय ही नहीं। कौन कहता है, हम सब समान हैं? केवल पागल। क्या हम बल, बुद्धि, शरीर में समान हैं? एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा बलवान्, एक मनुष्य की बुद्धि दूसरे की अपेक्षा अत्यधिक है। यदि हम सब लोग समान ही होते, तो यह असमानता कैसी! किसने यह असमानता उपस्थित की? हमने। हम लोगों की क्षमता, विद्या-बुद्धि और शारीरिक बल में अंतर होने के कारण निश्चय ही पार्थक्य है। फिर भी हम लोग जानते हैं कि समता का यह सिद्धान्त हमारे हृदय को स्पर्श करता है। हम सब लोग मनुष्य अवश्य हैं, किन्तु हम लोगों में कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियाँ हैं; कोई काले हैं और कोई गोरे--किन्तु सभी मनुष्य हैं, सभी एक मनुष्य जाति के अन्तर्गत हैं। हम लोगों का चेहरा भी कई प्रकार का है। दो मनुष्यों का मुँह ठीक एक तरह का हम नहीं देख सकते, तथापि हम सब लोग मनुष्य हैं। मनुष्यत्वरूपी सामान्य तत्त्व कहाँ है? मैंने जिस काले या गोरे स्त्री या पुरुष को देखा, उन सबके मुँह पर सामान्य रूप से मनुष्यत्व का एक अमूर्त भाव है, मैं उसे पकड़ या इन्द्रियगोचर भले ही न कर सकूँ, फिर भी मैं निश्चयपूर्वक जानता

हूँ कि वह है। यदि किसी वस्तु का असंदिग्ध अस्तित्व है, तो इसी मानवीयता का, जो हम सबमें व्याप्त है। इस सामान्यीकृत उपादान के द्वारा ही मैं तुम लोगों को स्त्री और पुरुष के रूप में जान पाता हूँ। विश्व धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है, जो ईश्वर-रूप से पृथ्वी के सभी धर्मों में विद्यमान है। यह अनन्त काल से वर्तमान है और अनन्त काल तक रहेगा। **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।**--'मैं इस जगत् में मणियों के भीतर सूत्र की भाँति वर्तमान हूँ।'[1] इस एक मणि को एक विशेष धर्म, मत या सम्प्रदाय कहा जा सकता है। पृथक् पृथक् मणियाँ एक एक धर्म हैं और प्रभु ही सूत्ररूप से उन सबमें वर्तमान है। तिस पर भी अधिकांश लोग इस सम्बन्ध में सर्वथा अज्ञ हैं।

बहुत्व में एकत्व का होना सृष्टि का विधान है। हम सब लोग मनुष्य होते हुए भी परस्पर पृथक् हैं। मनुष्य जाति के एक अंश के रूप में मैं और तुम एक हैं, किन्तु अमुक के रूप में मैं तुमसे पृथक् हूँ। पुरुष होने से तुम स्त्री से भिन्न हो, किन्तु मनुष्य होने के नाते स्त्री और पुरुष एक ही हैं। मनुष्य होने से तुम जीव-जन्तु से पृथक् हो, किन्तु प्राणी होने के नाते स्त्री-पुरुष, जीव-जन्तु और उद्भिज, सभी समान हैं एवं सत्ता के नाते, तुम्हारा विराट् विश्व के साथ एकत्व है। ईश्वर है वह विराट् सत्ता--इस वैचित्र्यमय जगत्-प्रपंच का चरम एकत्व। उस ईश्वर में हम सभी एक हैं, किन्तु व्यक्त प्रपंच में यह भेद अवश्य चिरकाल तक विद्यमान रहेगा। हमारे प्रत्येक बाहरी कार्य और चेष्टा में यह भेद सदा ही विद्यमान रहेगा। इसलिए विश्व धर्म का यदि यह अर्थ हो कि एक प्रकार के विशेष मत में संसार के सभी लोग विश्वास करें, तो यह सर्वथा असम्भव है। यह कभी हो नहीं सकता। ऐसा समय कभी नहीं आयेगा, जब सब लोगों का मुँह एक रंग का हो जाय। और यदि हम आशा करें कि समस्त संसार एक ही पौराणिक तत्त्व में विश्वास करेगा, तो यह भी असम्भव है, यह कभी नहीं हो सकता। फिर, समस्त संसार में कभी भी एक प्रकार की अनुष्ठान-पद्धति प्रचलित हो नहीं सकती। ऐसा किसी समय हो नहीं सकता, अगर कभी हो भी जाय, तो सृष्टि लुप्त हो जायगी। कारण, वैचित्र्य ही जीवन की मूल भित्ति है। हमें आकारयुक्त किसने बनाया है?--वैषम्य ने। सम्पूर्ण साम्यभाव होने से ही हमारा विनाश अवश्यम्भावी है। समान परिमाण और सम्पूर्ण भाव से विकीर्ण होना ही ताप का धर्म है। मान लो, इस घर का सारा ताप उस तरह विकीर्ण हो जाय, तो ऐसा होने पर वस्तुतः ताप जैसी कोई चीज़ बाक़ी न रहेगी। इस संसार की गति किसके लिए सम्भव होती है?--खोये हुए

१. गीता ।।७।७।।

संतुलन के लिए। जिस समय इस संसार का ध्वंस होगा, उसी समय चरम साम्य आ सकेगा; अन्यथा ऐसा होना असम्भव है। केवल इतना ही नहीं, ऐसा होना विपज्जनक भी है। हम सभी लोग एक प्रकार का विचार करें, ऐसा सोचना भी उचित नहीं है। ऐसा होने से विचार करने की कोई चीज़ न रह जायगी। अजायब-घर में रखी हुई मिस्र देश की ममियों (mummies)[1] की तरह हम सभी लोग एक प्रकार के हो जायँगे और एक दूसरे को देखते रहेंगे, हमारे मन में कोई भाव ही न उठेगा। यही भिन्नता, यही वैषम्य, संतुलन का यह भंग होना ही हमारी उन्नति का प्राण—हमारे समस्त चिंतन का स्रष्टा है। यह वैचित्र्य सदा ही रहेगा।

विश्व धर्म का अर्थ फिर मैं क्या समझता हूँ? कोई सार्वभौमिक दार्शनिक तत्त्व, कोई सार्वभौमिक पौराणिक तत्त्व या कोई सार्वभौमिक अनुष्ठान-पद्धति, जिसको मानकर सबको चलना पड़ेगा—मेरा अभिप्राय नहीं है। कारण, मैं जानता हूँ कि तरह तरह के चक्रसमवायों से गठित, बड़ा ही जटिल और आश्चर्यजनक इस विश्व का जो दुर्बोध और विशाल यन्त्र है, वह सदा ही चलता रहेगा। फिर हम लोग क्या कर सकते हैं? हम इस यन्त्र को अच्छी तरह चला सकते हैं, इसका घर्षणवेग कम कर सकते हैं—इसके चक्कों को चमकीला रख सकते हैं, उसमें तेल देते रह सकते हैं। वह कैसे? वैषम्य की नैसर्गिक अनिवार्यता को स्वीकार करके। जैसे हम सबने स्वाभाविक रूप से एकत्व को स्वीकार किया है, उसी प्रकार हमको वैषम्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। हमको यह शिक्षा लेनी होगी कि एक ही सत्य का प्रकाश लाखों प्रकार से होता है और प्रत्येक भाव ही अपनी निर्दिष्ट सीमा के अन्दर प्रकृत सत्य है—हमको यह सीखना होगा कि किसी भी विषय को सैकड़ों प्रकार की विभिन्न दृष्टि से देखने पर वह एक ही वस्तु रहती है। उदाहरणार्थ सूर्य को लो। मान लो, कोई मनुष्य भूतल पर से सूर्योदय देख रहा है; उसको पहले एक गोलाकार वस्तु दिखायी पड़ेगी। अब मान लो, उसने एक कैमरा लेकर सूर्य की ओर यात्रा की और जब तक सूर्य के निकट न पहुँचे, तब तक बार बार सूर्य की प्रतिच्छवि लेने लगा। एक स्थान से लिया हुआ सूर्य का चित्र दूसरे स्थानों से लिये हुए सूर्य के चित्र से भिन्न है—वह जब लौट आयेगा, तब उसे मालूम होगा कि मानो वे सब भिन्न भिन्न सूर्यों के चित्र हैं। परन्तु हम जानते हैं कि वह अपने गन्तव्य पथ के भिन्न भिन्न स्थानों से एक ही सूर्य के अनेक चित्र लेकर लौटा है। ईश्वर के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही होता है। उच्च अथवा निकृष्ट दर्शन से हो हो,

---

१. मिस्र देश में मुर्दों को औषधियों के द्वारा कई हजार बर्ष तक क़ायम रखने का रिवाज़ है। इस तरह क़ायम रखी हुई लाश को 'ममी' कहते हैं। स०

सूक्ष्म अथवा स्थूल पौराणिक कथाओं के अनुसार ही हो, या सुसंस्कृत क्रियाकाण्ड अथवा भूतोपासना द्वारा हो, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक धर्म और प्रत्येक जाति, जान या अनजान में अग्रसर होने की चेष्टा करते हुए ईश्वर की ओर बढ़ रही है। मनुष्य चाहे जितने प्रकार के सत्य की उपलब्धि करे, उसका प्रत्येक सत्य भगवान् के दर्शन के सिवा और कुछ नहीं है। मान लो, हम जलपात्र लेकर जलाशय से जल भरने आये। कोई कटोरी लाया, कोई घड़ा लाया, कोई बाल्टी लाया, इत्यादि। अब जब हमने जल भर लिया, तो क्या देखते हैं कि प्रत्येक पात्र के जल ने स्वभावतः अपने अपने पात्र का आकार धारण किया है। परन्तु प्रत्येक पात्र में वही एक जल है––जो सबके पास है। धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है––हमारे मन भी ठीक पूर्वोक्त पात्रों के समान हैं। हम सब ईश्वर-प्राप्ति की चेष्टा कर रहे हैं। पात्रों में जो जल भरा हुआ है, ईश्वर उसी जल के समान है––प्रत्येक पात्र में भगवद्दर्शन उस पात्र के आकार के अनुसार है, फिर भी वे सर्वत्र एक ही हैं––वे घट घट में विराजमान हैं। सार्वभौमिक भाव का भी हम यही एकमात्र परिचय पा सकते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से यहाँ तक तो सब ठीक है। परन्तु धर्म के समन्वय-विधान को कार्य रूप में परिणत करने का भी क्या कोई उपाय है? हम देखते हैं––'सब धर्ममत सत्य हैं', यह बात बहुत पुराने समय से ही मनुष्य स्वीकार करता आया है। भारतवर्ष, अलेक्ज़ेन्ड्रिया, यूरोप, चीन, जापान, तिब्बत और अंततः अमेरिका में भी एक समन्वित धर्म को सूत्रबद्ध करने, सब धर्मों को एक ही प्रेम-सूत्र में ग्रथित करने की सैकड़ों चेष्टाएँ हो चुकीं––परन्तु सब व्यर्थ हुई, कारण, उन्होंने किसी व्यावहारिक प्रणाली का अवलम्बन नहीं किया। संसार के सभी धर्म सत्य हैं, यह तो अनेकों ने स्वीकार किया है––परन्तु उन सबको एकत्र करने का उन्होंने कोई ऐसा उपाय नहीं दिखाया, जिससे वे इस समन्वय के भीतर रहते हुए भी अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सकें। वही उपाय यथार्थ में कार्यकारी हो सकता है, जो किसी धर्मावलम्बी व्यक्ति की विशिष्टता को नष्ट न करते हुए, उसको औरों के साथ सम्मिलित होने का पथ बता दे। परन्तु अब तक धर्मों के समन्वय के जितने प्रयास हुए हैं, उनमें धर्म संबंधी सभी दृष्टिकोणों को समाहित कर लेने के संकल्प के बावजूद, कार्यरूप में उन्होंने सभी धर्मों को कुछ मतवादों में जकड़ देने की चेष्टा की है। फलस्वरूप उनसे परस्पर कलह, संघर्ष और प्रतियोगिता करनेवाले अनेक नये संप्रदायों की ही सृष्टि हुई है।

मेरी भी एक छोटी सी योजना है। मैं नहीं जानता कि वह कार्यकारी होगी या नहीं, परन्तु मैं उसको विचारार्थ तुम्हारे सामने रखता हूँ। मेरी योजना क्या

है? सर्वप्रथम मैं मनुष्य जाति से यह मान लेने का अनुरोध करता हूँ कि 'कुछ विनाश न करो।' मूर्ति-भंजनकारी सुधारक लोग संसार का उपकार नहीं कर सकते। किसी वस्तु को भी तोड़कर धूल में मत मिलाओ, वरन् उसका गठन करो। यदि हो सके, तो सहायता करो, नहीं तो चुपचाप हाथ उठाकर खड़े हो जाओ और देखो, मामला कहाँ तक जाता है। यदि सहायता न कर सको, तो अनिष्ट मत करो। जब तक मनुष्य कपटहीन रहे, तब तक उसके विश्वास के विरुद्ध एक भी शब्द न कहो। दूसरी बात यह है कि जो जहाँ पर है, उसको वहीं से ऊपर उठाने की चेष्टा करो। यदि यह सत्य है कि ईश्वर सब धर्मों का केन्द्रस्वरूप है और हममें से प्रत्येक एक एक व्यासार्ध से उसकी ओर अग्रसर हो रहा है, तो हम सब निश्चय ही उस केन्द्र में पहुँचेंगे और सब व्यापारों के मिलन-स्थान में हमारे सब वैषम्य दूर हो जायँगे। परन्तु जब तक हम वहाँ नहीं पहुँचते, तब तक वैषम्य कदापि दूर नहीं हो सकता। सब व्यासार्ध एक ही केन्द्र में सम्मिलित होते हैं। कोई अपने स्वभावानुसार एक व्यासार्ध से अग्रसर होता है और कोई किसी दूसरे व्यासार्ध से। इसी तरह हम सब अपने अपने व्यासार्ध द्वारा आगे बढ़ें, तब अवश्य ही हम एक ही केन्द्र में पहुँचेंगे। कहावत भी ऐसी है कि 'सब रास्ते रोम में पहुँचते हैं।' प्रत्येक अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार बढ़ रहा है और पुष्ट हो रहा है--प्रत्येक व्यक्ति उचित समय पर चरम सत्य की उपलब्धि करेगा; कारण, अन्त में देखा जाता है कि मनुष्य स्वयं ही अपना शिक्षक है। तुम क्या कर सकते हो और मैं भी क्या कर सकता हूँ? क्या तुम यह समझते हो कि तुम एक शिशु को भी कुछ सिखा सकते हो? नहीं, तुम नहीं सिखा सकते। शिशु स्वयं ही शिक्षा लाभ करता है--तुम्हारा कर्तव्य है सुयोग देना और बाधा दूर करना। एक वृक्ष बढ़ रहा है। क्या तुम उस वृक्ष को बढ़ा रहे हो? तुम्हारा कर्तव्य है, उस वृक्ष के चारों ओर घेरा बना देना, जिससे चौपाये उस वृक्ष को कहीं न चर डालें। बस, वहीं तुम्हारे कर्तव्य का अन्त हो गया--वृक्ष स्वयं ही बढ़ता है। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का रूप भी ठीक ऐसा ही है। न कोई तुम्हें शिक्षा दे सकता है और न कोई तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। तुमको स्वयं ही शिक्षा लेनी होगी--तुम्हारी उन्नति तुम्हारे ही भीतर से होगी।

बाह्य शिक्षा देनेवाले क्या कर सकते हैं? वे ज्ञानलाभ की बाधाओं को थोड़ा दूर कर सकते हैं, और वहीं उनका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। इसीलिए यदि हो सके, तो सहायता करो; किन्तु विनाश मत करो। तुम इस धारणा को त्याग दो कि 'तुम' किसीको आध्यात्मिक बना सकते हो। यह असम्भव है। तुम्हारी आत्मा को छोड़ तुम्हारा और कोई शिक्षक नहीं है। यह स्वीकार करो। फिर देखो, क्या फल मिलता है। समाज में हम भिन्न भिन्न प्रकार के लोगों को देखते

हैं। संसार में सहस्रों प्रकार के मन और संस्कार के लोग वर्तमान हैं––उन सबका सम्पूर्ण सामान्यीकरण (generalisation) असम्भव है, परन्तु हमारे व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उनको चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, कर्मठ व्यक्ति, जो कर्मेच्छुक हैं। उनके नाड़ीतंत्र और मांसपेशियों में विपुल शक्ति है। उनका उद्देश्य है काम करना, अस्पताल तैयार करना, सत्कार्य करना, रास्ता बनाना, योजना स्थिर करके संघबद्ध होना। द्वितीय, भावुक, जो उदात्त और सुन्दर को सर्वान्तःकरण से प्रेम करते हैं। वे सौन्दर्य की चिन्ता करते हैं, प्रकृति के मनोरम दृश्यों का उपभोग करने के लिए; और प्रेम करते हैं, प्रेममय भगवान् की पूजा करने के लिए। वे विश्व के तमाम महापुरुषों और भगवान् के अवतारों पर विश्वास करते हुए सबकी सर्वान्तःकरण से पूजा करते हैं, प्रेम करते हैं। ईसा और बुद्ध यथार्थ थे या नहीं; इसके लिए प्रमाणों की वे परवा ही नहीं करते। ईसा का दिया हुआ 'शैलोपदेश' कब प्रचारित हुआ था? अथवा श्री कृष्ण ने कौन सी तारीख़ को जन्म ग्रहण किया था?––इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। उनके निकट तो उनका व्यक्तित्व, उनकी मनोहर मूर्तियाँ ही सबसे बड़े आकर्षण हैं। यही प्रेमिक या भावुकों का आदर्श है, यही उनका स्वभाव है। तृतीय, योगमार्गी व्यक्ति, जो अपने मन का विश्लेषण करना और मनुष्य के मन की क्रियाओं को जानना चाहते हैं। मन में कौन कौन शक्ति काम कर रही है और उन शक्तियों को पहचानने का या उनको परिचालित करने का अथवा उनको वशीभूत करने का क्या उपाय है––यही सब जानने को वे उत्सुक रहते हैं। चतुर्थ, दार्शनिक, जो प्रत्येक विषय की परीक्षा लेना चाहते हैं––और अपनी बुद्धि के द्वारा मानवीय दर्शन से जहाँ तक जाना सम्भव है, उसके भी परे जाने की इच्छा रखते हैं।

अब बात यह है कि यदि किसी धर्म को अधिकांश लोगों के लिए उपयोगी होना है, तो उसमें इन सब भिन्न भिन्न वर्गों के लोगों के लिए उपयुक्त सामग्री जुटाने की क्षमता होनी चाहिए, और जहाँ इस क्षमता का अभाव है, वहाँ सभी संप्रदाय एकदेशीय हो जाते हैं। मान लो, तुम किसी भक्त-सम्प्रदाय के पास गये। वे गाते हैं, रोते हैं, और प्रेम का प्रचार करते हैं; परन्तु यदि तुमने उनसे कहा, "मित्र, यह सब ठीक ही है, परन्तु मैं इससे अधिक शक्तिप्रद कुछ चाहता हूँ, मैं कुछ युक्ति-तर्क, कुछ दर्शन और बुद्धिपूर्वक इन क्रियाओं को थोड़ा समझना चाहता हूँ", तो वे फ़ौरन तुमको बाहर निकाल देंगे। और केवल इतना ही नहीं कि तुमको चले जाने को ही कहें, वरन् हो सका, तो एकदम तुमको भवसागर के पार ही भेज देंगे! अब इससे यह फल निकलता है कि वह सम्प्रदाय केवल भावनाप्रधान लोगों की ही सहायता कर सकता है। दूसरों की सहायता तो वे करते ही नहीं, उनको विनष्ट

करने की चेष्टा करते हैं; और सबसे दुष्ट बात तो यह है कि सहायता की तो बात दूर रही, वे दूसरों की ईमानदारी पर भी विश्वास नहीं करते। फिर दार्शनिक हैं, जो भारत के और प्राच्य ज्ञान की बातें करते हैं और खूब लम्बे-चौड़े मनोवैज्ञानिक--पचास अक्षर के लंबे--शब्दों का व्यवहार करते हैं। परन्तु यदि मेरे जैसा कोई साधारण आदमी उनके पास जाकर कहे, "आप मुझे कुछ आध्यात्मिक उपदेश दे सकते हैं!" तो वह ज़रा मुस्कराकर यही कहेंगे, "अजी, तुम बुद्धि में अभी हमसे बहुत नीचे हो। तुम आध्यात्मिकता को क्या समझोगे?" वे बड़े ऊँचे दर्जे के दार्शनिक हैं। वे तुमको केवल धर्म का द्वार दिखा दे सकते हैं। एक और दल है--योगी। वे जीवन की विभिन्न भूमिकाओं, मन के भिन्न भिन्न स्तरों, मानसिक शक्ति की क्षमता इत्यादि के विषय में ढेर सी बातें तुमसे कहेंगे, और यदि तुम साधारण आदमी की तरह उनसे कहो, "मुझको कुछ अच्छी बातें बतलाइए, जो मैं कार्यरूप में परिणत कर सकूँ, मैं उतना कल्पनाप्रिय नहीं हूँ, क्या आप कुछ ऐसा मुझे दे सकते हैं, जो मेरे लिए उपयोगी हो?" तो वे हँसकर कहेंगे, "सुनते हो, क्या कह रहा है यह निर्बोध! कुछ भी समझ नहीं है--अहमक़ का जीवन ही व्यर्थ है।" संसार में सर्वत्र यही हाल है। मैं इन सब भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के चुने चुने धर्म-ध्वजियों को एकत्र कर एक कमरे में बन्द कर उनके सुन्दर विद्रूप-व्यंजक हास्य का फोटोग्राफ़ लेना चाहता हूँ!

यही धर्म की वर्तमान अवस्था है, और यही वस्तुस्थिति है। मैं एक ऐसे धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, जो सब प्रकार की मानसिक अवस्थावाले लोगों के लिए उपयोगी हो; इसमें ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म समभाव से रहेंगे। यदि कॉलेज से वैज्ञानिक और भौतिकशास्त्री अध्यापक आयें, तो वे युक्ति-तर्क पसन्द करेंगे। उनको जहाँ तक सम्भव हो, युक्ति-तर्क करने दो, अन्त में वे एक ऐसी स्थिति पर पहुँचेंगे, जहाँ से युक्ति-तर्क की धारा अविच्छिन्न रखकर वे और आगे बढ़ ही नहीं सकते--यह वे समझ लेंगे। वे कह उठेंगे, "ईश्वर, मुक्ति इत्यादि धारणाएँ अंधविश्वास हैं--उन सबको छोड़ दो।" मैं कहता हूँ, "हे दार्शनिकवर, तुम्हारी यह पंचभौतिक देह तो उससे भी बड़ा अंधविश्वास है, इसका परित्याग करो। आहार करने के लिए घर में या अध्यापन के लिए दर्शन-क्लास में अब तुम मत जाओ। शरीर छोड़ दो और यदि न हो सके, तो चुपचाप बैठकर ज़ोर ज़ोर से रोओ।" क्योंकि धर्म को जगत् के एकत्व और एक ही सत्य के अस्तित्व की सम्यक् उपलब्धि करने का उपाय अवश्य बताना पड़ेगा। इसी तरह यदि कोई योगप्रिय व्यक्ति आयें, तो हम उनकी आदर के साथ अभ्यर्थना करके वैज्ञानिक भाव से मनस्तत्त्व-विश्लेषण कर देने और उनकी आँखों के सामने उसका प्रयोग

दिखाने को प्रस्तुत रहेंगे। यदि भक्त लोग आयें, तो हम उनके साथ एकत्र बैठकर भगवान् के नाम पर हँसेंगे और रोयेंगे, प्रेम का प्याला पीकर उन्मत्त हो जायँगे। यदि एक पुरुषार्थी कर्मी आये, तो उसके साथ यथासाध्य काम करेंगे। भक्ति, योग, ज्ञान और कर्म के इस प्रकार का समन्वय विश्व धर्म का अत्यन्त निकटतम आदर्श होगा। भगवान् की इच्छा से यदि सब लोगों के मन में इस ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म का प्रत्येक भाव ही पूर्ण मात्रा में और साथ ही समभाव से विद्यमान रहे, तो मेरे मत से मानव का सर्वश्रेष्ठ आदर्श यही होगा। जिसके चरित्र में इन भावों में से एक या दो प्रस्फुटित हुए हैं, मैं उनको एकपक्षीय कहता हूँ और सारा संसार ऐसे ही लोगों से भरा हुआ है, जो केवल अपना ही रास्ता जानते हैं। इसके सिवाय अन्य जो कुछ है, वह सब उनके निकट विपत्तिकर और भयंकर है। इस तरह चारों ओर समभाव से विकास लाभ करना ही 'मेरे' कहे हुए धर्म का आदर्श है। और भारतवर्ष में हम जिसको योग कहते हैं, उसीके द्वारा इस आदर्श धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। कर्मी के लिए यह मनुष्य के साथ मनुष्य-जाति का योग है, योगी के लिए जीवात्मा और परमात्मा का योग, भक्त के लिए अपने साथ प्रेममय भगवान् का योग और ज्ञानी के लिए बहुत्व के बीच एकत्वानुभूतिरूप योग है। 'योग' शब्द से यही अर्थ निकलता है। यह एक संस्कृत शब्द है और चार प्रकार के इस योग के संस्कृत में भिन्न भिन्न नाम हैं। जो इस प्रकार का योग-साधन करना चाहते हैं, वे ही योगी हैं। जो कर्म के माध्यम से इस योग का साधन करते हैं, उन्हें कर्मयोगी कहते हैं। जो भगवान् के भीतर से इस योग का साधन करते हैं, उन्हें भक्तियोगी कहते हैं। जो रहस्यवाद के द्वारा इस योग का साधन करते हैं, उन्हें राजयोगी कहते हैं और जो ज्ञान-विचार के बीच इस योग का साधन करते हैं, उन्हें ज्ञानयोगी कहते हैं। अतएव योगी कहने से इन सभी का अर्थ निकलता है।

पहले राजयोग की ही बात लो। इस राजयोग—इस मनःसंयोग का अर्थ क्या है? (इंग्लैण्ड में) तुम लोगों ने योग शब्द के साथ भूत-प्रेत इत्यादि तरह तरह की अजीब धारणाएँ कर रखी हैं। इसलिए मैं पहले ही तुम लोगों से कह देना चाहता हूँ कि योग के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। कोई भी योग युक्ति-तर्कों का परित्याग कर आँखों में कपड़ा बाँधकर ढूँढ़ते फिरना या अपने युक्ति-तर्कों को कुछ ऐरे-गैरे पुरोहितों के हाथ समर्पित करने को नहीं कहता। उनमें से कोई भी नहीं कहता कि तुमको किसी मनुष्य के प्रति श्रद्धा-भक्ति अर्पित करनी होगी। प्रत्येक ही यह कहता है कि तुम अपनी बुद्धि-शक्ति को दृढ़ आलिंगन कर उसीमें लगे रहो। प्राणियों में ज्ञान-लाभ के हम तीन उपाय देखते

हैं। पहला तो जन्मजात-प्रवृत्ति है, जो जीव-जन्तुओं में अत्यधिक परिस्फुटित देखी जाती है। यह ज्ञान-लाभ का सबसे निम्न साधन है। दूसरा साधन क्या है? तर्क या बुद्धि। मनुष्यों में ही इसका सर्वाधिक विकास दिखायी पड़ता है। पहला तो जन्मजात-प्रवृत्ति है, वह एक अपर्याप्त साधन है। जीव-जन्तु का कार्यक्षेत्र बहुत ही संकीर्ण होता है और इस संकीर्ण क्षेत्र में ही वह काम आता है। मनुष्य में यही जन्मजात-प्रवृत्ति विशेष परिस्फुटित होकर तर्क या बुद्धि-शक्ति में परिणत हुई है। साथ ही कार्यक्षेत्र भी बढ़ गया है, फिर भी यह बुद्धि-शक्ति बहुत अपर्याप्त है। यह कुछ दूर अग्रसर होकर ही रह जाती है, फिर आगे नहीं बढ़ सकती और यदि उसको और आगे ले जाने की चेष्टा करो, तो फलस्वरूप भयानक परिभ्रांति उपस्थित हो जायगी। तर्क अपने आप वितर्क में परिणत हो जायगा। न्याय की भाषा में यह अन्योन्याश्रय (argument in a circle) से दूषित हो जायगा। जैसे हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के मूलभूत कारण जड़ और शक्ति की बात लो। जड़ क्या है?—जिस पर शक्ति कार्य करती है। और शक्ति क्या है?—जो जड़ पर कार्य करती है। तुम लोग अवश्य समझ गये होगे कि जटिलता क्या है। नैयायिक इसको अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं—पहले का भाव दूसरे पर निर्भर हो रहा है—और दूसरे का भाव पहले पर निर्भर हो रहा है। इसीलिए तुम्हारे तर्क के पथ में एक बड़ी भारी बाधा दिखायी पड़ रही है, जिसको लाँघकर बुद्धि अग्रसर हो नहीं सकती। तथापि इसके परे जो अनन्त राज्य विद्यमान है, वहाँ पहुँचने के लिए बुद्धि सदा व्यस्त रहती है। पचेन्द्रियगम्य और मानसिक विचार-गम्य यह जगत्—यह विश्व उस अनन्त का मानो एक अणु मात्र है, जो चेतन-भूमि पर प्रक्षिप्त हुआ है; और चेतनरूप जाल से घिरे हुए, उसी संकीर्ण भूमि के भीतर हमारी बुद्धि-शक्ति काम करती है—उसके परे नहीं जा सकती। इस कारण इसके परे जाने के लिए और किसी साधन का प्रयोजन है। अतीन्द्रियबोध वह साधन है। अतएव जन्मजात-प्रवृत्ति, बुद्धि-शक्ति और अतीन्द्रियबोध, ये तीनों ही ज्ञानलाभ के साधन हैं। पशुओं में जन्मजात-प्रवृत्ति, मनुष्य में बुद्धि-शक्ति और देव-मानव में अतीन्द्रियबोध दिखायी पड़ता है। परन्तु सब मनुष्यों में ही ज्ञान के इन तीनों साधनों का बीज थोड़ा-बहुत परिस्फुटित दिखायी पड़ता है। इन सब मानसिक साधनों का विकास होने के लिए उनके बीजों का भी मन में विद्यमान रहना आवश्यक है और यह भी स्मरण रखना कर्तव्य है कि एक साधन दूसरे साधन की विकसित अवस्था ही है, इसलिए वे परस्पर विरोधी नहीं हैं। बुद्धि-शक्ति ही परिस्फुटित होकर अतीन्द्रियबोध में परिणत हो जाती है, इसीलिए अतीन्द्रियबोध बुद्धि-शक्ति का परिपन्थी नहीं है, परन्तु उसका पूरक है। जो जो विषय

बुद्धि-शक्ति के द्वारा समझ में नहीं आते, उन सबको अतीन्द्रियबोध द्वारा समझना होता है और वह बुद्धि-शक्ति का विरोधी नहीं है। वृद्ध बालक का विरोधी नहीं है, बल्कि उसीकी पूर्ण परिणति है। अतएव तुमको सर्वदा स्मरण रखना होगा कि निम्न श्रेणी के साधन को उच्च श्रेणी का साधन कहकर भूल की गयी है, उससे भयानक विपद की सम्भावना है। अनेक बार जन्मजात-प्रवृत्ति को अतीन्द्रियबोध कह दिया जाता है और साथ ही भविष्यवक्ता बनने का झूठा दावा भी किया जाता है। एक निर्बोध या अर्धोन्मत्त आदमी समझता है कि उसके दिमाग़ में जो पागलपन है, वह अतीन्द्रिय ज्ञान है और वह चाहता है कि लोग उसका अनुसरण करें। संसार में जो परस्पर विरोधी असम्बद्ध प्रलाप प्रचारित हुए हैं, वे केवल विकृतमतिष्क उन्मत्त लोगों के सहज ज्ञानलब्ध प्रलाप को अतीन्द्रियबोध की भाषा में प्रकट करने की चेष्टा मात्र हैं।

सच्ची शिक्षा का प्रथम लक्षण यह होना चाहिए कि वह कभी युक्ति-तर्क की विरोधी न हो। तुमको इससे ज्ञात हो जायगा कि ऊपर लिखे हुए सब योग इसी भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं। पहले राजयोग की बात लो। राजयोग मनस्तत्त्व विषय का योग है—मनस्तत्त्व के विश्लेषण से ही एकत्व को प्राप्त किया जा सकता है। विषय खूब बड़ा है; इसलिए मैं अभी इस योग के आभ्यन्तरीण मूल भाव को तुम लोगों के सामने व्यक्त करता हूँ। हम लोगों के लिए ज्ञानलाभ का केवल एक ही उपाय है। निम्नतम मनुष्य से लेकर सर्वोच्च योगी तक को उसी उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है। वह उपाय है एकाग्रता। रसायनविद् जब अपनी प्रयोगशाला (laboratory) में काम करते हैं, तब वे अपने मन की सारी शक्ति को एकत्र कर लेते हैं—केन्द्रीभूत कर लेते हैं—और उस केन्द्रीभूत शक्ति का मूल पदार्थों के ऊपर प्रयोग करते ही, वे सब विश्लेषित हो जाते हैं और इस प्रकार वे उनका ज्ञान लाभ करने में समर्थ होते हैं। ज्योतिर्विद् भी अपनी समग्र मनःशक्ति को एकीभूत कर—केन्द्रीभूत कर—दूरवीक्षण यंत्र के माध्यम से वस्तु के ऊपर प्रयोग करते है, जिससे घूमनेवाले तारे और ग्रहमण्डल उनके निकट अपने रहस्य उद्घाटित करते हैं। चाहे विद्वान् अध्यापक हो, चाहे मेधावी छात्र हो, चाहे अन्य कोई भी हो, यदि वह किसी विषय को जानने की चेष्टा कर रहा है, तो उसको उपर्युक्त प्रथा से ही काम लेना पड़ेगा। तुम सब मेरी बातों को सुन रहे हो, यदि मेरी बातें तुमको अच्छी लगीं, तो तुम्हारा मन मेरी बातों के प्रति एकाग्र हो जायगा। फिर यदि तुम्हारे कान के पास कोई घंटा भी बजाये, तो तुमको सुनायी नहीं देगा, कारण, तुम्हारा मन उस समय किसी अन्य विषय में एकाग्र हुआ रहेगा। तुम अपने मन को जितना अधिक एकाग्र करने में समर्थ

होगे, उतना ही अधिक तुम मेरी बातों को समझ सकोगे और मैं अपने प्रेम और शक्तिसमूह को जितना ही अधिक एकाग्र कर सकूँगा, उतना ही अधिक अच्छी तरह से मैं तुमको अपनी बात समझा सकूँगा। यह एकाग्रता जितनी अधिक होगी, उतना ही अधिक मनुष्य ज्ञान-लाभ करेंगे, कारण——यही ज्ञानलाभ का एकमात्र उपाय है——**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**। मोची यदि ज़रा अधिक मन लगाकर काम करे, तो वह जूतों को अधिक अच्छी तरह से पालिश कर सकेगा। रसोइया एकाग्र होने से भोजन को अच्छी तरह पका सकेगा। अर्थ का उपार्जन हो, चाहे भगवदाराधना हो——जिस काम में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, वह कार्य उतने ही अधिक अच्छे प्रकार से सम्पन्न होगा। द्वार के निकट जाकर बुलाने से या खटखटाने से जैसे द्वार खुल जाता है, उसी भाँति केवल इस उपाय से ही प्रकृति के भाण्डार का द्वार खुलकर विश्व में प्रकाशधारा प्रवाहित होती है। राजयोग में केवल इसी विषय की चर्चा है। अपनी वर्तमान शारीरिक अवस्था में हम बड़े ही अन्यमनस्क हो रहे हैं। हमारा मन इस समय सैकड़ों ओर दौड़कर अपना शक्तिक्षय कर रहा है। जब कभी मैं व्यर्थ की सब चिन्ताओं को छोड़कर ज्ञान-लाभ के उद्देश्य से मन को स्थिर करने की चेष्टा करता हूँ, तब न जाने कहाँ से मस्तिष्क में हज़ारों बाधाएँ आ जाती हैं, हज़ारों चिन्ताएँ मन में एक संग आकर उसको चंचल कर देती हैं। किस प्रकार से इन सबका नियंत्रण कर मन को वशीभूत किया जाय, यही राजयोग का एकमात्र आलोच्य विषय है।

अब कर्मयोग अर्थात् कर्म द्वारा ईश्वर-लाभ की बात लो। संसार में ऐसे लोग बहुत देखे जाते हैं, जिन्होंने मानो किसी न किसी प्रकार का काम करने के लिए ही जन्म ग्रहण किया है। उनका मन केवल चिन्तन-राज्य में ही एकाग्र होकर नहीं रह सकता। जिसे आँखों से देखा जा सकता है। और हाथों से किया जा सकता है——ऐसे मूर्त कार्य में ही उनका मन एकाग्र होता है। इस प्रकार के लोगों के लिए एक विज्ञान की आवश्यकता है। हममें से प्रत्येक ही किसी न किसी प्रकार के काम में लिप्त हैं; परन्तु हम लोगों में अधिकतर लोग अपनी अधिकांश शक्ति का अपव्यय करते हैं, कारण यह है कि हमें कर्म का रहस्य ज्ञात नहीं है। कर्मयोग इस रहस्य की व्याख्या करता है और कहाँ, किस भाव से कार्य करना होगा, प्रस्तुत कर्म में किस भाव से हमारी समस्त शक्ति का प्रयोग करने से सर्वापेक्षा अधिक लाभ होगा, इसकी शिक्षा देता है। हाँ, कर्म के विरुद्ध, यह कहकर जो प्रबल आपत्ति उठायी जाती है कि वह दुःखजनक है, इसका भी विचार करना होगा। सब दुःख और कष्ट आते हैं आसक्ति से——मैं काम करना चाहता हूँ, मैं किसी मनुष्य का उपकार करना चाहता हूँ। और नब्बे में एक यही देखा जाता है कि

मैंने जिसकी सहायता की है, वह व्यक्ति सारे उपकारों को भूलकर मुझसे शत्रुता करता है—फल यह होता है कि मुझे कष्ट मिलता है। इस प्रकार की घटनाएँ ही मनुष्य को कर्म से विरत कर देती हैं और इन दुःखों और कष्टों का भय ही मनुष्यों के कर्म और उद्यम को नष्ट कर देता है। किसकी सहायता की जा रही है अथवा किस कारण से सहायता को जा रही है, इत्यादि विषयों पर ध्यान न रखते हुए अनासक्त भाव से केवल कर्म के लिए कर्म करना चाहिए—कर्मयोग यही शिक्षा देता है। कर्मयोगी कर्म करते हैं, कारण, यह उनका स्वभाव है, वे अनुभव करते हैं कि ऐसा करना ही उनके लिए कल्याणप्रद है—इसको छोड़ उनका और कोई उद्देश्य नहीं रहता। वे संसार में सर्वदा दाता का आसन ग्रहण करते हैं, कभी किसी वस्तु की प्रत्याशा नहीं रखते। वे जान-बूझकर दान करते जाते हैं, परन्तु प्रतिदानस्वरूप वे कुछ नहीं चाहते, इसी कारण वे दुःखों से मुक्ति पाते हैं। जब दुःख हमको ग्रसित करता है, तब यही समझना होगा कि यह केवल 'आसक्ति' की प्रतिक्रिया है।

अब इसके बाद, भावुक और प्रेमी लोगों के लिए भक्तियोग है। भक्त चाहते हैं, भगवान् से प्रेम करना। वे धर्म के अंगस्वरूप क्रियाकलापों की सहायता लेते हैं और पुष्प, गन्ध, सुरम्य मन्दिर, मूर्ति इत्यादि नाना प्रकार के द्रव्यों से सम्बन्ध रखते हैं। तुम लोग क्या यह कहना चाहते हो कि वे भूल करते हैं? मैं तुमसे एक सच्ची बात कहना चाहता हूँ, वह तुम लोगों को—विशेषकर इस देश में—स्मरण रखना उचित है। जो सब धर्म-सम्प्रदाय अनुष्ठान और पौराणिक तत्त्व-सम्पद् से समृद्ध हैं, विश्व के श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न महापुरुषों ने उन्हीं सम्प्रदायों में जन्म ग्रहण किया है। और जो सम्प्रदाय, किसी प्रतीक या अनुष्ठानविशेष की सहायता बिना ही भगवान् की उपासना की चेष्टा करते हैं, जो धर्म की सारी सुन्दरता, महानता तथा और सब कुछ निर्मम भाव से पददलित करते हैं, अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भी उनका धर्म केवल कट्टरता है, शुष्क है। जगत् का इतिहास इसका ज्वलन्त साक्षी है। इसलिए इन सब अनुष्ठानों तथा पुराणों आदि को गाली मत दो। जो लोग इन्हें लेकर रहना चाहते हैं, उन्हें रहने दो। तुम व्यर्थ ही व्यंग्यात्मक हँसी हँसकर यह मत कहो कि वे 'मूर्ख हैं, उन्हें उसीको लेकर रहने दो।' यह बात कदापि नहीं है; मैंने जीवन में जिन सब आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न श्रेष्ठ महापुरुषों के दर्शन किये हैं, वे सब इन्हीं अनुष्ठानादि नियमों के माध्यम से हुए हैं। मैं अपने को उनके पैरों तले बैठने के योग्य भी नहीं समझता और उस पर भला मैं उनकी समालोचना करूँ? ये सब भाव मानव मन में किस तरह कार्य करते हैं और उनमें से कौन सा हमारे लिए ग्राह्य है तथा कौन सा त्याज्य

है, इसे मैं कैसे समझूं? हम उचित-अनुचित न समझते हुए भी संसार की सारी वस्तुओं की समालोचना करते रहते हैं। लोगों की जितनी इच्छा हो, उन्हें इन सब सुन्दर प्रेरणादायक पुराणादि को ग्रहण करने दो; कारण, तुमको यह सर्वदा स्मरण रखना उचित है कि भावुक लोग सत्य की कुछ नीरस परिभाषाओं की ज़रा भी चिंता नहीं करते। ईश्वर उनके निकट मूर्त वस्तु है, वही एकमात्र सत्य वस्तु है। उसे वे अनुभव करते हैं, उससे वे बात सुनते हैं, उसे वे देखते हैं, उससे वे प्रेम करते हैं। वे अपने ईश्वर को ही लेकर रहें। तुम्हारा युक्तिवाद भक्त के निकट उस मूर्ख के सदृश है, जो एक सुन्दर मर्ति को देखते ही उसे चूर्ण कर यह देखना चाहे कि वह किस उपकरण से निर्मित है। भक्तियोग उनको निःस्वार्थ भाव से प्रेम करने की शिक्षा देता है, किसी भी सुदूर स्वार्थभाव से, लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा से नितांत रहित होकर। केवल ईश्वर को अथवा जो कुछ मंगलमय है, केवल उसीसे कर्तव्य समझकर प्रेम करो। प्रेम ही प्रेम का श्रेष्ठ प्रतिदान है, और ईश्वर ही प्रेमस्वरूप है। ईश्वर सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शास्ता और पिता-माता है, यह कहकर उसके प्रति हृदय की सारी भक्ति और श्रद्धा अर्पित करने की ही शिक्षा भक्तियोग देता है। भाषा उसका जो सर्वश्रेष्ठ प्रकाश कर सकती है, अथवा मनुष्य उसके सम्बन्ध में जो सर्वोच्च धारणा कर सकता है, वह यह है कि वह प्रेममय है। जहाँ कहीं प्रेम है, वहाँ वह है। 'जहाँ कहीं किसी प्रकार का प्रेम है, वहाँ वह है, वहाँ प्रभु विद्यमान है।' पति जब स्त्री को चुम्बन करता है, उस चुम्बन में भी वह विद्यमान है। माता जब शिशु को चुम्बन करती है, तो उसमें भी वह वर्तमान है। मित्रों के करमर्दन में भी प्रभु विद्यमान है। जब कोई महापुरुष मानव जाति के प्रेम के वशीभूत हो, उनका कल्याण करने की इच्छा करते हैं, तब प्रभु ही अपने मानव-प्रेम-भाण्डार से मुक्तहस्त हो प्रेम वितरण करता है। जहाँ हृदय का विकास है, वहाँ उसका प्रकाश है। भक्तियोग से इन्हीं सब बातों की शिक्षा मिलती है।

अब अन्त में मैं ज्ञानयोगी—दार्शनिक पर विचार करूँगा। वे दार्शनिक और चिन्तक हैं, जो इस दृश्य जगत् के परे जाना चाहते हैं—वे संसार की तुच्छ वस्तुओं को लेकर सन्तुष्ट नहीं रह सकते। वे प्रतिदिन के आहारादि नित्य कर्म के परे चले जाना चाहते हैं—हज़ारों पुस्तकें पढ़ने पर भी उनकी शान्ति नहीं होती, यहाँ तक कि समग्र भौतिक विज्ञान भी उनको परितृप्त नहीं कर सकता। कारण, वे बहुत प्रयत्न करने पर इस क्षुद्र पृथ्वी को ही ज्ञानगोचर कर सकते हैं। ऐसी क्या वस्तु है, जो उनका सन्तोष कर सके? कोटि कोटि सौर जगत् भी उनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते; अपनी दृष्टि में वे 'सत्' सिन्धु में केवल एक बिन्दु हैं। उनकी

आत्मा इन सबके पार—सब अस्तित्वों का जो सार है, उसीमें डूब जाना चाहती है—सत्यस्वरूप को प्रत्यक्ष करना चाहती है। वे इसकी उपलब्धि करना चाहते हैं, उसके साथ तादात्म्य लाभ करना चाहते हैं, उस विराट् सत्ता के साथ एक हो जाना चाहते हैं। वे ही ज्ञानी हैं। भगवान् जगत् के पिता, माता, सृष्टिकर्ता, पालक, पथप्रदर्शक इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान् की महिमा प्रकाश करने में वे असमर्थ हैं। वे सोचते हैं, भगवान् उनके प्राणों के प्राण, आत्मा की आत्मा हैं, भगवान् उनकी ही आत्मा हैं। भगवान् को छोड़कर और कोई भी वस्तु नहीं है। उनका समुदय नश्वर अंश विचारों के प्रबल आघात से चूर्ण-विचूर्ण होकर उड़ जाता है। अन्त में जो सचमुच ही विद्यमान रहता है, वही स्वयं भगवान् है।

'एक ही वृक्ष पर दो पक्षी हैं; एक ऊपर, एक नीचे। ऊपर का पक्षी स्थिर, निर्वाक् और महान् है और अपनी ही महिमा में विभोर है; नीचे की डाल पर जो पक्षी है, वह कभी मिष्ट और कभी तिक्त फल खा रहा है, एक डाल से दूसरी डाल पर फुदक रहा है और पर्यायक्रम से अपने को कभी सुखी और कभी दुःखी समझता है। कुछ क्षण बाद नीचे के पक्षी ने एक बहुत ही कड़ुआ फल खाया और साथ ही अपने को धिक्कारते हुए ऊपर की ओर दृष्टिपात किया और दूसरे पक्षी को देखा—वह अपूर्व सुनहले परवाला पक्षी न तो मीठे फल खाता है और न कड़वे। अपने को न तो दुःखी समझता है और न सुखी; परन्तु शान्त भाव से अपने में ही विभोर है; उसे अपनी आत्मा को छोड़ और कुछ भी दिखायी नहीं देता। नीचे का पक्षी इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए व्यग्र हुआ; परन्तु शीघ्र ही भूल गया और फिर फल खाने लगा। थोड़ी देर बाद फिर उसने एक बड़ा ही कड़ुआ फल खाया, जिससे उसके मन में बड़ा दुःख हुआ और फिर उसने ऊपर की ओर दृष्टि डाली और ऊपरवाले पक्षी के निकट जाने की चेष्टा की, परन्तु फिर भूल गया और कुछ क्षण बाद फिर ऊपर देखा। कई बार ऐसा ही करते हुए, वह ऊपर के पक्षी के बिल्कुल निकट पहुँच गया और देखा कि उसके प ों से ज्योति का प्रकाश फूटकर उसकी देह के चतुर्दिक् विकीर्ण हो रहा है। उसने एक परिवर्तन का अनुभव किया—मानो वह मिलने जा रहा है; वह और भी पास गया, देखा, उसके चारों तरफ़ जो कुछ था, सब गला जा रहा है—अन्तर्हित हो रहा है। अन्त में उसने इस अद्भुत परिवर्तन का अर्थ समझा। नीचे का पक्षी मानो ऊपरवाले पक्षी की एक घनीभूत छाया मात्र था—केवल प्रतिबिम्ब था! वह स्वयं बराबर स्वरूपतः ऊपरवाला पक्षी ही था। नीचेवाले पक्षी का मीठा और कड़ुआ फल खाना और एक के बाद एक सुख और दुःख का बोध करना—सब मिथ्या—सब स्वप्न मात्र है; वह प्रशान्त, निर्वाक्, महिमामय, शोकदुःखातीत ऊपरवाला पक्षी ही सर्वदा

विद्यमान था।"[1] ऊपरवाला पक्षी ईश्वर, परमात्मा––जगत्-प्रभु है और नीचेवाला पक्षी, जीवात्मा, इस जगत् के सुख-दुःखरूपी मीठे-कड़ुवे फलों का भोक्ता है। बीच बीच में जीवात्मा के ऊपर प्रबल आघात आ पड़ता है; वह कुछ दिन के लिए फलभोग बन्द कर उन अज्ञात ईश्वर की ओर अग्रसर होता है––उसके हृदय में सहसा ज्ञानज्योति का प्रकाश होता है। तब वह समझता है––यह संसार केवल झूठा दृश्यजाल है, परन्तु फिर इन्द्रियाँ उसे बहिर्जगत् में उतार लाती हैं और पूर्व की भाँति फिर वह जगत् के अच्छे-बुरे फलभोगों में लग जाता है। पुनः एक अत्यन्त कठोर आघात पाता है और फिर उसका हृदय-द्वार दिव्य प्रकाश के लिए उन्मुक्त हो जाता है। इस तरह धीरे धीरे वह भगवान् की ओर अग्रसर होता है और जितना ही वह अधिकतर निकटवर्ती होने लगता है, उतना ही वह देखता है कि उसके अहंकारी 'मैं' का अपने आप ही लय होता जा रहा है। जब वह खूब निकट आ जाता है, तब देख पाता है कि वह स्वयं ही भगवान् है और बोल उठता है, "जिसको मैंने तुम्हारे निकट जगत् का जीवन और अणु-परमाणु तथा चन्द्र-सूर्य तक में विद्यमान रहनेवाला कहकर वर्णन किया है, वही हमारे इस जीवन का आधार है, हमारी आत्माओं की आत्मा है। केवल यही नहीं, **तत्त्वमसि**।" ज्ञानयोग हमको यही शिक्षा देता है। वह मनुष्य से कहता है, तुम्हीं स्वरूपतः भगवान् हो। यह मानव-जाति को प्राणिजगत् के बीच यथार्थ एकत्व दिखा देता है––हममें से प्रत्येक के भीतर से प्रभु ही इस जगत् में प्रकाशित हो रहा है। अत्यंत सामान्य पददलित कीट से लेकर उन श्रेष्ठ जीवों तक, जिसको हम सविस्मय हृदय की श्रद्धा-भक्ति अर्पित करते हैं, सभी उस एकमात्र भगवान् की अभिव्यक्तियाँ हैं।

अंतिम बात यह है––इन सब विभिन्न योगों को हमें कार्य में परिणत करना ही होगा; केवल उनके सम्बन्ध में जल्पना-कल्पना करने से कुछ न होगा। **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**। पहले उनके सम्बन्ध में सुनना पड़ेगा––फिर श्रुत विषयों पर चिन्ता करनी होगी। हमें उन सबको अच्छी तरह विचारपूर्वक समझना होगा, जिससे हमारे मन में उनकी एक छाप पड़ जाय। इसके बाद उनका ध्यान और उपलब्धि करनी पड़ेगी––जब तक कि हमारा समस्त जीवन तद्भावभावित न हो उठे। तब धर्म हमारे लिए केवल कतिपय धारणाओं एवं मतवादों की पोटली अथवा बौद्धिक कल्पना भी नहीं रहेगा। यह हमारा आत्मस्वरूप हो जायगा। भ्रमात्मक बुद्धि से आज हम अनेक मूर्खताओं को सत्य समझकर ग्रहण करके कल ही शायद सम्पूर्ण मत-परिवर्तन कर सकते हैं, किन्तु यथार्थ धर्म कभी परिवर्तित नहीं होता।

---

१. मुंडकोपनिषद्॥३।१।१-२॥

धर्म अनुभूति की वस्तु है--वह मुख की बात, मतवाद अथवा युक्तिमूलक कल्पना मात्र नहीं है--चाहे वह जितना ही सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना--उसका साक्षात्कार करना, यही धर्म है--वह केवल सुनने या मान लेने की चीज़ नहीं है। समस्त मन-प्राण विश्वास की वस्तु के साथ एक हो जायगा। यही धर्म है।

भारत का भविष्य

(मद्रास का यह अन्तिम व्याख्यान एक विशाल मंडप में लगभग चार हज़ार श्रोताओं के सम्मुख दिया गया था)

स्वामी जी का भाषण

यह वही प्राचीन भूमि है, जहाँ दूसरे देशों को जाने से पहले तत्त्वज्ञान ने आकर अपनी वासभूमि बनायी थी; यह वही भारत है, जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप उसके बहनेवाले समुद्राकार नद हैं, जहाँ चिरन्तन हिमालय श्रेणीबद्ध उठा हुआ अपने हिमशिखरों द्वारा मानो स्वर्गराज्य के रहस्यों की ओर निहार रहा है। यह वही भारत है, जिसकी भूमि पर संसार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियों की चरण-रज पड़ चुकी है। यहीं सबसे पहले मनुष्य-प्रकृति तथा अन्तर्जगत् के रहस्योद्घाटन की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे। आत्मा का अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर एवं जगत्प्रपंच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा विषयक मतवादों का पहले-पहल यहीं उद्भव हुआ था। और यहीं धर्म और दर्शन के आदर्शों ने अपनी चरम उन्नति प्राप्त की थी। यह वही भूमि है, जहाँ से उमड़ती हुई बाढ़ की तरह धर्म तथा दार्शनिक तत्त्वों ने समग्र संसार को बार बार प्लावित कर दिया, और यही भूमि है, जहाँ से पुनः ऐसी ही तरंगें उठकर निस्तेज जातियों में शक्ति और जीवन का संचार कर देंगी। यह वही भारत है, जो शताब्दियों के आघात, विदेशियों के शत शत आक्रमण और सैकड़ों आचार-व्यवहारों के विपर्यय सहकर भी अक्षय बना हुआ है। यह वही भारत है, जो अपने अविनाशी वीर्य और जीवन के साथ अब तक पर्वत से भी दृढ़तर भाव से खड़ा है। आत्मा जैसे अनादि, अनन्त और अमृतस्वरूप है, वैसे ही हमारी भारतभूमि का जीवन है, और हम इसी देश की सन्तान हैं।

भारत की संतानो, तुमसे आज मैं यहाँ कुछ व्यावहारिक बातें कहूँगा, और तुम्हें तुम्हारे पूर्व गौरव की याद दिलाने का उद्देश्य केवल इतना ही है: कितनी ही बार मुझसे कहा गया है कि अतीत की ओर नज़र डालने से सिर्फ़ मन की अवनति ही होती है और इससे कोई फल नहीं होता; अतः हमें भविष्य की ओर दृष्टि रखनी

चाहिए। यह सच है। परन्तु अतीत से ही भविष्य का निर्माण होता है। अतः जहाँ तक हो सके, अतीत की ओर देखो, पीछे जो चिरन्तन निर्झर बह रहा है, आकंठ उसका जल पियो और उसके बाद सामने देखो और भारत को उज्ज्वलतर, महत्तर और पहले से और भी ऊँचा उठाओ। हमारे पूर्वज महान् थे। पहले यह बात हमें याद करनी होगी। हमें समझना होगा कि हम किन उपादानों से बने हैं, कौन सा खून हमारी नसों में बह रहा है। उस खून पर हमें विश्वास करना होगा। और अतीत के उसके कृतित्व पर भी, इस विश्वास और अतीत गौरव के ज्ञान से हम अवश्य एक ऐसे भारत की नींव डालेंगे, जो पहले से श्रेष्ठ होगा। अवश्य ही यहाँ बीच बीच में दुर्दशा और अवनति के युग भी रहे हैं, पर उनको मैं अधिक महत्त्व नहीं देता। हम सभी उसके विषय में जानते हैं। ऐसे युगों का होना आवश्यक था। किसी विशाल वृक्ष में एक सुन्दर पका हुआ फल पैदा हुआ, फल ज़मीन पर गिरा, मुरझाया और सड़ा; इस विनाश से जो अंकुर उगा, सम्भव है, वह पहले के वृक्ष से बड़ा हो जाय। अवनति के जिस युग के भीतर से हमें गुज़रना पड़ा, वे सभी आवश्यक थे। इसी अवनति के भीतर से भविष्य का भारत आ रहा है, वह अंकुरित हो चुका है, उसके नये पल्लव निकल चुके हैं और उस शक्तिधर विशालकाय ऊर्ध्वमूल वृक्ष का निकलना शुरू हो चुका है; और उसीके सम्बन्ध में मैं तुमसे कहने जा रहा हूँ।

किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा भारत की समस्याएं अधिक जटिल और गुरुतर हैं। जाति, धर्म, भाषा, शासन-प्रणाली---ये ही एक साथ मिलकर एक राष्ट्र की सृष्टि करते हैं। 'यदि एक एक जाति को लेकर हमारे राष्ट्र से तुलना की जाय, तो हम देखेंगे कि जिन उपादानों से संसार के दूसरे राष्ट्र संगठित हुए हैं, वे संख्या में यहां के उपादानों से कम हैं। यहाँ आर्य हैं, द्रविड़ हैं, तातार हैं, तुर्क हैं, मुग़ल हैं, यूरोपीय हैं---मानो संसार की सभी जातियां इस भूमि में अपना अपना ख़ून मिला रही हैं। भाषा का यहां एक विचित्र ढंग का जमावड़ा है, आचार-व्यवहारों के सम्बन्ध में दो भारतीय जातियों में जितना अन्तर है, उतना पूर्वी और यूरोपीय जातियों में नहीं।

हमारे पास एकमात्र सम्मिलन-भूमि है, हमारी पवित्र परम्परा, हमारा धर्म। एकमात्र सामान्य आधार वही है, और उसी पर हमें संगठन करना होगा। यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का कारण है। किन्तु एशिया में राष्ट्रीय ऐक्य का आधार धर्म ही है, अतः भारत के भविष्य संगठन की पहली शर्त के तौर पर उसी धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है। देश भर में एक ही धर्म सबको स्वीकार करना होगा। एक ही धर्म से मेरा क्या मतलब है? यह उस तरह

का एक ही धर्म नहीं, जिसका ईसाइयों, मुसलमानों या बौद्धों में प्रचार है। हम जानते हैं, हमारे विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा दावे, चाहे कितने ही विभिन्न क्यों न हों, हमारे धर्म में कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं, जो सभी सम्प्रदायों द्वारा मान्य हैं। इस तरह हमारे सम्प्रदायों के ऐसे कुछ सामान्य आधार अवश्य हैं, उनको स्वीकार करने पर हमारे धर्म में अद्भुत विविधता के लिए गुंजाइश हो जाती है, और साथ ही विचार और अपनी रुचि के अनुसार जीवन निर्वाह के लिए हमें सम्पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है। हम लोग, कम से कम वे, जिन्होंने इस पर विचार किया है, यह बात जानते हैं। और अपने धर्म के ये जीवनप्रद सामान्य तत्त्व हम सबके सामने लायें और देश के सभी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, उन्हें जानें-समझें तथा जीवन में उतारें—यही हमारे लिए आवश्यक है। सर्वप्रथम यही हमारा कार्य है।

अतः हम देखते हैं कि एशिया में और विशेषतः भारत में जाति, भाषा, समाज सम्बन्धी सभी बाधाएँ धर्म की इस एकीकरण शक्ति के सामने उड़ जाती हैं। हम जानते हैं कि भारतीय मन के लिए धार्मिक आदर्श से बड़ा और कुछ भी नहीं है। धर्म ही भारतीय जीवन का मूल मंत्र है, और हम केवल सबसे कम बाधावाले मार्ग का अनुसरण करके ही कार्य में अग्रसर हो सकते हैं। यह केवल सत्य ही नहीं कि धार्मिक आदर्श यहाँ सबसे बड़ा आदर्श है, किन्तु भारत के लिए कार्य करने का एकमात्र सम्भाव्य उपाय यही है। पहले उस पथ को सुदृढ़ किये विना, दूसरे मार्ग से कार्य करने पर उसका फल घातक होगा। इसीलिए भविष्य के भारत-निर्माण का पहला कार्य, वह पहला सोपान, जिसे युगों के उस महाचल पर खोद-कर बनाना होगा, भारत की यह धार्मिक एकता ही है। यह शिक्षा हम सबको मिलनी चाहिए कि हम हिन्दू—द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी, अथवा दूसरे सम्प्रदाय के लोग, जैसे शैव, वैष्णव, पाशुपत आदि भिन्न भिन्न मतों के होते हुए भी आपस में कुछ सामान्य भाव भी रखते हैं, और अब वह समय आ गया है कि अपने हित के लिए, अपनी जाति के हित के लिए हम इन तुच्छ भेदों और विवादों को त्याग दें। सचमुच ये झगड़े बिल्कुल वाहियात हैं; हमारे शास्त्र इनकी निन्दा करते हैं, हमारे पूर्व पुरुषों ने इनके बहिष्कार का उपदेश दिया है; और वे महापुरुष, जिनके वंशज हम अपने को बताते हैं, और जिनका खून हमारी नसों में बह रहा है, अपनी संतानों को छोटे छोटे भेदों के लिए झगड़ते हुए देखकर उनको घोर घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

लड़ाई-झगड़े छोड़ने के साथ ही अन्य विषयों की उन्नति अवश्य होगी, यदि जीवन का रक्त सशक्त एवं शुद्ध है, तो शरीर में विषैले कीटाणु नहीं रह सकते। हमारी आध्यात्मिकता ही हमारा जीवन-रक्त है। यदि यह साफ़ बहता रहे,

यदि यह शुद्ध एवं सशक्त बना रहे, तो सब कुछ ठीक है। राजनीतिक, सामाजिक, चाहे जिस किसी तरह की ऐहिक त्रुटियाँ हों, चाहे देश की निर्धनता ही क्यों न हो, यदि ख़ून शुद्ध है, तो सब सुधर जायँगे। क्योंकि यदि रोगवाले कीटाणु शरीर से निकाल दिये जायँ, तो फिर दूसरी कोई बुराई ख़ून में नहीं समा सकती। उदाहरणार्थ आधुनिक चिकित्साशास्त्र की एक उपमा लो। हम जानते हैं कि किसी बीमारी के फैलने के दो कारण होते हैं—एक तो बाहर से कुछ विषैले कीटाणुओं का प्रवेश, दूसरा शरीर की अवस्थाविशेष। यदि शरीर की अवस्था ऐसी न हो जाय कि वह कीटाणुओं को घुसने दे, यदि शरीर की जीवनी-शक्ति इतनी क्षीण न हो जाय कि कीटाणु शरीर में घुसकर बढ़ते रहें, तो संसार में किसी भी कीटाणु में इतनी शक्ति नहीं, जो शरीर में पैठकर बीमारी पैदा कर सके। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य के शरीर के भीतर सदा करोड़ों कीटाणु प्रवेश करते रहते हैं, परन्तु जब तक शरीर बलवान् है, हमें उनकी कोई ख़बर नहीं रहती। जब शरीर कमज़ोर हो जाता है, तभी ये विषैले कीटाणु उस पर अधिकार कर लेते हैं और रोग पैदा करते हैं। राष्ट्रीय जीवन के बारे में भी यही बात है। जब राष्ट्रीय जीवन कमज़ोर हो जाता है, तब हर तरह के रोग के कीटाणु उसके शरीर में इकट्ठे जमकर उसकी राजनीति, समाज, शिक्षा और बुद्धि को रुग्ण बना देते हैं। अतएव उसकी चिकित्सा के लिए हमें इस बीमारी की जड़ तक पहुँचकर रक्त से कुल दोषों को निकाल देना चाहिए। तब उद्देश्य यह होगा कि मनुष्य बलवान् हो, ख़ून शुद्ध हो और शरीर तेजस्वी, जिससे वह सब बाहरी विषों को दबा और हटा देने लायक़ हो सके।

हमने देखा है कि हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, यही नहीं, हमारे जातीय जीवन की भी मूल भित्ति है। इस समय मैं यह तर्क-वितर्क करने नहीं जा रहा हूँ कि धर्म उचित है या नहीं, सही है या नहीं, और अन्त तक यह लाभदायक है या नहीं। किन्तु अच्छा हो या बुरा; धर्म ही हमारे राष्ट्रीय जीवन का प्राण है; तुम उससे निकल नहीं सकते। अभी और चिर काल के लिए भी तुम्हें उसीका अवलम्ब ग्रहण करना होगा और तुम्हें उसीके आधार पर खड़ा होना होगा, चाहे तुम्हें इस पर उतना विश्वास हो या न हो, जो मुझे है। तुम इसी धर्म में बँधे हुए हो, और अगर तुम इसे छोड़ दो, तो चूर चूर हो जाओगे। वही हमारी जाति का जीवन है और उसे अवश्य ही सशक्त बनाना होगा। तुम जो युगों के धक्के सहकर भी अक्षय हो, इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया था, उस पर सब कुछ निछावर किया था। तुम्हारे पूर्वजों ने धर्म-रक्षा के लिए सब कुछ साहसपूर्वक सहन किया था, मृत्यु को भी उन्होंने हृदय

से लगाया था। विदेशी विजेताओं द्वारा मन्दिर के बाद मन्दिर तोड़े गये, परन्तु उस बाढ़ के बह जाने में देर नहीं हुई कि मन्दिर के कलश फिर खड़े हो गये। दक्षिण के ये ही कुछ पुराने मन्दिर और गुजरात के सोमनाथ के जैसे मन्दिर तुम्हें राशि राशि ज्ञान प्रदान करेंगे। वे जाति के इतिहास के भीतर वह गहरी अन्तर्दृष्टि देंगे, जो ढेरों पुस्तकों से भी नहीं मिल सकती। देखो कि किस तरह ये मन्दिर सैकड़ों आक्रमणों और सैकड़ों पुनरुत्थानों के चिह्न धारण किये हुए हैं, ये बार बार नष्ट हुए और बार बार ध्वंसावशेष से उठकर नया जीवन प्राप्त करते हुए अब पहले ही की तरह अटल भाव से खड़े हैं। इसलिए इस धर्म में ही हमारा राष्ट्रीय मन है, हमारा राष्ट्रीय जीवन-प्रवाह है। इसका अनुसरण करोगे, तो यह तुम्हें गौरव की ओर ले जायगा। इसे छोड़ोगे, तो मृत्यु निश्चित है। अगर तुम उस जीवन-प्रवाह से बाहर निकल आये, तो मृत्यु ही एकमात्र परिणाम होगा और पूर्ण नाश ही एकमात्र परिणति। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दूसरी चीज़ की आवश्यकता ही नहीं। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है, किन्तु मेरा तात्पर्य यही है और मैं तुम्हें सदा इसकी याद दिलाना चाहता हूँ कि ये सब यहाँ गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है। भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कुछ और। अतः धर्म को ही सशक्त बनाना होगा। पर यह किया किस तरह जाय? मैं तुम्हारे सामने अपने विचार रखता हूँ। बहुत दिनों से, यहाँ तक कि अमेरिका के लिए मद्रास का समुद्री तट छोड़ने के वर्षों पहले से ये मेरे मन में थे और उन्हींको प्रचारित करने के लिए मैं अमेरिका और इंग्लैण्ड गया था। धर्म-महासभा या किसी और वस्तु की मुझे बिलकुल परवाह नहीं थी, वह तो एक सुयोग मात्र था। वस्तुतः मेरे ये संकल्प ही थे, जो सारे संसार में मुझे लिये फिरते रहे।

मेरा विचार है, पहले हमारे शास्त्र-ग्रन्थों में भरे पड़े आध्यात्मिकता के रत्नों को, जो कुछ ही मनुष्यों के अधिकार में मठों और अरण्यों में छिपे हुए हैं, बाहर लाना है। जिन लोगों के अधिकार में ये छिपे हुए हैं ,केवल उन्हींसे इस ज्ञान का उद्धार करना नहीं, वरन् उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा में ये सुरक्षित हैं, उन शताब्दियों के पर्त खाये हुए संस्कृत शब्दों से उन्हें निकालना होगा। तात्पर्य यह है कि मैं उन्हें सबके लिए सुलभ कर देना चाहता हूँ। मैं इन तत्त्वों को निकालकर सबकी, भारत के प्रत्येक मनुष्य की, सामान्य सम्पत्ति बनाना चाहता हूँ, चाहे वह संस्कृत जानता हो या नहीं। इस मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाई हमारी गौरवशाली भाषा संस्कृत ही है, यह कठिनाई तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक यदि सम्भव हो, तो हमारी जाति के सभी मनुष्य संस्कृत के अच्छे विद्वान् न हो जायँ। यह कठिनाई

तुम्हारी समझ में आ जायगी, जब मैं कहूँगा कि आजीवन इस संस्कृत भाषा का अध्ययन करने पर भी जब मैं इसकी कोई नयी पुस्तक उठाता हूँ, तब वह मुझे बिल्कुल नयी जान पड़ती है। अब सोचो कि जिन लोगों ने कभी विशेष रूप से इस भाषा का अध्ययन करने का समय नहीं पाया, उनके लिए यह भाषा कितनी अधिक क्लिष्ट होगी। अतः मनुष्यों की बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी। साथ ही संस्कृत की भी शिक्षा अवश्य होती रहनी चाहिए, क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से ही जाति को एक प्रकार का गौरव, शक्ति और बल प्राप्त हो जाता है। महान् रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की नीची जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था, उसमें उन महान् धर्माचार्यों को अपने ही जीवन-काल में अद्‌भुत सफलता मिली थी। किन्तु फिर उनके बाद उस कार्य का जो शोचनीय परिणाम हुआ, उसकी व्याख्या होनी चाहिए, और जिस कारण उन बड़े बड़े धर्माचार्यों के तिरोभाव के प्रायः एक ही शताब्दी के भीतर वह उन्नति रुक गयी, उसकी भी व्याख्या करनी होगी। इसका रहस्य यह है--उन्होंने नीची जातियों को उठाया था। वे सब चाहते थे कि ये उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जायँ, परन्तु उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में अपनी शक्ति नहीं लगायी। यहाँ तक कि भगवान् बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का अध्ययन बंद कर दिया। वे तुरन्त फल पाने के इच्छुक थे, इसीलिए उस समय की भाषा पाली में संस्कृत से अनुवाद कर उन्होंने उन विचारों का प्रचार किया। 'यह बहुत ही सुन्दर हुआ था, जनता ने उनका अभिप्राय समझा, क्योंकि वे जनता की बोलचाल की भाषा में उपदेश देते थे। यह बहुत ही अच्छा हुआ था, इससे उनके भाव बहुत शीघ्र फैले और बहुत दूर दूर तक पहुँचे। किन्तु इसके साथ साथ संस्कृत का भी प्रचार होना चाहिए था। ज्ञान का विस्तार हुआ सही, पर उसके साथ साथ प्रतिष्ठा नहीं बनी, संस्कार नहीं बना। संस्कृति ही युग के आघातों को सहन कर सकती है, मात्र ज्ञान-राशि नहीं। तुम संसार के सामने प्रभूत ज्ञान रख सकते हो, परन्तु इससे उसका विशेष उपकार न होगा। संस्कार को रक्त में व्याप्त हो जाना चाहिए। वर्तमान समय में हम कितने ही राष्ट्रों के सम्बन्ध में जानते हैं, जिनके पास विशाल ज्ञान का आगार है, परन्तु इससे क्या? वे बाघ की तरह नृशंस हैं, वे बर्बरों के सदृश हैं, क्योंकि उनका ज्ञान संस्कार में परिणत नहीं हुआ है। सभ्यता की तरह ज्ञान भी चमड़े की ऊपरी सतह तक ही सीमित है, छिछला है, और एक खरोंच लगते ही वह पुरानी नृशंसता जग उठती है। ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं। यही भय है। जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, उसको भाव दो, वह बहुत कुछ जान जायगी, परन्तु साथ ही

कुछ और भी ज़रूरी है: उसको संस्कृति का बोध दो। जब तक तुम यह नहीं कर सकते, तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नहीं हो सकती। एक ऐसे नवीन वर्ण की सृष्टि होगी, जो संस्कृत भाषा सीखकर शीघ्र ही दूसरे वर्णों के ऊपर उठेगी और पहले की तरह उन पर अपना प्रभुत्व फैलायेगी। ऐ पिछड़ी जाति के लोगो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एकमात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है, और यह लड़ना-झगड़ना और उच्च वर्णों के विरोध में लेख लिखना व्यर्थ है। इससे कोई उपकार न होगा, इससे लड़ाई-झगड़े और बढ़ेंगे, और यह जाति, दुर्भाग्यवश पहले ही से जिसके टुकड़े टुकड़े हो चुके हैं, और भी टुकड़ों में बँटती रहेगी। जातियों में समता लाने के लिए एक-मात्र उपाय उस संस्कार और शिक्षा का अर्जन करना है, जो उच्च वर्णों का बल और गौरव है। यदि यह तुम कर सको, तो जो कुछ तुम चाहते हो, वह तुम्हें मिल जायगा।

इसके साथ मैं एक और प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ, जो खासकर मद्रास से सम्बन्ध रखता है। एक मत है कि दक्षिण भारत में द्राविड़ नाम की एक जाति के मनुष्य थे, जो उत्तर भारत की आर्य नामक जाति से बिल्कुल भिन्न थे और दक्षिण भारत के ब्राह्मण ही उत्तर भारत से आये हुए आर्य हैं, अन्य जातियाँ दक्षिणी ब्राह्मणों से बिल्कुल ही पृथक् जाति की हैं। भाषा-वैज्ञानिक महाशय, मुझे क्षमा कीजिएगा, यह मत बिल्कुल निराधार है। इसका एकमात्र प्रमाण यह है कि उत्तर और दक्षिण की भाषा में भेद है। दूसरा भेद मेरी नज़र में नहीं आता। हम यहाँ उत्तर भारत के इतने लोग हैं, मैं अपने यूरोपीय मित्रों से कहता हूँ कि वे इस सभा के उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के लोगों को चुनकर अलग कर दें। भेद कहाँ है? ज़रा सा भेद भाषा में है। पूर्वोक्त मतवादी कहते हैं कि दक्षिणी ब्राह्मण जब उत्तर से आये थे, तब वे संस्कृत बोलते थे, अभी यहाँ आकर द्राविड़ भाषा बोलते बोलते संस्कृत भूल गये। यदि ब्राह्मणों के सम्बन्ध में ऐसी बात है, तो फिर दूसरी जातियों के सम्बन्ध में भी यही बात क्यों न होगी? क्यों न कहा जाय कि दूसरी ज़ातियाँ भी एक एक करके उत्तर भारत से आयी हैं, उन्होंने द्राविड़ भाषा को अपनाया और संस्कृत भूल गयीं? यह युक्ति तो दोनों ओर लग सकती है। ऐसी वाहियात बातों पर विश्वास न करो। यहाँ ऐसी कोई द्राविड़ जाति रही होगी, जो यहाँ से लुप्त हो गयी है, और उनमें से जो कुछ थोड़े से रह गये थे, वे जंगलों और दूसरे दूसरे स्थानों में बस गये। यह बिल्कुल सम्भव है कि संस्कृत के बदले वह द्राविड़ भाषा ले ली गयी हो, परन्तु ये सब आर्य ही हैं, जो उत्तर से आये। सारे भारत के मनुष्य आर्यों के सिवा और कोई नहीं।

इसके बाद एक दूसरा विचार है कि शूद्र लोग निश्चय ही आदिम जाति के या अनार्य हैं। तब वे क्या हैं? वे गुलाम हैं। विद्वान् कहते हैं कि इतिहास अपने को दुहराता है। अमरीकी, अंग्रेज़, डच और पुर्तगाली बेचारे अफ़्रीकियों को पकड़ लेते थे, जब तक वे जीवित रहते, उनसे घोर परिश्रम कराते थे, और इनकी मिश्रित संतानें भी दासता में उत्पन्न होकर चिर काल तक दासता में ही पड़ी रहती थीं। इस अद्भुत उदाहरण से मन हज़ारों वर्ष पीछे जाकर यहाँ भी उसी तरह की घटनाओं की कल्पना करता है, और हमारे पुरातत्त्ववेत्ता भारत के सम्बन्ध में स्वप्न देखते हैं कि भारत काली आँखोंवाले आदिवासियों से भरा हुआ था, और उज्ज्वल आर्य बाहर से आये—परमात्मा जाने कहाँ से आये। कुछ लोगों के मत से वे मध्य तिब्बत से आये, दूसरे कहते हैं, वे मध्य एशिया से आये। कुछ स्वदेशप्रेमी अंग्रेज़ हैं, जो सोचते हैं कि आर्य लाल बालवाले थे। अपनी रुचि के अनुसार दूसरे सोचते हैं कि वे सब काले बालवाले थे। अगर लेखक ख़ुद काले बालवाला मनुष्य हुआ, तो सभी आर्य काले बालवाले थे! कुछ दिन हुए, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि आर्य स्विट्ज़रलैण्ड की झीलों के किनारे बसते थे। मुझे ज़रा भी दुःख न होता, अगर वे सबके सब, इन सब सिद्धान्तों के साथ, वहीं डूब मरते। आजकल कोई कोई कहते हैं कि वे उत्तरी ध्रुव में रहते थे। ईश्वर आर्यों और उनके निवास-स्थलों पर कृपा-दृष्टि रखे। इन सिद्धान्तों की सत्यता के बारे में यही कहना है कि हमारे शास्त्रों में एक शब्द नहीं है, जो प्रमाण दे सके कि आर्य भारत के बाहर से किसी देश से आये। हाँ, प्राचीन भारत में अफ़गानिस्तान भी शामिल था, बस इतना ही। और यह सिद्धान्त भी कि शूद्र अनार्य और असंख्य थे, बिल्कुल अतार्किक और अयौक्तिक है। उन दिनों यह सम्भव ही नहीं था कि मुट्ठी भर आर्य यहाँ आकर लाखों अनार्यों पर अधिकार जमाकर बस गये हों। अजी, वे अनार्य उन्हें खा जाते, पाँच ही मिनट में उनकी चटनी बना डालते।

इस समस्या की एकमात्र व्याख्या महाभारत में मिलती है। उसमें लिखा है कि सत्ययुग के आरम्भ में एक जाति ब्राह्मण थी और फिर पेशे के भेद से वह भिन्न भिन्न जातियों में बँटती गयी। बस, यही एकमात्र व्याख्या सच और युक्तिपूर्ण है। भविष्य में जो सत्ययुग आ रहा है, उसमें ब्राह्मणेतर सभी जातियाँ फिर ब्राह्मण रूप में परिणत होंगी।

इसीलिए भारतीय जाति-समस्या का समाधान इसी प्रकार होता है कि उच्च वर्णों को गिराना नहीं होगा, ब्राह्मणों का अस्तित्व लोप करना नहीं होगा। भारत में ब्राह्मणत्व मनुष्यत्व का चरम आदर्श है। इसे शंकराचार्य ने गीता के भाष्यारम्भ में बड़े ही सुन्दर ढंग से पेश किया है, जहाँ कि उन्होंने ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए

प्रचारक के रूप में कृष्ण के आने का कारण बतलाया है। यही उनके अवतरण का महान् उद्देश्य था। इस ब्राह्मण का, इस ब्रह्मज्ञ पुरुष का, इस आदर्श और सिद्ध पुरुष का रहना परमावश्यक है, इसका लोप कदापि नहीं होना चाहिए। और इस समय इस जाति-भेद की प्रथा में जितने दोष हैं, उनके रहते हुए भी, हम जानते हैं कि हमें ब्राह्मणों को यह श्रेय देने के लिए तैयार रहना होगा कि दूसरी जातियों की अपेक्षा उन्हींमें से अधिक संख्यक मनुष्य यथार्थ ब्राह्मणत्व को लेकर आये हैं। यह सच है। दूसरी जातियों को उन्हें यह श्रेय देना ही होगा, यह उनका प्राप्य है। हमें बहुत स्पष्टवादी होकर साहस के साथ उनके दोषों की आलोचना करनी चाहिए। पर साथ ही उनका प्राप्य श्रेय भी उन्हें देना चाहिए। अंग्रेज़ी की पुरानी कहावत याद रखो---'हर एक मनुष्य को उसका प्राप्य दो।' अतः मित्रो, जातियों का आपस में झगड़ना बेकार है। इससे क्या लाभ होगा? इससे हम और भी बँट जायँगे, और भी कमज़ोर हो जायँगे, और भी गिर जायँगे। एकाधिकार तथा उसके दावे के दिन लद गये, भारतभूमि से वे चिर काल के लिए अन्तर्हित हो गये और यह भारत में ब्रिटिश शासन का एक सुफल है। यहाँ तक कि मुसलमानों के शासन से भी हमारा उपकार हुआ था, उन्होंने भी इस एकाधिकार को तोड़ा था। सब कुछ होने पर भी वह शासन सर्वांशतः बुरा नहीं था, कोई भी वस्तु सर्वांशतः न बुरी होती है और न अच्छी ही। मुसलमानों की भारत-विजय पददलितों और ग़रीबों का मानो उद्धार करने के लिए हुई थी। यही कारण है कि हमारी एक पंचमांश जनता मुसलमान हो गयी। यह सारा काम तलवार से ही नहीं हुआ। यह सोचना कि यह सभी तलवार और आग का काम था, बेहद पागलपन होगा। अगर तुम सचेत न होगे, तो मद्रास के तुम्हारे एक पंचमांश---नहीं, अर्धांश लोग ईसाई हो जायँगे। जैसा मैंने मलाबार प्रदेश में देखा, क्या वैसी वाहियात बातें संसार में पहले भी कभी थीं? जिस रास्ते से उच्च वर्ण के लोग चलते हैं ग़रीब पैरिया उससे नहीं चलने पाता। परन्तु ज्यों ही उसने कोई बेढब अंग्रेज़ी नाम या कोई मुसलमानी नाम रख लिया कि बस, सारी बातें सुधर जाती हैं। यह सब देखकर इसके सिवा तुम और क्या निष्कर्ष निकाल सकते हो कि सब मलाबारी पागल हैं, और उनके घर पागलख़ाने हैं? और जब तक वे होश सँभालकर अपनी प्रथाओं का संशोधन न कर लें, तब तक भारत की सभी जातियों को उनकी खिल्ली उड़ानी चाहिए। ऐसी बुरी और नृशंस प्रथाओं को आज भी जारी रखना क्या उनके लिए लज्जा का विषय नहीं? उनके अपने बच्चे तो भूखों मरते हैं, परन्तु ज्यों ही उन्होंने किसी दूसरे धर्म का आश्रय लिया कि फिर उन्हें अच्छा भोजन मिल जाता है। अब जातियों में आपसी लड़ाई बिलकुल नहीं होनी चाहिए।

उच्च वर्णों को नीचे उतारकर इस समस्या का समाधान न होगा, किन्तु नीची जातियों को ऊँची जातियों के बराबर उठाना होगा। और यद्यपि कुछ लोगों को, जिनका अपने शास्त्रों का ज्ञान और अपने पूर्वजों के महान् उद्देश्यों के समझने की शक्ति शून्य से अधिक नहीं, तुम कुछ का कुछ कहते हुए सुनते हो, फिर भी मैंने जो कुछ कहा है, हमारे शास्त्रों में वर्णित कार्य-प्रणाली वही है। वे नहीं समझते, समझते वे हैं, जिनके मस्तिष्क है तथा पूर्वजों के कार्यों का समस्त प्रयोजन समझ लेने की क्षमता रखते हैं। वे तटस्थ होकर युग-युगान्तरों से गुजरते हुए राष्ट्रीय जीवन की विचित्र गति को लक्ष्य करते हैं। वे नये और पुराने सभी शास्त्रों में क्रमशः इसकी परम्परा देख पाते हैं। अच्छा, तो वह योजना--वह प्रणाली क्या है? उस आदर्श का एक छोर ब्राह्मण है और दूसरा छोर चांडाल, और सम्पूर्ण कार्य चांडाल को उठाकर ब्राह्मण बनाना है। शास्त्रों में धीरे धीरे तुम देख पाते हो कि नीची जातियों को अधिकाधिक अधिकार दिये जाते हैं। कुछ ग्रन्थ भी हैं, जिनमें तुम्हें ऐसे कठोर वाक्य पढ़ने को मिलते हैं--'अगर शूद्र वेद सुन ले, तो उसके कानों में सीसा गलाकर भर दो, और अगर वह वेद की एक भी पंक्ति याद कर ले, तो उसकी जीभ काट डालो, यदि वह किसी ब्राह्मण को 'ऐ ब्राह्मण' कह दे, तो भी उसकी जीभ काट लो!' यह पुराने ज़माने की नृशंस वर्बरता है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं; परन्तु स्मृतिकारों को दोष न दो, क्योंकि उन्होंने समाज के किसी अंश में प्रचलित प्रथाओं को ही सिर्फ़ लिपिबद्ध किया है। ऐसे आसुरी प्रकृति के लोग प्राचीन काल में कभी कभी पैदा हो गये थे। ऐसे असुर लोग कमोबेश सभी युगों में होते आये हैं। इसलिए बाद के समय में तुम देखोगे कि इस स्वर में थोड़ी नरमी आ गयी है, जैसे 'शूद्रों को तंग न करो, परन्तु उन्हें उच्च शिक्षा भी न दो।' फिर धीरे धीरे हम दूसरी स्मृतियों में--खासकर उन स्मृतियों में, जिनका आजकल पूरा प्रभाव है, यह लिखा पाते हैं कि अगर शूद्र ब्राह्मणों के आचार-व्यवहारों का अनुकरण करें, तो वे अच्छा करते हैं, उन्हें उत्साहित करना चाहिए। इस प्रकार यह सब होता जा रहा है। तुम्हारे सामने इन सब कार्य-पद्धतियों का विस्तृत वर्णन करने का मुझे समय नहीं है और न ही इसका कि इनका विस्तृत विवरण कैसे प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष घटनाओं का विचार करने से हम देखते हैं, सभी जातियाँ धीरे धीरे उठेंगी। आज जो हज़ारों जातियाँ हैं, उनमें से कुछ तो ब्राह्मणों में शामिल भी हो रही हैं। कोई जाति अगर अपने को ब्राह्मण कहने लगे, तो इस पर कोई क्या कर सकता है? जाति-भेद कितना भी कठोर क्यों न हो, वह इसी रूप में ही सृष्ट हुआ है। कल्पना करो कि यहाँ कुछ जातियाँ हैं, जिनमें हर एक की जन-संख्या दस हज़ार है। अगर ये सब इकट्ठी

होकर अपने को ब्राह्मण कहने लगें, तो इन्हें कौन रोक सकता है? ऐसा मैंने अपने ही जीवन में देखा है। कुछ जातियाँ जोरदार हो गयीं, और ज्यों ही उन सबकी एक राय हुई, फिर उनसे 'नहीं' भला कौन कह सकता है?---क्योंकि और कुछ भी हो, हर एक जाति दूसरी जाति से सम्पूर्ण पृथक् है। कोई जाति किसी दूसरी जाति के कामों में, यहाँ तक कि एक ही जाति की भिन्न भिन्न शाखाएँ भी एक दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करतीं। और शंकराचार्य आदि शक्तिशाली युग-प्रवर्तक ही बड़े बड़े वर्ण-निर्माता थे। उन लोगों ने जिन अद्भुत बातों का आविष्कार किया था, वे सब मैं तुमसे नहीं कह सकता, और सम्भव है कि तुममें से कोई कोई उससे अपना रोष प्रकट करे। किन्तु अपने भ्रमण और अनुभव से मैंने उनके सिद्धांत ढूँढ़ निकाले, और इससे मुझे अद्भुत परिणाम प्राप्त हुए। कभी कभी उन्होंने दल के दल बलूचियों को लेकर क्षण भर में उन्हें क्षत्रिय बना डाला, दल के दल धीवरों को लेकर क्षण भर में ब्राह्मण बना दिया। वे सब ऋषि-मुनि थे और हमें उनकी स्मृति के सामने सिर झुकाना होगा। तुम्हें भी ऋषि-मुनि बनना होगा, कृतकार्य होने का यही गूढ़ रहस्य है। न्यूनाधिक सबको ही ऋषि होना होगा। ऋषि के क्या अर्थ हैं? ऋषि का अर्थ है पवित्र आत्मा। पहले पवित्र बनो, तभी तुम शक्ति पाओगे। 'मैं ऋषि हूँ', कहने मात्र ही से न होगा, किन्तु जब तुम यथार्थ ऋषित्व लाभ करोगे, तो देखोगे, दूसरे आप ही आप तुम्हारी आज्ञा मानते हैं। तुम्हारे भीतर से कुछ रहस्यमय वस्तु निःसृत होती है, जो दूसरों को तुम्हारा अनुसरण करने को बाध्य करती हैं, जिससे वे तुम्हारी आज्ञा का पालन करते हैं। यहाँ तक कि अपनी इच्छा के विरुद्ध अज्ञात भाव से वे तुम्हारी योजनाओं की सिद्धि में सहायक होते हैं। यही ऋषित्व है।

विस्तृत कार्यप्रणाली के बारे में यही कहना है कि पीढ़ियों तक उसका अनुसरण करना होगा। मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह एक सुझाव मात्र है। जिसका उद्देश्य यह दिखाना है कि ये लड़ाई-झगड़े बन्द हो जाने चाहिए। मुझे विशेष दुःख इस बात पर होता है कि वर्तमान समय में भी जातियों के बीच में इतना मतभेद चलता रहता है। इसका अन्त हो जाना चाहिए। यह दोनों ही पक्षों के लिए व्यर्थ है, खासकर ब्राह्मणों के लिए, क्योंकि इस तरह के एकाधिकार और विशेष दावों के दिन लद गये। हर एक अभिजात वर्ग का कर्तव्य है कि अपने कुलीन तंत्र की क़ब्र वह आप ही खोदे, और जितना शीघ्र इसे कर सके, उतना ही अच्छा है। जितनी ही वह देर करेगा, उतनी ही वह सड़ेगी और उसकी मृत्यु भी उतनी ही भयंकर होगी। अतः यह ब्राह्मण जाति का कर्तव्य है कि भारत की दूसरी सब जातियों के उद्धार की चेष्टा करे। यदि वह ऐसा करती है और जब तक ऐसा करती है, तभी

तक वह ब्राह्मण है, और अगर वह धन के चक्कर में पड़ी रहती है, तो वह ब्राह्मण नहीं है। इधर तुम्हें भी उचित है कि यथार्थ ब्राह्मणों की ही सहायता करो। इससे तुम्हें स्वर्ग मिलेगा। पर यदि तुम अपात्र को दान दोगे, तो उसका फल स्वर्ग न होकर उसके विपरीत होगा---हमारे शास्त्रों का यही कथन है। इस विषय में तुम्हें सावधान हो जाना चाहिए। यथार्थ ब्राह्मण वे ही हैं, जो सांसारिक कोई कर्म नहीं करते। सांसारिक कर्म दूसरी जातियों के लिए हैं, ब्राह्मणों के लिए नहीं। ब्राह्मणों से मेरा यह निवेदन है कि वे जो कुछ जानते हैं, उसकी शिक्षा देकर और सदियों से उन्होंने जिस ज्ञान एवं संस्कृति का संचय किया है, उसका प्रचार कर भारतीय जनता को उन्नत करने के लिए भरसक प्रयत्न करें। यथार्थ ब्राह्मणत्व क्या है, इसका स्मरण करना भारतीय ब्राह्मणों का स्पष्ट कर्तव्य है। मनु कहते हैं, 'ब्राह्मणों को जो इतना सम्मान और विशेष अधिकार दिये जाते हैं, इसका कारण यह है कि उनके पास धर्म का भांडार है।'[1] उन्हें वह भांडार खोलकर उसके रत्न संसार में बाँट देने चाहिए। यह सच है कि ब्राह्मणों ने ही पहले भारत की सब जातियों में धर्म का प्रचार किया, और उन्होंने ही सबसे पहले, उस समय जब कि दूसरी जातियों में त्याग के भाव का उन्मेष ही नहीं हुआ था, जीवन के सर्वोच्च सत्य के लिए सब कुछ छोड़ा। यह ब्राह्मणों का दोष नहीं कि वे उन्नति के मार्ग पर अन्य जातियों से आगे बढ़े। दूसरी जातियों ने भी ब्राह्मणों की तरह समझने और करने की चेष्टा क्यों नहीं की? क्यों उन्होंने सुस्त बैठे रहकर ब्राह्मणों को बाज़ी मार लेने दिया?

परन्तु दूसरों की अपेक्षा अधिक अग्रसर होना तथा सुविधाएँ प्राप्त करना एक बात है और दुरुपयोग के लिए उन्हें बनाये रखना दूसरी बात। शक्ति जब कभी बुरे उद्देश्य के हेतु लगायी जाती है, तो वह आसुरी हो जाती है, उसका उपयोग सदुद्देश्य के लिए ही होना चाहिए। अतः युगों की यह संचित शिक्षा तथा संस्कार, जिनके ब्राह्मण संरक्षक होते आये हैं, अब साधारण जनता को देना पड़ेगा, और चूँकि उन्होंने साधारण जनता को वह सम्पत्ति नहीं दी, इसीलिए मुसलमानों का आक्रमण सम्भव हो सका था। हम जो हज़ारों वर्षों तक भारत पर धावा बोलनेवाले जिस किसीके पैरों तले कुचले जाते रहे, इसका कारण यही है कि ब्राह्मणों ने शुरू से ही साधारण जनता के लिए वह खज़ाना खोल नहीं दिया। हम इसीलिए अवनत हो गये। और हमारा पहला कार्य यही है कि हम अपने पूर्वजों के बटोरे हुए धर्मरूपी

---

१. ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये॥ मनुस्मृति॥ १-९९॥

अमोल रत्न जिन तहखानों में छिपे हुए हैं, उन्हें तोड़कर बाहर निकालें और उन्हें सबको दें। यह कार्य सबसे पहले ब्राह्मणों को ही करना होगा। बंगाल में एक पुराना अंधविश्वास है कि जिस गोखुरे साँप ने काटा हो, यदि वह खुद अपना विष खींच ले, तो रोगी जरूर बच जायगा। अतएव ब्राह्मणों को ही अपना विष खींच लेना होगा। ब्राह्मणेतर जातियों से मैं कहता हूँ, ठहरो, जल्दी मत करो, ब्राह्मणों से लड़ने का मौक़ा मिलते ही उसका उपयोग न करो, क्योंकि मैं पहले दिखा चुका हूँ कि तुम अपने ही दोष से कष्ट पा रहे हो। तुम्हें आध्यात्मिकता का उपार्जन करने और संस्कृत सीखने से किसने मना किया था? इतने दिनों तक तुम क्या करते रहे? क्यों तुम इतने दिनों तक उदासीन रहे? और दूसरों ने तुमसे बढ़कर मस्तिष्क, वीर्य, साहस और क्रिया-शक्ति का परिचय दिया, इस पर अब चिढ़ क्यों रहे हो? समाचारपत्रों में इन सब व्यर्थ वाद-विवादों और झगड़ों में शक्ति क्षय न करके, अपने ही घरों में इस तरह लड़ते-झगड़ते न रहकर––जो कि पाप है––ब्राह्मणों के समान ही संस्कार प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो। बस, तभी तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध होगा। तुम क्यों संस्कृत के पंडित नहीं होते? भारत की सभी जातियों में संस्कृत शिक्षा का प्रचार करने के लिए तुम क्यों नहीं करोड़ों रुपये खर्च करते? मेरा प्रश्न तो यही है। जिस समय तुम यह कार्य करोगे, उसी क्षण तुम ब्राह्मणों के बराबर हो जाओगे। भारत में शक्तिलाभ का रहस्य यही है।

संस्कृत में पांडित्य होने से ही भारत में सम्मान प्राप्त होता है। संस्कृत भाषा का ज्ञान होने से ही कोई भी तुम्हारे विरुद्ध कुछ कहने का साहस न करेगा। यही एकमात्र रहस्य है, अतः इसे जान लो और संस्कृत पढ़ो। अद्वैतवादी की प्राचीन उपमा दी जाय, तो कहना होगा कि समस्त जगत् अपनी माया से आप ही सम्मोहित हो रहा है। इच्छा-शक्ति ही जगत् में अमोघ शक्ति है। प्रबल इच्छा-शक्ति का अधिकारी मनुष्य एक ऐसी ज्योतिर्मयी प्रभा अपने चारों ओर फैला देता है कि दूसरे लोग स्वतः उस प्रभा से प्रभावित होकर उसके भाव से भावित हो जाते हैं। ऐसे महापुरुष अवश्य ही प्रकट हुआ करते हैं। और इसके पीछे भावना क्या है? जब वे आविर्भूत होते हैं, तब उनके विचार हम लोगों के मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं और हममें से कितने ही आदमी उनके विचारों तथा भावों को अपना लेते हैं और शक्तिशाली बन जाते हैं। किसी संगठन या संघ में इतनी शक्ति क्यों होती है? संगठन को केवल भौतिक या जड़ शक्ति मत मानो। इसका क्या कारण है, अथवा वह कौन सी वस्तु है, जिसके द्वारा कुल चार करोड़ अंग्रेज़ पूरे तीस करोड़ भारत-वासियों पर शासन करते हैं? इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान क्या है?

यही, कि वे चार करोड़ मनुष्य अपनी अपनी इच्छा-शक्ति को समवेत कर देते हैं, अर्थात् शक्ति का अनन्त भांडार बना लेते हैं और तुम तीस करोड़ मनुष्य अपनी अपनी इच्छाओं को एक दूसरे से पृथक् किये रहते हो। बस, यही इसका रहस्य है कि वे कम होकर भी तुम्हारे ऊपर शासन करते हैं। अतः यदि भारत को महान् बनाना है, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसके लिए आवश्यकता है संगठन की, शक्ति-संग्रह की और बिखरी हुई इच्छा-शक्ति को एकत्र कर उसमें समन्वय लाने की।

अथर्ववेद संहिता की एक विलक्षण ऋचा याद आ गयी, जिसमें कहा गया है, 'तुम सब लोग एक मन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ, क्योंकि प्राचीन काल में एकमन होने के कारण ही देवताओं ने बलि पायी है।'[1] देवता मनुष्य द्वारा इसीलिए पूजे गये कि वे एकचित्त थे, एकमन हो जाना ही समाज-गठन का रहस्य है। और यदि तुम 'आर्य' और 'द्राविड़', 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' जैसे तुच्छ विषयों को लेकर 'तू तू मैं मैं' करोगे---झगड़े और पारस्परिक विरोध-भाव को बढ़ाओगे---तो समझ लो कि तुम उस शक्ति-संग्रह से दूर हटते जाओगे, जिसके द्वारा भारत का भविष्य बनने जा रहा है। इस बात को याद रखो कि भारत का भविष्य सम्पूर्णतः उसी पर निर्भर करता है। बस, इच्छा-शक्ति का संचय और उनका समन्वय कर उन्हें एकमुखी करना ही वह सारा रहस्य है। प्रत्येक चीनी अपनी शक्तियों को भिन्न भिन्न मार्गों से परिचालित करता है, तथा मुट्ठी भर जापानी अपनी इच्छा-शक्ति एक ही मार्ग से परिचालित करते हैं, और उसका फल क्या हुआ है, यह तुम लोगों से छिपा नहीं है। इसी तरह की बात सारे संसार में देखने में आती है। यदि तुम संसार के इतिहास पर दृष्टि डालो, तो तुम देखोगे कि सर्वत्र छोटे छोटे सुगठित राष्ट्र बड़े बड़े असंगठित राष्ट्रों पर शासन कर रहे हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि छोटे संगठित राष्ट्र अपने भावों को आसानी के साथ केन्द्रीभूत कर सकते हैं और इस प्रकार वे अपनी शक्ति को विकसित करने में समर्थ होते हैं। दूसरी ओर जितना बड़ा राष्ट्र होगा, उतना ही संगठित करना कठिन होगा। वे मानो अनियंत्रित लोगों की भीड़ मात्र हैं; वे कभी परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकते। इसलिए ये सब मतभेद के झगड़े एकदम बन्द हो जाने चाहिए।

इसके सिवा हमारे भीतर एक और बड़ा भारी दोष है। महिलाएँ मुझे क्षमा करेंगी, पर असल बात यह है कि सदियों से गुलामी करते करते हम औरतों के राष्ट्र

---

१. **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥६।६४।१॥

के समान बन गये हैं। चाहे इस देश में हो या किसी अन्य देश में, कहीं भी तुम तीन स्त्रियों को शायद ही कभी एक साथ पाँच मिनट से अधिक देर तक झगड़ा किये बिना देख पाओगे। यूरोपीय देशों में स्त्रियाँ बहुत बड़ी बड़ी सभा-समितियाँ स्थापित करती हैं और अपनी शक्ति की बड़ी बड़ी घोषणाएँ करती हैं। इसके बाद वे आपस में झगड़ा करने लगती हैं। इसी बीच कोई पुरुष आता है और उन पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। सारे संसार में उन पर शासन करने के लिए अब भी पुरुषों की आवश्यकता होती है। हमारी भी ठीक वही हालत है। हम भी स्त्रियों के समान हो गये हैं। यदि कोई स्त्री स्त्रियों का नेतृत्व करने चलती है, तो सब मिलकर फौरन उसकी खरी आलोचना करना शुरू कर देती हैं---उसकी खिल्लियाँ उड़ाने लग जाती हैं, और अन्त में उसे नेतृत्व से हटाकर, उसे बैठाकर ही दम लेती हैं। यदि कोई पुरुष आता है और उनके साथ ज़रा सख़्त बर्ताव करता है और बीच बीच में डाँट-फटकार सुना देता है, तो बस ठीक हो जाती हैं; इस प्रकार के वशीकरण की वे अभ्यस्त हो गयी हैं। सारा संसार ही इस प्रकार के वशीकरण एवं सम्मोहन करनेवालों से भरा है। ठीक इसी तरह यदि हम लोगों में से किसीने आगे बढ़ना चाहा, हमें रास्ता दिखाने की कोशिश की, तो हम फ़ौरन उसकी टाँग पकड़कर पीछे खींचेंगे और उसे बिठा देंगे। परन्तु यदि कोई विदेशी हमारे बीच में कूद पड़े और हमें पैरों से ठोकर मारे, तो हम बड़ी खुशी से उसके पैर सहलाने लग जायँगे। हम लोग इसके अभ्यस्त हो गये हैं। क्या ऐसी बात नहीं है? और कहीं ग़ुलाम महान् स्वामी बन सकता है! इसलिए ग़ुलाम बनना छोड़ो।

आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो आराध्य देवी बन जाय। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओं के हट जाने में कुछ भी हानि नहीं है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट् देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें? जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देव-देवियों की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नहीं। आध मील चलने की हमें शक्ति ही नहीं और हम हनुमान जी की तरह एक ही छलाँग में समुद्र पार करने की इच्छा करें, ऐसा नहीं हो सकता। जिसे देखो, वही योगी बनने की धुन में है, जिसे देखो, वही समाधि लगाने जा रहा है! ऐसा नहीं होने का। दिन भर तो दुनिया के सैकड़ों प्रपंचों में लिप्त रहोगे, कर्मकांड में व्यस्त रहोगे और शाम को आँख मूँदकर, नाक दबाकर

साँस चढ़ाओ-उतारोगे। क्या योग की सिद्धि और समाधि को इतना सहज समझ रखा है कि ऋषि लोग, तुम्हारे तीन बार नाक फड़फड़ाने और साँस चढ़ाने से हवा में मिलकर तुम्हारे पेट में घुस जायँगे? क्या इसे तुमने कोई हँसी-मज़ाक मान लिया है? ये सब विचार वाहियात हैं। जिसे ग्रहण करने या अपनाने की आवश्यकता है, वह है चित्तशुद्धि। और उसकी प्राप्ति कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि सबसे पहले उस विराट् की पूजा करो, जिसे तुम अपने चारों ओर देख रहे हो--'उसकी' पूजा करो। 'वर्शिप' ही इस संस्कृत शब्द का ठीक समानार्थक है, अंग्रेज़ी के किसी अन्य शब्द से काम नहीं चलेगा।[1] ये मनुष्य और पशु, जिन्हें हम आस-पास और आगे-पीछे देख रहे हैं, ये ही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सबसे पहले पूज्य हैं हमारे अपने देशवासी। परस्पर ईर्ष्या-द्वेष करने और झगड़ने के बजाय हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। यह अत्यन्त भयावह कर्म है, जिसके लिए हम क्लेश झेल रहे हैं। फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं।

अस्तु, यह विषय इतना विस्तृत है कि मेरी समझ में ही नहीं आता कि मैं कहाँ पर अपना वक्तव्य समाप्त करूँ। इसलिए मद्रास में मैं किस प्रकार काम करना चाहता हूँ, इस विषय में संक्षेप में अपना मत व्यक्त कर व्याख्यान समाप्त करता हूँ। सबसे पहले हमें अपनी जाति की आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा का भार ग्रहण करना होगा। क्या तुम इस बात की सार्थकता को समझ रहे हो? तुम्हें इस विषय पर सोचना-विचारना होगा, इस पर तर्क-वितर्क और आपस में परामर्श करना होगा, दिमाग़ लगाना होगा और अन्त में उसे कार्यरूप में परिणत करना होगा। जब तक तुम यह काम पूरा नहीं करते हो, तब तक तुम्हारी जाति का उद्धार होना असम्भव है। जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें कुछ अच्छा अंश भी है और बुराइयाँ बहुत हैं। इसलिए ये बुराइयाँ उसके भले अंश को दबा देती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य बनानेवाली नहीं कही जा सकती। यह शिक्षा केवल तथा सम्पूर्णतः निषेधात्मक है। निषेधात्मक शिक्षा या निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी भयानक है। कोमलमति बालक पाठशाला में भर्ती होता है और सबसे पहली बात, जा उसे सिखायी जाती है, वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी बात जो वह सीखता है, वह यह है कि तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात है कि तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे पाखंडी हैं। और चौथी बात है कि तुम्हारे जितने पवित्र धर्मग्रन्थ हैं, उनमें

---

१. अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥ श्रीमद्भागवत॥ ३।२९।२७॥

झूठी और कपोलकल्पित बातें भरी हुई हैं ! इस प्रकार की निषेधात्मक बातें सीखते सीखते जब बालक सोलह वर्ष की अवस्था को पहुँचता है, तब वह निषेधों की खान बन जाता है——उसमें न जान रहती है और न रीढ़। अतः इसका जैसा परिणाम होना चाहिए था, वैसा ही हुआ है। पिछले पचास वर्षों से दी जानेवाली इस शिक्षा ने तीनों प्रान्तों में एक भी स्वतंत्र विचारों का मनुष्य पैदा नहीं किया, और जो स्वतंत्र विचार के लोग हैं, उन्होंने यहाँ शिक्षा नहीं पायी है, विदेशों में पायी है, अथवा अपने भ्रममूलक कुसंस्कारों का निवारण करने के लिए पुनः अपने पुराने शिक्षालयों में जाकर अध्ययन किया है। शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग़ में ऐसी बहुत सी बातें इस तरह ठूँस दी जायँ कि अन्तर्द्वन्द्व होने लगे और तुम्हारा दिमाग़ उन्हें जीवन भर पचा न सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरे पुस्तकालय को कंठस्थ कर रखा है। कहा भी है—— **यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।** अर्थात्——'वह गधा, जिसके ऊपर चन्दन की लकड़ियों का बोझ लाद दिया गया हो, बोझ की ही बात जान सकता है, चन्दन के मूल्य को वह नहीं समझ सकता।' यदि बहुत तरह की ख़बरों का संचय करना ही शिक्षा है, तब तो ये पुस्तकालय संसार में सर्वश्रेष्ठ मुनि और विश्वकोश ही ऋषि हैं। इसलिए हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि अपने देश की समग्र आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा के प्रचार का भार अपने हाथों में ले लें और जहाँ तक सम्भव हो, राष्ट्रीय रीति से राष्ट्रीय सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा का विस्तार करें। हाँ, यह ठीक है कि यह एक बहुत बड़ी योजना है। मैं नहीं कह सकता कि यह कभी भी कार्यरूप में परिणत होगी या नहीं, पर इसका विचार छोड़कर हमें यह काम फ़ौरन शुरू कर देना चाहिए। लेकिन कैसे ? किस तरह से काम में हाथ लगाया जाय ? उदाहरण के लिए मद्रास का ही काम ले लो। सबसे पहले हमें एक मन्दिर की आवश्यकता है, क्योंकि सभी कार्यों में प्रथम स्थान हिन्दू लोग धर्म को ही देते हैं। तुम कहोगे कि ऐसा होने से हिन्दुओं के विभिन्न मतावलम्बियों में परस्पर झगड़े होने लगेंगे। पर मैं तुमको किसी मत विशेष के अनुसार वह मन्दिर बनाने को नहीं कहता। वह इन साम्प्रदायिक भेद-भावों के परे होगा। उसका एकमात्र प्रतीक होगा ॐ, जो कि हमारे किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के लिए महानतम प्रतीक है। यदि हिन्दुओं में कोई ऐसा सम्प्रदाय हो, जो इस ओंकार को न माने, तो समझ लो कि वह हिन्दू कहलाने योग्य नहीं है। वहाँ सब लोग अपने

अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही हिन्दुत्व की व्याख्या कर सकेंगे, पर मन्दिर हम सब के लिए एक ही होना चाहिए। अपने सम्प्रदाय के अनुसार जो देवी-देवताओं की प्रतिमा-पूजा करना चाहें, अन्यत्र जाकर करें, पर इस मन्दिर में वे औरों से झगड़ा न करें। इस मन्दिर में वे ही धार्मिक तत्त्व समझाये जायँगे, जो सब सम्प्रदायों में समान हैं। साथ ही हर एक सम्प्रदायवाले को अपने मत की शिक्षा देने का यहाँ पर अधिकार रहेगा, पर एक प्रतिबन्ध रहेगा कि वे अन्य सम्प्रदायों से झगड़ा नहीं करने पायेंगे। बोलो, तुम क्या कहते हो? संसार तुम्हारी राय जानना चाहता है, उसे यह सुनने का समय नहीं है कि तुम औरों के विषय में क्या विचार प्रकट कर रहे हो। औरों की बात छोड़, तुम अपनी ही ओर ध्यान दो।

इस मन्दिर के सम्बन्ध में एक दूसरी बात यह है कि इसके साथ ही एक और संस्था हो, जिससे धार्मिक शिक्षक और प्रचारक तैयार किये जायँ और वे सभी घूम-फिरकर धर्म प्रचार करने को भेजे जायँ। परन्तु ये केवल धर्म का ही प्रचार न करें, वरन् उसके साथ साथ लौकिक शिक्षा का भी प्रचार करें। जैसे हम धर्म का प्रचार द्वार द्वार जाकर करते हैं, वैसे ही हमें लौकिक शिक्षा का भी प्रचार करना पड़ेगा। यह काम आसानी से हो सकता है। शिक्षकों तथा धर्म-प्रचारकों के द्वारा हमारे कार्य का विस्तार होता जायगा, और क्रमशः अन्य स्थानों में ऐसे ही मन्दिर प्रतिष्ठित होंगे और इस प्रकार समस्त भारत में यह कार्य फैल जायगा। यही मेरी योजना है। तुमको यह बड़ी भारी मालूम होगी, पर इसकी इस समय बहुत आवश्यकता है। तुम पूछ सकते हो, इस काम के लिए धन कहाँ से आयेगा? धन की जरूरत नहीं। धन कुछ नहीं है। पिछले बारह वर्षों से मैं ऐसा जीवन व्यतीत कर रहा हूँ कि मैं यह नहीं जानता कि आज यहाँ खा रहा हूँ, तो कल कहाँ खाऊँगा। और न मैंने कभी इसकी परवाह ही की। धन या किसी भी वस्तु की जब मुझे इच्छा होगी, तभी वह प्राप्त हो जायगी, क्योंकि वे सब मेरे गुलाम हैं, न कि मैं उनका गुलाम हूँ। जो मेरा गुलाम है, उसे मेरी इच्छा होते ही मेरे पास आना पड़ेगा। अतः उसकी कोई चिन्ता न करो।

अब प्रश्न यह है कि काम करनेवाले लोग कहाँ हैं। मद्रास के नवयुवको, तुम्हारे ऊपर ही मेरी आशा है। क्या तुम अपनी जाति और राष्ट्र की पुकार सुनोगे? यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास है, तो मैं कहूँगा कि तुममें से प्रत्येक का भविष्य उज्ज्वल है। अपने आप पर अगाध, अटूट विश्वास रखो, वैसा ही विश्वास, जैसा मैं बाल्य काल में अपने ऊपर रखता था और जिसे मैं अब कार्यान्वित कर रहा हूँ। तुममें से प्रत्येक अपने आप पर विश्वास रखो। यह विश्वास रखो कि प्रत्येक की आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। तभी तुम सारे भारतवर्ष को पुनरुज्जीवित कर सकोगे। फिर

तो हम दुनिया के सभी देशों में खुले आम जायँगे और आगामी दस वर्षों में हमारे भाव उन सब विभिन्न शक्तियों के एक अंशस्वरूप हो जायँगे, जिनके द्वारा संसार का प्रत्येक राष्ट्र संगठित हो रहा है। हमें भारत में बसनेवाली और भारत के बाहर बसनेवाली सभी जातियों के अन्दर प्रवेश करना होगा। इसके लिए हमें कर्म करना होगा। और इस काम के लिए मुझे युवक चाहिए। वेदों में कहा गया है, 'युवक, बलशाली, स्वस्थ, तीव्र मेधावाले और उत्साही मनुष्य ही ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं।' तुम्हारे भविष्य को निश्चित करने का यही समय है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि अभी इस भरी जवानी में, इस नये जोश के जमाने में ही काम करो, जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर काम नहीं होगा। काम करो, क्योंकि काम करने का यही समय है। सबसे अधिक ताजे, बिना स्पर्श किये हुए और बिना सूँघे फूल ही भगवान् के चरणों पर चढ़ाये जाते हैं और वे उसे ही ग्रहण करते हैं। अपने पैरों आप खड़े हो जाओ, देर न करो, क्योंकि जीवन क्षणस्थायी है। वकील बनने की अभिलाषा आदि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने हैं। तथा इससे भी ऊँची अभिलाषा रखो और अपनी जाति, देश, राष्ट्र और समग्र मानव समाज के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करना सीखो। इस जीवन में क्या है? तुम हिन्दू हो और इसलिए तुम्हारा यह सहज विश्वास है कि तुम अनन्त काल तक रहनेवाले हो। कभी कभी मेरे पास नास्तिकता के विषय पर वार्तालाप करने के लिए कुछ युवक आया करते हैं। पर मेरा विश्वास है कि कोई हिन्दू नास्तिक नहीं हो सकता। सम्भव है कि किसीने पाश्चात्य ग्रन्थ पढ़े हों और अपने को भौतिकवादी समझने लग गया हो। पर ऐसा केवल कुछ समय के लिए होता है। यह बात तुम्हारे खून के भीतर नहीं है। जो बात तुम्हारी रग रग में रमी हुई है, उसे तुम निकाल नहीं सकते और न उसकी जगह और किसी धारणा पर तुम्हारा विश्वास ही हो सकता है। इसीलिए वैसी चेष्टा करना व्यर्थ होगा। मैंने भी बाल्यावस्था में ऐसी चेष्टा की थी, पर वैसा नहीं हो सकता। जीवन की अवधि अल्प है, पर आत्मा अमर और अनन्त है, और मृत्यु अनिवार्य है। इसलिए आओ, हम अपने आगे एक महान् आदर्श खड़ा करें और उसके लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें। यही हमारा निश्चय हो और वह भगवान्, जो हमारे शास्त्रों के अनुसार शत्रुओं के परित्राण के लिए संसार में बार बार आविर्भूत होता है, वही महान् कृष्ण हमको आशीर्वाद दे एवं हमारे उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हो।

कलकत्ता-अभिनन्दन का उत्तर

मनुष्य अपनी व्यक्ति-चेतना को सार्वभौम चेतना में लीन कर देना चाहता है, वह जगत्-प्रपंच का कुल सम्बन्ध छोड़ देना चाहता है, वह अपने समस्त सम्बन्धों की मात्रा काटकर संसार से दूर भाग जाना चाहता है। वह सम्पूर्ण दैहिक पुराने संस्कारों को छोड़ने की चेष्टा करता है। यहाँ तक कि वह एक देहधारी मनुष्य है, इसे भी भूलने का भरसक प्रयत्न करता है। परन्तु अपने अन्तर के अन्तर में सदा ही एक मृदु अस्फुट ध्वनि उसे सुनायी पड़ती है, उसके कानों में सदा ही एक स्वर बजता रहता है, न जाने कौन दिन-रात उसके कानों में मधुर स्वर से कहता रहता है, पूर्व में हो या पश्चिम में, **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**। भारत साम्राज्य की राजधानी के अधिवासियो, तुम्हारे पास मैं संन्यासी के रूप में नहीं, धर्मप्रचारक की हैसियत से भी नहीं, बल्कि पहले की तरह कलकत्ते के उसी बालक के रूप में बातचीत करने के लिए आया हुआ हूँ। हाँ, मेरी इच्छा होती है कि आज इस नगर के रास्ते की धूल पर बैठकर बालक की तरह सरल अन्तःकरण से तुमसे अपने मन की सब बातें खोलकर कहूँ। तुम लोगों ने मुझे अनुपम शब्द 'भाई' से सम्बोधित किया है, इसके लिए तुम्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। हाँ, मैं तुम्हारा भाई हूँ, तुम भी मेरे भाई हो। पश्चिमी देशों से लौटने के कुछ ही समय पहले एक अंग्रेज मित्र ने मुझसे पूछा था, 'स्वामी जी, चार वर्षों तक विलास की लीलाभूमि, गौरवशाली महाशक्तिमान् पश्चिमी भूमि पर भ्रमण कर चुकने के बाद आपकी मातृभूमि अब आपको कैसी लगेगी ? मैं बस यही कह सका, 'पश्चिम में आने से पहले भारत को मैं प्यार ही करता था, अब तो भारत की धूलि ही मेरे लिए पवित्र है, भारत की हवा अब मेरे लिए पावन है, भारत अब मेरे लिए तीर्थ है।'

कलकत्तावासियो, मेरे भाइयो, तुम लोगों ने मेरे प्रति जो अनुग्रह दिखाया है, उसके लिए तुम्हारे प्रति कृतज्ञता प्रकट करने में मैं असमर्थ हूँ। अथवा तुम्हें धन्यवाद ही क्या दूँ, क्योंकि तुम मेरे भाई हो—तुमने भाई का, एक हिन्दू भाई का ही कर्तव्य निभाया है, क्योंकि ऐसा पारिवारिक बन्धन, ऐसा सम्बन्ध, ऐसा प्रेम हमारी मातृभूमि की सीमा के बाहर और कहीं नहीं है।

शिकागो की धर्म-महासभा निस्सन्देह एक विराट् समारोह थी। भारत के कितने ही नगरों से हम लोगों ने इस सभा के आयोजक महानुभावों को धन्यवाद

दिया है। हम लोगों के प्रति उन्होंने जैसी अनुकम्पा प्रदर्शित की है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं, परन्तु इस धर्म-महासभा का यथार्थ इतिहास मैं तुम्हें सुना देना चाहता हूँ। उनकी इच्छा थी कि वे अपनी प्रभुता की प्रतिष्ठा करें। महासभा के कुछ व्यक्तियों की इच्छा थी कि ईसाई धर्म की प्रतिष्ठा करें और दूसरे धर्मों को हास्यास्पद सिद्ध करें। परन्तु फल कुछ और ही हुआ। विधाता के विधान में वैसा ही होना था। मेरे प्रति अनेक लोगों ने सदय व्यवहार किया था। उन्हें यथेष्ट धन्यवाद दिया जा चुका है।

सच्ची बात यह है कि मैं धर्म-महासभा का उद्देश्य लेकर अमेरिका नहीं गया। वह सभा तो मेरे लिए एक गौण वस्तु थी, उससे हमारा रास्ता बहुत कुछ साफ़ हो गया और कार्य करने की बहुत कुछ सुविधा हो गयी, इसमें सन्देह नहीं। इसके लिए हम महासभा के सदस्यों के विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। परन्तु वास्तव में हमारा धन्यवाद संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी, सहृदय, आतिथेय, महान् अमरीकी जाति को मिलना चाहिए, जिसमें दूसरी जातियों की अपेक्षा भ्रातृभाव का अधिक विकास हुआ है। रेलगाड़ी पर पाँच मिनट किसी अमेरिकन के साथ बातचीत करने से वह तुम्हारा मित्र हो जायगा, दूसरे ही क्षण तुम्हें अपने घर पर अतिथि के रूप में निमंत्रित करेगा और अपने हृदय की सारी बात खोलकर रख देगा। यही अमरीकी जाति का चरित्र है, और हम इसे खूब पसन्द करते हैं। मेरे प्रति उन्होंने जो अनुकम्पा दिखलायी, उसका वर्णन नहीं हो सकता। मेरे साथ उन्होंने कैसा अपूर्व स्नेहपूर्ण व्यवहार किया, उसे प्रकट करने में मुझे कई वर्ष लग जायँगे। इसी तरह अटलान्तिक महासागर के दूसरे पार रहनेवाली अंग्रेज़ जाति को भी हमें धन्यवाद देना चाहिए। ब्रिटिश भूमि पर अंग्रेज़ों के प्रति मुझसे अधिक घृणा का भाव लेकर कभी किसीने पैर न रखा होगा, इस मंच पर जो अंग्रेज़ बन्धु हैं, वे ही इसका साक्ष्य देंगे। परन्तु जितना ही मैं उन लोगों के साथ रहने लगा, जितना ही उनके साथ मिलने लगा, जितना ही ब्रिटिश जाति के जीवन-यन्त्र की गति लक्ष्य करने लगा—उस जाति का हृदय-स्पन्दन किस जगह हो रहा है, यह जितना ही समझने लगा, उतना ही उन्हें प्यार करने लगा। अब मेरे भाइयो, यहाँ ऐसा कोई न होगा, जो मुझसे ज़्यादा अंग्रेज़ों को प्यार करता हो। उनके सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान-प्राप्ति करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वहाँ क्या क्या हो रहा है और साथ ही हमें उनके साथ रहना भी होगा। हमारे जातीय दर्शनशास्त्र वेदान्त ने जिस तरह सम्पूर्ण दुःख को अज्ञानप्रसूत कहकर सिद्धान्त स्थिर किया है, उसी तरह अंग्रेज़ और हमारे बीच का विरोध भाव भी प्रायः अज्ञानजन्य है—यही समझना चाहिए। न हम उन्हें जानते हैं, न वे हमें।

दुर्भाग्य से पश्चिमी देशवालों की धारणा में आध्यात्मिकता, यहाँ तक कि नैतिकता भी, सांसारिक उन्नति के साथ चिरसंश्लिष्ट है। और जब कभी कोई अंग्रेज़ या कोई दूसरे पश्चिमी महाशय भारत आते हैं और यहाँ दुःख और दारिद्र्य का अबाध राज्य देखते हैं, तो वे तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस देश में धर्म नहीं टिक सकता, नैतिकता नहीं टिक सकती। उनका अपना अनुभव निस्सन्देह सत्य है। यूरोप की निष्ठुर जलवायु और दूसरे अनेक कारणों से यहाँ दारिद्र्य और पाप एक जगह रहते देखे जाते हैं, परन्तु भारत में ऐसा नहीं है। मेरा अनुभव है कि भारत में जो जितना दरिद्र है, वह उतना ही अधिक साधु है। परन्तु इसको जानने के लिए समय की ज़रूरत है। भारत के राष्ट्रीय जीवन का यह रहस्य समझने के लिए कितने विदेशी दीर्घ काल तक भारत में रहकर प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हैं? इस राष्ट्र के चरित्र का धैर्य के साथ अध्ययन करें और समझें, ऐसे मनुष्य थोड़े ही हैं। यहीं, केवल यहीं ऐसी जाति का वास है, जिसके निकट ग़रीबी का मतलब अपराध और पाप नहीं है। यही एक ऐसी जाति है, जहाँ न केवल ग़रीबी का मतलब अपराध नहीं लगाया जाता, बल्कि उसे यहाँ बड़ा ऊँचा आसन दिया जाता है। यहाँ दरिद्र संन्यासी के वेश को ही सबसे ऊँचा स्थान मिलता है। इसी तरह हमें भी पश्चिमी सामाजिक रीति-रिवाज़ों का अध्ययन बड़े धैर्य के साथ करना होगा। उनके सम्बन्ध में एकाएक कोई उन्मत्त धारणा बना लेना ठीक न होगा। उनके स्त्री-पुरुषों का आपस में हेल-मेल और आचार-व्यवहार सब एक खास अर्थ रखते हैं, सबमें एक पहलू अच्छा भी होता है। तुम्हें केवल यत्नपूर्वक धैर्य के साथ उसका अध्ययन करना होगा। मेरे इस कथन का यह अर्थ नहीं कि हमें उनके आचार-व्यवहारों का अनुकरण करना है, अथवा वे हमारे आचारों का अनुकरण करेंगे। सभी जातियों के आचार-व्यवहार शताब्दियों के मन्द गति से होनेवाले क्रमविकास के फलस्वरूप हैं, और सभी में एक गम्भीर अर्थ रहता है। इसलिए न हमें उनके आचार-व्यवहारों का उपहास करना चाहिए और न उन्हें हमारे आचार-व्यवहारों का।

मैं इस सभा के समक्ष एक और बात कहना चाहता हूँ। अमेरिका की अपेक्षा इंग्लैण्ड में मेरा काम अधिक संतोषजनक हुआ है। निर्भीक, साहसी एवं अध्यवसायी अंग्रेज़ जाति के मस्तिष्क में यदि किसी तरह एक बार कोई भाव संचारित किया जा सके——यद्यपि उसकी खोपड़ी दूसरी जातियों की अपेक्षा स्थूल है, उसमें कोई भाव सहज ही नहीं समाता——तो फिर वह वहीं दृढ़ हो जाता है, कभी बाहर नहीं होता। उस जाति की असीम व्यावहारिकता और शक्ति के कारण बीजरूप से समाये हुए उस भाव से अंकुर का उद्गम होता है और बहुत शीघ्र फल देता है।

ऐसा किसी दूसरे देश में नहीं है। इस जाति की जैसी असीम व्यावहारिकता और जीवनी शक्ति है, वैसी तुम अन्य किसी जाति में न देखोगे। इस जाति में कल्पना कम है और कर्मण्यता अधिक। और कौन जान सकता है कि इस अंग्रेज जाति के भावों का मूलस्रोत कहाँ है! उसके हृदय के गहन प्रदेश में, कौन समझ सकता है, कितनी कल्पनाएँ और भावोच्छ्वास छिपे हुए हैं! वह वीरों की जाति है, वे यथार्थ क्षत्रिय हैं, भाव छिपाना—उन्हें कभी प्रकट न करना उनकी शिक्षा है, बचपन से उन्हें यही शिक्षा मिली है। बहुत कम अंग्रेज देखने को मिलेंगे, जिन्होंने कभी अपने हृदय का भाव प्रकट किया होगा। पुरुषों की तो बात ही क्या, अंग्रेज स्त्रियाँ भी कभी हृदय के उच्छ्वास को जाहिर नहीं होने देतीं। मैंने अंग्रेज महिलाओं को ऐसे भी कार्य करते हुए देखा है, जिन्हें करने में अत्यन्त साहसी बंगाली भी लड़खड़ा जायँगे। किन्तु बहादुरी के इस ठाटबाट के साथ ही, इस क्षत्रियोचित कवच के भीतर अंग्रेज हृदय की भावनाओं का गम्भीर प्रस्रवण छिपा हुआ है। यदि एक बार भी अंग्रेजों के साथ तुम्हारी घनिष्ठता हो जाय, यदि उनके साथ तुम घुल-मिल गये, यदि उनसे एक बार भी अपने सम्मुख उनके हृदय की बात व्यक्त करवा सके, तो वे तुम्हारे परम मित्र हो जायँगे, सदा के लिए तुम्हारे दास हो जायँगे। इसलिए मेरी राय में दूसरे स्थानों की अपेक्षा इंग्लैण्ड में मेरा प्रचार-कार्य अधिक संतोषजनक हुआ है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अगर कल मेरा शरीर छूट जाय, तो मेरा प्रचार-कार्य इंग्लैण्ड में अक्षुण्ण रहेगा और क्रमशः विस्तृत होता जायगा।

भाइयो, तुम लोगों ने मेरे हृदय के एक दूसरे तार—सबसे अधिक कोमल तार को स्पर्श किया है—वह है मेरे गुरुदेव, मेरे आचार्य, मेरे जीवनादर्श, मेरे इष्ट, मेरे प्राणों के देवता श्री रामकृष्ण परमहंस का उल्लेख! यदि मनसा, वाचा, कर्मणा मैंने कोई सत्कार्य किया हो, यदि मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकली हो, जिससे संसार के किसी भी मनुष्य का कुछ उपकार हुआ हो, तो उसमें मेरा कुछ भी गौरव नहीं, वह उनका है। परन्तु यदि मेरी जिह्वा ने कभी अभिशाप की वर्षा की हो, यदि मुझसे कभी किसीके प्रति घृणा का भाव निकला हो, तो वे मेरे हैं, उनके नहीं। जो कुछ दुर्बल है, वह सब मेरा है, पर जो कुछ भी जीवनप्रद है, बलप्रद है, पवित्र है, वह सब उन्हींकी शक्ति का खेल है, उन्हींकी वाणी है और वे स्वयं हैं। मित्रो, यह सत्य है कि संसार अभी तक उन महापुरुष से परिचित नहीं हुआ। हम लोग संसार के इतिहास में शत शत महापुरुषों की जीवनी पढ़ते हैं। इसमें उनके शिष्यों के लेखन एवं कार्य-संचालन का हाथ रहा है। हज़ारों वर्ष तक लगातार उन लोगों ने उन प्राचीन महापुरुषों के जीवन-चरितों को काट-छाँटकर सँवारा है। परन्तु इतने पर भी जो जीवन मैंने अपनी आँखों देखा है, जिसकी छाया में मैं रह चुका हूँ,

जिनके चरणों में बैठकर मैंने सब सीखा है, उन श्री रामकृष्ण परमहंस का जीवन जैसा उज्ज्वल और महिमान्वित है, वैसा मेरे विचार में और किसी महापुरुष का नहीं। भाइयो, तुम सभी गीता की वह प्रसिद्ध वाणी जानते हो :

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

—'जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ। साधुओं का परित्राण करने, असाधुओं का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के लिए विभिन्न युगों में आया करता हूँ ?'[१]

इसके साथ एक और बात तुम्हें समझनी होगी, वह यह कि आज ऐसी ही वस्तु हमारे सामने मौजूद है। इस तरह की एक आध्यात्मिकता की बाढ़ के प्रबल वेग से आने के पहले समाज में कुछ छोटी छोटी तरंगें उठती दीख पड़ती हैं। इन्हींमें से एक अज्ञात, अनजान, अकल्पित तरंग आती है, क्रमशः प्रबल होती जाती है, दूसरी छोटी छोटी तरंगों को मानो निगलकर वह अपने में मिला लेती है। और इस तरह अत्यन्त विपुलाकार और प्रबल होकर वह एक बहुत बड़ी बाढ़ के रूप में समाज पर वेग से गिरती है कि कोई उसकी गति को रोक नहीं सकता। इस समय भी वैसा ही हो रहा है। यदि तुम्हारे पास आँखें हैं, तो तुम उसे अवश्य देखोगे। यदि तुम्हारा हृदय-द्वार खुला है, तो तुम उसको अवश्य ग्रहण करोगे। यदि तुममें सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति है, तो तुम उसे अवश्य प्राप्त करोगे। अंधा, बिल्कुल अंधा है वह, जो समय के चिह्न नहीं देख रहा है, नहीं समझ रहा है। क्या तुम नहीं देखते हो, वह दरिद्र ब्राह्मण बालक जो एक दूर गाँव में—जिसके बारे में तुममें से बहुत कम ही लोगों ने सुना होगा—जन्मा था, इस समय सम्पूर्ण संसार में पूजा जा रहा है, और उसे वे पूजते हैं, जो शताब्दियों से मूर्ति-पूजा के विरोध में आवाज़ उठाते आये हैं ? यह किसकी शक्ति है ? यह तुम्हारी शक्ति है या मेरी ? नहीं, यह और किसीकी शक्ति नहीं। जो शक्ति यहाँ श्री रामकृष्ण परमहंस के रूप में आविर्भूत हुई थी, यह वही शक्ति है; और मैं, तुम, साधु, महापुरुष, यहाँ तक कि अवतार और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी न्यूनाधिक रूप में उसी पुंजीभूत शक्ति की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इस समय हम लोग उस महाशक्ति की लीला का आरम्भ मात्र

---

१. गीता ॥४।७-८॥

देख रहे हैं। वर्तमान युग का अन्त होने के पहले ही तुम लोग इसकी अधिकाधिक आश्चर्यमयी लीलाएँ देख पाओगे। भारत के पुनरुत्थान के लिए इस शक्ति का आविर्भाव ठीक ही समय पर हुआ है। क्योंकि जो मूल जीवनी शक्ति भारत को सदा स्फूर्ति प्रदान करेगी, उसकी बात कभी कभी हम लोग भूल जाते हैं।

प्रत्येक जाति के लिए उद्देश्य-साधन की अलग अलग कार्य-प्रणालियाँ हैं। कोई राजनीति, कोई समाज-सुधार और कोई किसी दूसरे विषय को अपना प्रधान आधार बनाकर कार्य करती है। हमारे लिए धर्म की पृष्ठभूमि लेकर कार्य करने के सिवा दूसरा उपाय नहीं है। अंग्रेज़ राजनीति के माध्यम से धर्म भी समझ सकते हैं। अमरीकी शायद समाज-सुधार के माध्यम से भी धर्म समझ सकते हैं। परन्तु हिन्दू राजनीति, समाज-विज्ञान और दूसरा जो कुछ है, सबको धर्म के माध्यम से ही समझ सकते हैं। राष्ट्रीय जीवन-संगीत का मानो यही प्रधान स्वर है; दूसरे तो उसीमें कुछ परिवर्तित किये हुए नाना गौण स्वर हैं। और उसी प्रधान स्वर के नष्ट होने की शंका हो रही थी। ऐसा लगता था, मानो हम लोग अपने राष्ट्रीय जीवन के इस मूल भाव को हटाकर उसकी जगह एक दूसरा भाव स्थापित करने जा रहे थे, हम लोग जिस मेरुदण्ड के बल से खड़े हुए हैं, मानो उसकी जगह दूसरा कुछ स्थापित करने जा रहे थे, अपने राष्ट्रीय जीवन के धर्मरूप मेरु-दंड की जगह राजनीति का मेरुदण्ड स्थापित करने जा रहे थे। यदि इसमें हमें सफलता मिलती, तो इसका फल पूर्ण विनाश होता; परन्तु ऐसा होनेवाला नहीं था। यही कारण है कि इस महाशक्ति का आविर्भाव हुआ। मुझे इस बात की चिन्ता नहीं है कि तुम इस महापुरुष को किस अर्थ में ग्रहण करते हो और उसके प्रति कितना आदर रखते हो, किन्तु मैं तुम्हें यह चुनौती के रूप में अवश्य बता देना चाहता हूँ कि अनेक शताब्दियों से भारत में विद्यमान अद्भुत शक्ति का यह प्रकट रूप है, और एक हिन्दू के नाते तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम इस शक्ति का अध्ययन करो, तथा भारत के कल्याण, उसके पुनरुत्थान और समस्त मानव-जाति के हित के लिए इस शक्ति के द्वारा क्या कार्य किये गये हैं, इसका पता लगाओ। मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि संसार के किसी भी देश में सार्वभौम धर्म और विभिन्न सम्प्रदायों में भ्रातृभाव के उत्थापित और पर्यालोचित होने के बहुत पहले ही, इस नगर के पास, एक ऐसे महापुरुष थे, जिनका सम्पूर्ण जीवन एक आदर्श धर्म-महासभा का स्वरूप था।

हमारे शास्त्रों में सबसे बड़ा आदर्श निर्गुण ब्रह्म है, और ईश्वर की इच्छा से यदि सभी निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर सकते, तब तो बात ही कुछ और थी, परन्तु चूँकि ऐसा नहीं हो सकता, इसलिए सगुण आदर्श का रहना मनुष्य जाति के

बहुसंख्यक वर्ग के लिए बहुत आवश्यक है। इस तरह के किसी महान् आदर्श पुरुष पर हार्दिक अनुराग रखते हुए उनकी पताका के नीचे आश्रय लिये बिना न कोई राष्ट्र उठ सकता है, न बढ़ सकता है, न कुछ कर सकता है। राजनीतिक, यहाँ तक कि सामाजिक या व्यापारिक आदर्शों का प्रतिनिधित्व करनेवाले कोई भी पुरुष सर्वसाधारण भारतवासियों के ऊपर कभी भी अपना प्रभाव नहीं जमा सकते। हमें चाहिए आध्यात्मिक आदर्श। आध्यात्मिक महापुरुषों के नाम पर हमें सोत्साह एक हो जाना चाहिए। हमारे आदर्श पुरुष आध्यात्मिक होने चाहिए। श्री रामकृष्ण परमहंस हमें एक ऐसा ही आदर्श पुरुष मिला है। यदि यह राष्ट्र उठना चाहता है, तो मैं निश्चयपूर्वक कहूँगा कि इस नाम के चारों ओर उत्साह के साथ एकत्र हो जाना चाहिए। श्री रामकृष्ण परमहंस का प्रचार हम, तुम या चाहे जो कोई करे, इससे प्रयोजन नहीं। तुम्हारे सामने मैं इस महान् आदर्श पुरुष को रखता हूँ, और अब इस पर विचार करने का भार तुम पर है। इस महान् आदर्श जीवन को लेकर क्या करोगे, इसका निश्चय तुम्हें अपनी जाति, अपने राष्ट्र के कल्याण के लिए अभी कर डालना चाहिए। एक बात हमें याद रखनी चाहिए कि तुम लोगों ने जितने महापुरुष देखे हैं और मैं स्पष्ट रूप से कहूँगा कि जितने भी महापुरुषों के जीवन-चरित पढ़े हैं, उनमें इनका जीवन सबसे पवित्र था। और तुम्हारे सामने यह तो स्पष्ट ही है कि आध्यात्मिक शक्ति का ऐसा अद्भुत आविर्भाव तुम्हारे देखने की तो बात ही अलग, इसके बारे में तुमने कभी पढ़ा भी न होगा। उनके तिरोभाव के दस वर्ष के भीतर ही इस शक्ति ने सम्पूर्ण संसार को घेर लिया है, यह तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो। अतएव कर्तव्य की प्रेरणा से अपनी जाति और धर्म की भलाई के लिए मैं यह महान् आध्यात्मिक आदर्श तुम्हारे सामने प्रस्तुत करता हूँ। मेरे माध्यम से उनका विचार न करना। मैं तो एक दुर्बल यंत्र मात्र हूँ। उनके चरित्र का निर्णय मुझे देखकर न करना। वे इतने बड़े थे कि मैं या उनके शिष्यों में से कोई दूसरा सैकड़ों जीवन तक चेष्टा करते रहने के बावजूद भी उनके यथार्थ स्वरूप के एक करोड़वें अंश के तुल्य भी न हो सकेगा। तुम लोग स्वयं ही अनुमान करो। तुम्हारे हृदय के अन्तस्तल में वे 'सनातन साक्षी' वर्तमान हैं, और मैं हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि हमारे राष्ट्र के कल्याण के लिए, हमारे देश की उन्नति के लिए तथा समग्र मानव-जाति के हित के लिए श्री रामकृष्ण परमहंस तुम्हारा हृदय खोल दें; और इच्छा-अनिच्छा के बावजूद भी जो महायुगान्तर अवश्यम्भावी है, उसे कार्यान्वित करने के लिए वे तुम्हें सच्चा और दृढ़ बनावें। तुम्हें और हमें रुचे या न रुचे, इससे प्रभु का कार्य रुक नहीं सकता, अपने कार्य के लिए वे धूलि से भी सैकड़ों और हज़ारों कर्मी पैदा कर सकते हैं। उनकी अधीनता

में कार्य करने का अवसर मिलना ही हमारे परम सौभाग्य और गौरव की बात है। इससे आदर्श का विस्तार होता है। जैसा तुम लोगों ने कहा है, हमें सम्पूर्ण संसार जीतना है। हाँ, यह हमें करना ही होगा। भारत को अवश्य ही संसार पर विजय प्राप्त करनी है। इसकी अपेक्षा किसी छोटे आदर्श से मुझे कभी भी सन्तोष न होगा। यह आदर्श, सम्भव है, बहुत बड़ा हो और तुममें से अनेक को इसे सुनकर आश्चर्य होगा, किन्तु हमें इसे ही अपना आदर्श बनाना है। या तो हम सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त करेंगे या मिट जायँगे। इसके सिवा और कोई विकल्प नहीं है। जीवन का चिह्न है विस्तार। हमें संकीर्ण सीमा के बाहर जाना होगा, हृदय का प्रसार करना होगा, और यह दिखाना होगा कि हम जीवित हैं, अन्यथा हमें इसी पतन की दशा में सड़कर मरना होगा, इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इन दोनों में एक चुन लो, फिर जियो या मरो। छोटी छोटी बातों को लेकर हमारे देश में जो द्वेष और कलह हुआ करता है, वह हम लोगों में सभी को मालूम है। परन्तु मेरी बात मानो, ऐसा सभी देशों में है। जिन सब राष्ट्रों के जीवन का मेरुदंड राजनीति है, वे सब राष्ट्र आत्म-रक्षा के लिए वैदेशिक नीति का सहारा लिया करते हैं। जब उनके अपने देश में आपस में बहुत अधिक लड़ाई-झगड़ा आरम्भ हो जाता है, तब वे किसी विदेशी राष्ट्र से झगड़ा मोल ले लेते हैं, इस तरह तत्काल घरेलू लड़ाई बन्द हो जाती है, हमारे भीतर भी गृहविवाद है, परन्तु उसे रोकने के लिए कोई वैदेशिक नीति नहीं है। संसार के सभी राष्ट्रों में अपने शास्त्रों का सत्य प्रचार ही हमारी सनातन वैदेशिक नीति होनी चाहिए, यह हमें एक अखंड जाति के रूप में संगठित करेगी। तुम राजनीति में विशेष रुचि लेनेवालों से मेरा प्रश्न है कि क्या इसके लिए तुम कोई और प्रमाण चाहते हो ? आज की इस सभा से ही मेरी बात का यथेष्ट प्रमाण मिल रहा है।

दूसरे, इन सब स्वार्थपूर्ण विचारों को छोड़ देने पर भी हमारे पीछे निःस्वार्थ, महान् और सजीव दृष्टान्त पाये जाते हैं। भारत के पतन और दारिद्र्य-दुःख का प्रधान कारण यह है कि घोंघे की तरह अपना सर्वांग समेटकर उसने अपना कार्यक्षेत्र संकुचित कर लिया था तथा आर्येतर दूसरी मानव जातियों के लिए, जिन्हें सत्य की तृष्णा थी, अपने जीवनप्रद सत्य-रत्नों का भांडार नहीं खोला था। हमारे पतन का एक और प्रधान कारण यह भी है कि हम लोगों ने बाहर जाकर दूसरे राष्ट्रों से अपनी तुलना नहीं की; और तुम लोग जानते हो, जिस दिन से राजा राममोहन राय ने संकीर्णता की वह दीवार तोड़ी, उसी दिन से भारत में थोड़ा सा जीवन दिखायी देने लगा, जिसे आज तुम देख रहे हो। उसी दिन से भारत के इतिहास ने एक दूसरा मोड़ लिया और इस समय वह क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्र-

सर हो रहा है। अतीत काल में यदि छोटी छोटी नदियाँ ही यहाँवालों ने देखी हों, तो समझना कि अब बहुत बड़ी बाढ़ आ रही है, और कोई भी उसकी गति रोक न सकेगा। अतः तुम्हें विदेश जाना होगा, आदान-प्रदान ही अभ्युदय का रहस्य है। क्या हम दूसरों से सदा लेते ही रहेंगे? क्या हम लोग सदा ही पश्चिमवासियों के पद-प्रान्त में बैठकर ही सब बातें, यहाँ तक कि धर्म भी सीखेंगे? हाँ, हम उन लोगों से कल-कारखाने के काम सीख सकते हैं, और भी दूसरी बहुत सी बातें उनसे सीख सकते हैं, परन्तु हमें भी उन्हें कुछ सिखाना होगा। और वह है हमारा धर्म, हमारी आध्यात्मिकता। संसार सर्वांगीण सभ्यता की अपेक्षा कर रहा है। शत शत शताब्दियों की अवनति, दुःख और दुर्भाग्य के आवर्त में पड़कर भी हिन्दू जाति उत्तराधिकार में प्राप्त धर्मरूपी जिन अमूल्य रत्नों को यत्नपूर्वक अपने हृदय से लगाये हुए है, उन्हीं रत्नों की आशा से संसार उसकी ओर आग्रहभरी दृष्टि से निहार रहा है। तुम्हारे पूर्वजों के उन्हीं अपूर्व रत्नों के लिए भारत से बाहर के मनुष्य किस तरह उद्ग्रीव हो रहे हैं, यह मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ? यहाँ हम अनर्गल बकवास किया करते हैं, आपस में झगड़ते रहते हैं, श्रद्धा के जितने गंभीर विषय हैं, उन्हें हँसकर उड़ा देते हैं, यहाँ तक कि इस समय प्रत्येक पवित्र वस्तु को हँसकर उड़ा देने की प्रवृत्ति एक जातीय दुर्गुण हो गयी है। इसी भारत में हमारे पूर्वज जो संजीवक अमृत रख गये हैं, उसका एक कण मात्र पाने के लिए भी भारत से बाहर के लाखों मनुष्य कितने आग्रह के साथ हाथ फैलाये हुए हैं, यह हमारी समझ में भला कैसे आ सकता है! इसलिए हमें भारत के बाहर जाना ही होगा। हमारी आध्यात्मिकता के बदले में वे जो कुछ दें, वही हमें लेना होगा। आध्यात्मिक राज्य के अपूर्व तत्त्वसमूहों के बदले हम जड़ राज्य के अद्भुत तत्त्वों को प्राप्त करेंगे। चिर काल तक शिष्य रहने से हमारा काम न होगा, हमें आचार्य भी होना होगा। समभाव के न रहने पर मित्रता संभव नहीं। और जब एक पक्ष सदा ही आचार्य का आसन पाता रहता है और दूसरा पक्ष सदा ही उसके पदप्रान्त में बैठकर शिक्षा ग्रहण किया करता है, तब दोनों में कभी भी समभाव की स्थापना नहीं हो सकती। यदि अंग्रेज़ और अमरीकी जाति से समभाव रखने की तुम्हारी इच्छा हो, तो जिस तरह तुम्हें उनसे शिक्षा प्राप्त करनी है, उसी तरह उन्हें शिक्षा देनी भी होगी, और अब भी कितनी ही शताब्दियों तक संसार को शिक्षा देने की सामग्री तुम्हारे पास यथेष्ट है। इस समय यही करना होगा। उत्साह की आग हमारे हृदय में जलनी चाहिए। हम बंगालियों को कल्पना-शक्ति के लिए प्रसिद्धि मिल चुकी है और मुझे विश्वास है कि यह शक्ति हममें है भी। कल्पनाप्रिय भावुक जाति कहकर हमारा उपहास भी किया गया है। परन्तु, मित्रो! मैं तुमसे कहना चाहूँगा कि निस्संदेह बुद्धि

का आसन ऊँचा है, परन्तु यह अपनी परिमित सीमा के बाहर नहीं बढ़ सकती। हृदय—केवल हृदय के भीतर से ही दैवी प्रेरणा का स्फुरण होता है, और उसकी अनुभव शक्ति से ही उच्चतम जटिल रहस्यों की मीमांसा होती है, और इसीलिए 'भावुक' बंगालियों को ही यह काम करना होगा। **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।** —'उठो, जागो; जब तक अभीप्सित वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक बराबर उसकी ओर बढ़ते जाओ।'[१] कलकत्तानिवासी युवको ! उठो, जागो, शुभ मुहूर्त आ गया है। सब चीज़ें अपने आप तुम्हारे सामने खुलती जा रही हैं। हिम्मत करो और डरो मत। केवल हमारे ही शास्त्रों में ईश्वर के लिए 'अभीः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। हमें 'अभीः'—निर्भय होना होगा, तभी हम अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करेंगे। उठो, जागो, तुम्हारी मातृभूमि को इस महाबलि की आवश्यकता है। इस कार्य की सिद्धि युवकों से ही हो सकेगी। 'युवा, आशिष्ठ द्रढिष्ठ, बलिष्ठ, मेधावी',[२] उन्हींके लिए यह कार्य है। और ऐसे सैंकड़ों—हज़ारों युवक कलकत्ते में हैं। जैसा कि तुम लोग कहते हो, यदि मैंने कुछ किया है, तो याद रखना, मैं वही एक नगण्य बालक हूँ, जो किसी समय कलकत्ते की सड़कों पर खेला करता था। अगर मैंने इतना किया, तो इससे कितना अधिक तुम कर सकोगे ! उठो—जागो, संसार तुम्हें पुकार रहा है। भारत के अन्य भागों में बुद्धि है, धन भी है, परन्तु उत्साह की आग केवल हमारी ही जन्मभूमि में है। उसे बाहर आना ही होगा, इसलिए कलकत्ते के युवको, अपने रक्त में उत्साह भरकर जागो। मत सोचो कि तुम ग़रीब हो, मत सोचो कि तुम्हारे मित्र नहीं हैं। अरे, क्या कभी तुमने देखा है कि रुपया मनुष्य का निर्माण करता है ? नहीं, मनुष्य ही सदा रुपये का निर्माण करता है। यह सम्पूर्ण संसार मनुष्य की शक्ति से, उत्साह की शक्ति से, विश्वास की शक्ति से निर्मित हुआ है।

तुममें से जिन लोगों ने उपनिषदों में सबसे अधिक सुन्दर कठोपनिषद् का अध्ययन किया है, उन्हें स्मरण होगा कि किस तरह वे राजा एक महायज्ञ का अनुष्ठान करने चले थे, और दक्षिणा में अच्छी अच्छी चीज़ें न देकर अनुपयोगी गायें और घोड़े दे रहे थे और कथा के अनुसार उसी समय उनके पुत्र नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। मैं तुम्हारे लिए इस 'श्रद्धा' शब्द का अंग्रेजी

१. कठोपनिषद् १।३।१४।।

२. युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः।
तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्।।
—तैत्तिरीयोपनिषद् ।।२।८।१।।

अनुवाद न करूँगा, क्योंकि यह ग़लत होगा। समझने के लिए अर्थ की दृष्टि से यह एक अद्‌भुत शब्द है और बहुत कुछ तो इसके समझने पर निर्भर करता है। हम देखेंगे कि यह किस तरह शीघ्र ही फल देनेवाली है। श्रद्धा के आविर्भाव के साथ ही हम नचिकेता को आप ही आप इस तरह बातचीत करते हुए देखते हैं: 'मैं बहुतों से श्रेष्ठ हूँ, कुछ लोगों से छोटा भी हूँ, परन्तु कहीं भी ऐसा नहीं हूँ कि सबसे छोटा होऊँ, अतः मैं भी कुछ कर सकता हूँ।' उसका यह आत्मविश्वास और साहस बढ़ता गया और जो समस्या उसके मन में थी, उस बालक ने उसे हल करना चाहा,—वह समस्या मृत्यु की समस्या थी। इसकी मीमांसा यम के घर जाने पर ही हो सकती थी, अतः वह बालक वहीं गया। निर्भीक नचिकेता यम के घर जाकर तीन दिन तक प्रतीक्षा करता रहा, और तुम जानते हो कि किस तरह उसने अपना अभीप्सित प्राप्त किया। हमें जिस चीज़ की आवश्यकता है, वह यह श्रद्धा ही है। दुर्भाग्यवश भारत से इसका प्रायः लोप हो गया है, और हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण भी यही है। एकमात्र इस श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य में अन्तर पाया जाता है? इसका और दूसरा कारण नहीं। यह श्रद्धा ही है, जो एक मनुष्य को बड़ा और दूसरे को कमज़ोर और छोटा बनाती है। हमारे गुरुदेव कहा करते थे, जो अपने को दुर्बल सोचता है, वह दुर्बल ही हो जाता है, और यह बिल्कुल ठीक ही है। इस श्रद्धा को तुम्हें पाना ही होगा। पश्चिमी जातियों द्वारा प्राप्त की हुई जो भौतिक शक्ति तुम देख रहे हो, वह इस श्रद्धा का ही फल है, क्योंकि वे अपने दैहिक बल के विश्वासी हैं, और यदि तुम अपनी आत्मा पर विश्वास करो, तो वह और कितना अधिक कारगर होगा? उस अनन्त आत्मा, उस अनन्त शक्ति पर विश्वास करो, तुम्हारे शास्त्र और तुम्हारे ऋषि एक स्वर से उसका प्रचार कर रहे हैं। वह आत्मा अनन्त शक्ति का आधार है, कोई उसका नाश नहीं कर सकता, उसकी वह अनन्त शक्ति प्रकट होने के लिए केवल आह्वान की प्रतीक्षा कर रही है। यहाँ दूसरे दर्शनों और भारत के दर्शनों में महान् अन्तर पाया जाता है। द्वैतवादी हो, चाहे विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी हो, सभी को यह दृढ़ विश्वास है कि स्वयं आत्मा में ही सम्पूर्ण शक्ति है; केवल उसे व्यक्त करना होता है। इसके लिए हमें श्रद्धा की ही ज़रूरत है; हमें, यहाँ जितने भी मनुष्य हैं, सभी को इसकी आवश्यकता है। इसी श्रद्धा को प्राप्त करने का महान् कार्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। हमारे राष्ट्रीय ख़ून में एक प्रकार के भयानक रोग का बीज समा रहा है, और वह है प्रत्येक विषय को हँसकर उड़ा देना, गाम्भीर्य का अभाव, इस दोष का सम्पूर्ण रूप से त्याग करो। वीर बनो, श्रद्धासम्पन्न होओ, और सब कुछ तो इसके बाद आ ही जायगा।

अब तक मैंने कुछ भी नहीं किया, यह कार्य तुम्हें करना होगा। अगर कल मैं मर जाऊँ, तो इस कार्य का अन्त नहीं होगा। मुझे दृढ़ विश्वास है, सर्वसाधारण जनता के भीतर से हज़ारों मनुष्य आकर इस व्रत को ग्रहण करेंगे और इस कार्य की इतनी उन्नति तथा विस्तार करेंगे, जिसकी आशा मैंने कभी कल्पना में भी न की होगी। मुझे अपने देश पर विश्वास है--विशेषतः अपने देश के युवकों पर। बंगाल के युवकों पर सबसे बड़ा भार है। इतना बड़ा भार किसी दूसरे प्रान्त के युवकों पर कभी नहीं आया। पिछले दस वर्षों तक मैंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। इससे मेरी दृढ़ धारणा हो गयी है कि बंगाल के युवकों के भीतर से ही उस शक्ति का प्रकाश होगा, जो भारत को उसके आध्यात्मिक अधिकार पर फिर से प्रतिष्ठित करेगी। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ, इन हृदयवान उत्साही बंगाली युवकों के भीतर से ही सैकड़ों वीर उठेंगे, जो हमारे पूर्वजों द्वारा प्रचारित सनातन आध्यात्मिक सत्यों का प्रचार करने और शिक्षा देने के लिए संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण करेंगे। और तुम्हारे सामने यही महान् कर्तव्य है। अतएव एक बार और तुम्हें उस **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** रूपी महान् आदर्श वाक्य का स्मरण दिलाकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। डरना नहीं, क्योंकि मनुष्य जाति के इतिहास में देखा जाता है कि जितनी शक्तियों का विकास हुआ है, सभी साधारण मनुष्यों के भीतर से ही हुआ है। संसार में बड़े बड़े जितने प्रतिभाशाली मनुष्य हुए हैं, सभी साधारण मनुष्यों के भीतर से ही हुए हैं, और इतिहास की घटनाओं की पुनरावृत्ति होगी ही। किसी बात से मत डरो। तुम अद्भुत कार्य करोगे। जिस क्षण तुम डर जाओगे, उसी क्षण तुम बिल्कुल शक्ति-हीन हो जाओगे। संसार में दुःख का मुख्य कारण भय ही है, यही सबसे बड़ा अंधविश्वास है, यह भय हमारे दुःखों का कारण है, और यह निर्भीकता है, जिससे क्षण भर में स्वर्ग प्राप्त होता है। अतएव, **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**

महानुभावो, मेरे प्रति आप लोगों ने जो अनुग्रह प्रकट किया है, उसके लिए आप लोगों को मैं फिर से धन्यवाद देता हूँ। मैं आप लोगों से इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी इच्छा, मेरी प्रबल और आन्तरिक इच्छा यह है कि मैं संसार की, और सर्वोपरि अपने देश और देशवासियों की थोड़ी सी भी सेवा कर सकूँ।

वेदान्त

(१२ नवम्बर, १८९७ को लाहौर में दिया गया व्याख्यान)

जगत् दो हैं, जिनमें हम बसते हैं--एक बहिर्जगत् और दूसरा अन्तर्जगत्। अति प्राचीन काल से ही मनुष्य इन दोनों भूमियों में समानान्तर रेखाओं की तरह बराबर उन्नति करते आये हैं। खोज पहले बहिर्जगत् में ही शुरू हुई। मनुष्यों ने पहले-पहल दुरूह समस्याओं के उत्तर बाह्य प्रकृति से पाने की चेष्टा की। प्रथमतः मनुष्यों ने अपने चारों ओर की वस्तुओं से सुन्दर और उदात्त की तृष्णा निवृत्त करनी चाही। वे अपने को और अपने सभी भीतरी भावों को स्थूल भाषा में प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हुए, तथा उन्हें जो सब उत्तर मिले, ईश्वर-तत्त्व और उपासना-तत्त्व के जो सब अति अद्भुत सिद्धान्त उन्हें प्राप्त हुए, और उस शिव-सुन्दर का उन्होंने जो उच्छ्वासमय वर्णन किया, ये सभी वास्तव में अति अपूर्व हैं। बहिर्जगत् से निस्सन्देह उदात्त भावों का आविर्भाव हुआ। परन्तु बाद में मनुष्य जाति के लिए जो अन्य जगत् उन्मुक्त हुआ, वह और भी उदात्त, और भी सुन्दर तथा अनन्त गुना विस्तृत था। वेदों के कर्मकांड-भाग में हम धर्म के बड़े ही आश्चर्यमय तत्त्वों का वर्णन पाते हैं। हम संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाले विधाता के सम्बन्ध के वहाँ अत्यन्त अद्भुत तत्त्व-समूह देखते हैं, ये सब हमारे सामने मर्मस्पर्शी भाषा में रखे गये हैं। तुममें से अनेक को ऋग्वेद संहिता का वह श्लोक, जो प्रलय के वर्णन में आया है, याद होगा। भावों को उद्दीप्त करनेवाला ऐसा उदात्त वर्णन शायद कभी किसीने नहीं किया। इन सबके होते हुए भी हम देखते हैं कि इनमें केवल बहिर्जगत् की ही महत्ता का चित्रण किया गया है; वह वर्णन स्थूल का है, इसमें कुछ जड़त्व फिर भी लगा हुआ है। तथापि हम देखते हैं, जड़ और ससीम भाषा में यह असीम का ही वर्णन है। यह जड़ शरीर के अनन्त विस्तार का वर्णन है, किन्तु मन का नहीं; यह देश के अनन्तत्व का वर्णन है, किन्तु विचार का नहीं। इसलिए वेदों के दूसरे भाग में, अर्थात् ज्ञानकाण्ड में, हम देखते हैं, एक बिल्कुल ही भिन्न प्रणाली का अनुसरण किया गया है। पहली प्रणाली थी, बाह्य प्रकृति में विश्व-ब्रह्माण्ड के प्रकृत सत्य का अनुसन्धान; यह जड़ संसार से जीवन की सभी गम्भीर समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा था। **यस्यैते हिमवन्तो महित्वा--**

'यह हिमालय पर्वत जिनकी महत्ता बतला रहा है।' यह बड़ा ऊँचा विचार है अवश्य, किन्तु फिर भी भारत के लिए यह पर्याप्त नहीं था। भारतीय मन को इस पथ का परित्याग करना पड़ा था। भारतीय गवेषणा पूर्णतया बहिर्जगत् को छोड़कर दूसरी ओर मुड़ी—खोज अन्तर्जगत् में शुरू हुई, क्रमशः वे जड़ से चेतन में आये। चारों ओर से यह प्रश्न उठने लगा, 'मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या हाल होता है?' **अस्तीत्यैके नायमस्तीति चैके**—'किसी किसीका कथन है कि मनुष्य को मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, और कोई कोई कहते हैं कि नहीं रहता; हे यमराज, इनमें कौन सा सत्य है?'[1] यहाँ हम देखते हैं, एक दूसरी ही प्रणाली का अनुसरण किया गया है। भारतीय मन को बहिर्जगत् से जो कुछ मिलना था, मिल चुका था, परन्तु उससे इसे तृप्ति नहीं हुई। अनुसंधान के लिए वह और आगे बढ़ा। समस्या के समाधान के लिए उसने अपने में ही ग़ोता लगाया, और तब यथार्थ उत्तर मिला।

वेदों के इस भाग का नाम है उपनिषद् या वेदान्त या आरण्यक या रहस्य। यहाँ हम देखते हैं, धर्म बाहरी दिखलावे से बिल्कुल अलग है; यहाँ हम देखते हैं, आध्यात्मिक विषयों का वर्णन जड़ की भाषा से नहीं हुआ, आत्मा की भाषा से हुआ है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के लिए तदनुरूप भाषा का व्यवहार किया गया है। यहाँ और कोई स्थूल भाव नहीं है, यहाँ जगत् के विषयों से कोई समझौता नहीं है। हमारी आज की धारणा के परे, उपनिषदों के वीर तथा साहसी महामना ऋषि निर्भय भाव से बिना समझौता किये ही मनुष्य जाति के लिए ऊँचे से ऊँचे तत्त्वों की घोषणा कर गये हैं, जो कभी भी प्रचारित नहीं हुए। ऐ हमारे देशवासियो, मैं उन्हींको तुम्हारे आगे रखना चाहता हूँ। वेदों का ज्ञानकाण्ड एक विशाल महासागर है; इसका थोड़ा ही अंश समझने के लिए अनेक जन्मों की आवश्यकता है। रामानुज ने उपनिषदों के सम्बन्ध में यथार्थ ही कहा है कि वेदान्त वेदों का मुकुट है; और सचमुच ही यह वर्तमान भारत की बाइबिल है। वेदों के कर्मकाण्ड पर हिन्दुओं की बड़ी श्रद्धा है, परन्तु हम जानते हैं, युगों तक श्रुति के नाम से केवल उपनिषदों का ही अर्थ लिया जाता था। हम जानते हैं, हमारे बड़े बड़े सब दर्शनकारों ने—व्यास हों, चाहे पतंजलि या गौतम, यहाँ तक कि सभी दर्शनशास्त्रों के जनकस्वरूप महापुरुष कपिल ने भी—जब अपने मत के समर्थन में प्रमाणों का संग्रह करना चाहा, तब उनमें से हर एक को उपनिषदों ही में प्रमाण मिले हैं, और कहीं नहीं; क्योंकि शाश्वत सत्य केवल उपनिषदों ही में हैं।

---

१. कठोपनिषद् ॥१।१।२०॥

कुछ सत्य ऐसे हैं, जो किसी विशेष पथ से, विशेष विशेष अवस्थाओं और समयों के अनुकूल, किसी किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए होते हैं। युग की प्रथाओं के अनुसार उनकी प्रतिष्ठा होती है और वे किसी खास समय के लिए ही उपयोगी होते हैं। और कुछ सत्य ऐसे हैं, जिनकी प्रतिष्ठा मानव प्रकृति पर हुई है। उनका अस्तित्व तब तक वर्तमान रहेगा, जब तक मनुष्य जाति का अस्तित्व रहेगा। यही पिछले सत्य सार्वजनीन और सार्वकालिक कहे जा सकते हैं; और भारत में बहुत कुछ परिवर्तन होने पर भी, हमारे खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा और उपासना-प्रणालियों के बहुत कुछ परिवर्तित हो जाने पर भी श्रुतियों के ये सार्वभौम सत्य, वेदान्त के ये अपूर्व तत्त्व, अपनी ही महिमा से अचल, अजेय और अविनाशी बनकर आज भी विद्यमान हैं।

उपनिषदों में जो तत्त्व अच्छी तरह विकसित हो पाये हैं, उनके बीज पहले ही से कर्मकाण्ड में पाये जाते हैं। ब्रह्माण्ड-तत्त्व की धारणा, जिसका अस्तित्व सब सम्प्रदायों के वेदान्ती मानते हैं; यहाँ तक कि मनोविज्ञान-तत्त्व भी, जिसे भारत की सम्पूर्ण चिन्तन-प्रणालियों का उद्गम-स्थान कहना चाहिए, कर्मकाण्ड में वर्णित एवं संसार के सम्मुख प्रचारित हो चुके हैं। अतः वेदान्त के आध्यात्मिक भाग पर कुछ कहने के पहले मुझे कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत हो रहा है, और वेदान्त शब्द मैं किस अर्थ में प्रयोग करता हूँ, इसकी व्याख्या सर्वप्रथम करना चाहता हूँ।

दुःख की बात है कि आजकल हम लोग प्रायः एक विशेष भ्रम में पड जाते हैं। हम वेदान्त से केवल अद्वैतवाद समझ लेते हैं। परन्तु तुम लोगों को याद रखना चाहिए कि यदि सभी धार्मिक पन्थों का अध्ययन करना है, तो भारत के वर्तमान समय में प्रस्थानत्रय पढ़ने की भी उतनी ही आवश्यकता है। सबसे पहले हैं श्रुतियाँ अर्थात् उपनिषद्, दूसरे हैं व्याससूत्र, जो अपने पहले के दर्शनों की समष्टि तथा चरम परिणतिस्वरूप होने के कारण इतर दर्शनों से बढ़कर समझे जाते हैं। और बात ऐसी नहीं कि ये दर्शन एक दूसरे के विरोधी हैं; बल्कि वे एक दूसरे के आधार-स्वरूप हैं---मानो सत्य की खोज करनेवाले मनुष्यों को सत्य का क्रम-विकास दिखलाते हुए, व्याससूत्रों में उनकी चरम परिणति हो गयी है। व्याससूत्रों में वेदान्त के अद्भुत सत्यों को क्रमबद्ध किया गया है और उपनिषदों तथा व्याससूत्रों के मध्य में वेदान्त की दिव्य टीका के रूप में गीता वर्तमान है।

अतः भारत का हर एक धर्माभिमानी सम्प्रदाय---चाहे वह द्वैतवादी, अद्वैतवादी या वैष्णव हो---उपनिषद्, गीता तथा व्याससूत्र को प्रामाणिक ग्रंथ मानता है। ये तीनों प्रस्थानत्रय कहे जाते हैं। हम देखते हैं, शंकराचार्य हों, चाहे रामानुज,

मध्वाचार्य हों, चाहे वल्लभाचार्य, अथवा चैतन्य हों, जिस किसीने एक नवीन सम्प्रदाय की नींव डाली है, उसे इन तीनों प्रस्थानों को ग्रहण करना ही पड़ा और उन पर एक नये भाष्य की रचना करनी पड़ी। अतः वेदान्त को उपनिषदों के किसी एक ही भाव में, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद या अद्वैतवाद के रूप में आवद्ध कर देना ठीक नहीं। जब कि वेदान्त से ये सभी मत निकले हैं, तो उसे इन मतों की समष्टि ही कहना चाहिए। एक अद्वैतवादी अपने को वेदान्ती कहकर परिचय देने का जितना अधिकारी है, उतना ही रामानुज सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैतवादी को भी है। परन्तु मैं कुछ और बढ़कर कहना चाहता हूँ कि हिन्दू शब्द कहने से हम लोगों का वही अभिप्राय है, जो वास्तव में वेदान्ती का है। मैं तुमसे कहता हूँ कि ये तीनों भारत में स्मरणातीत काल से प्रचलित हैं। तुम कदापि यह विश्वास न करो कि अद्वैतवाद के आविष्कारक शंकर थे। उनके जन्म के बहुत पहले ही से यह मत यहाँ था। वे केवल इसके अन्तिम प्रतिनिधियों में से एक थे। रामानुज के मत के लिए भी यही बात कहनी चाहिए। उनके भाष्य ही से यह सूचित हो जाता है कि उनके आविर्भाव के बहुत पहले से वह मत विद्यमान था। जो द्वैतवादी सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों के साथ साथ भारत में वर्तमान हैं, उन पर भी यही बात लागू होती है। और अपने थोड़े से ज्ञान के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ये सब मत एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

जिस तरह हमारे षड्दर्शन महान् तत्त्व के क्रमिक उद्घाटन मात्र हैं, जो संगीत की तरह पिछले धीमे स्वरवाले परदों से उठते हैं, और अन्त में समाप्त होते हैं, अद्वैत की वज्रगम्भीर ध्वनि में, उसी तरह हम देखते हैं कि पूर्वोक्त तीनों मतों में भी मनुष्य मन उच्च से उच्चतर आदर्श की ओर अग्रसर हुआ है और अन्त में सभी मत अद्वैतवाद के उच्चतम सोपान पर पहुँचकर एक अद्भुत एकत्व में परिसमाप्त हुए हैं। अतः ये तीनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। दूसरी ओर, मुझे यह कहना पड़ता है कि बहुत लोग इस भ्रम में पड़े हैं कि ये तीनों मत परस्पर विरोधी हैं। हम देखते हैं, अद्वैतवादी आचार्य, जिन श्लोकों में अद्वैतवाद की ही शिक्षा दी गयी है, उन्हें तो ज्यों का त्यों रख देते हैं, परन्तु जिनमें द्वैत या विशिष्टाद्वैतवाद के उपदेश हैं, उन्हें ज़बरदस्ती अद्वैतवाद की ओर घसीट लाते हैं; उनका भी अद्वैत अर्थ कर डालते हैं। उधर द्वैतवादी आचार्य अद्वैतात्मक श्लोकों का द्वैतवाद का अर्थ ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। वे हमारे पूज्य आचार्य हैं, यह मैं मानता हूँ; परन्तु **दोषा वाच्या गुरोरपि** भी एक प्रसिद्ध वाक्य है। मेरा मत है कि केवल इसी एक विषय में उन्हें भ्रम हुआ है। हमें शास्त्रों की विकृत व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। धार्मिक विषयों में हमें किसी प्रकार की बेईमानी का सहारा लेकर धर्म की

व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं है। व्याकरण के दाँव-पेंच दिखाने से क्या फ़ायदा! श्लोकों का अर्थ लगाने में हमें अपने ऐसे भाव रखने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, जो उनमें अभिप्रेत न थे। जब तुम अधिकार-भेद का अपूर्व रहस्य समझोगे, तब श्लोकों का यथार्थ अर्थ सहज ही तुम्हारी समझ में आ जायगा।

यह सच है कि सम्पूर्ण उपनिषदों का लक्ष्य एक है, **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति**—'वह कौन सी वस्तु है, जिसे जान लेने पर सम्पूर्ण ज्ञान करतलगत हो जाता है?'[1] आजकल की भाषा में अगर कहा जाय, तो यही कहना चाहिए कि उपनिषदों का उद्देश्य चरम एकत्व के आविष्कार की चेष्टा है, और भिन्नत्व में एकत्व की खोज ही ज्ञान है। हर एक विज्ञान इसी नींव पर प्रतिष्ठित है। मनुष्यों का सम्पूर्ण ज्ञान भिन्नत्व में एकत्व की खोज पर ही प्रतिष्ठित है। और, यदि दृश्य जगत् की थोड़ी सी घटनाओं में ही एकत्व के अनुसन्धान की चेष्टा क्षुद्र मानवीय विज्ञान का कार्य हो, तो इस अपूर्व विचित्रतासंकुल विश्व के भीतर, हम जिनके नाम और रूपों में सहस्रधा वैभिन्न्य देख रहे हैं, जहाँ जड़ और चेतन में भेद वर्तमान हैं, जहाँ सभी चित्तवृत्तियाँ एक दूसरी से भिन्न हैं, जहाँ कोई रूप किसी दूसरे से नहीं मिलता, जहाँ प्रत्येक वस्तु अपर वस्तु से पृथक् है, एकत्व का आविष्कार करने का हमारा उद्देश्य कितना कठिन है! परन्तु इन विभिन्न स्तरों और अनन्त लोकों के भीतर एकत्व का आविष्कार करना ही उपनिषदों का लक्ष्य है। दूसरी ओर हमें अरुन्धती न्याय का भी सहारा लेना चाहिए। यदि किसीको अरुन्धती नक्षत्र दिखलाना है, तो पहले पासवाला उससे कोई बड़ा और उज्ज्वलतर नक्षत्र दिखलाकर उस पर देखनेवाले की दृष्टि स्थिर करनी चाहिए; इसके बाद छोटे नक्षत्र अरुन्धती का दिखलाना आसान होगा। इसी तरह सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्व समझाने के लिए, दूसरे कितने ही स्थूल भावों के उपदेश देकर ऋषियों ने उच्च तत्त्व को समझाया है। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए मुझे ज़्यादा कुछ नहीं करना, केवल उपनिषदों को तुम्हारे सामने रख देना है, फिर तुम स्वयं समझ जाओगे। प्रायः प्रत्येक अध्याय द्वैतवाद या उपासना के उपदेश से आरम्भ होता है। पहले शिक्षा दी गयी है कि ईश्वर संसार का सृष्टिकर्ता है, संरक्षक है और अन्त में प्रत्येक वस्तु उसीमें विलीन हो जाती है; वही हमारा उपास्य है, वही शासक है, वही बहिःप्रकृति और अन्तर्प्रकृति का प्रेरक है; फिर भी वह मानो प्रकृति के बाहर है। एक क़दम और बढ़कर हम देखते हैं, वे ही आचार्य बतलाते हैं कि ईश्वर प्रकृति के बाहर नहीं, बल्कि प्रकृति में अन्तर्व्याप्त है। अन्त में ये दोनों भाव छोड़ दिये गये हैं, और

---

१. मुंडकोपनिषद् ॥१।३॥

जो कुछ है, सब वही है—कोई भेद नहीं। **तत्त्वमसि श्वेतकेतो**—'हे श्वेतकेतु, तुम वही (ब्रह्म) हो।' अन्त में यही घोषणा की गयी कि जो समग्र जगत् के भीतर विद्यमान है, वही मनुष्यों की आत्मा में भी विराजमान है। यहाँ किसी तरह का समझौता नहीं, यहाँ दूसरों के मतामत की परवाह नहीं की गयी। यहाँ सत्य, निर्भीक सत्य निर्भीक भाषा में प्रचारित किया गया है। आजकल उस महान् सत्य का उसी निर्भीक भाषा से प्रचार करने में हमें हरगिज़ न डरना चाहिए, और ईश्वर की कृपा से मैं स्वयं तो कम से कम उसी प्रकार के एक निर्भीक प्रचारक होने की आशा रखता हूँ।

अब मैं पूर्व प्रसंग का अनुसरण करते हुए दो बातों को समझाता हूँ। एक है मनस्तात्त्विक पक्ष, जो सभी वेदान्तियों का सामान्य विषय है, और दूसरा है जगत्-सृष्टि पक्ष। पहले मैं जगत्-सृष्टि पक्ष पर विचार करूँगा। हम देखते हैं, आजकल आधुनिक विज्ञान के विचित्र विचित्र आविष्कार हमें आकस्मिक रूप से चमत्कृत कर रहे हैं, और स्वप्न में भी अकल्पनीय, अद्भुत चमत्कारों को हमारे सामने रखकर हमारी आँखों को चकाचौंध कर देते हैं। परन्तु वास्तव में इन आविष्कारों का अधिकांश बहुत पहले के आविष्कृत सत्यों का पुनराविष्कार मात्र है। अभी हाल की बात है; आधुनिक विज्ञान ने विभिन्न शक्तियों में एकत्व का आविष्कार किया है। उसने अभी अभी यह आविष्कृत किया कि ताप, विद्युत्, चुम्बक आदि भिन्न भिन्न नामों से परिचित जितनी शक्तियाँ हैं, वे एक ही शक्ति में परिवर्तित की जा सकती हैं; अतः दूसरे उन्हें चाहे जिन नामों से पुकारते रहें, विज्ञान उनके लिए एक ही नाम व्यवहार में लाता है। यही बात संहिता में भी पायी जाती है। यद्यपि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है, तथापि उसमें भी शक्तिविषयक ऐसा ही सिद्धान्त मिलता है, जिसका मैंने उल्लेख किया है। जितनी शक्तियाँ हैं, चाहे तुम उन्हें गुरुत्वाकर्षण कहो, चाहे आकर्षण या विकर्षण कहो, अथवा ताप कहो, या विद्युत्, वे सब उसी शक्ति-तत्त्व के विभिन्न रूप हैं। चाहे मनुष्यों के बाह्य इन्द्रियों का व्यापार कहो, या उनके अन्तःकरण की चिन्तन-शक्ति ही कहो, हैं सब एक ही शक्ति से उद्भूत, जिसे प्राण-शक्ति कहते हैं। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन या कम्पन है। जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विलय इसके चिरन्तन स्वरूप में हो जाता है, तब ये अनन्त शक्तियाँ कहाँ चली जाती हैं? क्या तुम सोचते हो कि इनका भी लोप हो जाता है? नहीं, कदापि नहीं। यदि शक्तिराशि बिलकुल नष्ट हो जाय, तो फिर भविष्य में जगत्तरंग का उत्थान कैसे और किस आधार पर हो सकता है? क्योंकि गति तो तरंगाकार संचरण है, जो उठती है, गिरती है; फिर उठती है, फिर गिरती है। इसी जगत्-प्रपंच के विकास को हमारे शास्त्रों

में 'सृष्टि' कहा गया है। परन्तु, ध्यान रहे, 'सृष्टि' अंग्रेज़ी का क्रियेशन नहीं है। अंग्रेज़ी में संस्कृत शब्दों का यथार्थ अनुवाद नहीं होता। बड़ी मुश्किल से मैं संस्कृत के भाव अंग्रेज़ी में व्यक्त करता हूँ। 'सृष्टि' शब्द का वास्तविक अर्थ है—प्रक्षेपण। प्रलय होने पर जगत्-प्रपंच सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर अपनी प्राथमिक अवस्था को प्राप्त होता है, कुछ काल उसी शान्त अवस्था में रहकर फिर विकसित होता है। यही सृष्टि है। अच्छा, तो फिर इन प्राणरूपिणी शक्तियों का क्या होता है? वे आदि-प्राण से मिल जाती हैं। यह प्राण उस समय बहुत कुछ गतिहीन हो जाता है, परन्तु इसकी गति बिल्कुल ही बन्द नहीं हो जाती। वैदिक सूक्तों के **आनीदवातम्**—'वह गतिहीन भाव से स्पन्दित हुआ था'—इस वाक्य से इसी तत्त्व का वर्णन किया गया है। वेदों के कितने ही पारिभाषिक शब्दों का अर्थ-निर्णय करना अत्यन्त कठिन काम है। उदाहरण के रूप में हम यहाँ 'वात' शब्द को ही लेते हैं। कभी कभी तो इससे वायु का अर्थ निकलता है और कभी कभी गति सूचित होती है। इन दोनों अर्थों में बहुधा लोगों को भ्रम हो जाता है। अतएव इस पर ध्यान रखना चाहिए। अच्छा, तो उस समय भूतों की क्या अवस्था होती है? शक्तियाँ सर्वभूतों में ओतप्रोत हैं। वे उस समय आकाश में लीन हो जाती हैं, इस आकाश से फिर भूतसमूहों की सृष्टि होती है। यह आकाश ही आदि-भूत है। यही आकाश प्राण की शक्ति से स्पन्दित होता रहता है, और प्रत्येक नयी सृष्टि के साथ ज्यों ज्यों प्राण का स्पन्दन तीव्र होता जाता है, त्यों त्यों आकाश की तरंगें क्षुब्ध होती हुई चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि के आकार धारण करती जाती हैं। हम पढ़ते हैं, **यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।**—'इस संसार में जो कुछ है, प्राण के कम्पित होने से निःसृत होता है।'[1] यहाँ 'एजति' शब्द पर ध्यान दो; क्योंकि 'एज्' धातु का अर्थ है काँपना, 'निःसृतम्' का अर्थ है प्रक्षिप्त और 'यदिदम् किंच' का अर्थ है इस संसार में जो भी कुछ है।

जगत्-प्रपंच की सृष्टि का यह थोड़ा सा आभास दिया गया। इसके विषय में बहुत सी छोटी छोटी बातें कही जा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप किस तरह सृष्टि होती है, किस तरह पहले आकाश की ओर आकाश से दूसरी वस्तुओं की सृष्टि होती है, आकाश में कम्पन होने पर वायु की उत्पत्ति कैसे होती है, आदि कितनी ही बातें कहनी पड़ेंगी। परन्तु यहाँ एक बात पर ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि सूक्ष्मतर तत्त्व से स्थूलतर तत्त्व की उत्पत्ति होती है, सबसे पीछे स्थूल भूत की सृष्टि होती है। यही बाह्यतम वस्तु है, और इसके पीछे सूक्ष्मतर भूत विद्यमान हैं। यहाँ

---

१. ऋग्वेद॥१०।१२९।२॥

तक विश्लेषण करने पर भी, हमने देखा कि सम्पूर्ण संसार केवल दो तत्त्वों में पर्यवसित किया गया है, अभी तक चरम एकत्व पर हम नहीं पहुँचे। शक्ति-तत्त्व के एकत्व को प्राण, और जड़-तत्त्व के एकत्व को आकाश कहा गया है। क्या इन दोनों में भी कोई एकत्व पाया जा सकता है? ये भी क्या एक तत्त्व में पर्यवसित किये जा सकते हैं? हमारा आधुनिक विज्ञान यहाँ मूक है, वह किसी तरह की मीमांसा नहीं कर सका। और यदि इसे इसकी मीमांसा करनी ही पड़े, तो जैसे उसने प्राचीन पुरुषों की तरह आकाश और प्राणों का आविष्कार किया है, उसी तरह उनके मार्ग पर उसे आगे भी चलना होगा।

जिस एक तत्त्व से आकाश और प्राण की सृष्टि हुई है, वह सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्व है, जो पुराणों में ब्रह्मा, चतुरानन ब्रह्मा, के नाम से परिचित है और मनस्तत्त्व के अनुसार जिसको 'महत्' भी कहा जाता है। यहीं उन दोनों तत्त्वों का मेल होता है। जिसे मन कहते हैं, वह मस्तिष्क जाल में फँसा हुआ उसी महत् का एक छोटा सा अंश है, और मस्तिष्क जाल में फँसे हुए संसार के सामूहिक मनों का नाम समष्टि महत् है। परन्तु विश्लेषण को आगे भी अग्रसर होना है, यह अब भी पूर्ण नहीं है। हममें से हर एक मनुष्य मानो एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है और सम्पूर्ण जगत् विश्व-ब्रह्माण्ड है। जो कुछ व्यष्टि में हो रहा है, वही समष्टि में भी होता है--**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**। यह बात सहज ही हमारी समझ में आ सकती है। यदि हम अपने मन का विश्लेषण कर सकते, तो समष्टि मन में क्या होता है, इसका भी बहुत कुछ निश्चित अनुमान कर सकते। अब प्रश्न यह है कि यह मन है क्या चीज़? इस समय पाश्चात्य देशों में भौतिक विज्ञान की जैसी तीव्र उन्नति हो रही है और शरीरविज्ञान जिस तरह धीरे धीरे प्राचीन धर्मों के एक के बाद दूसरे दुर्ग पर अपना अधिकार जमा रहा है, उसे देखते हुए पाश्चात्यवासियों को कोई टिकाऊ आधार नहीं मिल रहा है; क्योंकि, आधुनिक शरीरविज्ञान में पद पद पर मन की मस्तिष्क के साथ अभिन्नता देखकर वे बडी उलझन में पड़ गये हैं; परन्तु भारतवर्ष में हम लोग यह तत्त्व पहले ही से जानते हैं। हिन्दू बालक को पहले ही यह तत्त्व सीखना पड़ता है कि मन जड़ पदार्थ है, परन्तु सूक्ष्मतर जड़ है। हमारा यह जो स्थूल शरीर है, इसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर अथवा मन है। यह भी जड़ है, केवल सूक्ष्मतर जड़ है; परन्तु यह आत्मा नहीं।

मैं इस 'आत्मा' शब्द का अंग्रेज़ी में अनुवाद नहीं कर सकता; कारण, यूरोप में 'आत्मा' शब्द का द्योतक कोई भाव ही नहीं, अतएव इस शब्द का अनुवाद नहीं किया जा सकता। जर्मन दार्शनिक इस 'आत्मा' शब्द का सेल्फ़ (self) शब्द से अनुवाद करते हैं, परन्तु जब तक इस शब्द को सार्वभौम मान्यता प्राप्त न हो जाय, तब तक इसे व्यवहार में लाना असम्भव है। अतएव उसे सेल्फ़ (self) कहो, चाहे

कुछ और कहो, हमारी आत्मा के सिवा वह और कुछ नहीं है। यही आत्मा मनुष्य के भीतर यथार्थ मनुष्य है। यही आत्मा जड़ को अपने यंत्र के रूप में, अथवा मनोविज्ञान की भाषा में कहो, तो अपने अन्तःकरण के रूप में चलाती-फिराती है, और मन अन्तरिन्द्रियों की सहायता से शरीर की दृश्यमान बाह्य इन्द्रियों पर काम करता है। अस्तु, यह मन है क्या? अभी हाल में ही पाश्चात्य दार्शनिक यह जान सके हैं कि नेत्र वास्तव में दर्शनेन्द्रिय नहीं हैं, किन्तु यथार्थ इन्द्रिय इनके पीछे वर्तमान है, और यदि यह नष्ट हो जायँ, तो सहस्रलोचन इन्द्र की तरह चाहे मनुष्य की हज़ार आँखें हों, पर वह कुछ देख नहीं सकता। तुम्हारा दर्शन यह स्वतःसिद्ध सिद्धान्त लेकर आगे बढ़ता है कि दृष्टि का तात्पर्य वास्तव में बाह्य दृष्टि से नहीं, यथार्थ दृष्टि अन्तरिन्द्रिय की, भीतर रहनेवाले मस्तिष्क के केन्द्रसमूहों की है। तुम चाहे जिस नाम से पुकारो, परन्तु इन्द्रिय शब्द से हमारी नाक, कान, आँखें नहीं सिद्ध होतीं। और इन इन्द्रियसमूहों की ही समष्टि, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के साथ मिलकर अंग्रेज़ी में माइण्ड (mind) नाम से पुकारी जाती है। और यदि आधुनिक शरीर-वैज्ञानिक तुमसे आकर कहें कि मस्तिष्क ही माइण्ड (mind) है, और वह मस्तिष्क ही विभिन्न सूक्ष्म अवयवों से गठित है, तो तुम्हारे लिए डरने का कोई कारण नहीं। उनसे तुम तत्काल कह सकते हो कि हमारे दार्शनिक बराबर यह बात जानते हैं; यह हमारे धर्म के प्रथम मुख्य सिद्धान्तों में से एक है।

खैर, इस समय तुम्हें समझना होगा कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि शब्दों के क्या अर्थ हैं। सबसे पहले हम चित्त की मीमांसा करें। चित्त वास्तव में अन्तःकरण का मूल उपादान है, यह महत् का ही अंश है। विभिन्न अवस्थाओं के साथ मन का ही एक साधारण नाम चित्त है। उदाहरणार्थ, ग्रीष्मकाल की उस स्थिर और शान्त झील को लो, जिस पर एक भी तरंग नहीं है। सोचो, किसीने उस पर एक पत्थर फेंका। तो उससे क्या होगा? पहले, पानी पर जो आघात किया गया, उससे एक क्रिया हुई, इसके पश्चात् पानी उठकर पत्थर की ओर प्रतिक्रिया करने लगा और उसी प्रतिक्रिया ने तरंग का आकार धारण किया। पहले-पहल पानी ज़रा काँप उठता है, उसके बाद ही तरंग के आकार में प्रतिक्रिया होती है। इस चित्त को झील की तरह समझो, और बाहरी वस्तुएँ उस पर फेंके गये प्रस्तर खंड हैं। जब कभी वह इन्द्रियों की सहायता से किसी बहिर्वस्तु के संस्पर्श में आता है, बहिर्वस्तुओं को भीतर ले जाने के लिए इन इन्द्रियों की ज़रूरत होती है, तभी एक कम्पन उत्थित होता है। वह मन है—संकल्प-विकल्पात्मक। इसके बाद ही एक प्रतिक्रिया होती है, वह निश्चयात्मिका बुद्धि है, और इस बुद्धि के साथ साथ अहंज्ञान और बाहरी वस्तु का बोध पैदा होता है। जैसे हमारे हाथ पर मच्छर ने बैठकर डंक मारा,

संवेदना हमारे चित्त तक पहुँची, चित्त ज़रा काँप उठा---हमारे मनोविज्ञान के मत से वही मन है। इसके बाद एक प्रतिक्रिया उठी और साथ ही साथ हमारे भीतर यह भाव पैदा हुआ कि हमारे हाथ में मच्छर काट रहा है, इसे भगाना चाहिए। इसी प्रकार झील में पत्थर फेंके जाते हैं। परन्तु इतना ज़रूर समझना होगा कि झील पर जितने आघात होते हैं, सब बाहर से आते हैं, परन्तु मन की झील में बाहर से भी आघात आ सकते हैं और भीतर से भी। चित्त और उसकी इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं का नाम ही अन्तःकरण है।

पहले जो कुछ कहा गया, उसके साथ एक और भी बात समझनी होगी। उससे अद्वैतवाद समझने में हम लोगों को विशेष सुविधा होगी। तुममें से हर एक ने मुक्ता अवश्य ही देखी होगी, और तुममें से अनेक को मालूम भी होगा कि मुक्ता किस तरह बनती है। शुक्ति (सीप) के भीतर धूलि अथवा बालुका की कणिका पड़कर उसे उत्तेजित करती रहती है, और शुक्ति की देह इस उत्तेजना की प्रक्रिया करते हुए उस छोटी सी बालू की रज को अपने शरीर से निकले हुए रस से ढकती रहती है। वही कणिका एक निर्दिष्ट आकार को प्राप्त कर मुक्ता के रूप में परिणत होती है। यह मुक्ता जिस तरह निर्मित होती है, हम सम्पूर्ण संसार को उसी तरह रूपायित करते हैं। बाहरी संसार से हम आघात भर पाते हैं। यहाँ तक कि उस आघात के प्रति चैतन्य होने में भी हमें अपने भीतर से ही प्रक्रिया करनी पड़ती है और जब हम प्रक्रियाशील होते हैं, तब वास्तव में हम अपने मन के अंशविशेष को ही उस आघात के प्रति प्रक्षेपित करते हैं और जब हमें उसकी जानकारी होती है, तब वह और कुछ नहीं, उस आघात से आकार-प्राप्त हमारा अपना मन ही है। जो लोग बहिर्जगत् की यथार्थता पर विश्वास करना चाहते हैं, उन्हें यह बात माननी पड़ेगी, और आजकल इस शरीर-विज्ञान की उन्नति के दिनों में इस बात को बिना माने दूसरा उपाय ही नहीं है। यदि बहिर्जगत् को हम 'क' मान लें, तो वास्तव में हम 'क' --मन को ही जानते हैं और इस जानकारी के भीतर मन का भाग इतना अधिक है कि उसने 'क' को सर्वांशतः ढक लिया है और उस 'क' का यथार्थ रूप वास्तव में सदैव अज्ञात और अज्ञेय है। अतएव यदि बहिर्जगत् के नाम से कोई वस्तु हो भी, तो वह सदैव अज्ञात और अज्ञेय है। हमारे मन के द्वारा वह जिस साँचे में ढाल दी जाती है, जैसी रूपायित होती है, हम उसको उसी रूप में जानते हैं। अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमारी आत्मा के सम्बन्ध में भी यह बात बिल्कुल सच उतरती है। हम आत्मा को जानना चाहें, तो उसे भी अपने मन के भीतर से समझेंगे; अतः हम आत्मा के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं वह 'आत्मा --मन' के सिवा और कुछ नहीं। अर्थात् मन ही के द्वारा आवृत, मन ही के द्वारा रूपायित आत्मा को हम जानते हैं। इस

तत्त्व के सम्बन्ध में हम आगे चलकर कुछ और विवेचना करेंगे, यहाँ हमें इतना ही स्मरण रखना होगा।

इसके पश्चात् हमें जो विषय समझना है, वह यह है कि यह देह एक निरवच्छिन्न जड़-प्रवाह का नाम है। प्रतिक्षण हम इसमें नये नये पदार्थ जोड़ रहे हैं, फिर प्रतिक्षण इससे कितने ही पदार्थ निकलते जा रहे हैं। जैसे एक निरन्तर वहती हुई नदी है, उसकी सलिलराशि सदा ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रही है, फिर भी हम अपनी कल्पना के बल से उसके समस्त अंशों को एक ही वस्तु मानकर उसे एक ही नदी कहते हैं। परन्तु वास्तव में नदी है क्या ? प्रतिक्षण नया पानी आ रहा है, प्रतिक्षण उसकी तटभूमि परिवर्तित हो रही है, प्रतिक्षण सारा वातावरण परिवर्तित होता जा रहा है। तव नदी है क्या ? वह इसी परिवर्तन-समष्टि का नाम है। मन के सम्बन्ध में भी यही बात है। बौद्धों ने इस सदा ही होनेवाले परिवर्तन को लक्ष्य करके महान् क्षणिक् विज्ञानवाद की सृष्टि की थी। उसे ठीक ठीक समझना वड़ा कठिन काम है। परन्तु बौद्ध दर्शनों में यह मत सुदृढ़ युक्तियों द्वारा समर्थित और प्रमाणित हुआ है। भारत में यह वेदान्त के किसी किसी अंश के विरोध में उठ खड़ा हुआ था। इस मत को निरस्त करने की ज़रूरत आ पड़ी थी, और हम आगे देखेंगे, इस मत का खंडन करने में केवल अद्वैतवाद ही समर्थ हुआ था और कोई मत नहीं। आगे चलकर हम यह भी देखेंगे कि अद्वैतवाद के सम्बन्ध में लोगों की अनेक विचित्र धारणाएँ होने पर भी और अद्वैतवाद से लोगों के भयभीत होने पर भी, वास्तव में संसार का कल्याण इसीसे होता है, कारण इस अद्वैतवाद से ही सब प्रकार की समस्याओं का उत्तर मिलता है। द्वैतवाद और दूसरे जितने 'वाद' हैं, उपासना आदि के लिए वहुत अच्छे हैं, उनसे मन को बड़ी तृप्ति होती है और हो सकता है कि उनसे मन के उच्च पथ पर बढ़ने में सहायता मिलती हो, परन्तु यदि कोई तर्कसंगत एवं धर्मपरायण होना चाहे, तो उसके लिए एकमात्र गति अद्वैतवाद ही है। अस्तु, मन को भी देह की तरह किसी नदी के सदृश समझना चाहिए। वह भी सदा एक ओर खाली और दूसरी ओर पूर्ण हो रहा है। परन्तु वह एकत्व कहाँ है, जिसे हम आत्मा कहते हैं ? हम देखते हैं कि हमारी देह और मन में इस तरह सदा ही परिवर्तन होने पर भी हमारे भीतर कोई ऐसी वस्तु है, जो अपरिवर्तनीय है, जिसके कारण हमारी वस्तु विषयक धारणाएँ अपरिवर्तनीय हैं। जब विभिन्न दिशाओं से आलोक-रश्मियाँ किसी यवनिका या दीवार अथवा किसी दूसरी अचल वस्तु पर पड़ती हैं, केवल तभी उनके लिए एकता-स्थापन संभव होता है, केवल तभी वे एक अखंड भाव की सृष्टि कर सकती हैं। मनुष्य के विभिन्न शारीरिक अवयवों में वह एकत्व कहाँ है, जिस पर पहुँचकर विभिन्न भावराशियाँ एकत्व और पूर्ण अखंडत्व को प्राप्त

हो सकें? इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह वस्तु कभी मन नहीं हो सकती, क्योंकि वह परिवर्तनशील है। इसलिए अवश्य वह ऐसी वस्तु है, जो न देह है, न मन है, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता, जिसमें आकर हमारे समस्त भाव, बाहर के समस्त विषय एक अखंड भाव में परिणत हो जाते हैं---यही वास्तव में हमारी आत्मा है। और जब कि हम देख रहे हैं कि सम्पूर्ण जड़ पदार्थ, जिसे तुम सूक्ष्म जड़ अथवा मन, चाहे जिस नाम से पुकारो, परिवर्तनशील है और जब कि सम्पूर्ण स्थूल जड़ या बाह्य जगत् भी परिवर्तनशील है, तो यह अपरिवर्तनीय वस्तु (आत्मा) कदापि जड़ पदार्थ नहीं हो सकती; अतएव वह चेतन-स्वभाव, अविनाशी और अपरिणामी है।

इसके बाद एक दूसरा प्रश्न उठता है। यह प्रश्न बहिर्जगत् सम्बन्धी पुराने सृष्टि-रचनावादों (Design Theories) से भिन्न है। इस संसार को देखकर किसने इसकी सृष्टि की, किसने जड़ पदार्थ बनाया, आदि प्रश्नों से जिस सृष्टि-रचनावाद की उत्पत्ति होती है, मैं उसकी बात नहीं करता। मनुष्य की भीतरी प्रकृति से सत्य को जानना, यही मुख्य बात है। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जिस तरह प्रश्न उठा था, यहाँ भी ठीक उसी तरह प्रश्न उठ रहा है। यदि वह ध्रुव सत्य माना जाय कि हर एक मनुष्य में शरीर और मन से पृथक् एक अपरिवर्तनीय आत्मा विद्यमान है, तो यह भी मानना पड़ता है कि इन आत्माओं के भीतर धारणा, भाव और सहानुभूति की एकता विद्यमान है। अन्यथा हमारी आत्मा तुम्हारी आत्मा पर कैसे प्रभाव डाल सकती है? परन्तु आत्माओं के बीच में रहनेवाली वह कौन सी वस्तु है, जिसके भीतर से एक आत्मा दूसरी आत्मा पर कार्य कर सकती है? वह माध्यम कहाँ है, जिसके द्वारा वह क्रियाशील होती है। मैं तुम्हारी आत्मा के बारे में किस प्रकार कुछ भी अनुभव कर सकता हूँ? वह कौन सी वस्तु है, जो हमारी और तुम्हारी आत्मा में संलग्न है? अतः यहाँ एक दूसरी आत्मा के मानने की दार्शनिक आवश्यकता प्रतीत होती है; क्योंकि वह आत्मा सम्पूर्ण भिन्न भिन्न आत्माओं और जड़ वस्तुओं के भीतर से अपना कार्य करती है, वह संसार की असंख्य आत्माओं में ओतप्रोत भाव से विद्यमान रहती है; उसीकी सहायता से दूसरी आत्माओं में जीवनी-शक्ति का संचार होता है; एक आत्मा दूसरी आत्मा को प्यार करती है, एक दूसरे से सहानुभूति रखती है या एक दूसरे के लिए कार्य करती है। इसी सर्वव्यापी आत्मा को परमात्मा कहते हैं। वह सम्पूर्ण संसार का प्रभु है, ईश्वर है। और जब कि आत्मा जड़ पदार्थ से नहीं बनी, जब कि वह चेतन स्वरूप है, तो वह जड़ के नियमों का अनुसरण नहीं कर सकती---उसका विचार जड़ के नियमानुसार नहीं किया जा सकता। अतएव वह अजेय, अजन्मा, अविनाशी तथा अपरिणामी है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

--'इस आत्मा को न आग जला सकती है, न कोई शस्त्र इसे छेद सकता है, न वायु इसे सुखा सकती है, न पानी गीला कर सकता है, यह आत्मा नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और सनातन है।'[1] गीता और वेदान्त के अनुसार जीवात्मा विभु है, कपिल के मत में यह सर्वव्यापी है। यह सच है कि भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनके मतानुसार यह जीवात्मा अणु है; किन्तु उनका यह भी मत है कि आत्मा का प्रकृत स्वरूप विभु है, केवल व्यक्त अवस्था में ही वह अणु है।

इसके बाद एक दूसरे विषय की ओर ध्यान देना चाहिए। बहुत सम्भव है, यह तुम्हें आश्चर्यजनक प्रतीत हो, परन्तु यह तत्त्व भी विशेष रूप से भारतीय है और हमारे सभी सम्प्रदायों में वह सामान्य रूप में विद्यमान है। इसीलिए मैं तुमसे इस तत्त्व की ओर ध्यान देने और उसे याद रखने का अनुरोध करता हूँ, कारण, यह सभी भारतीय विषयों की बुनियाद है। पाश्चात्य देशों में जर्मन और अंग्रेज पण्डितों द्वारा प्रचारित भौतिक विकासवाद तुम लोगों ने सुना होगा। उस मत के अनुसार वास्तव में सभी प्राणियों के शरीर अभिन्न हैं; जो भेद हम देखते हैं, वे एक ही श्रृंखला की भिन्न भिन्न अभिव्यक्ति मात्र हैं और क्षुद्रतम कीट से लेकर श्रेष्ठतम साधु तक सभी वास्तव में एक हैं; एक ही दूसरे में परिणत हो रहा है तथा इसी तरह चलते हुए क्रमशः उन्नत होकर जीव पूर्णत्व प्राप्त कर रहे हैं। यह सिद्धान्त परिणामवाद के नाम से हमारे शास्त्रों में भी है। योगी पतंजलि कहते हैं, **जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्**--'एक जाति एक श्रेणी, दूसरी जाति दूसरी श्रेणी में परिणत होती है।'[2] 'परिणाम' का अर्थ है, एक वस्तु का दूसरी वस्तु में परिवर्तित होना। परन्तु यहाँ यूरोपवालों से हमारा मतभेद कहाँ पर होता है? पतंजलि कहते हैं, **प्रकृत्यापूरात्**--प्रकृति के आपूरण से। यूरोपीय कहते हैं कि प्रतिद्वन्द्विता, प्राकृतिक और यौन निर्वाचन आदि ही एक प्राणी को दूसरे प्राणी का शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य करते हैं; परन्तु हमारे शास्त्रों में इस **जात्यन्तरपरिणाम** का जो कारण बतलाया गया है, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि यहाँवालों ने यूरोपीयों से और भी अच्छा विश्लेषण किया है--इन्होंने वहाँवालों से और भी गहरे पहुँचने की कोशिश की है। ये कहते हैं, **प्रकृत्यापूरात्**--'प्रकृति के आपूरण से।' इसका क्या

---

१. गीता॥२।२३-४॥
२. पातंजल योगसूत्र॥४।२॥

अर्थ है ? हम यह मानते हैं कि जीवाणु क्रमशः उन्नत होते हुए बुद्ध बन जाता है, किन्तु साथ ही हमारी यह भी दृढ़ धारणा है कि किसी मशीन में यदि किसी न किसी तरह की शक्ति यथोचित मात्रा में न भर दी जाय, तो उस मशीन से तदनुरूप कार्य सम्भव नहीं हो सकता। उस शक्ति का विकास चाहे जिस किसी रूप में हो, पर शक्तिसमष्टि की मात्रा सदा एक ही रहती है। यदि तुम्हें एक प्रान्त में शक्ति का विकास देखना है, तो दूसरे प्रान्त में उसका प्रयोग करना होगा—वह शक्ति किसी दूसरे आकार में प्रकाशित भले ही हो, परन्तु उसका परिणाम एक होना ही चाहिए। अतएव बुद्ध यदि परिणाम का एक प्रान्त हो, तो दूसरे प्रान्त का जीवाणु अवश्य ही बुद्ध के सदृश होगा। यदि बुद्ध क्रमविकसित परिणत जीवाणु हो, तो वह जीवाणु भी क्रमसंकुचित (अव्यक्त) बुद्ध ही है। यदि यह ब्रह्माण्ड अनन्त शक्ति का व्यक्त रूप हो, तो जब इस ब्रह्माण्ड में प्रलय की अवस्था होती है, तब भी दूसरे किसी आकार में उसी अनन्त शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। इससे अन्यथा कुछ भी नहीं हो सकता। अतएव यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त है। हमारे पैरों तले रेंगते रहनेवाले क्षुद्र कीट से लेकर महत्तम और उच्चतम साधु तक सबमें वह अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता और सभी गुण अनन्त परिमाण में मौजूद हैं। भेद केवल अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक मात्रा में है। कीट में उस महाशक्ति का थोड़ा ही विकास पाया जाता है, तुममें उससे भी अधिक, और किसी दूसरे देवोपम पुरुष में तुमसे भी कुछ अधिक शक्ति का विकास हुआ है; भेद बस इतना ही है, परन्तु है सभी में वही एक शक्ति। पतंजलि कहते हैं, **ततः क्षेत्रिकवत्**—'किसान जिस तरह अपने खेत में पानी भरता है।'[1] किसी जलाशय से वह अपने खेत का एक कोना काट-कर पानी भर रहा है, और जल के वेग से खेत के बह जाने के भय से उसने नाली का मुँह बन्द कर रखा है। जब पानी की ज़रूरत पड़ती है, तब वह द्वार खोल देता है, पानी अपनी ही शक्ति से उसमें भर जाता है! पानी आने के वेग को बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह जलाशय के जल में पहले ही से विद्यमान है। इसी तरह हममें से हर एक के पीछे अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, अनन्त सत्ता, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द का भाण्डार परिपूर्ण है, केवल यह द्वार—यही देहरूपी द्वार हमारे वास्तविक रूप के पूर्ण विकास में बाधा पहुँचाता है।

और इस देह का संगठन जितना ही उन्नत होता जाता है, जितना ही तमोगुण रजोगुण में और रजोगुण सत्त्वगुण में परिणत होता है, यह शक्ति और शुद्धता उतनी ही प्रकाशित होती रहती है, और इसीलिए भोजन-पान के सम्बन्ध में हम इतने साव-

---

१. पातंजल योगसूत्र ।।४।३।।

धान रहते हैं। यह सम्भव है कि हम लोग मूल तत्त्व भूल गये हों, जैसे हम अपनी विवाह-प्रथा के सम्बन्ध में कह सकते हैं। यह विषय यद्यपि यहाँ अप्रासंगिक है, फिर भी हम दृष्टांत के तौर पर यहाँ इसका ज़िक्र कर सकते हैं। यदि कोई दूसरा अवसर मिलेगा, तो मैं इन विषयों पर विशेष रूप से कहूँगा, परन्तु इस समय मैं तुमसे इतना ही कहता हूँ कि जिन मूल भावों से हमारी विवाह-प्रथा का प्रचलन हुआ है, उनके ग्रहण करने से ही यथार्थ सभ्यता का संचार हो सकता है, किसी दूसरे उपाय से कदापि नहीं। यदि हर एक स्त्री-पुरुष को जिस किसी पुरुष या स्त्री को पति अथवा पत्नी के रूप से ग्रहण करने की स्वाधीनता दी जाय, यदि व्यक्तिगत सुख, पाशव प्रकृति की परितृप्ति, समाज में बिना किसी बाधा के संचरित होती रहे, तो उसका फल अवश्य ही अशुभ होगा। उससे दुष्ट प्रकृति और आसुर स्वभाव की सन्तान उत्पन्न होगी। प्रत्येक देश में एक ओर मनुष्य इस तरह की पशु-प्रकृति की सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं, दूसरी ओर इनके दमन के लिए पुलिस की संख्या बढ़ा रहे हैं। इस तरह की सामाजिक व्याधि के प्रतिकार की चेष्टा में कोई फल नहीं होता, बल्कि समाज में इन दोषों की उत्पत्ति को कैसे रोका जाय, सन्तानों की सृष्टि किस उपाय से रोकी जाय, यह समस्या उठ खड़ी होती है। और जब तक तुम समाज में हो, तब तक तुम्हारे विवाह का प्रभाव समाज के प्रत्येक मनुष्य पर अवश्य ही पड़ेगा; अतएव तुम्हें किस तरह विवाह करना चाहिए, किस तरह का नहीं, इस पर तुम्हें आदेश देने का अधिकार समाज को है। भारतीय विवाह-प्रथा के पीछे इसी तरह के ऊँचे भाव हैं। जन्मपत्रों में वर-कन्या की जैसी जाति, गण आदि लिखे रहते हैं, अब भी उन्हींके अनुसार हिन्दू समाज में विवाह होते हैं और प्रसंग के अनुसार मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मनु के मत से कामोद्भूत पुत्र आर्य नहीं है। गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जिस सन्तान के संस्कार वैदिक विधि के अनुसार हों, वही वास्तव में आर्य है। आजकल सभी देशों में ऐसी आर्य सन्तान बहुत कम पैदा होती है, और इसीका फल है कि कलियुग नाम की दोषराशि की उत्पत्ति हो रही है। हम प्राचीन महान् आदर्शों को भूल गये हैं। यह सच है कि हम लोग इस समय इन भावों को पूर्ण रूप से कार्य में परिणत कर सकते हैं; यह भी सम्पूर्ण सत्य है कि हम लोगों ने इन महान् भावों में से कुछ को हास्यास्पद बना दिया है। यह बिलकुल सच है और शोक का विषय है कि आजकल प्राचीन काल के से पिता-माता नहीं हैं, समाज भी अब पहले सा शिक्षित नहीं है, और प्राचीन समाज में जिस तरह समाज के सभी लोगों पर प्रीति रहती थी, अब वैसी नहीं रहती; किन्तु व्यावहारिक रूप में दोषों के आ जाने पर भी वह मूल तत्त्व बड़े ही महत्त्व का है; और यदि उसका कार्यान्वित होना सदोष है, यदि इसके लिए कोई खास तरीक़ा नाकामयाब हुआ है, तो उसी मूल

तत्त्व को लेकर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे वह अच्छी तरह काम में आ सके। मूल तत्त्व के नष्ट करने की चेष्टा क्यों? भोजन सम्बन्धी समस्या के लिए भी यही वात है। वह तत्त्व भी जिस तरह काम में लाया जा रहा है, वह निस्संदेह वहुत ही ख़राव है; किन्तु इसमें उस तत्त्व का कोई दोष नहीं। वह सनातन है, वह सदा ही रहेगा। ऐसा पुनः प्रयत्न करो, जिससे वह तत्त्व ठीक ठीक भाव से काम में लाया जा सके।

भारत में हमारे सभी सम्प्रदायों को आत्मा सम्बन्धी इस तत्त्व पर विश्वास करना पड़ता है। केवल द्वैतवादी कहते हैं, जैसा हम आगे विचार करेंगे, असत् कर्मों से वह संकुचित हो जाती है, उसकी सम्पूर्ण शक्ति और स्वभाव संकोच को प्राप्त हो जाते हैं, फिर सत्कर्म करने से उस स्वभाव का विकास होता है। और अद्वैतवादी कहते हैं, आत्मा का न कभी संकोच होता है, न विकास, इस तरह होने की प्रतीति मात्र होती है। द्वैतवादी और अद्वैतवादियों में बस इतना ही भेद है; परन्तु यह वात सभी मानते हैं कि हमारी आत्मा में पहले ही से सम्पूर्ण शक्ति विद्यमान है, ऐसा नहीं कि वाहर से आत्मा में आये या कोई चीज इसमें आसमान से टपक पड़े। ध्यान देने योग्य बात है कि तुम्हारे वेद प्रेरित (inspired) नहीं हैं, ऐसे नहीं कि वे वाहर से भीतर जा रहे हैं, किन्तु बहिःस्फुरित (expired) हैं, अर्थात् भीतर से वाहर आ रहे हैं---वे सनातन नियम हैं, जिनकी अवस्थिति प्रत्येक आत्मा में है। चींटी से लेकर देवता तक सबकी आत्मा में वेद अवस्थित हैं। चींटी को केवल विकसित होकर ऋषि-शरीर प्राप्त करना है; तभी उसके भीतर वेद अर्थात् सनातन तत्त्व प्रकाशित होगा। इस महान् भाव को समझने की आवश्यकता है कि हमारी शक्ति पहले ही से हमारे भीतर मौजूद है---मुक्ति पहले ही से हममें है। उसके लिए इतना कह सकते हो कि वह संकुचित हो गयी है, अथवा माया के आवरण से आवृत हो गयी है, परन्तु इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। पहले ही से वह वहीं मौजूद है, यह तुम्हें समझ लेना होगा। इस पर तुम्हें विश्वास करना होगा---विश्वास करना होगा कि बुद्ध के भीतर जो शक्ति है, वह एक छोटे से छोटे मनुष्य में भी है। यही हिन्दुओं का आत्म-तत्त्व है।

परन्तु यहीं बौद्धों के साथ महा विरोध खड़ा हो जाता है। वे देह का विश्लेषण करके उसे एक जड़ स्रोत मात्र कहते हैं और उसी तरह मन का विश्लेषण करके उसे भी एक दूसरा जड़-प्रवाह बतलाते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में वे कहते हैं, यह अनावश्यक है और उसके अस्तित्व की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं। किसी द्रव्य और उसमें संलग्न गुणराशि की कल्पना का क्या काम? हम लोग शुद्ध गुण ही मानते हैं। जहाँ सिर्फ़ एक कारण मान लेने पर सब विषयों की व्याख्या हो

जाती है, वहाँ दो कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है। इसी तरह बौद्धों के साथ विवाद छिड़ा और जो मत द्रव्य विशेष का अस्तित्व मानते थे, उनका खंडन करके बौद्धों ने उनको धूल में मिला दिया। जो द्रव्य और गुण, दोनों का अस्तित्व मानते हैं, जो कहते हैं---'तुममें एक अलग आत्मा है, हममें एक अलग, हर एक के शरीर और मन से अलग एक एक आत्मा है, हर एक का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है'--उनकी तर्क-पद्धति में पहले ही से कुछ त्रुटि थी।

यहाँ तक तो द्वैतवाद का मत ठीक है, हम पहले ही देख चुके हैं कि यह शरीर है, यह सूक्ष्म मन है, यह आत्मा है और सब आत्माओं में है वह परमात्मा। यहाँ मुश्किल इतनी ही है कि आत्मा और परमात्मा, दोनों ही द्रव्य बतलाये जा रहे हैं और देह-मन आदि तथाकथित द्रव्य उनसे गुणवत् संलग्न हैं, ऐसा स्वीकार किया जा रहा है। अब बात यह है कि किसीने कभी जिस द्रव्य को नहीं देखा, उसके सम्बन्ध में वह कभी विचार नहीं कर सकता। अतः वे कहते हैं, ऐसी दशा में इस तरह के द्रव्य के मानने की जरूरत क्या है? तो फिर क्षणिकविज्ञानवादी क्यों नहीं हो जाते और क्यों नहीं कहते कि मानसिक तरंगों के सिवा और किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है?---उनमें से कोई एक दूसरी से मिली हुई नहीं, वे आपस में मिलकर एक वस्तु नहीं हुई, समुद्र की तरंगों की तरह एक दूसरी के पीछे पीछे चली आ रही हैं, वे कभी भी सम्पूर्ण नहीं, वे कभी एक अखंड इकाई नहीं बनाती। मनुष्य बस इसी तरह की तरंग-परम्परा है---जब एक तरंग चली जाती है, तब दूसरी तरंग पैदा कर जाती है, ऐसा ही चलता रहता है और इन्हीं तरंगों की निवृत्ति को निर्वाण कहते हैं। तुम देखते हो, इसके सामने द्वैतवाद मूक है; यह असम्भव है कि वह इसके विरुद्ध कोई युक्ति दे सके, और द्वैतवाद का ईश्वर भी यहाँ नहीं टिक सकता। जो सर्वव्यापी है तथा व्यक्तिविशेष है, बिना हाथों के संसार की सृष्टि कर रहा है, बिना पैरों के जो चल सकता है---इसी प्रकार और भी, कुम्भकार जिस तरह घट का निर्माण करता है, उसी तरह जो विश्व की सृष्टि करता है---उसके लिए बौद्ध कहते हैं, इस तरह की कल्पना बच्चों की जैसी है और यदि ईश्वर इस तरह का है, तो वे उस ईश्वर के साथ लड़ने को तैयार हैं, उसकी उपासना करने के अभिलाषी नहीं। यह संसार दुःख से परिपूर्ण है; यदि यह ईश्वर का काम हो, तो बौद्ध कहते हैं, हम इस तरह के ईश्वर के साथ लड़ने को तैयार हैं। और दूसरे, इस तरह के ईश्वर का अस्तित्व अयौक्तिक और असंभव है। सृष्टि-रचनावाद (Design Theory) की त्रुटियों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि क्षणिक विज्ञानवादियों ने उनके सम्पूर्ण युक्तिजाल का खंडन कर डाला है। अतएव सगुण ईश्वर नहीं टिक सकता।

सत्य, एकमात्र सत्य अद्वैतवादियों का लक्ष्य है। **सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः**—'सत्य ही की विजय होती है, मिथ्या को कभी विजय नहीं मिलती, सत्य से ही देवयान मार्ग की प्राप्ति होती है।'[1] सत्य की पताका सभी उड़ाया करते हैं, किन्तु यह केवल दुर्बलों को पददलित करने के लिए। तुम अपने ईश्वर विषयक द्वैतवादात्मक विचार लेकर किसी बेचारे प्रतिमापूजक के साथ विवाद करने जा रहे हो, सोच रहे हो, तुम बड़े युक्तिवादी हो, उसे अनायास ही परास्त कर सकते हो; यदि वह उल्टे तुम्हारे ही वैयक्तिक ईश्वर को उड़ा दे—उसे काल्पनिक कहे, तो फिर तुम्हारी क्या दशा हो? तब तुम धर्म की दुहाई देने लगते हो, अपने प्रतिद्वन्द्वी को नास्तिक नाम से पुकारकर चिल्ल-पों मचाने लगते हो, और यह तो दुर्बल मनुष्यों का सदा ही नारा रहा है—जो मुझे परास्त करेगा, वह घोर नास्तिक है! यदि युक्तिवादी होना चाहते हो, तो आदि से अन्त तक युक्तिवादी ही बने रहो, और अगर न रह सको, तो तुम अपने लिए जितनी स्वाधीनता चाहते हो, उतनी ही दूसरे को भी क्यों नहीं देते? तुम इस तरह के ईश्वर का अस्तित्व कैसे प्रमाणित करोगे? दूसरी ओर, वह प्रायः अप्रमाणित किया जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में रंचमात्र प्रमाण नहीं, बल्कि नास्तिक के सम्बन्ध में कुछ अति प्रबल प्रमाण हैं भी। तुम्हारा ईश्वर, उसके गुण, द्रव्यस्वरूप असंख्य जीवात्मा, प्रत्येक जीवात्मा का एक व्यष्टि भाव, इन सबको लेकर तुम उसका अस्तित्व कैसे प्रमाणित कर सकते हो? तुम व्यक्ति हो किस विषय में? देह के सम्बन्ध में तुम व्यक्ति हो ही नहीं, क्योंकि इस समय प्राचीन बौद्धों की अपेक्षा तुम्हें और अच्छी तरह मालूम है कि जो जड़राशि कभी सूर्य में रही होगी, वही तुममें आ गयी है, और वही तुम्हारे भीतर से निकलकर वनस्पतियों में चली जा सकती है। इस तरह तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ रह जाता है? तुम्हारे भीतर आज रात एक तरह का विचार है, तो कल सुबह दूसरी तरह का। तुम उसी रीति से अब विचार नहीं करते, जिस रीति से बचपन में करते थे; कोई व्यक्ति अपनी युवावस्था में जिस ढंग से विचार करता था, वैसे वृद्धावस्था में नहीं करता। तो फिर तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ रह जाता है? यह मत कहो कि ज्ञान में ही तुम्हारा व्यक्तित्व है—ज्ञान अहंकार मात्र है और यह तुम्हारे प्रकृत अस्तित्व के एक बहुत छोटे अंश में व्याप्त है। जब मैं तुमसे बातचीत करता हूँ, तब मेरी सभी इन्द्रियाँ काम करती रहती हैं, परन्तु उनके सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जान सकता। यदि वस्तु की सत्ता का प्रमाण ज्ञान ही हो, तो कहना पड़ेगा कि उनका (इन्द्रियों का)

---

१. मुण्डकोपनिषद् ॥३।१।६॥

अस्तित्व नहीं है, क्योंकि मुझे उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता। तो अब तुम अपने वैयक्तिक ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्तों को लेकर कहाँ रह जाते हो? इस तरह का ईश्वर तुम कैसे प्रमाणित कर सकते हो?

फिर और, बौद्ध खड़े होकर यह घोषणा करेंगे कि यह केवल अयौक्तिक ही नहीं, वरन् अनैतिक भी है, क्योंकि वह मनुष्य को कापुरुष बन जाना और बाहर से सहायता लेने की प्रार्थना करना सिखलाता है—इस तरह कोई भी तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। यह जो ब्रह्माण्ड है, इसका निर्माण मनुष्य ने ही किया है। तो फिर बाहर क्यों एक काल्पनिक व्यक्तिविशेष पर विश्वास करते हो, जिसे न कभी देखा, न जिसका कभी अनुभव किया अथवा जिससे न कभी किसीको कोई सहायता मिली? क्यों फिर अपने को कापुरुष बना रहे हो और अपनी सन्तानों को सिखलाते हो कि कुत्ते की तरह हो जाना मनुष्य की सर्वोच्च अवस्था है, और चूँकि हम कमज़ोर, अपवित्र और संसार में अत्यन्त हेय और अधम हैं, इसलिए इस काल्पनिक सत्ता के सामने घुटने टेककर बैठ जाना चाहिए? दूसरी ओर, बौद्ध, तुमसे कहेंगे, तुम अपने को इस तरह कहकर केवल झूठ ही नहीं कहते, किन्तु तुम अपनी सन्तानों के लिए घोर पाप का संचय कर रहे हो; क्योंकि, स्मरण रहे, यह संसार एक प्रकार का सम्मोहन है; मनुष्य जैसा सोचते हैं, वैसे ही हो जाते हैं। अपने सम्बन्ध में तुम जैसा कहोगे, वही बन जाओगे। भगवान् बुद्ध की पहली बात यह है—'तुमने अपने सम्बन्ध में जो कुछ सोचा है, तुम वही हुए हो; भविष्य में जो कुछ सोचोगे, वैसे ही होगे।' यदि यह सत्य है, तो कभी यह मत सोचना कि तुम कुछ नहीं हो, या जब तक तुम किसी दूसरे की, जो यहाँ नहीं रहता, स्वर्ग में रहता है, सहायता नहीं पाते, तब तक कुछ नहीं कर सकते। इस तरह सोचने से उसका फल यह होगा कि तुम प्रतिदिन अधिकाधिक कमज़ोर होते जाओगे। 'हम महा अपवित्र हैं; हे प्रभो, हमें पवित्र करो'—इसका परिणाम होगा कि तुम अपने को हर प्रकार के पापों के लिए विवश कर दोगे। बौद्ध कहते हैं, प्रत्येक समाज में जिन पापों को देखते हो, उसमें नब्बे फ़ी सदी बुराइयाँ इसी वैयक्तिक ईश्वर की धारणा के कारण उत्पन्न हुई हैं; मनुष्य-जीवन का, अद्भुत मनुष्य-जीवन का, एकमात्र उद्देश्य एवं लक्ष्य अपने को कुत्ते की तरह बना डालना—यह मनुष्य की एक भयानक धारणा है। बौद्ध वैष्णवों से कहते हैं, यदि तुम्हारा आदर्श, तुम्हारे जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य भगवान् के बैकुंठ नामक स्थान में जाकर अनन्त काल तक हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा रहना ही है, तो इससे आत्महत्या कर डालना अधिक अच्छा है। बौद्ध यहाँ तक कह सकते हैं कि इस भाव से बचने के लिए निर्वाण या विनाश की चेष्टा वे कर रहे हैं। मैं तुम लोगों के सामने ठीक बौद्धों की ही तरह ये बातें कह रहा हूँ; क्योंकि

आजकल लोग कहा करते हैं कि अद्वैतवाद से लोगों में अनैतिकता घुस जाती है। इसलिए दूसरे पक्ष के लोगों का जो कुछ कहना है, वही मैं तुमसे कहने की चेष्टा कर रहा हूँ। हमें दोनों पक्षों पर निर्भीक भाव से विचार करना है।

एक वैयक्तिक ईश्वर ने संसार की सृष्टि की---इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। यह हमने सर्वप्रथम समझ लिया। क्या एक बालक भी आजकल इस बात पर विश्वास कर सकता है? चूँकि एक कुम्भकार ने घट का निर्माण किया, अतएव एक ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि की! यदि ऐसा ही हो, तो ईश्वर भी तुम्हारा एक कुम्भकार ही हुआ! और यदि कोई तुमसे कहे कि सिर और हाथों के न रहने पर भी वह काम करता है, तो तुम उसे पागलखाने में रखने की ठानोगे। तुम्हारे ईश्वर ने---इस संसार के सृष्टिकर्ता वैयक्तिक ईश्वर ने, जिसके पास तुम जीवन भर से चिल्ला रहे हो, क्या कभी तुम्हें कोई सहायता दी? आधुनिक विज्ञान तुम लोगों के सामने यह एक और प्रश्न पेश करके उसके उत्तर के लिए चुनौती दे रहा है। वे प्रमाणित कर देंगे कि इस तरह की जो सहायता तुम्हें मिली है, उसे तुम अपनी ही चेष्टा से प्राप्त कर सकते थे। इस तरह के रोदन से वृथा शक्तिक्षय करने की तुम्हारे लिए कोई आवश्यकता न थी, इस तरह न रोकर तुम अपना उद्देश्य अनायास ही प्राप्त कर सकते थे। और भी, हम लोग पहले देख चुके हैं कि इस तरह के वैयक्तिक ईश्वर की धारणा से ही अत्याचार और पुरोहित-प्रपंच का आविर्भाव हुआ। जहाँ यह धारणा विद्यमान थी, वहाँ अत्याचार और पुरोहित-प्रपंच प्रचलित थे और बौद्धों का कथन है कि जब तक वह मिथ्या भाव जड़ समेत नष्ट नहीं होता, तब तक यह अत्याचार बन्द नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य सोचता है कि किसी दूसरे अलौकिक पुरुष के सामने उसे विनीत भाव से रहना होगा, तब तक पुरोहित का अस्तित्व अवश्य रहेगा। वे विशेष अधिकार या दावे पेश करेंगे, ऐसी चेष्टा करेंगे, जिससे मनुष्य उनके सामने सिर झुकाये, और बेचारे असहाय व्यक्ति मध्यस्थता करने के लिए पुरोहितों के प्रार्थी बने रहेंगे। तुम लोग ब्राह्मणों को निर्मूल कर सकते हो, परन्तु इस बात पर ध्यान रखो कि जो लोग ऐसा करेंगे, वे ही उनके स्थान पर अपना अधिकार जमायेंगे, और वे फिर ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक अत्याचारी बन जायँगे। क्योंकि ब्राह्मणों में फिर भी कुछ उदारता है, परन्तु ये स्वयंसिद्ध ब्राह्मण सदा से ही बड़े दुराचारी हुआ करते हैं। भिक्षुक को यदि कुछ धन मिल जाय, तो वह संपूर्ण संसार को एक तिनके के बराबर समझता है। अतएव जब तक इस वैयक्तिक ईश्वर की धारणा बनी रहेगी, तब तक ये सब पुरोहित भी रहेंगे। और समाज में किसी तरह की उच्च नैतिकता की आशा की ही नहीं जा सकेगी। पुरोहित-प्रपंच और अत्याचार सदा एक साथ रहेंगे। क्यों लोगों ने इस वैयक्तिक ईश्वर

की कल्पना की? कारण इसका यह है कि प्राचीन समय में कुछ बलवान मनुष्यों ने साधारण मनुष्यों को अपने वश में लाकर उनसे कहा था, तुम्हें हमारा आदेश मानकर चलना होगा, नहीं तो हम तुम्हारा नाश कर डालेंगे। यही इसका अथ और इति है। इसका कोई दूसरा कारण नहीं—**महद्भयं वज्रमुद्यतम्**—एक ऐसा पुरुष है, जो हाथ में सदा ही वज्र लिये रहता है, और जो उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है, उसका वह तत्काल विनाश कर डालता है।

इसके बाद बौद्ध कहते हैं, तुम्हारा यह कथन पूर्णतया युक्तिसम्मत है कि सब कुछ कर्मवाद का फल है। तुम लोग असंख्य जीवात्माओं के सम्बन्ध में विश्वास करते हो, और तुम्हारे मत में इस जीवात्मा का न जन्म है, न मृत्यु। यहाँ तक तो तुम्हारी बात बिल्कुल युक्तिपूर्ण रही, इसमें कोई सन्देह नहीं। कारण के रहने ही से कार्य होगा; वर्तमान समय में जो कुछ घटित हो रहा है, वह अतीत कारण का कार्य है, फिर वही वर्तमान भविष्य में दूसरा फल उत्पन्न करेगा। हिन्दू कहते हैं, कर्म जड़ है, चैतन्य नहीं; अतएव कर्म के फल का लाभ पाने के लिए किसी तरह का चैतन्य चाहिए। इस पर बौद्ध कहते हैं, वृक्ष से फल प्राप्त करने के लिए क्या किसी तरह के चेतन की ज़रूरत पड़ती है? यदि बीज गाड़कर पौधे को पानी से सींचा जाय, तो उसके फल लगने में तो किसी तरह के चैतन्य की आवश्यकता नहीं होती। तुम कह सकते हो, ऐसे काम कुछ आदि-चैतन्य की शक्ति से हुआ करते हैं, किन्तु जब कि जीवात्मा ही चैतन्य है, तो अन्य चैतन्य मानने की क्या आवश्यकता है? यदि जीवात्माओं में चैतन्य रहे, तो ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है? अवश्य बौद्ध जीवात्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते, किन्तु जैन जीवात्मा पर तो विश्वास करते हैं, परन्तु ईश्वर नहीं मानते। अब कहो, तुम्हारी युक्ति और तुम्हारी नैतिकता की भित्ति कहाँ रह गयी? जब तुम अद्वैतवाद की आलोचना करते हो और डरते हो कि अद्वैतवाद से अनैतिकता की सृष्टि होगी, तो तुम्हें चाहिए कि द्वैतवादी सम्प्रदायों ने भारत में क्या किया, थोड़ा सा पढ़कर देखो। यदि बीस हज़ार अद्वैत-वादी बदमाश होंगे, तो द्वैतवादी भी बीस हज़ार बदमाश देखोगे। संक्षेप में यही कहना है कि द्वैतवादी बदमाशों ही की संख्या अधिक होगी, क्योंकि अद्वैतवाद समझने के लिए उनकी अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिसम्पन्न मनुष्य की आवश्यकता होती है; और उन्हें भय दिखलाकर उनसे सहज ही कोई काम निकाल लेना ज़रा मुश्किल भी है। तो हिन्दुओ, अब तुम्हारे लिए रह क्या जाता है? बौद्धों के वारों से बचने के लिए कोई उपाय नहीं है। तुम वेदों के वाक्य उद्धृत कर सकते हो, परन्तु बौद्ध तो वेद मानते नहीं। वे कहेंगे, "हमारे त्रिपिटक कुछ और कहते हैं, वे अनादि और अनन्त हैं—यहाँ तक कि वे बुद्ध के लिखे भी नहीं, क्योंकि बुद्ध स्वयं कहते हैं कि

हम उनकी आवृत्ति मात्र करते हैं, किन्तु हैं वे सनातन।" बौद्ध यह भी कहते हैं, "तुम्हारे वेद मिथ्या हैं, हमारे त्रिपिटक ही सच्चे वेद हैं; तुम्हारे वेद ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा कल्पित किये हुए हैं—उन्हें दूर करो।" अब तुम कैसे बच सकते हो?

बाहर निकलने का उपाय यह है। बौद्धों से जो दार्शनिक विरोध है, वह केवल द्रव्य और गुण को एक दूसरे से भिन्न मानने के कारण। परन्तु अद्वैतवादी कहते हैं—"नहीं, वे परस्पर भिन्न नहीं हैं—द्रव्य और गुण में कोई भिन्नता नहीं है। तुम्हें 'सर्प-रज्जु-भ्रम' वाला प्राचीन दृष्टांत स्मरण होगा। जब तुम सर्प देखते हो, तब तुम्हें रज्जु बिल्कुल ही नहीं दीख पड़ती, उस समय रज्जु का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। द्रव्य और गुण के रूप में किसी वस्तु के अलग अलग हिस्से करना दार्शनिकों के मस्तिष्क में एक दार्शनिक व्यापार मात्र है; क्योंकि द्रव्य और गुण के नामों से वास्तव में किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। यदि तुम एक साधारण मनुष्य हो, तो तुम केवल गुणराशि देखोगे, और यदि तुम कोई बड़े योगी हो, तो तुम द्रव्य का ही अस्तित्व देखोगे; परन्तु दोनों को एक ही समय में तुम कदापि नहीं देख सकते। अतएव, हे बौद्ध, द्रव्य और गुण को लेकर तुम जो विवाद कर रहे हो, सच तो यह है कि वह बेबुनियाद है। परन्तु, यदि द्रव्य गुणरहित है, तो केवल एक ही द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि तुम आत्मा से गुणराशि उठा लो और यह सिद्ध करो कि गुणराशि का अस्तित्व मन में ही है, आत्मा पर उसका आरोप मात्र किया गया है, तो दो आत्मा भी नहीं रह जातीं, क्योंकि एक आत्मा से दूसरी आत्मा की विशेषता गुणों ही की बदौलत सिद्ध होती है। तुम्हें कैसे मालूम होता है कि एक आत्मा दूसरी आत्मा से पृथक् है? —कुछ भेदात्मक लिंगों, कुछ गुणों के कारण। और जहाँ गुणों की सत्ता नहीं है, वहाँ कैसे भेद रह सकता है? अतः आत्मा दो नहीं, आत्मा 'एक' ही है, और तुम्हारा परमात्मा अनावश्यक है, वह आत्मा ही है। इसी एक आत्मा को परमात्मा कहते हैं, इसे जीवात्मा और दूसरे नामों से भी पुकारते हैं। और हे सांख्य तथा अपर द्वैतवादियो, तुम लोग कहते रहते हो—आत्मा सर्वव्यापी विभु है, इस पर तुम लोग किस तरह अनेक आत्माओं का अस्तित्व स्वीकार करते हो? असीम क्या कभी दो हो सकते हैं? एक होना ही सम्भव है। एक ही असीम आत्मा है, और सब उसीकी अभिव्यक्तियाँ हैं। इसके उत्तर में बौद्ध मौन हैं, परन्तु अद्वैतवादी चुप नहीं रह जाते।

दुर्बल मतों की तरह केवल दूसरे मतों की समालोचना करके ही अद्वैत पक्ष निरस्त नहीं होता। अद्वैतवादी तभी उन सभी मतों की समालोचना करते हैं,

जब वे उसके बहुत निकट आ जाते हैं और उसके खंडन की चेष्टा करते हैं। वह सिर्फ़ इतना ही करता है कि दूसरे मतों का निराकरण कर अपने सिद्धान्त को स्थापित करता है। एकमात्र अद्वैतवादी ही ऐसा है, जो दूसरे मतों का खंडन तो करता है, परन्तु दूसरों की तरह उसके खंडन का आधार शास्त्रों की दुहाई देना नहीं है। अद्वैतवादियों की युक्ति इस प्रकार है : वे कहते हैं, तुम संसार को एक अविराम गति-प्रवाह मात्र कहते हो; ठीक है, व्यष्टि में सब गतिशील हैं भी, तुममें भी गति है और मेज़ में भी गति है, गति सर्वत्र है। इसलिए इसका नाम संसार है, इसलिए इसका नाम जगत् है––अविराम गति।[1] यदि यही है, तो हमारे संसार में व्यक्तित्व के नाम से कुछ भी नहीं रह जाता; कारण व्यक्तित्व के नाम से ऐसा कुछ सूचित होता है, जो अपरिणामी है। परिवर्तनशील व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता, यह स्वविरोधी वाक्य है। इसलिए हमारे इस क्षुद्र जगत् में व्यक्तित्व के नाम से कुछ भी नहीं रह जाता। विचार, भाव, मन, शरीर, जीव-जन्तु और वनस्पति––इनका सदा ही परिवर्तन होता रहता है। अस्तु। अब सम्पूर्ण विश्व को एक समष्टि की इकाई के रूप में ग्रहण करो। क्या यह परिवर्तित या गतिशील हो सकती है? कदापि नहीं। किसी अल्प गतिशील या सम्पूर्ण गतिहीन वस्तु से तुलना करने पर ही गति का निश्चय होता है : अतः समष्टि के रूप में विश्व गति और परिणाम से रहित है। यहाँ मालूम हो जाता है कि जब तुम अपने को सम्पूर्ण विश्व से अभिन्न समझोगे, जब 'मैं ही विश्व-ब्रह्माण्ड हूँ' यह अनुभव होगा, तभी––केवल तभी, तुम्हारे यथार्थ व्यक्तित्व का विकास होगा। यही कारण है कि अद्वैतवादी कहते हैं, जब तक द्वैत है, तब तक भय से छूटने का कोई उपाय नहीं है। जब कोई दूसरी वस्तु दिखलायी नहीं पड़ती, किसी भिन्न भाव का अनुभव नहीं होता, जब केवल एक ही सत्ता रह जाती है, तभी भय दूर होता है, तभी मनुष्य मृत्यु के पार जा सकता है। और तभी संसार-बोध लोप हो जाता है। अद्वैतवाद हमें यह शिक्षा देता है कि मनुष्य का यथार्थ व्यक्तित्व है समष्टि-ज्ञान में, व्यष्टि-ज्ञान में नहीं। जब तुम अपने को सम्पूर्ण समझोगे, तभी तुम अमर होगे। तभी तुम निर्भय और अमृतस्वरूप हो सकोगे, जब विश्व, ब्रह्माण्ड और तुम एक हो जाओगे, और तभी जिसे तुम परमात्मा कहते हो, जिसे सत्ता कहते हो और जिसे पूर्ण कहते हो, वह विश्व से एक हो जायगा। और हमारी तरह की मनोवृत्तिवाले लोग एक ही अखंड सत्ता को विविधतापूर्ण विश्व के रूप में देखते हैं। जो लोग कुछ और अच्छे कर्म करते हैं तथा उन्हीं सत्कर्मों

---

१. सृ धातु का अर्थ 'सरकना' या 'गति' होता है और जगत् में गम् धातु क्विप् प्रत्यय के साथ है। स०

के बल से जिनकी मनोवृत्ति कुछ और उत्तम हो जाती है, वे मृत्यु के पश्चात् इसी ब्रह्माण्ड में इन्द्रादि देवों का स्वर्गलोक देखते हैं। उनसे भी ऊँचे लोग इसमें ही ब्रह्म-लोक देखते हैं। और जो लोग पूर्ण सिद्ध हो गये हैं, वे पृथ्वी, स्वर्ग या कोई दूसरा लोक नहीं देखते, उनके लिए यह ब्रह्माण्ड अन्तर्हित हो जाता है, उसकी जगह एक-मात्र ब्रह्म ही विराजमान रहता है।

क्या हम इस ब्रह्म को जान सकते हैं? मैंने तुमसे पहले ही संहिता में अनन्त के वर्णन की कथा कही है। यहाँ हमको उसका ठीक विपरीत पक्ष मिलता है-- यहाँ आन्तरिक अनन्त है। संहिता में बहिर्जगत् के अनन्त का वर्णन है। यहाँ चिन्तन-जगत् भाव-जगत् के अनन्त का वर्णन है। संहिता में अस्तिभाव का बोध करानेवाली भाषा में अनन्त के वर्णन की चेष्टा हुई थी; यहाँ उस भाषा से काम नहीं निकला, नास्तिभावात्मक या 'नेति-नेति' की भाषा में अनन्त के वर्णन का प्रयत्न किया गया। यह विश्व-ब्रह्मांड है, माना कि यह ब्रह्म है। क्या हम इसे जान सकते हैं? नहीं-- नहीं जान सकते। तुम्हें इस विषय को स्पष्ट रीति से फिर समझना होगा। तुम्हारे मन में बार बार इस सन्देह का आविर्भाव होगा कि यदि यह ब्रह्म है, तो किस तरह हम इसे जान सकते हैं। **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।**--'विज्ञाता को किस तरह जाना जाता है?'[1] विज्ञाता को कैसे जान सकते हैं? आँखें सब वस्तुओं को देखती हैं, पर क्या वे अपने को भी देख सकती हैं? नहीं देख सकतीं। ज्ञान की क्रिया ही एक निम्न अवस्था है। ऐ आर्य सन्तानो, तुम्हें यह विषय अच्छी तरह याद रखना चाहिए, क्योंकि इस तत्त्व में महान् तथ्य निहित हैं। तुम्हारे निकट पश्चिम के जो सारे प्रलोभन आया करते हैं, उनकी दार्शनिक बुनियाद एक यही है कि इन्द्रिय-ज्ञान से बढ़कर दूसरा ज्ञान नहीं है; पूर्व में हमारे वेदों में कहा गया है कि यह वस्तु-ज्ञान वस्तु की अपेक्षा नीचे दर्जे का है, क्योंकि ज्ञान के अर्थ से सदा ससीम भाव ही समझ में आता है। जब कभी तुम किसी वस्तु को जानना चाहते हो, तभी वह तुम्हारे मन से सीमाबद्ध हो जाती है। पूर्वकथित दृष्टांत में जिस तरह शुक्ति से मुक्ता बनती है, उस पर विचार करो; तभी समझोगे कि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना कैसे हुआ। किसी वस्तु को चुनकर तुम उसे चेतना के घेरे में ले आते हो, और उसको सम्पूर्ण भाव से जान नहीं पाते हो। यही बात समस्त ज्ञान के सम्बन्ध में ठीक है। यदि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना ही हो, तो क्या उस अनन्त के सम्बन्ध में भी तुम ऐसा कर सकते हो? जो सब ज्ञानों का उपादान (आधार) है, जिसे छोड़कर तुम किसी तरह का ज्ञान अर्जित नहीं कर सकते, जिसके कोई गुण

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्॥२।४।१४॥

नहीं है, जो सम्पूर्ण संसार और हम लोगों की आत्मा का साक्षिस्वरूप है, उसके सम्बन्ध में तुम वैसा कैसे कर सकते हो––उसे तुम कैसे सीमा में ला सकते हो? उसे तुम कैसे जान सकते हो? किस उपाय से उसे बाँधोगे? हर एक वस्तु, यह सम्पूर्ण संसार-प्रपंच, उन अनन्त के जानने की वृथा चेष्टा मात्र है। मानो यह अनन्त आत्मा अपने मुखावलोकन की चेष्टा कर रही है, और सर्वोच्च देवता से लेकर निम्नतम प्राणी तक सभी, मानो उसके मुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के दर्पण हैं। एक एक करके एक एक दर्पण में अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखने की चेष्टा करके, उसे उपयुक्त न देख अन्त में मनुष्य देह में आत्मा समझ पाती है कि यह सब ससीम है, और अनन्त कभी सान्त के भीतर अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता। उसी समय पीछे की ओर की यात्रा शुरू होती है, और इसीको त्याग या वैराग्य कहते हैं। इन्द्रियों से पीछे हट जाओ, इन्द्रियों की ओर मत जाओ, यही वैराग्य का मूलमन्त्र है; यही सब तरह की नैतिकताओं और निःश्रेयस् का मूलमन्त्र है, क्योंकि तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि त्याग-तपस्या से ही संसार की सृष्टि हुई है। और जितना ही पीछे की ओर तुम जाओगे, उसी क्रम से तुम्हारे सामने भिन्न भिन्न रूप, भिन्न भिन्न देह अभिव्यक्त होते रहेंगे और एक एक करके उनका त्याग होगा; अन्त में तुम वास्तव में जो कुछ हो, वही रह जाओगे, यही मोक्ष या मुक्ति है।

यह तत्त्व हमें समझ लेना चाहिए; **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**––'विज्ञाता को कैसे जानोगे?' ज्ञाता को कोई जान नहीं सकता, क्योंकि यदि वह समझ में आने योग्य होता, तो वह कभी ज्ञाता न रह जाता। और यदि तुम आइने में अपनी आँखों का बिम्ब देखो, तो तुम उन्हें अपनी आँखें नहीं कह सकते, वे कुछ और ही हैं, वे बिम्ब मात्र हैं। अब बात यह है कि यदि यह आत्मा––यह अनन्त सर्वव्यापी पुरुष साक्षी मात्र हो, तो इससे क्या हुआ? यह हमारी तरह न चल-फिर सकता है, न जीता है, न संसार का सम्भोग ही कर सकता है। यह बात लोगों की समझ में नहीं आती कि जो साक्षिस्वरूप है, वह किस तरह आनन्द का उपभोग कर सकता है। "हे हिन्दुओ, तुम सब साक्षिस्वरूप हो, इस मत से तुम लोग निष्क्रिय और अकर्मण्य हो गये हो।"––यह बात लोग कहा करते हैं। उनकी इस बात का उत्तर यह है, 'जो साक्षिस्वरूप है, वही वास्तव में आनन्दोपभोग कर सकता है।' अगर कहीं कुश्ती लड़ी जाती है, तो अधिक आनन्द किन्हें मिलता है?––जो लोग कुश्ती लड़ रहे हैं, उन्हें या जो दर्शक हैं उन्हें? इस जीवन में जितना ही तुम किसी विषय में साक्षिस्वरूप हो सकोगे, उतना ही तुम्हें उससे अधिक आनन्द मिलता रहेगा। यथार्थ आनन्द यही है और इस युक्ति से तुम्हारे लिए अनन्त आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब तुम इस विश्व-ब्रह्मांड के साक्षिस्वरूप हो सको। तभी मुक्त पुरुष हो

सकोगे। जो साक्षिस्वरूप है, वही निष्काम भाव से स्वर्ग जाने की इच्छा न रख, निन्दा-स्तुति को समदृष्टि से देखता हुआ कार्य कर सकता है। जो साक्षिस्वरूप है, आनन्द वही पा सकता है, दूसरा नहीं। अद्वैतवाद के नैतिक भाग की विवेचना करते समय उसके दार्शनिक तथा नैतिक भाग के अन्तर्गत एक और विषय आ जाता है, वह है मायावाद। अद्वैतवाद के अन्तर्गत एक एक विषय के समझने में ही वर्षों लग जाते हैं और व्याख्या करने में महीनों लग जाते हैं, इसलिए इसका मैं उल्लेख मात्र ही करूँगा। इस मायावाद को समझना सभी युगों में बड़ा कठिन रहा है। मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, मायावाद वास्तव में कोई वाद या मत विशेष नहीं है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है--और इस देश, काल, निमित्त को आगे नाम-रूप में परिणत किया गया है। मान लो, समुद्र में एक तरंग है। समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ़ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंग से पृथक् कोई सत्ता भी नहीं है। नाम और रूप, दोनों तरंग के साथ ही हैं, तरंगें विलीन हो जा सकती हैं; और तरंग में जो नाम और रूप हैं, वे भी चाहे चिर काल के लिए विलीन हो जायँ, पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें, पशुओं में और मनुष्यों में, देवताओं में और मनुष्यों में भेद-भाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है, जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय, नाम और रूप दूर कर दिये जायँ, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायगी, तब तुम वास्तव में जो कुछ चाहो, वही रह जाओगे। यही माया है। और फिर यह कोई सिद्धान्त भी नहीं है, केवल तथ्यों का कथन मात्र है।

जब कोई यथार्थवादी कहता है कि इस मेज़ का अस्तित्व है, तब उसके कहने का अभिप्राय होता है कि उस मेज़ की अपनी एक खास निरपेक्ष सत्ता है, उसका अस्तित्व संसार की किसी भी दूसरी वस्तु पर अवलम्बित नहीं, और यदि यह सम्पूर्ण विश्व नष्ट हो जाय, तो भी वह ज्यों की त्यों ही बनी रहेगी। कुछ थोड़ा सा विचार करने पर ही तुम्हारी समझ में आ जायगा कि ऐसा कभी हो नहीं सकता। इस इन्द्रियग्राह्य संसार की सभी चीज़ें एक दूसरी पर अवलम्बित हैं, वे एक दूसरी की अपेक्षा रखती हैं; वे सापेक्ष और परस्पर सम्बन्धित हैं--एक का अस्तित्व दूसरे पर निर्भर है। हमारे वस्तु-ज्ञान के तीन सोपान हैं। पहला यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है और एक दूसरी से अलग है; दूसरा यह कि सभी वस्तुओं में पारस्परिक सम्बन्ध है; और अन्तिम सोपान यह है कि वस्तु एक ही है, जिसे हम लोग अनेक रूपों में देख रहे हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञ मनुष्य की पहली धारणा यह होती

है कि वह इस ब्रह्मांड के बाहर कहीं रहता है, जिसका मतलब है कि उस समय का ईश्वर विषयक ज्ञान पूर्णतः मानवीय होता है, अर्थात् जो कुछ मनुष्य करते हैं, ईश्वर भी वही करता है, भेद केवल यही है कि ईश्वर के कार्य अधिक बड़े पैमाने पर तथा अधिक उच्च प्रकार के होते हैं। हम लोग पहले समझ चुके हैं कि ईश्वर सम्बन्धी ऐसी धारणा थोड़े ही शब्दों में कैसे अयौक्तिक और अपर्याप्त प्रमाणित की जा सकती है। ईश्वर के सम्बन्ध में दूसरी धारणा यह है कि वह एक शक्ति है, और उसीकी सर्वत्र अभिव्यक्तियाँ हैं। इसे वास्तव में हम सगुण ईश्वर कह सकते हैं, 'चंडो' में इसी ईश्वर की बात कही गयी है। परन्तु इस पर ध्यान रहे कि यह ईश्वर केवल सम्पूर्ण कल्याणकारी गुणों का ही आधार नहीं है। ईश्वर और शैतान—दो देवता नहीं रह सकते, एक ही ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ेगा और हिम्मत बाँधकर भला और बुरा उसी ईश्वर को मानना पड़ेगा, और यह युक्तिसम्मत सिद्धान्त मान लेने पर जो कुछ ठहरता है, उसे भी लेना होगा। हम 'चंडी' में पढ़ते हैं, 'जो देवी सभी प्राणियों में शान्ति के रूप में अवस्थित है, उसे हम नमस्कार करते हैं। जो देवी सभी प्राणियों में शुद्धिरूपा होकर स्थित है, उसे हम नमस्कार करते हैं।'[1] उन्हें सर्व-स्वरूप कहने से उसका फल चाहे जैसा हो, साथ ही उसे भी लेना होगा। 'हे गार्गि, सब कुछ आनन्द है, इस संसार में जो कुछ आनन्द देख रही हो, सब उसी आध्यात्मिक तत्त्व का अंश है।' इसकी सहायता से तुम हर एक काम कर सकते हो। मेरे सामने के इस प्रकाश में चाहे तुम किसी ग़रीब को हज़ार रुपये गिन दो और चाहे कोई दूसरा इसी प्रकाश में तुम्हारा जाली हस्ताक्षर करे, प्रकाश दोनों ही के लिए बराबर है। यह हुआ ईश्वर-ज्ञान का दूसरा सोपान। तीसरा सोपान यह है कि ईश्वर न तो प्रकृति के बाहर ही है और न भीतर ही; बल्कि ईश्वर, प्रकृति, आत्मा, विश्व—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। दो वस्तुएँ वास्तव में हैं ही नहीं, कुछ दार्शनिक शब्दों ने ही तुम्हें धोखा दिया है। तुम सोच रहे हो, तुम शरीर भी हो और आत्मा भी हो, और एक साथ ही तुम शरीर और आत्मा बन गये हो। यह कैसे हो सकता है? मन ही मन इसकी जाँच करो। यदि तुम लोगों में कोई योगी होगा, तो वह अपने को चैतन्यस्वरूप जानता होगा, उसके लिए शरीर है ही नहीं। यदि तुम साधारण

---

१. या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु शुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
—चंडी ॥५।४७-९; ५।७४-६॥

मनुष्य होगे, तो तुम अपने को देह सोचोगे, उस समय आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञान का लोप हो जायगा। मनुष्य के देह है, आत्मा है, और भी बहुत सी चीज़ें हैं--इन सब दार्शनिक धारणाओं के रहने के कारण तुम लोग सोचते होगे कि ये सब एक ही समय में मौजूद हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। एक समय में एक वस्तु का अस्तित्व है। जब तुम जड़ वस्तु देख रहे हो, तब ईश्वर की चर्चा मत करो, क्योंकि तुम केवल कार्य ही देख रहे हो, उसका कारण तुम्हें नहीं दिखायी पड़ता। और जिस समय तुम कारण देखोगे, उस समय कार्य का लोप हो जायगा। तब यह संसार न जाने कहाँ चला जाता है, न जाने कौन इसका ग्रास कर लेता है!

हे महात्मन्, हे तत्त्वविद्, समाधि अवस्था में ज्ञानी के हृदय में अनिर्वचनीय, केवल आनन्दस्वरूप, उपमारहित, अपार, नित्यमुक्त, निष्क्रिय, असीम, आकाशतुल्य, अंशहीन, भेदरहित, पूर्णस्वरूप ऐसा ही ब्रह्म प्रकाशमान होता है।

हे महात्मन्, हे तत्त्वविद्, समाधि अवस्था में ज्ञानी के हृदय में ऐसा पूर्ण ब्रह्म प्रकाशमान होता है, जो प्रकृति की विकृति से रहित है, अचिन्त्यस्वरूप है, समभाव होने पर भी जिसकी समता करनेवाला कोई नहीं है, जिसमें किसी तरह के परिणाम का सम्बन्ध नहीं है (जो अपरिमेय है), जो वेद-वाक्यों द्वारा सिद्ध है और जिसे हम अपनी सत्ता कहते हैं तथा जो उसका सार है।

हे महात्मन्, हे तत्त्वविद्, समाधि अवस्था में ज्ञानी के हृदय में ऐसा ब्रह्म प्रकाशमान होता है, जो जरा और मृत्यु से रहित है, जो पूर्ण, अद्वय और अतुलनीय है और जो महाप्रलयकालीन जलप्लावन में निमग्न उस समस्त विश्व के सदृश है, जिसके ऊपर, नीचे चारों तरफ़ जल ही जल है और जल की सतह पर तरंग की कौन कहे, एक छोटी सी लहर भी नहीं है--निस्तब्धता और शान्ति है, समस्त दर्शन आदि का अन्त हो गया है, मूर्खों तथा सन्तों के सभी लड़ाई-झगड़ों और युद्धों का सदा के लिए अन्त हो गया है।[1]

मनुष्य की ऐसी अवस्था भी होती है, और जब यह अवस्था आती है, तब संसार विलीन हो जाता है।

अब हमने देखा कि सत्यस्वरूप ब्रह्म अज्ञात और अज्ञेय है, परन्तु अज्ञेयवादियों की दृष्टि से नहीं। हम 'उसे' जान गये, यह कहना ही पाखण्डपूर्ण बात है; क्योंकि पहले ही से तुम वही (ब्रह्म) हो। हमने यह भी देखा है कि एक तरीक़े से ब्रह्म यह मेज़ नहीं है, फिर दूसरे तरीक़े से वह मेज़ है भी। नाम और रूप उठा लो, फिर जो सत्य वस्तु बची रहती है, वह वही है। वह हर एक वस्तु में सत्यस्वरूप है।

---

१. द्र० विवेकचूड़ामणि ॥४०८-१०॥

'तुम्हीं स्त्री हो, पुरुष भी तुम्हीं हो, तुम कुमार, तुम्हीं कुमारी भी हो और तुम्हीं दंड का सहारा लिए हुए वृद्ध हो, विश्व में सर्वत्र तुम्हीं हो।'[1]

अद्वैतवाद का यही विषय है। इस सम्बन्ध में कुछ बातें और हैं। इस अद्वैतवाद से सभी वस्तुओं के मूल तत्त्व की व्याख्या मिल जाती है। हमने देखा है, तर्कशास्त्र और विज्ञान के आक्रमणों के विरोध में हम केवल इसी अद्वैतवाद को लेकर खड़े हो सकते हैं। अन्त में सारे तर्कों को यहीं ठहरने की एक दृढ़ भूमि मिलती है। भारतीय वेदान्ती अपने सिद्धान्त के पूर्ववर्ती सोपानों पर कभी दोषारोपण नहीं करते, बल्कि वे अपने सिद्धान्त पर ठहरकर, उन पर नज़र डालते हुए, उनका समर्थन करते हैं; वे जानते हैं, वे सत्य हैं, सिर्फ़ वे ग़लत ढंग से उपलब्ध हुए हैं-- भ्रम के आधार पर उनका वर्णन किया गया है। वे भी वही सत्य हैं, अन्तर इतना ही है कि वे माया के माध्यम से देखे गये हैं, कुछ विकृत होने पर भी वे सत्य---केवल सत्य ही हैं। एक ही ब्रह्म है, जिसे अज्ञानी प्रकृति के बाहर देखता है, जिसे अल्पज्ञ संसार का अन्तर्यामी देखता है, जिसका अनुभव ज्ञानी अपनी आत्मा के रूप में या स्वयं सम्पूर्ण विश्व के रूप में करता है। यह सब एक ही वस्तु है, एक ही वस्तु भिन्न भिन्न भावों से दृष्टिगोचर हो रही है, माया के विभिन्न शीशों के भीतर से दिखायी दे रही है, विभिन्न मन से दिखायी दे रही है, और पृथक् पृथक् मन से दिखायी देने के कारण ही यह सब विभिन्नता है। केवल इतना ही नहीं, उनमें से एक भाव दूसरे में ले जाता है। विज्ञान और सामान्य ज्ञान में क्या भेद है? रास्ते पर जब कभी कोई असाधारण घटना घट जाती है, तो पथिकों में से किसी-से उसका कारण पूछो। दस आदमियों में से कम से कम नौ आदमी कहेंगे, यह घटना भूतों की करामात है। वे बाहर सदा भूत-प्रेतों के पीछे दौड़ते हैं; क्योंकि अज्ञान का स्वभाव ही है, कार्य के बाहर कारण की खोज करना। एक पत्थर गिरने पर अज्ञ कहता है, भूत या शैतान का फेंका हुआ पत्थर है। परन्तु वैज्ञानिक कहता है, वह प्रकृति का नियम या गुरुत्वाकर्षण है।

विज्ञान और धर्म में सर्वत्र कौन सा विरोध है? प्रचलित धर्म जितने हैं, सभी बहिरागत व्याख्या द्वारा आच्छन्न हैं। सूर्य के अधिष्ठाता देवता, चन्द्र के अधिष्ठाता देवता---इस तरह के अनन्त देवता हैं; और जितनी घटनाएँ घट रही हैं, सब कोई न कोई देवता या भूत कर रहा है; इसका सारांश यही है कि किसी

---

१. **त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दंडेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।**

—श्वेताश्वतरोपनिषद्।।४।३।।

विषय के कारण की खोज उसके बाहर की जाती है और विज्ञान का अर्थ यह है कि किसी वस्तु के कारण की व्याख्या उसी प्रकृति से की जाती है। धीरे धीरे विज्ञान ज्यों ज्यों प्रगति कर रहा है, त्यों त्यों वह प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या भूत-प्रेतों और देवताओं के हाथ से छीनता जा रहा है। और चूंकि आध्यात्मिक क्षेत्र में अद्वैतवाद इसकी साधना कर चुका है, इसलिए यही सबसे अधिक विज्ञान-सम्मत धर्म है। इस जगत् को विश्व के बाहर के किसी ईश्वर ने नहीं बनाया, संसार के बाहर की किसी प्रतिभा ने इसकी सृष्टि नहीं की। यह आप ही आप सृष्ट हो रहा है, आप ही आप उसकी अभिव्यक्ति हो रही है, आप ही आप उसका प्रलय हो रहा है—एक ही अनन्त सत्ता ब्रह्म है। **तत्त्वमसि श्वेतकेतो**—'श्वेतकेतो, तुम वही हो।'

इस तरह तुम देख रहे हो, यही, एकमात्र यही वैज्ञानिक धर्म बन सकता है, कोई दूसरा नहीं। और इस अर्धशिक्षित वर्तमान भारत में आजकल प्रतिदिन विज्ञान की जो बकवास चल रही है, प्रतिदिन मैं जिस युक्तिवाद और विचार-शीलता की दुहाई सुन रहा हूँ, उससे मुझे आशा है, तुम्हारे समस्त सम्प्रदाय अद्वैतवादी होंगे और बुद्ध के शब्दों में **बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय** संसार में इस अद्वैतवाद का प्रचार करने का साहस करेंगे। यदि तुम ऐसा न कर सको, तो मैं तुम्हें डरपोक समझूँगा। यदि तुमने अपनी कायरता दूर नहीं की, यदि अपने भय को तुमने बहाना बना लिया, तो दूसरे को भी वैसी ही स्वाधीनता दो। बेचारे मूर्तिपूजक को बिल्कुल उड़ा देने की चेष्टा न करो, उसे शैतान मत कहो। जो तुम्हारे साथ पूर्णतया सहमत न हो, उसीके पास अपना मत प्रचार करने के लिए न जाओ। पहले यह समझो कि तुम खुद कायर हो और यदि तुम्हें समाज का भय है, यदि तुम्हें अपने ही प्राचीन कुसंस्कारों का इतना भय है, तो यह भी सोच लो कि जो लोग अज्ञ हैं, उन्हें अपने कुसंस्कारों का और कितना अधिक भय और बन्धन होगा। अद्वैतवादियों की यही बात है। दूसरों पर दया करो। परमात्मा करे, कल ही सम्पूर्ण संसार केवल मत में ही नहीं, अनुभूति के सम्बन्ध में भी अद्वैतवादी हो जाय! परन्तु यदि वैसा नहीं हो सकता, तो हमको जो अच्छा करते बने, वही करना चाहिए। अज्ञानी का हाथ पकड़कर उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें धीरे धीरे आगे ले चलो, जितना वे आगे बढ़ सकते हैं। और समझो कि भारत में सभी धर्मों का विकास क्रमोन्नति के नियमानुसार धीरे धीरे हुआ है। बात ऐसी नहीं कि बुरे से भला हो रहा है, बल्कि भले से और भी भला हो रहा है।

अद्वैतवाद के नैतिक सम्बन्धों के विषय में कुछ और कहना आवश्यक है। हमारे लड़के आजकल प्रमुदित भाव से बातचीत करते हैं—किसीसे उन लोगों ने सुना

होगा, परमात्मा जाने किससे सुना—कि अद्वैतवाद से लोग दुराचारी हो जाते हैं, क्योंकि अद्वैतवाद सिखलाता है कि हम सब एक हैं, सभी ईश्वर हैं, अतएव हमें अब सदाचार अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इस बात के उत्तर में पहले तो यहाँ कहना है कि यह युक्ति पशुप्रकृति मनुष्य के मुख में शोभा देती है, कशाघात के बिना जिसके दमन करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि तुम ऐसे ही हो, तो इस तरह कशाघात द्वारा शासित करने योग्य मनुष्य कहलाने की अपेक्षा आत्महत्या कर लेना कदाचित् तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा। कशाघात बन्द होते ही तुम लोग असुर हो जाओगे! यदि ऐसा ही हो, तो इसी समय तुम्हारा, अन्त कर देना उचित होगा। तुम्हारे लिए दूसरा उपाय और कोई नहीं। इस तरह तो सदा ही तुम्हें कोड़े और डंडे के भय से चलना होगा और तुम्हारे उद्धार तथा निस्तार का रास्ता अब नहीं रह गया।

दूसरे अद्वैतवाद, केवल अद्वैतवाद से ही नैतिकता की व्याख्या हो सकती है। हर एक धर्म यही प्रचार कर रहा है कि सब नैतिक तत्त्वों का सार दूसरों की हित-साधना ही है। क्यों हम दूसरों का हित करें? निःस्वार्थ होना चाहिए। क्यों हमें निःस्वार्थ होना चाहिए? कोई देवता ऐसा कह गये हैं? वे देवता मेरे लिए मान्य नहीं हैं। शास्त्रों ने ऐसा कहा है—शास्त्र कहते रहें, क्यों हम उसे मानें? शास्त्र यदि ऐसा कहते हैं, तो मेरे लिए उनका क्या महत्त्व है? संसार के अधिकांश आदमियों की यही नीति है कि वे अपना ही भला ताकते हैं। हर एक व्यक्ति अपना अपना हित साधन करे, कोई न कोई सबसे पीछे रहेगा। किस कारण मैं नैतिक बनूँ? जब तक गीता में वर्णित इस सत्य को न जानोगे, तब तक तुम इसकी व्याख्या नहीं कर सकते। 'जो महात्मा अपनी आत्मा को सब भूतों में स्थित देखता है और आत्मा में सब भूतों को देखता है, वह इस तरह ईश्वर को सर्वत्र सम भाव से अवस्थित देखता हुआ आत्मा द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करता।'[1]

अद्वैतवाद की शिक्षा से तुम्हें यह ज्ञान होता है कि दूसरों की हिंसा करते हुए तुम अपनी ही हिंसा करते हो, क्योंकि वे सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हें मालूम हो या न हो, सब हाथों से तुम्हीं कार्य कर रहे हो, सब पैरों से तुम्हीं चल रहे हो, राजा के रूप में तुम्हीं प्रासाद में सुखों का भोग कर रहे हो, फिर तुम्हीं रास्ते के भिखारी के रूप में अपना दुःखमय जीवन बिता रहे हो। अज्ञ में भी तुम हो,

---

१. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।।गीता ।।६।२९।।
सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।गीता ।।१३।२८।।

विद्वान् में भी तुम हो, दुर्बल में भी तुम हो, सबल में भी तुम हो। इस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर तुम्हें सबके प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए। चूँकि दूसरे को कष्ट पहुँचाना अपने ही को कष्ट पहुँचाना है, इसलिए हमें कदापि दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहिए। इसीलिए यदि मैं बिना भोजन के मर भी जाऊँ, तो भी मुझे इसकी चिन्ता नहीं, क्योंकि जिस समय मैं भूखा मर रहा हूँ, उस समय मैं लाखों मुँह से भोजन भी कर रहा हूँ। अतएव यह 'मैं', 'मेरा'––इन सब विषयों पर हमें ध्यान ही नहीं देना चाहिए, यह सम्पूर्ण संसार मेरा ही है, मैं ही एक दूसरी रीति से संसार के सम्पूर्ण आनन्द का भोग कर रहा हूँ। और, मेरा या इस संसार का विनाश भी कौन कर सकता है? इस तरह देखते हो, अद्वैतवाद ही नैतिक तत्त्वों की एकमात्र व्याख्या है। अन्यान्य वाद तुम्हें नैतिकता की शिक्षा दे सकते हैं, परन्तु हम क्यों नीतिपरायण हों, इसका हेतुनिर्देश नहीं कर सकते। यह सब तो हुई व्याख्या की बात।

अद्वैतवाद की साधना में लाभ क्या है? उससे शक्ति प्राप्त होती है। तुमने जगत् पर सम्मोहन का जो पर्दा डाल रखा है, उसे हटा दो। मनुष्य को दुर्बल न सोचो, उसे दुर्बल न कहो। समझ लो कि एक दुर्बलता शब्द से ही सब पापों और सम्पूर्ण अशुभ कर्मों का निर्देश हो जाता है। सारे दोषपूर्ण कार्यों की मूल प्रेरक दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य सभी स्वार्थों में प्रवृत्त होता है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुँचाता है; दुर्बलता के कारण ही मनुष्य अपना सच्चा स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकता। सब लोग जानें कि वे क्या हैं? दिन-रात वे अपने स्वरूप––**सोऽहम्** का जप करें। माता के स्तन-पान के साथ **सोऽहम्** (मैं वही हूँ)––इस ओजमयी वाणी का पान करें। **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** आदि का पहले श्रवण करें, तत्पश्चात् वे उसका चिन्तन करें, और उसी चिन्तन, उसी मनन से ऐसे कार्य होंगे, जिन्हें संसार ने कभी देखा ही नहीं था। किस तरह यह काम में लाया जाय? कोई कोई कहते हैं––यह अद्वैतवाद कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता, अर्थात् भौतिक धरातल पर उसकी शक्ति का प्रकाश नहीं हुआ। इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है। वेद की उस वाणी का स्मरण करो :

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येकाक्षरं परम्।
ओमित्येकाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

––'ॐ, यही ब्रह्म है; ॐ, यह परम सत्ता है। जो इस ओंकार का रहस्य जानते हैं, वे जो कुछ चाहते हैं, वही उन्हें मिलता है।'

अतएव पहले तुम इस ओंकार का रहस्य समझो। वह ओंकार तुम्हीं हो, इसका ज्ञान प्राप्त करो। इस **तत्त्वमसि** महावाक्य का रहस्य समझो, तभी, केवल तभी, तुम जो कुछ चाहोगे, वह पाओगे। यदि भौतिक दृष्टि से बड़े होना चाहो, तो विश्वास करो, तुम बड़े हो। मैं एक छोटा सा बुलबुला हो सकता हूँ, तुम पर्वताकार ऊँची तरंग हो सकते हो, परन्तु यह समझ रखो कि हम दोनों के लिए पृष्ठभूमि अनन्त समुद्र ही है। अनन्त ब्रह्म हमारी सब शक्ति और वीर्य का भंडार है; और हम दोनों ही क्षुद्र हों या महान्, उससे अपनी इच्छा भर शक्ति-संग्रह कर सकते हैं। अतएव अपने पर विश्वास करो। अद्वैतवाद का यह रहस्य है कि पहले अपने पर विश्वास करो, फिर अन्य सब पर। संसार के इतिहास में देखोगे कि केवल वे ही राष्ट्र महान् एवं प्रबल हो सके हैं, जो आत्मविश्वास रखते हैं। हर एक राष्ट्र के इतिहास में तुम देखोगे, जिन व्यक्तियों ने अपने पर विश्वास किया, वे ही महान् तथा सबल हो सके। यहाँ, इस भारत में एक अंग्रेज आया था, वह एक साधारण क्लर्क था, रुपये-पैसे के अभाव से और दूसरे कारणों से भी उसने अपने सिर में गोली मारकर दो बार आत्महत्या करने की चेष्टा की, और जब वह उसमें असफल हुआ, तब उसे विश्वास हो गया कि बड़े बड़े काम करने के लिए वह पैदा हुआ है--वही लॉर्ड क्लाइव इस साम्राज्य का प्रतिष्ठाता बन गया! यदि वह पादरियों पर विश्वास करके घुटने टेककर 'हे प्रभु, मैं दुर्बल हूँ, दीन हूँ'; ऐसा किया करता, तो जानते हो उसे कहाँ जगह मिलती? निस्सन्देह उसे पागलखाने में रहना पड़ता। उस प्रकार की कुशिक्षाओं ने तुम्हें पागल बना डाला है। मैंने सारे संसार में देखा है, दीनता के उस उपदेश से, जो दौर्बल्य का पोषक है, बड़े अशुभ परिणाम हुए हैं--मनुष्य जाति को उसने नष्ट कर डाला है। हमारी सन्तानों को जब ऐसी ही शिक्षा दी जाती है, तब इसमें क्या आश्चर्य, यदि वे अन्त में अर्धविक्षिप्त हो जाते हैं!

यह अद्वैतवाद के व्यावहारिक पक्ष की शिक्षा है। अतएव अपने पर विश्वास रखो, और यदि तुम्हें भौतिक ऐश्वर्य की आकांक्षा हो, तो इसको कार्यान्वित करो, धन तुम्हारे पास आयेगा। यदि विद्वान् और बुद्धिमान होने की इच्छा है, तो उसी ओर अद्वैतवाद का प्रयोग करो, तुम महामनीषी हो जाओगे। और यदि तुम मुक्ति-लाभ करना चाहते हो, तो तुम्हें आध्यात्मिक भूमि में इस अद्वैतवाद का प्रयोग करना होगा, तभी तुम परमानन्दस्वरूप निर्वाण लाभ करोगे। इतनी ही भूल हुई थी कि आज तक उसका प्रयोग आध्यात्मिकता की ओर हुआ था--बस। अब व्यावहारिक जीवन में उसके प्रयोग का समय आया है। अब उसे रहस्य मात्र या गोपनीय रखने से काम नहीं चलेगा, अब वह हिमालय की गुफाओं

और जंगलों में साधु-संन्यासियों ही के पास बँधा नहीं रहेगा---अब लोगों के दैनिक जीवन के कार्यों में उसका प्रयोग अवश्य होना चाहिए। राजप्रासाद में, साधु-संन्यासियों की गुहा में, गरीबों की कुटियों में सर्वत्र, यहाँ तक कि रास्ते के भिखारी द्वारा भी वह कार्यान्वित होगा, कारण क्या गीता में नहीं बतलाया गया? —स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।—'इस धर्म का अल्प मात्र उपयोग भी बड़े बड़े भय से हमारा उद्धार कर सकता है।'[1] अतएव चाहे तुम स्त्री हो, चाहे शूद्र अथवा चाहे और ही कुछ हो, तुम्हारे लिए भय का अल्प मात्र भी कारण नहीं; कारण, श्री कृष्ण कहते हैं, यह धर्म इतना महान् है कि इसका अल्प मात्र अनुष्ठान करने से भी महाकल्याण की प्राप्ति होती है।

अतएव हे आर्यसन्तान, आलसी होकर बैठे मत रहो---जागो, उठो और जब तक इस चरम लक्ष्य तक न पहुँच जाओ, तब तक मत रुको। अब अद्वैतवाद को व्यावहारिक क्षेत्र में प्रयोग करने का समय आया है। उसे अब स्वर्ग से मर्त्य में ले आना होगा। इस समय विधाता का विधान यही है। हमारे प्राचीन काल के पूर्वज की वाणी से हमें निर्देश मिल रहा है कि इस अद्वैतवाद को स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आओ। तुम्हारे उस प्राचीन शास्त्र का उपदेश सम्पूर्ण संसार में इस प्रकार व्याप्त हो जाय कि समाज के प्रत्येक मनुष्य की वह साधारण सम्पत्ति हो जाय, हमारी नस नस में, रुधिर के प्रत्येक कण में उसका प्रवाह हो जाय।

तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि हम लोगों से कहीं बढ़कर अमेरिकनों ने वेदान्त को अपने व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ कर लिया है। मैं न्यूयार्क के समुद्र तट पर खड़ा खड़ा देखा करता था—भिन्न भिन्न देशों से लोग बसने के लिए अमेरिका आ रहे हैं। उन्हें देखकर मुझे यह मालूम होता था, मानो उनका हृदय झुलस गया है, वे पैरों तले कुचले गये हैं, उनकी आशा मुरझा गयी है, किसीसे निगाह मिलाने की उनमें हिम्मत नहीं है, कपड़ों की एक पोटली मात्र उनका सर्वस्व है और वे कपड़े भी फटे हुए हैं, पुलिस का आदमी देखते ही भय से दूसरी ओर फ़ुटपाथ पर चलने का इरादा करते हैं। और फिर छः ही महीने में उन्हें देखो, वे साफ़ कपड़े पहने हुए सिर उठाकर सीधे चल रहे हैं और डटकर लोगों की नज़र से नज़र मिलाते हैं। ऐसा विचित्र परिवर्तन किसने किया? सोचो, वह आदमी आरमेनिया या किसी दूसरी जगह से आ रहा है, वहाँ कोई उसे कुछ समझता नहीं था; सभी पीस डालने की चेष्टा करते था। वहाँ सभी उससे कहते थे—"तू गुलाम होकर पैदा हुआ है, गुलाम ही रहेगा।" वहाँ उसके

---

१. गीता ॥२।४०॥

ज़रा भी हिलने-डुलने की चेष्टा करने पर वह कुचल डाला जाता था। चारों ओर की सभी वस्तुएँ मानो उससे कहती थीं—"ग़ुलाम, तू ग़ुलाम है—जो कुछ है, तू वही बना रह; निराशा के जिस अँधेरे में पैदा हुआ था, उसीमें जीवन भर पड़ा रह।" हवा भी मानो गूँजकर उससे कहती थी—'तेरे लिए कोई आशा नहीं—ग़ुलाम होकर चिरकाल तू नैराश्य के अन्धकार में पड़ा रह।' वहाँ बलवानों ने पीसकर उसकी जान निकाल ली थी। और ज्यों ही वह जहाज़ से उतरकर न्यूयार्क के रास्तों पर चलने लगा, उसने देखा कि अच्छे कपड़े पहने हुए किसी भले आदमी ने उससे हाथ मिलाया। एक तो फटे कपड़े पहने हुए था और दूसरा अच्छे अच्छे कपड़ों से सुसज्जित था। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ा। और कुछ आगे बढ़कर भोजनालय में जाकर उसने देखा—भद्र मंडली मेज़ के चारों ओर बैठी भोजन कर रही थी; उसी मेज़ के एक ओर उससे भी बैठने के लिए कहा गया। वह चारों ओर घूमने लगा—देखा, यह एक नया जीवन है। उसने देखा, ऐसी जगह भी है, जहाँ और पाँच आदमियों में वह भी एक आदमी गिना जा रहा है। कभी मौक़ा मिला, तो वाशिंगटन जाकर संयुक्तराज्य के राष्ट्रपति से हाथ मिला आया; वहाँ उसने देखा, दूर के गाँवों से मैले कपड़े पहने हुए किसान आकर राष्ट्रपति से हाथ मिला रहे हैं। तब उससे माया का परदा दूर हो गया। वह ब्रह्म ही है—मायावश इस तरह दुर्बलता तथा दासता के सम्मोह में पड़ा हुआ था। अब उसने फिर से जागकर देखा—मनुष्यों के संसार में वह भी एक मनुष्य है। हमारे इस देश में, इस वेदान्त की जन्मभूमि में साधारण जनता को शत शत वर्षों से सम्मोहित बनाकर इस तरह की हीन अवस्था में डाल दिया गया है। उनके स्पर्श में अपवित्रता समायी है, उनके साथ बैठने से छूत समा जाती है। उनसे कहा जा रहा है, निराशा के अन्धकार में तुम्हारा जन्म हुआ है, सदा तुम इसी अँधेरे में पड़े रहो। और उसका परिणाम यह हुआ कि वे लगातार डूबते चले जा रहे हैं, गहरे अँधेरे से और गहरे अँधेरे में डूबते चले जा रहे हैं। अन्त में मनुष्य जितनी निकृष्ट अवस्था तक पहुँच सकता है, वहाँ तक वे पहुँच चुके हैं। क्योंकि, ऐसा देश कहाँ है, जहाँ मनुष्य को जानवरों के साथ एक ही जगह पर सोना पड़ता हो? इसके लिए किसी दूसरे पर दोषारोपण न करो—अज्ञ मनुष्य जो भूल किया करते हैं, वही भूल तुम मत करो। कार्य-कारण दोनों यहीं विद्यमान हैं। दोष वास्तव में हमारा ही है। हिम्मत बाँधकर खड़े हो जाओ—अपने ही सिर सब दोष ले लो। दूसरे पर दोष न मढ़ो। तुम जो कष्ट भोग रहे हो, उसके एकमात्र कारण तुम्हीं हो।

अतः लाहौर के युवको, निश्चयपूर्वक समझो, इस आनुवंशिक तथा राष्ट्रीय महापाप के लिए हमीं लोग उत्तरदायी हैं। बिना इसे दूर किये हमारे लिए कोई

दूसरा उपाय नहीं है। तुम चाहे हज़ारों समितियाँ गढ़ लो, चाहे बीस हज़ार राजनीतिक सम्मेलन करो, चाहे पचास हज़ार संस्थाएँ स्थापित करो, इसका कोई फल न होगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह सहानुभूति, वह प्रेम न आयेगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह हृदय न आयेगा, जो सबके लिए सोचता है। जब तक फिर से भारत को बुद्ध का हृदय प्राप्त नहीं होता और भगवान् कृष्ण की वाणी व्यावहारिक जीवन में परिणत नहीं की जाती, तब तक हमारे लिए कोई आशा नहीं। तुम लोग यूरोपियनों और उनकी सभा-समितियों का अनुकरण कर रहे हो, परन्तु उनके हृदय के भावों का तुमने क्या अनुकरण किया है? मैं तुमसे एक आँखों देखा क़िस्सा कहूँगा। यहाँ के यूरोपियनों का एक दल कुछ बर्मी लोगों को लेकर लन्दन गया, बाद में पता चला कि वे यूरेशियन थे। वहाँ उन्होंने उन लोगों की एक प्रदर्शनी खोलकर खूब धनोपार्जन किया। अन्त में सब धन आपस में बाँटकर उन्होंने उन लोगों को यूरोप के किसी दूसरे देश में ले जाकर छोड़ दिया। ये ग़रीब बेचारे यूरोप की किसी भाषा का एक शब्द भी नहीं जानते थे। लेकिन आस्ट्रिया के अंग्रेज़ वैदेशिक प्रतिनिधि ने इन्हें लन्दन भेज दिया। वे लोग लन्दन में भी किसीको नहीं जानते थे, अतएव वहाँ जाकर भी निराश्रय अवस्था में पड़ गये। परन्तु एक अंग्रेज़ महिला को इनकी सूचना मिली। वे इन बर्मी विदेशियों को अपने घर ले गयीं और अपने कपड़े, अपने बिछौने तथा जो कुछ आवश्यक हुआ, सब देकर उनकी सेवा करने लगीं और समाचारपत्रों में उन्होंने इनका हाल प्रकाशित कर दिया। देखो, उसका फल कैसा हुआ! उसके दूसरे ही दिन मानो सारा राष्ट्र सचेत हो गया। चारों ओर से उनकी सहायता के लिए रुपये आने लगे। अन्त में वे बर्मा वापस भेज दिये गये। उनकी राजनीतिक और दूसरी जितनी सभा-समितियाँ हैं, वे ऐसी ही सहानुभूति पर प्रतिष्ठित हैं, कम से कम अपने लिए उनकी दृढ़ नींव प्रेम पर आधारित है। वे सम्पूर्ण संसार को चाहे प्यार न कर सकें, बर्मी चाहे उनके शत्रु भले ही हों, परन्तु इतना तो निश्चय ही है कि अपनी जाति के लिए उनका प्रेम अगाध है और अपने द्वार पर आये हुए विदेशियों के साथ भी वे सत्य, न्याय और दया का व्यवहार करते हैं। पश्चिमी देशों के सभी स्थानों में उन्होंने किस तरह मेरा आतिथ्य-सत्कार और खातिरदारी की थी, इसका यदि मैं तुमसे उल्लेख न करूँ, तो यह मेरी अकृतज्ञता होगी। यहाँ वह हृदय कहाँ है, जिसकी बुनियाद पर इस जाति की दीवार उठायी जायगी? हम पाँच आदमी मिलकर एक छोटी सी सम्मिलित पूंजी की कम्पनी खोलते हैं। कुछ दिनों के अन्दर ही हम लोग आपस में एक दूसरे की पट्टी पढ़ाना शुरू कर देते हैं, अन्त में सब कारोबार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। तुम लोग

अंग्रेज़ों के अनुकरण की बात कहते हो और उनकी तरह विशाल राष्ट्र का संगठन करना चाहते हो, परन्तु तुम्हारी वह नींव कहाँ है? हमारी नींव बालू की है, इसीलिए उस पर जो घर उठाया जाता है, वह थोड़े ही दिनों में टूटकर ध्वस्त हो जाता है।

अतः हे लाहौर के युवको, फिर अद्वैत की वही प्रबल पताका फहराओ, क्योंकि और किसी आधार पर तुम्हारे भीतर वैसा अपूर्व प्रेम नहीं पैदा हो सकता। जब तक तुम लोग उसी एक भगवान् को सर्वत्र एक ही भाव से अवस्थित नहीं देखते, तब तक तुम्हारे भीतर वह प्रेम पैदा नहीं हो सकता--उसी प्रेम की पताका फहराओ। उठो, जागो, जब तक लक्ष्य पर नहीं पहुँचते, तब तक मत रुको। उठो, एक बार और उठो, क्योंकि त्याग के बिना कुछ हो नहीं सकता। दूसरे की यदि सहायता करना चाहते हो, तो तुम्हें अपने अहंभाव को छोड़ना होगा। ईसाइयों की भाषा में कहता हूँ--तुम ईश्वर और शैतान की सेवा एक साथ ही नहीं कर सकते। चाहिए वैराग्य। तुम्हारे पूर्व पुरुषों ने बड़े बड़े कार्य करने के लिए संसार का त्याग किया था। वर्तमान समय में ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जिन्होंने अपनी ही मुक्ति के लिए संसार का त्याग किया है। तुम सब कुछ दूर फेंको--यहाँ तक कि अपनी मुक्ति का विचार भी दूर रखो--जाओ, दूसरों की सहायता करो। तुम सदा बड़ी बड़ी साहसिक बातें करते हो, परन्तु अब तुम्हारे सामने यह व्यावहारिक वेदान्त रखा गया है। तुम अपने इस तुच्छ जीवन की बलि देने के लिए तैयार हो जाओ। यदि ये राष्ट्र बचे रहे, तो तुम्हारे और हमारे जैसे हज़ारों आदमियों के भूखों मरने से भी क्या हानि होगी? यह राष्ट्र डूब रहा है। लाखों प्राणियों का शाप हमारे सिर पर है, सदा ही अजस्र जलधारवाली नदी के समीप रहने पर भी तृष्णा के समय पीने के लिए हमने जिन्हें नाबदान का पानी दिया, उन अगणित लाखों मनुष्यों का, जिनके सामने भोजन के भाण्डार रहते हुए भी जिन्हें हमने भूखों मार डाला, जिन्हें हमने अद्वैतवाद का तत्त्व सुनाया और जिनसे हमने तीव्र घृणा की, जिनके विरोध में हमने लोकाचार का आविष्कार किया, जिनसे ज़बानी तो यह कहा कि सब बराबर हैं, सब वही एक ब्रह्म हैं, परन्तु इस उक्ति को काम में लाने का तिल मात्र भी प्रयत्न नहीं किया। 'मन में रखने ही से काम हो जायगा, परन्तु व्यावहारिक संसार में अद्वैतवाद को घसीटना?--हरे! हरे!!' अपने चरित्र का यह दाग़ मिटा दो। उठो, जागो। यदि यह क्षुद्र जीवन चला भी जाय, तो क्या हानि है? सभी मरेंगे--साधु या असाधु, धनी या दरिद्र--सभी मरेंगे। चिर काल तक किसीका शरीर नहीं रहेगा। अतएव उठो, जागो और सम्पूर्ण रूप से निष्कपट हो जाओ। भारत में घोर कपट समा गया है। चाहिए चरित्र, चाहिए

इस तरह की दृढ़ता और चरित्र का बल, जिससे मनुष्य आजीवन दृढ़व्रत बन सके। 'नीतिनिपुण मनुष्य चाहे निन्दा करें, चाहे स्तुति, लक्ष्मी आये या चली जाय, मृत्यु आज ही हो, चाहे शताब्दी के पश्चात्, जो धीर हैं, वे न्यायमार्ग से एक पग भी नहीं हिलते।'[1] उठो, जागो, समय बीता जा रहा है और व्यर्थ के वितंडावाद में हमारी सम्पूर्ण शक्ति का क्षय होता जा रहा है। उठो, जागो, छोटे छोटे विषयों और मत-मतान्तरों को लेकर व्यर्थ का विवाद मत करो। तुम्हारे सामने सबसे महान् कार्य पड़ा हुआ है—लाखों आदमी डूब रहे हैं, उनका उद्धार करो। इस बात पर अच्छी तरह ध्यान दो कि मुसलमान जब भारत में पहले-पहल आये थे, तब भारत में कितने अधिक हिन्दू रहते थे। आज उनकी संख्या कितनी घट गयी है। इसका कोई प्रतिकार हुए बिना यह दिन दिन और घटती ही जायगी ; अन्ततः वे पूर्णतः विलुप्त हो जायँगे। हिन्दू जाति लुप्त हो जाय, तो होने दो, लेकिन साथ ही—उनके सैकड़ों दोष रहने पर भी, संसार के सम्मुख उनके सैकड़ों विकृत चित्र उपस्थित करने पर भी—अब तक वे जिन जिन महान् भावों के प्रतिनिधिस्वरूप हैं, वे भी लुप्त हो जायँगे। और उनके लोप के साथ साथ सारे अध्यात्म ज्ञान का शिरोभूषण अपूर्व अद्वैत तत्त्व भी लुप्त हो जायगा। अतएव उठो, जागो, संसार की आध्यात्मिकता की रक्षा के लिए हाथ बढ़ाओ। और पहले अपने देश के कल्याण के लिए इस तत्त्व को काम में लाओ। हमें आध्यात्मिकता की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी इस भौतिक संसार में अद्वैतवाद को थोड़ा कार्य में परिणत करने की। पहले रोटी और तब धर्म चाहिए। ग़रीब बेचारे भूखों मर रहे हैं, और हम उन्हें आवश्यकता से अधिक धर्मोपदेश दे रहे हैं। मत-मतान्तरों से पेट नहीं भरता। हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं: पहला दोष हमारी दुर्बलता है, दूसरा है घृणा करना, हृदयहीनता। लाखों मत-मतान्तरों की बात कह सकते हो, करोड़ों सम्प्रदाय संगठित कर सकते हो, परन्तु जब तक उनके दुःख का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते, वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक स्वयं नहीं समझते कि वे तुम्हारे ही शरीर के अंश हैं, जब तक तुम और वे—धनी और दरिद्र, साधु और असाधु सभी उसी एक अनन्त पूर्ण के, जिसे तुम ब्रह्म कहते हो, अंश नहीं हो जाते, तब तक कुछ न होगा।

---

१. निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ भर्तृहरि नीतिशतकम्॥

सज्जनो, मैंने तुम्हारे सामने अद्वैतवाद के कुछ प्रधान भावों को प्रकाशित करने की चेष्टा की और अब इसे काम में लाने का समय आ गया है। केवल इसी देश में नहीं, सब जगह। आधुनिक विज्ञान के लोहे के मुग्दरों की चोट खाकर द्वैतवादात्मक धर्मों की मज़बूत दीवार चूर चूर हो रही है। ऐसा नहीं कि द्वैतवादी सम्प्रदाय केवल यहीं शास्त्रों का अर्थ खींच खींचकर कुछ का कुछ कर रहे हैं। खींचातानी की हद हो गयी है––कहाँ तक खींचातानी हो––श्लोक रबर नहीं हैं। ऐसा नहीं कि केवल यहीं ये द्वैतवादी आत्मरक्षा के लिए अँधेरे के किसी कोने में छिपने की चेष्टा कर रहे हैं; नहीं, यूरोप और अमेरिका में तो यह प्रयत्न और भी ज़्यादा है। और वहाँ भी भारत के इस अद्वैतवाद का कुछ अंश जाना चाहिए। वह वहाँ पहुँच भी गया है। वहाँ दिन दिन उसका प्रसार बढ़ाना चाहिए। पश्चिमी सभ्यता की भी इससे रक्षा होगी। कारण, पश्चिमी देशों में पहले का भाव उठ गया है और एक नया ढंग––कांचन की पूजा के रूप में शैतान की पूजा प्रवर्तित हुई है। इस आधुनिक धर्म अर्थात् पारस्परिक प्रतियोगिता और कांचन की पूजा की अपेक्षा तो पहले के अपरिमार्जित धर्म की राह अच्छी थी। कोई भी राष्ट्र हो, चाहे वह कितना ही प्रबल क्यों न हो, ऐसी बुनियाद पर कभी नहीं टिक सकता। और संसार का इतिहास हमसे कह रहा है, जिन किन्हीं लोगों ने ऐसी बुनियाद पर अपने समाज की प्रतिष्ठा की, वे विनष्ट हो गये। भारत में कांचन-पूजा की यह तरंग न आ सके, उसकी ओर पहले ही से नज़र रखनी होगी। अतएव सबमें यह अद्वैतवाद प्रचारित करो, जिससे धर्म आधुनिक विज्ञान के प्रबल आघातों से भी अक्षत बना रहे। केवल इतना ही नहीं, तुम्हें दूसरों की भी सहायता करनी होगी–– तुम्हारे विचार यूरोप और अमेरिका के सहायक होंगे; परन्तु सबसे पहले तुम्हें याद दिलाता हूँ कि व्यावहारिक कार्य की आवश्यकता है; और उसका प्रथमांश यह है कि घोर से घोरतम दारिद्र्य और अज्ञान-तिमिर में डूबे हुए साधारण लाखों भारतीयों की उन्नति-साधना के लिए उनके समीप जाओ और उनको अपने हाथ का सहारा दो और भगवान् कृष्ण की यह वाणी याद रखो:

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

––'जिनका मन इस साम्य भाव में अवस्थित है, उन्होंने इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। चूँकि ब्रह्म निर्दोष और सबके लिए सम है, इसलिए वे ब्रह्म में अवस्थित हैं।'[१]

---

१. गीता॥५।१९॥

भारत के महापुरुष

(मद्रास में दिया हुआ भाषण)

भारतीय महापुरुषों के विषय में कुछ कहने के पहले मुझे उस समय का स्मरण होता है, जिस समय का पता इतिहास को नहीं मिला; जिस अतीत के अन्धकार में पैठकर भेद खोलने का पौराणिक परम्पराएँ वृथा प्रयत्न करती हैं। भारत में इतने महापुरुष पैदा हुए हैं कि उनकी गणना नहीं हो सकती; और महापुरुष पैदा करना छोड़ हज़ारों वर्षों से इस हिन्दू जाति ने और किया ही क्या? अतः इन महर्षियों में से युगान्तर करनेवाले कुछ सर्वश्रेष्ठ आचार्यों का वर्णन अर्थात् उनके चरित्र की आलोचना करके जो कुछ मैंने समझा है, वही तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत करूँगा।

पहले अपने शास्त्रों के सम्बन्ध में हमें कुछ जान लेना चाहिए। हमारे शास्त्रों में सत्य के दो आदर्श हैं। पहला वह है, जिसे हम सनातन सत्य कहते हैं; और दूसरा वह, जो पहले की तरह प्रामाणिक न होने पर भी, विशेष विशेष देश, काल और पात्र पर प्रयुज्य है। श्रुति अथवा वेदों में जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का पारस्परिक सम्बन्ध वर्णित है। मन्वादि स्मृतियों में, याज्ञवल्क्यादि संहिताओं में, पुराणों और तन्त्रों में दूसरे प्रकार का सत्य है। ये दूसरी कोटि के ग्रन्थ और शिक्षाएँ श्रुति के अधीन हैं; क्योंकि स्मृति और श्रुति में यदि विरोध हो, तो श्रुति को ही प्रमाणस्वरूप ग्रहण करना होगा। शास्त्रसम्मति यही है। अभिप्राय यह कि श्रुति में जीवात्मा की नियति और उसके चरम लक्ष्यविषयक मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन है; और इनकी व्याख्या तथा विस्तार का काम स्मृतियों और पुराणों पर छोड़ दिया गया है—वे प्रथमोक्त सत्य के ही सविस्तार वर्णन हैं। साधारणतया मार्ग-निर्देश के लिए श्रुति ही पर्याप्त है। धार्मिक जीवन विताने के लिए ..र-तत्त्व के विषय में श्रुति के कहे उपदेशों से अधिक न और कुछ कहा जा सकता है, और न कुछ जानने की आवश्यकता ही है। इस विषय में जो कुछ आवश्यक है, वह श्रुति में है; जीवात्मा की सिद्धि-प्राप्ति के लिए जो जो उपदेश चाहिए, उनका सम्पूर्ण वर्णन श्रुति में है। केवल विशेष अवस्थाओं के विधान श्रुति में नहीं हैं। समय समय पर स्मृतियों ने इनकी व्यवस्था दी है।

श्रुति की एक अन्य विशेषता यह है कि अनेक महर्षियों ने श्रुति में विभिन्न सत्य संकलित किये हैं, इनमें पुरुष अधिक हैं, किन्तु कुछ महिलाएँ भी हैं। उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में अथवा उनके जन्म-काल आदि के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है, किन्तु उनके सर्वोत्कृष्ट विचार, जिन्हें श्रेष्ठ आविष्कार कहना ही उपयुक्त होगा, हमारे देश के धर्म-साहित्य वेदों में लेखबद्ध और रक्षित हैं। पर स्मृतियों में ऋषियों की जीवनी और प्रायः उनके कार्यकलाप विशेष रूप से देखने को मिलते हैं। स्मृतियों में ही हम अद्भुत, महाशक्तिशाली, प्रभावोत्पादक और संसार को हिलानेवाले व्यक्तियों का मानो सर्वप्रथम परिचय प्राप्त करते हैं। कभी कभी उनके समुन्नत और उज्ज्वल चरित्र उनके उपदेशों से भी अधिक उत्कृष्ट जान पड़ते हैं।

हमारे धर्म में निगुण सगुण ईश्वर की शिक्षा है, यह उसकी एक विशेषता है, जिसे हमें समझना चाहिए। उसमें व्यक्तिगत सम्बन्धों से रहित अनन्त सनातन सिद्धान्तों के साथ साथ असंख्य व्यक्तित्वों अर्थात् अवतारों के भी उपदेश हैं, परन्तु श्रुति अथवा वेद ही हमारे धर्म के मूलस्रोत हैं, जो पूर्णतः अपौरुषेय हैं। बड़े बड़े आचार्यों, बड़े बड़े अवतारों और महर्षियों का उल्लेख स्मृतियों और पुराणों में है। और ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि केवल हमारे धर्म को छोड़कर संसार में प्रत्येक अन्य धर्म किसी धर्म-प्रवर्तक अथवा धर्म-प्रवर्तकों के जीवन से ही अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। ईसाई धर्म ईसा के, इस्लाम धर्म मुहम्मद के, बौद्ध धर्म बुद्ध के, जैन धर्म जिनों के और अन्य धर्म अन्य व्यक्तियों के जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। इसलिए इन महापुरुषों के जीवन के ऐतिहासिक प्रमाणों को लेकर उन धर्मों में जो अनेक वाद-विवाद होता है, वह स्वाभाविक है। यदि कभी इन प्राचीन महापुरुषों के अस्तित्वविषयक ऐतिहासिक प्रमाण दुर्बल होते हैं, तो उनकी धर्मरूपी अट्टालिका गिरकर चूर चूर हो जाती है। हमारा धर्म व्यक्तिविशेष पर प्रतिष्ठित न होकर सनातन सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित है, अतः हम उस विपत्ति से मुक्त हैं। किसी महापुरुष, यहाँ तक कि किसी अवतार के कथन को ही तुम अपना धर्म मानते हो, ऐसा नहीं है। कृष्ण के वचनों से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती; किन्तु वे वेदों के अनुगामी हैं, इसीसे कृष्ण के वे वाक्य प्रमाणस्वरूप हैं। कृष्ण वेदों के प्रमाण नहीं हैं, किन्तु वेद ही कृष्ण के प्रमाण हैं। कृष्ण की महानता इस बात में है कि वेदों के जितने प्रचारक हुए हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ वे ही हैं। अन्य अवतार और समस्त महर्षियों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझो। हमारा प्रथम सिद्धान्त है कि मनुष्य की पूर्णता-प्राप्ति के लिए, उसकी मुक्ति के लिए, जो कुछ आवश्यक है, उसका वर्णन वेदों में है। कोई और नया आविष्कार नहीं हो सकता।

समस्त ज्ञान के चरम लक्ष्यस्वरूप पूर्ण एकत्व के आगे तुम कभी बढ़ नहीं सकते। इस पूर्ण एकत्व का आविष्कार बहुत पहले ही वेदों ने किया है; इससे अधिक अग्रसर होना असम्भव है। 'तत्त्वमसि' का आविष्कार हुआ कि आध्यात्मिक ज्ञान सम्पूर्ण हो गया। यह 'तत्त्वमसि' वेदों में ही है। विभिन्न देश, काल, पात्र के अनुसार समय समय की केवल लोकशिक्षा शेष रह गयी। इस प्राचीन सनातन मार्ग में मनुष्यों का चलना ही शेष रह गया; इसीलिए समय समय पर विभिन्न महापुरुषों और आचार्यों का अभ्युदय होता है। गीता में श्री कृष्ण की इस प्रसिद्ध वाणी के अतिरिक्त उस तत्त्व का वर्णन ऐसे सुन्दर और स्पष्ट रूप से कहीं नहीं हुआ है:

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

—'हे भारत, जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं धर्म की रक्षा और अधर्म के नाश के लिए समय समय पर अवतार ग्रहण करता हूँ।'[1] यही भारतीय धारणा है।

इससे निष्कर्ष क्या निकलता है? एक ओर ये सनातन तत्त्व हैं, जो स्वतः प्रमाण हैं, जो किसी प्रकार की युक्ति के ऊपर नहीं टिके हैं, जो बड़े से बड़े ऋषियों के अथवा तेजस्वी से तेजस्वी अवतारों के वाक्यों के ऊपर नहीं ठहरे हैं। यहाँ हमारा कहना है कि भारतीय विचारों की उक्त विशेषता के कारण हम वेदान्त को ही संसार का एकमात्र सार्वभौम धर्म कहने का दावा कर सकते हैं और यह संसार का एकमात्र वर्तमान सार्वभौम धर्म है, क्योंकि यह व्यक्तिविशेष के स्थान पर सिद्धान्त की शिक्षा देता है। व्यक्तिविशेष के चलाये हुए धर्म को संसार की समग्र मानव जाति ग्रहण नहीं कर सकती। अपने ही देश में हम देखते हैं कि यहाँ कितने महापुरुष हो गये हैं। हम एक छोटे से शहर में देखते हैं कि उस शहर के लोग अनेक व्यक्तियों को अपना आदर्श चुनते हैं। अतः समस्त संसार का एकमात्र आदर्श मुहम्मद, बुद्ध अथवा ईसा मसीह ऐसा कोई एक व्यक्ति किस प्रकार हो सकता है? अथवा समस्त नैतिकता, आचरण, आध्यात्मिकता तथा धर्म का सत्य एक व्यक्ति, केवल एक व्यक्ति की आज्ञाप्ति पर किस प्रकार आधारित हो सकता है? वेदान्त धर्म में इस प्रकार किसी व्यक्तिविशेष के वाक्यों को प्रमाण मान लेने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य की सनातन प्रकृति ही इसका प्रमाण है, इसका आचार-शास्त्र मानव के सनातन आध्यात्मिक एकत्व पर प्रतिष्ठित है, जो चेष्टा द्वारा प्राप्त नहीं होता,

---

१. गीता ॥४।७॥

किन्तु पहले ही से लब्ध है। दूसरी ओर हमारे ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही समझ लिया था कि मानव-जाति का अधिकांश किसी व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। उनको किसी न किसी रूप में व्यक्तिविशेष ईश्वर अवश्य चाहिए। जिन बुद्धदेव ने व्यक्तिविशेष ईश्वर के विरुद्ध प्रचार किया था, उनके देहत्याग के पश्चात् पचास वर्ष में ही उनके शिष्यों ने उनको ईश्वर मान लिया। किन्तु व्यक्ति-विशेष ईश्वर की भी आवश्यकता है; और हम जानते हैं कि किसी व्यक्तिविशेष ईश्वर की वृथा कल्पना से बढ़कर जीवित ईश्वर इस लोक में समय समय पर उत्पन्न होकर हम लोगों के साथ रहते भी हैं; जब कि काल्पनिक व्यक्तिविशेष ईश्वर तो सौ में निन्यानवे प्रतिशत उपासना के अयोग्य ही होते हैं। किसी प्रकार के काल्पनिक ईश्वर की अपेक्षा, अपनी काल्पनिक रचना की अपेक्षा, अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी जो भी धारणा हम बना सकते हैं, उसकी अपेक्षा वे पूजा के अधिक योग्य हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोग जो भी धारणा रख सकते हैं, उसकी अपेक्षा श्री कृष्ण बहुत बड़े हैं। हम अपने मन में जितने उच्च आदर्श का विचार कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा बुद्धदेव अधिक उच्च आदर्श हैं, जीवित आदर्श हैं। इसीलिए सब प्रकार के काल्पनिक देवताओं को पदच्युत करके वे चिर काल से मनुष्यों द्वारा पूजे जा रहे हैं।

हमारे ऋषि यह जानते थे, इसीलिए उन्होंने समस्त भारतवासियों के लिए इन महापुरुषों की, इन अवतारों की, पूजा करने का मार्ग खोला है। इतना ही नहीं, जो हमारे सर्वश्रेष्ठ अवतार हैं, उन्होंने और भी आगे बढ़कर कहा है:

यद्यत् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

—'मनुष्यों में जहाँ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, समझो, वहाँ मैं वर्तमान हूँ; मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।'[1]

यह हिन्दुओं के लिए समस्त देशों के समस्त अवतारों की उपासना करने का द्वार खोल देता है। हिन्दू किसी भी देश के किसी भी साधु-महात्मा की पूजा कर सकते हैं। हम बहुधा ईसाइयों के गिरजों और मुसलमानों की मसजिदों में जाकर उपासना भी करते हैं। यह अच्छा है। हम इस तरह उपासना क्यों न करें? मैंने पहले ही कहा है, हमारा धर्म सार्वभौम है। यह इतना उदार, इतना प्रशस्त है कि यह सब प्रकार के आदर्शों को आदरपूर्वक ग्रहण कर सकता है। संसार में धर्मों के जितने आदर्श हैं, उनको इसी समय ग्रहण किया जा सकता है और भविष्य

---

१. गीता॥१०।४१॥

में जो समस्त विभिन्न आदर्श होंगे, उनके लिए हम धैर्य के साथ प्रतीक्षा कर सकते हैं। उनको भी इसी प्रकार ग्रहण करना होगा, वेदान्त धर्म ही अपनी विशाल भुजाओं को फैलाकर सबको हृदय से लगा लेगा।

ईश्वर के अवतारस्वरूप, महान् ऋषियों के सम्बन्ध में हमारी लगभग यही धारणा है। इनकी अपेक्षा एक प्रकार के नीचे दर्जे के महापुरुष और हैं। वेदों में ऋषि शब्द का उल्लेख बारम्बार पाया जाता है और आजकल तो यह एक प्रचलित शब्द हो गया है। आर्ष वाक्य विशेष प्रमाण माने जाते हैं। हमें इसका भाव समझना चाहिए। ऋषि का अर्थ है मंत्रद्रष्टा अर्थात् जिसने किसी तत्त्व का दर्शन किया हो। अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म का प्रमाण क्या है? बाह्य इन्द्रियों में धर्म की सत्यता प्रमाणित नहीं होती, यह अत्यन्त प्राचीन काल से ही ऋषियों ने कहा है : **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह** ।—'मन के सहित वाणी जिसको न पाकर जहाँ से लौट आती है।' **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः**।—'जहाँ आँखों की पहुँच नहीं, जहाँ वाणी भी नहीं जा सकती और मन भी नहीं जा सकता।' युग युग से यही घोषणा रही है। आत्मा का अस्तित्व, ईश्वर का अस्तित्व, अनन्त जीवन, मनुष्यों का चरम लक्ष्य आदि प्रश्नों का उत्तर बाह्य प्रकृति नहीं दे सकेगी। यह मन सदा परिवर्तनशील है, मानो यह सदा बहता जा रहा है। यह परिमित है, मानो इसके छोटे छोटे टुकड़े कर दिये गये हैं। यह प्रकृति किस प्रकार उस अनन्त, अपरिवर्तनशील, अखंड, अविभाज्य सनातन के विषय में कुछ कह सकती है? यह कदापि सम्भव नहीं। इतिहास इसका साक्षी है कि चैतन्यहीन जड़ पदार्थ से इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने की मनुष्य जाति ने जब कभी वृथा चेष्टा की है, परिणाम कितना भयानक हुआ है। फिर यह वेदोक्त ज्ञान कहाँ से आया? ऋषि होने से यह ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान इन्द्रियों में नहीं है। पर क्या इन्द्रियाँ ही मनुष्यों के लिए सब कुछ हैं? यह कहने का किसे साहस है कि इन्द्रियाँ ही सारसर्वस्व हैं? हमारे जीवन में, हममें से प्रत्येक के जीवन में, सम्भवतः जब हमारे सामने ही किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है, जब हमको कोई आघात पहुँचता है अथवा जब अत्यधिक आनन्द हमको प्राप्त होता है, उसमें शान्ति के क्षण आते हैं। अनेक दूसरे अवसरों पर ऐसा भी होता है कि मन स्थिर होकर क्षण भर के लिए अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव करता है, उस अनन्त की झलक पा जाता है, जहाँ न मन की पहुँच है और न शब्दों की। साधारण जनों के भी जीवन में ऐसा होता है, पर इसको अभ्यास के द्वारा प्रगाढ़, स्थिर और पूर्ण रूप देना होगा। युगों पहले ऋषियों ने आविष्कार किया था कि आत्मा न तो इन्द्रियों द्वारा ही बद्ध है

और न किसी सीमा से ही घिर सकती है; केवल इतना ही नहीं, वह इन्द्रियग्राह्य ज्ञान के द्वारा भी सीमाबद्ध नहीं हो सकती। हमें समझना होगा कि ज्ञान उस आत्मारूपी अनन्त शृंखला का एक क्षुद्र अंश मात्र है। सत्ता ज्ञान से अभिन्न नहीं है, ज्ञान उसी सत्ता का एक अंश है। ऋषियों ने ज्ञान की अतीत भूमि में, निर्भय होकर आत्मा का अनुसन्धान किया था। ज्ञान पंचेन्द्रियों द्वारा सीमाबद्ध है। आध्यात्मिक जगत् के सत्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को ज्ञान की अतीत भूमि में, इन्द्रियों के परे जाना होगा। और इस समय भी ऐसे मनुष्य हैं, जो पंचेन्द्रियों की सीमा के परे जा सकते हैं। ये ही ऋषि कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार किया है।

अपने सामने की इस मेज़ को जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हैं, उसी तरह वेदोक्त सत्यों का प्रमाण भी प्रत्यक्ष अनुभव है। यह हम इन्द्रियों से देख रहे हैं और आध्यात्मिक सत्यों का भी हम जीवात्मा की ज्ञानातीत अवस्था में साक्षात् करते हैं। ऐसा ऋषित्व प्राप्त करना देश, काल, लिंग अथवा जातिविशेष के ऊपर निर्भर नहीं करता। वात्स्यायन निर्भयतापूर्वक घोषणा करते हैं कि यह ऋषित्व ऋषियों की सन्तानों, आर्य-अनार्यों, यहाँ तक कि म्लेच्छों की भी साधारण सम्पत्ति है।

यही वेदों का ऋषित्व है। हमको भारतीय धर्म के इस आदर्श को सर्वदा स्मरण रखना होगा और मेरी इच्छा है कि संसार की अन्य जातियाँ भी इस आदर्श को समझकर याद रखें, क्योंकि इससे धार्मिक लड़ाई-झगड़े कम हो जायँगे। शास्त्र-ग्रन्थों में धर्म नहीं होता, अथवा सिद्धान्तों, मतवादों, चर्चाओं तथा तार्किक उक्तियों में भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म तो स्वयं साक्षात्कार करने की वस्तु है। ऋषि होना होगा। ऐ मेरे मित्रो, जब तक तुम ऋषि नहीं बनोगे, जब तक आध्यात्मिक सत्य के साथ साक्षात् नहीं होगा, निश्चय है कि तब तक तुम्हारा धार्मिक जीवन आरम्भ नहीं हुआ। जब तक तुम्हारी यह अतिचेतन (ज्ञानातीत) अवस्था आरम्भ नहीं होती, तब तक धर्म केवल कहने ही की बात है, तब तक यह केवल धर्म-प्राप्ति के लिए तैयार होना ही है। तुम केवल दूसरों से सुनी-सुनायी बातों को दुहराते-तिहराते भर हो, और यहाँ बुद्ध का कुछ ब्राह्मणों से वाद-विवाद करते समय का सुन्दर कथन लागू होता है। ब्राह्मणों ने बुद्धदेव के पास आकर ब्रह्म के स्वरूप पर प्रश्न किये। उस महापुरुष ने उन्हींसे प्रश्न किया, "आपने क्या ब्रह्म को देखा है?" उन्होंने कहा, "नहीं, हमने ब्रह्म को नहीं देखा।" बुद्धदेव ने पुनः उनसे प्रश्न किया, "आपके पिता ने क्या उसको देखा है?"—"नहीं, उन्होंने भी नहीं देखा।" "क्या आपके पितामह ने उसको देखा है?"—"हम समझते हैं कि उन्होंने भी उसको

नहीं देखा।" तब बुद्धदेव ने कहा, "मित्रो, आपके पितृ-पितामहों ने भी जिसको नहीं देखा, ऐसे पुरुष के विषय पर आप किस प्रकार विचार द्वारा एक दूसरे को परास्त करने की चेष्टा कर रहे हैं?" समस्त संसार यही कर रहा है। वेदान्त की भाषा में हम कहेंगे—**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।** —'यह आत्मा वागाडम्बर से प्राप्त नहीं की जा सकती, प्रखर बुद्धि से भी नहीं, यहाँ तक कि बहुत वेदपाठ से भी उसकी प्राप्ति करना सम्भव नहीं।'

संसार की समस्त जातियों से वेदों की भाषा में हमको कहना होगा : तुम्हारा लड़ना और झगड़ना वृथा है, तुम जिस ईश्वर का प्रचार करना चाहते हो, क्या तुमने उसको देखा है? यदि तुमने उसको नहीं देखा, तो तुम्हारा प्रचार वृथा है; जो तुम कहते हो, वह स्वयं नहीं जानते; और यदि तुम ईश्वर को देख लोगे, तो तुम झगड़ा नहीं करोगे, तुम्हारा चेहरा चमकने लगेगा। उपनिषदों के एक प्राचीन ऋषि ने अपने पुत्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु के पास भेजा था। जब लड़का वापस आया, तो पिता ने पूछा, "तुमने क्या सीखा?" पुत्र ने उत्तर दिया, "अनेक विद्याएँ सीखी हैं।" पिता ने कहा, "यह कुछ नहीं है; जाओ, फिर वापस जाओ।" पुत्र गुरु के पास गया, लड़के के लौट आने पर पिता ने फिर वही प्रश्न पूछा और लड़के ने फिर वही उत्तर दिया। उसको एक बार और वापस जाना पड़ा। इस बार जब वह लौटकर आया, तो उसका चेहरा चमक रहा था। तब पिता ने कहा, "बेटा, आज तुम्हारा चेहरा ब्रह्मज्ञानी के समान चमक रहा है।" जब तुम ईश्वर को जान लोगे, तो तुम्हारा मुख, स्वर, सारी आकृति बदल जायगी। तब तुम मानव-जाति के लिए महाकल्याणस्वरूप हो जाओगे। ऋषि की शक्ति को कोई नहीं रोक सकेगा। यही ऋषित्व है और यही हमारे धर्म का आदर्श। और शेष जो कुछ है—ये सब वाग्विलास, युक्ति-विचार, दर्शन, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, यहाँ तक कि वेद भी—यही ऋषित्व प्राप्त करने के सोपान मात्र हैं, गौण हैं। ऋषित्व प्राप्त करना ही मुख्य है। वेद, व्याकरण, ज्योतिषादि सब गौण हैं। जिसके द्वारा हम उस अव्यय ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करते हैं, वही चरम ज्ञान है। जिन्होंने यह प्राप्त किया है, वे ही वैदिक ऋषि हैं। हम समझते हैं कि यह ऋषि एक कोटि, एक वर्ग का नाम है, जिस ऋषित्व को यथार्थ हिन्दू होते हुए हमें अपने जीवन की किसी न किसी अवस्था में प्राप्त करना ही होगा, और ऋषित्व प्राप्त करना ही हिन्दुओं के लिए मुक्ति है। कुछ सिद्धान्तों में ही विश्वास करने से, सहस्रों मन्दिरों के दर्शन से अथवा संसार भर की कुल नदियों में स्नान करने से, हिन्दू मत के अनुसार मुक्ति नहीं होगी। ऋषि होने पर, मंत्रद्रष्टा होने पर ही मुक्ति प्राप्त होगी।

बाद के युगों पर विचार करने पर हम देखते हैं कि उस समय सारे संसार को

आलोड़ित करनेवाले अनेक महापुरुषों तथा श्रेष्ठ अवतारों ने जन्म ग्रहण किया है। अवतारों की संख्या बहुत है। भागवत के अनुसार भी अवतारों की संख्या असंख्य है; इनमें से राम और कृष्ण ही भारत में विशेष भाव से पूजे जाते हैं। प्राचीन वीर युगों के आदर्शस्वरूप, सत्यपरायणता और समग्र नैतिकता के साकार मूर्ति-स्वरूप, आदर्श तनय, आदर्श पति, आदर्श पिता, सर्वोपरि आदर्श राजा राम का चरित्र हमारे सम्मुख महान् ऋषि वाल्मीकि के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। महाकवि ने जिस भाषा में रामचरित का वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा अधिक पावन, प्रांजल, मधुर अथवा सरल भाषा हो ही नहीं सकती। और सीता के विषय में क्या कहा जाय! तुम संसार के समस्त प्राचीन साहित्य को छान डालो, और मैं तुमसे निःसंकोच कहता हूँ कि तुम संसार के भावी साहित्य का भी मंथन कर सकते हो, किन्तु उसमें से तुम सीता के समान दूसरा चरित्र नहीं निकाल सकोगे। सीता-चरित्र अद्वितीय है। यह चरित्र सदा के लिए एक ही बार चित्रित हुआ है। राम तो कदाचित् अनेक हो गये हैं, किन्तु सीता और नहीं हुई। भारतीय स्त्रियों को जैसा होना चाहिए, सीता उनके लिए आदर्श हैं। स्त्री-चरित्र के जितने भारतीय आदर्श हैं, वे सब सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए हैं, और समस्त आर्यावर्त भूमि में सहस्रों वर्षों से वे स्त्री-पुरुष-बालक की पूजा पा रही हैं। महामहिमामयी सीता, स्वयं शुद्धता से भी शुद्ध, धैर्य तथा सहिष्णुता का सर्वोच्च आदर्श सीता सदा इसी भाव से पूजी जायँगी। जिन्होंने अविचलित भाव से ऐसे महादुःख का जीवन व्यतीत किया, वही नित्य साध्वी, सदा शुद्धस्वभाव सीता, आदर्श पत्नी सीता, मनुष्य लोक की आदर्श, देवलोक की भी आदर्श नारी पुण्य-चरित्र सीता सदा हमारी राष्ट्रीय देवी बनी रहेंगी। हम सभी उनके चरित्र को भली भाँति जानते हैं, इसलिए उनका विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। चाहे हमारे सब पुराण नष्ट हो जायँ, यहाँ तक कि हमारे वेद भी लुप्त हो जायँ, हमारी संस्कृत भाषा सदा के लिए काल स्रोत में विलुप्त हो जाय, किन्तु मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो, जब तक भारत में अतिशय ग्राम्य भाषा बोलनेवाले पाँच भी हिन्दू रहेंगे, तब तक सीता की कथा विद्यमान रहेगी। सीता का प्रवेश हमारी जाति की अस्थि-मज्जा में हो चुका है; प्रत्येक हिन्दू नर-नारी के रक्त में सीता विराजमान हैं; हम सभी सीता की सन्तान हैं। हमारी नारियों को आधुनिक भावों में रँगने की जो चेष्टाएँ हो रही हैं, यदि उन सब प्रयत्नों में उनको सीता-चरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने की चेष्टा होगी, तो वे सब असफल होंगे, जैसा कि हम प्रतिदिन देखते हैं। भारतीय नारियों से सीता के चरण-चिह्नों का अनुसरण कराकर अपनी उन्नति की चेष्टा करनी होगी, यही एकमात्र पथ है।

उसके पश्चात् हैं भगवान् श्री कृष्ण, जो नाना भाव से पूजे जाते हैं और जो पुरुष के समान ही स्त्री के, बच्चों के समान ही वृद्ध के परम प्रिय इष्ट देवता हैं। मेरा अभिप्राय उनसे है, जिन्हें भागवतकार अवतार कहके भी तृप्त नहीं होते, बल्कि कहते हैं:

"अन्यान्य अवतार उस भगवान् के अंश और फलस्वरूप हैं, किन्तु कृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।"[१]

और जब हम उनके विविध भाव-समन्वित चरित्र का अवलोकन करते हैं, तब उनके प्रति प्रयुक्त ऐसे विशेषणों से हमको आश्चर्य नहीं होता। वे एक ही स्वरूप में अपूर्व संन्यासी और अद्भुत गृहस्थ थे, उनमें अत्यन्त अद्भुत रजोगुण तथा शक्ति का विकास था और साथ ही वे अत्यन्त अद्भुत त्याग का जीवन बिताते थे। बिना गीता का अध्ययन किये कृष्ण-चरित्र कभी समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि अपने उपदेशों के वे आकारस्वरूप थे। प्रत्येक अवतार, जिसका प्रचार करने वे आये थे, उसके जीवित उदाहरण के रूप में अवतरित हुए। गीता के प्रचारक कृष्ण सदा भगवद्गीता के उपदेशों की साकार मूर्ति थे, वे अनासक्ति के उज्ज्वल उदाहरण थे। उन्होंने अपना सिंहासन त्याग दिया और कभी उसकी चिन्ता नहीं की। जिनके कहने ही से राजा अपने सिंहासनों को छोड देते थे, ऐसे समग्र भारत के नेता ने स्वयं राजा होना नहीं चाहा। उन्होंने बाल्य काल में जिस सरल भाव से गोपियों के साथ क्रीड़ा की, जीवन की अन्य अवस्थाओं में भी उनका वह सरल स्वभाव नहीं छूटा। उनके जीवन की उस चिरस्मरणीय घटना की याद आती है, जिसका समझना अत्यन्त कठिन है। जब तक कोई पूर्ण ब्रह्मचारी और पवित्र स्वभाव का नहीं बनता, तब तक उसे इसके समझने की चेष्टा करना उचित नहीं। उस प्रेम के अत्यन्त अद्भुत विकास को, जो उस वृन्दावन की मधुर लीला में रूपक भाव से वर्णित हुआ है, प्रेमरूपी मदिरा के पान से जो उन्मत्त हुआ हो, उसको छोड़कर और कोई नहीं समझ सकता है। कौन उन गोपियों के प्रेम से उत्पन्न विरह-यन्त्रणा के भाव को समझ सकता है, जो प्रेम आदर्शस्वरूप है, जो प्रेम प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, जो प्रेम स्वर्ग की भी आकांक्षा नहीं करता, जो प्रेम इहलोक और परलोक की किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता? और हे मित्रो, इसी गोपी-प्रेम के माध्यम से सगुण और निर्गुण ईश्वरवाद के संघर्ष का एकमात्र समाधान मिल सका है। हम जानते हैं, सगुण ईश्वर मनुष्य की उच्चतम धारणा है। हम यह भी जानते हैं कि दार्शनिक दृष्टि से समग्र जगद्व्यापी, समस्त संसार जिसकी

---

१. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

अभिव्यक्ति है, उस निर्गुण ईश्वर में विश्वास ही स्वाभाविक है। पर साथ ही हम साकार वस्तु की कामना करते हैं, ऐसी वस्तु चाहते हैं, जिसको हम पकड़ सकें, जिसके चरणों पर अपने हृदय को उत्सर्ग कर सकें। इसलिए सगुण ईश्वर ही मनुष्य स्वभाव की उच्चतम धारणा है। किन्तु युक्ति इस धारणा से विस्मित रह जाती है। यह वही अति प्राचीन, प्राचीनतम समस्या है, जिसका ब्रह्मसूत्रों में विचार किया गया है; वनवास के समय युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी ने जिसका विचार किया है; यदि एक सगुण, सम्पूर्ण दयामय सर्वशक्तिमान ईश्वर है, तो इस नारकीय संसार का अस्तित्व क्यों है? उसने उसकी सृष्टि क्यों की? उस ईश्वर को महापक्षपाती कहना ही उचित है। इसकी किसी प्रकार मीमांसा नहीं होती। इसकी मीमांसा, गोपियों के प्रेम के सम्बन्ध में जो तुम पढ़ते हो, मात्र उससे हो सकती है। वे कृष्ण के प्रति प्रयुक्त किसी विशेषण को घृणा करती हैं; वे यह जानने की चिन्ता नहीं करतीं कि कृष्ण सृष्टिकर्ता हैं, वे यह जानने की चिन्ता नहीं करतीं कि वे सर्वशक्तिमान हैं, वे यह जानने की भी चिन्ता नहीं करतीं कि वे सर्वसमर्थ हैं। वे केवल यही समझती हैं कि कृष्ण प्रेममय हैं; यही उनके लिए यथेष्ट है। गोपियाँ कृष्ण को केवल वृन्दावन का कृष्ण समझती हैं। बहुत सेनाओं के नेता राजाधिराज कृष्ण उनके निकट सदा गोप ही थे।

न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

—'हे जगदीश, मैं धन, जन, कविता अथवा सुन्दरी—कुछ भी नहीं चाहता; हे ईश्वर, आपके प्रति जन्मजन्मान्तरों में मेरी अहैतुकी भक्ति हो।'[1] यह अहैतुकी भक्ति, यह निष्काम कर्म, यह निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा का आदर्श धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय है। मानव-इतिहास में प्रथम बार भारतभूमि पर सर्वश्रेष्ठ अवतार श्री कृष्ण के मुँह से पहले-पहल यह तत्त्व निकला था। भय और प्रलोभनों के धर्म सदा के लिए विदा हो गये और मनुष्य-हृदय में नरक-भय और स्वर्ग-सुख-भोग के प्रलोभन होते हुए भी ऐसे सर्वोत्तम आदर्श का अभ्युदय हुआ, जैसे प्रेम प्रेम के निमित्त, कर्तव्य कर्तव्य के निमित्त, कर्म कर्म के निमित्त।

और यह प्रेम कैसा है? मैंने तुम लोगों से कहा है कि गोपी-प्रेम को समझना बड़ा कठिन है। हमारे बीच भी ऐसे मूर्खों का अभाव नहीं है, जो श्री कृष्ण के ज़ीवन के ऐसे अति अपूर्व अंश के अद्भुत तात्पर्य को समझने में असमर्थ हैं। मैं पुनः कहता

---

१. **शिक्षाष्टकम्॥४॥**

हूँ कि हमारे ही रक्त से उत्पन्न अनेक अपवित्र मूर्ख हैं, जो गोपी-प्रेम का नाम सुनते ही मानो उसको अत्यन्त अपावन समझकर भय से दूर भाग जाते हैं। उनसे मैं सिर्फ़ इतना ही कहना चाहता हूँ कि पहले अपने मन को शुद्ध करो और तुमको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस इतिहासकार ने गोपियों के इस अद्‌भुत प्रेम का वर्णन किया है, वह आजन्म पवित्र, नित्य शुद्ध व्यासपुत्र शुकदेव हैं। जब तक हृदय में स्वार्थपरता रहेगी, तब तक भगवत्प्रेम असम्भव है। यह केवल दूकानदारी है कि 'मैं आपको कुछ देता हूँ, भगवान् आप भी मुझको कुछ दीजिए।' और भगवान् कहते हैं, "यदि तुम ऐसा न भी करोगे, तो तुम्हारे मरने पर मैं तुम्हें देख लूंगा—चिरकाल तक तुम्हें जलाकर मारूँगा।" सकाम व्यक्ति की ईश्वर-धारणा ऐसी ही होती है। जब तक मस्तिष्क में ऐसे भाव रहेंगे, तब तक गोपियों की प्रेमजनित विरह की उन्मत्तता मनुष्य किस प्रकार समझेंगे ! 'एक बार, केवल एक ही बार यदि उन मधुर अधरों का चुम्बन प्राप्त हो !' जिसका तुमने एक बार चुम्बन किया है, चिरकाल तक तुम्हारे लिए उसकी पिपासा बढ़ती जाती है, उसके सकल दुःख दूर हो जाते हैं, तब अन्यान्य विषयों की आसक्ति दूर हो जाती है, केवल तुम्हीं उस समय प्रीति की वस्तु हो जाते हो।'[१]

पहले कांचन, नाम तथा यश और क्षुद्र मिथ्या संसार के प्रति आसक्ति को छोड़ो। तभी, केवल तभी तुम गोपी-प्रेम को समझोगे। यह इतना विशुद्ध है कि बिना सब कुछ छोड़े इसको समझने की चेष्टा करना ही अनुचित है। जब तक अन्तःकरण पूर्ण रूप से पवित्र नहीं होता, तब तक इसको समझने की चेष्टा करना वृथा है। हर समय जिनके हृदय में काम, धन, यशोलिप्सा के बुलबुले उठते हैं, ऐसे लोग गोपी-प्रेम की आलोचना करने तथा समझने का साहस करते हैं ! कृष्ण अवतार का मुख्य उद्देश्य यही गोपी-प्रेम की शिक्षा है, यहाँ तक कि गीता का महान् दर्शन भी उस प्रेमोन्मत्तता की बराबरी नहीं कर सकता। क्योंकि गीता में साधक को धीरे धीरे उसी चरम लक्ष्य मुक्ति के साधन का उपदेश दिया गया है, किन्तु इसमें रसास्वाद की उन्मत्तता, प्रेम की मदोन्मत्तता विद्यमान है; यहाँ गुरु और शिष्य, शास्त्र और उपदेश, ईश्वर और स्वर्ग सब एकाकार हैं, भय के भाव का चिह्न मात्र नहीं है; सब बह गया है—शेष रह गयी है केवल प्रेमोन्मत्तता। उस समय संसार का कुछ भी स्मरण नहीं रहता, भक्त उस समय संसार में उसी कृष्ण, एकमात्र उसी कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता, उस समय वह समस्त प्राणियों में कृष्ण के ही

---

१. सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥श्रीमद्भागवत॥

दर्शन करता है, उसका मुँह भी उस समय कृष्ण के ही समान दीखता है, उसकी आत्मा उस समय कृष्णमय हो जाती है। यह है कृष्ण की महिमा !

छोटी छोटी वातों में समय वृथा मत गँवाओ, उनके जीवन के जो मुख्य चरित्र हैं, जो तात्त्विक अंश हैं, उन्हींका सहारा लेना चाहिए। कृष्ण के जीवन-चरित्र में वहुत से ऐतिहासिक अन्तर्विरोध मिल सकते हैं, कृष्ण के चरित्र में वहुत से प्रक्षेप हो सकते हैं। ये सभी सत्य हो सकते हैं, किन्तु फिर भी उस समय समाज में जो एक अपूर्व नये भाव का उदय हुआ था, उसका कुछ आधार अवश्य था। अन्य किसी भी महापुरुष या पैग़म्बर के जीवन पर विचार करने पर यह जान पड़ता है कि वह पैग़म्बर अपने पूर्ववर्ती कितने ही भावों का विकास मात्र है; हम देखते हैं कि उसने अपने देश में, यहाँ तक कि, उस समय जैसी शिक्षा प्रचलित थी, केवल उसीका प्रचार किया है; यहाँ तक कि उस महापुरुष के अस्तित्व पर भी सन्देह हो सकता है, किन्तु मैं चुनौती देता हूँ कि कोई यह सावित कर दे कि कृष्ण के निष्काम कर्म, निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा और निष्काम प्रेम-तत्त्व के ये उपदेश संसार में मौलिक आविष्कार नहीं हैं। यदि ऐसा नहीं कर सकते, तो यह अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि किसी एक व्यक्ति ने निश्चय ही इन तत्त्वों को प्रस्तुत किया है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये तत्त्व किसी दूसरे मनुष्य से लिये गये हैं। कारण यह कि कृष्ण के उत्पन्न होने के समय सर्वसाधारण में इन तत्त्वों का प्रचार नहीं था। भगवान् श्री कृष्ण ही इनके प्रथम प्रचारक हैं, उनके शिष्य वेदव्यास ने पूर्वोक्त तत्त्वों का साधारण जनों में प्रचार किया। ऐसा श्रेष्ठ आदर्श और कभी चित्रित नहीं हुआ। हम उनके ग्रन्थ में गोपीजनवल्लभ वृन्दावन-विहारी से और कोई उच्चतर आदर्श नहीं पाते। जब तुम्हारे हृदय में इस उन्मत्तता का प्रवेश होगा, जब तुम भाग्यवती गोपियों के भाव को समझोगे, तभी तुम जानोगे कि प्रेम क्या वस्तु है ! जब समस्त संसार तुम्हारी दृष्टि से अन्तर्धान हो जायगा, जब तुम्हारे हृदय में और कोई कामना नहीं रहेगी, जब तुम्हारा चित्त पूर्णरूप से शुद्ध हो जायगा, अन्य कोई लक्ष्य न होगा, यहाँ तक कि जब तुममें सत्यानुसन्धान की वासना भी नहीं रहेगी, तभी तुम्हारे हृदय में उस प्रेमोन्मत्तता का आविर्भाव होगा, तभी तुम गोपियों की अनन्त अहेतुकी प्रेम-भक्ति की महिमा समझोगे। यही लक्ष्य है। यदि तुमको यह प्रेम मिला, तो सब कुछ मिल गया।

इस बार हम नीचे की तहों में प्रवेश करते हुए गीता-प्रचारक कृष्ण की विवेचना करेंगे। भारत में इस समय कितने ही लोगों में ऐसी चेष्टा दिखायी पड़ती है, जो घोड़े के आगे गाड़ी जोतनेवालों की सी होती है। हममें से बहुतों की यह धारणा है कि श्री कृष्ण का गोपियों के साथ प्रेमलीला करना बड़ी ही खटकनेवाली

बात है। यूरोप के लोग भी इसे पसन्द नहीं करते। अमुक पंडित इस गोपी-प्रेम को अच्छा नहीं समझते, अतएव अवश्य गोपियों को बहा दो! बिना यूरोप के साहबों के अनुमोदन के कृष्ण कैसे टिक सकते हैं? कदापि नहीं टिक सकते। महाभारत में दो-एक स्थानों को छोड़कर, वे भी वैसे उल्लेखनीय नहीं, गोपियों का प्रसंग तो है ही नहीं। केवल द्रौपदी की प्रार्थना में और शिशुपाल-वध के समय शिशुपाल की वक्तृता में वृन्दावन का वर्णन आया है। ये सब प्रक्षिप्त अंश हैं। यूरोप के साहब लोग जिसको नहीं चाहते, वह सब फेंक देना चाहिए। गोपियों का वर्णन, यहाँ तक कि कृष्ण का वर्णन भी प्रक्षिप्त है! जो लोग ऐसी घोर वाणिज्य-वृत्ति के हैं, जिनके धर्म का आदर्श भी व्यवसाय ही से उत्पन्न हुआ है, उनका विचार यही है कि वे इस संसार में कुछ करके स्वर्ग प्राप्त करेंगे। व्यवसायी सूद दर सूद चाहते हैं, वे यहाँ ऐसा कुछ पुण्य-संचय करना चाहते हैं, जिसके फल से स्वर्ग में जाकर सुख-भोग करेंगे। इनके धर्ममत में गोपियों के लिए अवश्य स्थान नहीं है। अब हम उस आदर्श-प्रेमी श्री कृष्ण का वर्णन छोड़कर और भी नीचे की तह में प्रवेश करके गीता-प्रचारक श्री कृष्ण की विवेचना करेंगे। यहाँ भी हम देखते हैं कि गीता के समान वेदों का भाष्य कभी नहीं बना है और बनेगा भी नहीं। श्रुति अथवा उपनिषदों का तात्पर्य समझना बड़ा कठिन है; क्योंकि नाना भाष्यकारों ने अपने अपने मतानुसार उनकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। अन्त में जो स्वयं श्रुति के प्रेरक हैं, उन्हीं भगवान् ने आविर्भूत होकर गीता के प्रचारक रूप से श्रुति का अर्थ समझाया और आज भारत में उस व्याख्या-प्रणाली की जैसी आवश्यकता है, सारे संसार में इसकी जैसी आवश्यकता है, वैसी किसी और वस्तु की नहीं। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि परवर्ती शास्त्र-व्याख्याता गीता तक की व्याख्या करने में बहुधा भगवान् के वाक्यों का अर्थ और भाव-प्रवाह नहीं समझ सके। गीता में क्या है और आधुनिक भाष्यकारों में हम क्या देखते हैं? एक अद्वैतवादी भाष्यकार ने किसी उपनिषद् की व्याख्या की, जिसमें बहुत से द्वैतभाव के वाक्य हैं। उसने उनको तोड़-मरोड़कर कुछ अर्थ ग्रहण किया और उन सबका अपनी व्याख्या के अनुरूप मनमाना अर्थ लगा लिया। फिर द्वैतवादी भाष्यकार ने भी व्याख्या करनी चाही; उसमें अनेक अद्वैतमूलक अंश हैं, जिनकी खींचतान उसने उनसे द्वैतमूलक अर्थ ग्रहण करने के लिए की। परन्तु गीता में इस प्रकार के किसी अर्थ के बिगाडने की चेष्ट तुमको नहीं मिलेगी। भगवान् कहते हैं, ये सब सत्य हैं, जीवात्मा धीरे धीरे स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से अति सूक्ष्म सीढ़ियों पर चढ़ती जाती है, इस प्रकार क्रमशः वह उस चरम लक्ष्य अनन्त पूर्णस्वरूप को प्राप्त होती है। गीता में इसी भाव को समझाया गया है, यहाँ तक कि कर्मकांड भी गीता में स्वीकृत हुआ है और यह

दिखलाया गया है कि यद्यपि कर्मकांड साक्षात् मुक्ति का साधन नहीं है, किन्तु गौण भाव से मुक्ति का साधन है, तथापि वह सत्य है; मूर्ति-पूजा भी सत्य है, सब प्रकार के अनुष्ठान और क्रिया-कर्म भी सत्य हैं, केवल एक विषय पर ध्यान रखना होगा--वह है चित्त की शुद्धि। यदि हृदय शुद्ध और निष्कपट हो, तभी उपासना ठीक उतरती है और हमें चरम लक्ष्य तक पहुँचा देती है। ये विभिन्न उपासना-प्रणालियाँ सत्य हैं, क्योंकि यदि वे सत्य न होतीं, तो उनकी सृष्टि ही क्यों हुई? विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय कुछ पाखंडी एवं दुष्ट लोगों द्वारा नहीं बनाये गये हैं, और न उन्होंने धन के लोभ से इन धर्मों और सम्प्रदायों की सृष्टि की है, जैसा कि आधुनिक लोगों का मत है। बाह्य दृष्टि से उनकी व्याख्या कितनी ही युक्तियुक्त क्यों न प्रतीत हो, पर यह बात सत्य नहीं है, इनकी सृष्टि इस तरह नहीं हुई। जीवात्मा की स्वाभाविक आवश्यकता के लिए इन सबका अभ्युदय हुआ है। विभिन्न श्रेणियों के मनुष्यों की धर्म-पिपासा को परितृप्त करने के लिए इनका अभ्युदय हुआ है, इसलिए तुम्हें इनके विरुद्ध शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं। जिस दिन इनकी आवश्यकता नहीं रहेगी, उस दिन उस आवश्यकता के अभाव के साथ साथ इनका भी लोप हो जायगा। पर जब तक उनकी आवश्यकता रहेगी, तब तक तुम्हारी आलोचना और तुम्हारी शिक्षा के बावजूद ये अवश्य विद्यमान रहेंगे। तलवार और बन्दूक़ के ज़ोर से तुम संसार को खून में बहा सकते हो, किन्तु जब तक मूर्तियों की आवश्यकता रहेगी, तब तक मूर्ति-पूजा अवश्य रहेगी। ये विभिन्न अनुष्ठान-पद्धतियाँ और धर्म के विभिन्न सोपान अवश्य रहेंगे और हम भगवान् श्री कृष्ण के उपदेश से समझ सकते हैं कि इनकी क्या आवश्यकता है।

इसके बाद ही भारतीय इतिहास का एक शोकजनक अध्याय शुरू होता है। हम गीता में भी भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के विरोध के कोलाहल की दूर से आती हुई आवाज़ सुन पाते हैं, और देखते हैं कि समन्वय के वे अद्भुत प्रचारक भगवान् श्री कृष्ण बीच में पकड़कर विरोध को हटा रहे हैं। वे कहते हैं, सारा जगत् मुझमें उसी तरह गुँथा हुआ है, जिस तरह तागे में मणि गुँथी रहती है।'[१] साम्प्रदायिक झगड़ों की दूर से सुनायी देनेवाली धीमी आवाज़ हम तभी से सुन रहे हैं। सम्भव है कि भगवान् के उपदेश से ये झगड़े कुछ देर के लिए रुक गये हों तथा समन्वय और शान्ति का संचार हुआ हो, किन्तु यह

---

१. मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ गीता॥७।७॥

विरोध फिर उत्पन्न हुआ। केवल धर्ममत हीं पर नहीं, संभवतः वर्ण के आधार पर भी यह विवाद चलता रहा—हमारे समाज के दो प्रबल अंग ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों, राजाओं तथा पुरोहितों के बीच विवाद आरम्भ हुआ था। और एक हज़ार वर्ष तक जिस विशाल तरंग ने समग्र भारत को सराबोर कर दिया था, उसके सर्वोच्च शिखर पर एक और महामहिम मूर्ति को देखते हैं और वे हमारे शाक्यमुनि गौतम हैं। उनके उपदेशों और प्रचार-कार्य से तुम सभी अवगत हो। हम उनको ईश्वरावतार समझकर उनकी पूजा करते हैं, नैतिकता का इतना बड़ा निर्भीक प्रचारक संसार में और उत्पन्न नहीं हुआ, कर्मयोगियों में सर्वश्रेष्ठ स्वयं कृष्ण ही मानो शिष्यरूप से अपने उपदेश को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उत्पन्न हुए। पुनः वही वाणी सुनायी दी, जिसने गीता में शिक्षा दी थी, **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।**—'इस धर्म का थोड़ा सा अनुष्ठान करने पर भी महाभय से रक्षा होती है।'[1] **स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।**—'स्त्री, वैश्य और शद्र तक परमगति को प्राप्त होते हैं।'[2] गीता के वाक्य, श्री कृष्ण की वज्र के समान गम्भीर और महती वाणी, सबके बन्धन, सबकी शृंखला तोड़ देती है और सभी को उस परम पद पाने का अधिकारी कर देती है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

—'जिसका मन साम्य भाव में अवस्थित है, उन्होंने यहीं सारे संसार को जीत लिया है। ब्रह्म समस्वभाव और निर्दोष है, इसलिए वे ब्रह्म में ही अवस्थित हैं।'[3]

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

—'परमेश्वर को सर्वत्र तुल्य रूप से अवस्थित देखकर ज्ञानी आत्मा से आत्मा की हिंसा नहीं करता, इसलिए वह परमगति को प्राप्त होता है।'[4]

गीता के उपदेशों के जीते-जागते उदाहरणस्वरूप, गीता के उपदेशक दूसरे रूप में पुनः इस मर्त्य लोक में पधारे, जिससे जनता द्वारा उसका एक कण भी कार्यरूप में परिणत हो सके। ये ही शाक्यमुनि हैं। ये दीन-दुःखियों को उपदेश देने लगे। सर्वसाधारण के हृदय तक पहुँचने के लिए देवभाषा संस्कृत को भी छोड़

---

१. गीता ॥२।४०॥
२. गीता ॥९।३२॥
३. गीता ॥५।१९॥
४. गीता ॥१३।२८॥

ये लोकभाषा में उपदेश देने लगे। राजसिंहासन को त्याग कर ये दुःखी, ग़रीब, पतित, भिखमंगों के साथ रहने लगे। इन्होंने दूसरे राम के समान चांडाल को भी छाती से लगा लिया।

तुम सभी उनके महान् चरित्र और अद्भुत प्रचार-कार्य को जानते हो। किन्तु इस प्रचार-कार्य में एक भारी त्रुटि थी, जिसके लिए हम आज तक दुःख भोग रहे हैं। भगवान् बुद्ध का कुछ दोष नहीं है, उनका चरित्र परम विशुद्ध और उज्ज्वल है। खेद का विषय है कि बौद्ध धर्म के प्रचार से जो विभिन्न असभ्य और अशिक्षित जातियाँ धर्म में घुसने लगीं, वे बुद्धदेव के उच्च आदर्शों का ठीक अनुसरण न कर सकीं। इन जातियों में नाना प्रकार के कुसंस्कार और बीभत्स उपासना-पद्धतियाँ थीं, उनके झुंड के झुंड आर्यों के समाज में घुसने लगे। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ कि वे सभ्य बन गये, किन्तु एक ही शताब्दी में उन्होंने अपने सर्प, भूत-प्रेत आदि निकाल लिये, जिनकी उपासना उनके पूर्वज किया करते थे और इस प्रकार सारा भारत कुसंस्कारों का लीलाक्षेत्र बनकर घोर अवनति को पहुँचा। पहले बौद्ध प्राणिहिंसा की निन्दा करते हुए वैदिक यज्ञों के घोर विरोधी हो गये थे। उस समय घर घर इन यज्ञों का अनुष्ठान होता था। हर एक घर पर यज्ञ के लिए आग जलती थी––बस, उपासना के लिए और कुछ ठाट-बाट न था। बौद्ध धर्म के प्रचार से इन यज्ञों का लोप हो गया। उनकी जगह बड़े बड़े ऐश्वर्ययुक्त मन्दिर, भड़कीली अनुष्ठान-पद्धतियाँ, शानदार पुरोहित तथा वर्तमान काल में भारत में और जो कुछ दिखायी देता है, सबका आविर्भाव हुआ। कितने ही ऐसे आधुनिक पंडितों के, जिनसे अधिक ज्ञान की अपेक्षा की जाती है, ग्रन्थों को पढ़ने से यह विदित होता है कि बुद्ध ने ब्राह्मणों की मूर्ति-पूजा उठा दी थी। मुझे यह पढ़कर हँसी आ जाती है। वे नहीं जानते कि बौद्ध धर्म ही ने भारत में ब्राह्मण-धर्म और मूर्ति-पूजा की सृष्टि की थी।

एक ही दो वर्ष हुए, रूसनिवासी एक प्रतिष्ठित पुरुष ने एक पुस्तक प्रकाशित की। उसमें उन्होंने लिखा कि उन्हें ईसा मसीह के एक अद्भुत जीवन-चरित का पता लगा है। उसी पुस्तक में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि ईसा धर्म-शिक्षार्थ ब्राह्मणों के पास जगन्नाथ जी के मन्दिर में गये थे, किन्तु उनकी संकीर्णता और मूर्ति-पूजा से तग आकर वे वहाँ से तिब्बत के लामाओं के पास गये और वहाँ से सिद्ध होकर स्वदेश लौटे। जिन्हें भारत के इतिहास का थोड़ा भी ज्ञान है, वे इसी विवरण से जान सकते हैं कि पुस्तक में आद्योपान्त कैसा छल-प्रपंच भरा हुआ है, क्योंकि जगन्नाथ जी का मन्दिर तो एक प्राचीन बौद्ध मन्दिर है। हमने इसको एवं अन्यान्य बौद्ध मन्दिरों को हिन्दू मन्दिर बना लिया। इस प्रकार के कार्य हमें इस समय भी बहुत

करने पड़ेंगे। यही जगन्नाथ का इतिहास है और उस समय वहाँ एक भी ब्राह्मण न था, फिर भी कहा जा रहा है कि ईसा मसीह वहाँ ब्राह्मणों से उपदेश लेने के लिए गये थे। हमारे दिग्गज रूसी पुरातत्त्ववेत्ता की ऐसी ही राय है।

इस प्रकार प्राणिमात्र के प्रति दया की शिक्षा, अपूर्व आचारनिष्ठ धर्म और नित्य आत्मा के अस्तित्व या अनस्तित्व सम्बन्धी बाल की खाल निकालनेवाले विचारों के होते हुए भी समग्र बौद्ध धर्मरूपी प्रासाद चूर चूर होकर गिर गया और उसका खँडहर बड़ा ही बीभत्स है। बौद्ध धर्म की अवनति से जिन घृणित आचारों का आविर्भाव हुआ, उनका वर्णन करने के लिए मेरे पास न समय है, न इच्छा ही। अति कुत्सित अनुष्ठान-पद्धतियाँ, अत्यन्त भयानक और अश्लील ग्रन्थ—जो मनुष्यों द्वारा न तो कभी लिखे गये थे, और न मनुष्य ने जिनकी कभी कल्पना तक की थी, अत्यन्त भीषण पाशव अनुष्ठान-पद्धतियाँ, जो और कभी धर्म के नाम से प्रचलित नहीं हुई थीं—ये सभी गिरे हुए बौद्ध धर्म की सृष्टि हैं।

परन्तु भारत को जीवित रहना ही था, इसीलिए पुनः भगवान् का आविर्भाव हुआ। जिन्होंने कहा था, "जब कभी धर्म की हानि होती है, तभी मैं आता हूँ"—वे फिर से आये। इस बार दक्षिण देश में भगवान् का आविर्भाव हुआ। उस ब्राह्मण युवक का, जिसके बारे में कहा गया है कि उसने सोलह वर्ष की उम्र में ही अपनी सारी ग्रन्थ-रचना समाप्त की थी, उसी अद्भुत प्रतिभाशाली शंकराचार्य का अभ्युदय हुआ। इस सोलह वर्ष के बालक के लेखों से आधुनिक सभ्य संसार विस्मित हो रहा है, वह अद्भुत बालक था। उसने संकल्प किया था कि समग्र भारत को उसके प्राचीन विशुद्ध मार्ग में ले जाऊँगा। पर यह कार्य कितना कठिन और विशाल था, इसका विचार भी करो। उस समय भारत की जैसी अवस्था थी, इसका भी तुम लोगों को दिग्दर्शन कराता हूँ। जिन भीषण आचारों का सुधार करने को तुम लोग अग्रसर हो रहे हो, वे उसी अधःपतन के युग के फल हैं। तातार, बलूची आदि भयानक जातियों के लोग भारत में आकर बौद्ध बने और हमारे साथ मिल गये। अपने राष्ट्रीय आचारों को भी वे साथ लाये। इस तरह हमारा राष्ट्रीय जीवन अत्यन्त भयानक पाशव आचारों से भर गया। उक्त ब्राह्मण युवक को बौद्धों से विरासत में यही मिला था और उसी समय से अब तक भारत भर में इसी अधःपतित बौद्ध धर्म पर वेदान्त की पुनर्विजय का कार्य सम्पन्न हो रहा है। अब भी काम जारी है, अब भी उसका अन्त नहीं हुआ। महादार्शनिक शंकर ने आकर दिखलाया कि बौद्ध धर्म और वेदान्त के सारांश में विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु उनके शिष्य अपने आचार्य के उपदेशों का मर्म न समझ हीन हो गये और आत्मा तथा ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करके नास्तिक हो गये। शंकर ने यही दिखलाया और तब सभी

बौद्ध अपने प्राचीन धर्म का अवलम्बन करने लगे। पर वे उन अनुष्ठानों के आदी बन गये थे। इन अनुष्ठानों के लिए क्या किया जाय, यह कठिन समस्या उठ खड़ी हुई।

तब मतिमान रामानुज का अभ्युदय हुआ। शंकर की प्रतिभा प्रखर थी, किन्तु उनका हृदय रामानुज के समान उदार नहीं था। रामानुज का हृदय शंकर की अपेक्षा अधिक विशाल था। उन्होंने पददलितों की पीड़ा का अनुभव किया और उनसे सहानुभूति की। उस समय की प्रचलित अनुष्ठान-पद्धतियों में उन्होंने यथाशक्ति सुधार किया और नयी अनुष्ठान-पद्धतियों, नयी उपासना-प्रणालियों की सृष्टि उन लोगों के लिए की, जिनके लिए ये अत्यावश्यक थीं। इसीके साथ साथ उन्होंने ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सबके लिए सर्वोच्च आध्यात्मिक उपासना का द्वार खोल दिया। यह था रामानुज का कार्य! उनके कार्य का प्रभाव चारों ओर फैलने लगा, उत्तर भारत तक उसका प्रसार हुआ; वहाँ भी कई आचार्य इसी तरह कार्य करने लगे; किन्तु यह बहुत देर में, मुसलमानों के शासन-काल में हुआ। उत्तर भारत के इन अपेक्षाकृत आधुनिक आचार्यों में से चैतन्य सर्वश्रेष्ठ थे। रामानुज के समय से धर्म-प्रचार की एक विशेषता की ओर ध्यान दो—तब से धर्म का द्वार सर्वसाधारण के लिए खुला रहा। शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों का यह जैसा मलमन्त्र था, रामानुज के परवर्ती आचार्यों का भी यह वैसा ही मूलमन्त्र रहा। मैं नहीं जानता कि लोग शंकर को अनुदार मत के पोषक क्यों कहते हैं। उनके लिखे ग्रन्थों में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता, जो उनकी संकीर्णता का परिचय दे। जिस तरह भगवान् बुद्धदेव के उपदेश उनके शिष्यों के हाथ बिगड़ गये हैं, उसी तरह शंकराचार्य के उपदेशों पर संकीर्णता का जो दोष लगाया जाता है, सम्भवतः वह उनकी शिक्षा के कारण नहीं, वरन् उनके शिष्यों की अयोग्यता के कारण है। उत्तर भारत के महान् सन्त चैतन्य गोपियों के प्रेमोन्मत्त भाव के प्रतिनिधि थे। चैतन्यदेव स्वयं एक ब्राह्मण थे, उस समय के एक प्रसिद्ध नैयायिक वंश में उनका जन्म हुआ था। वे न्याय के अध्यापक थे, तर्क द्वारा सबको परास्त करते थे—यही उन्होंने बचपन से जीवन का उच्चतम आदर्श समझ रखा था। किसी महापुरुष की कृपा से इनका सम्पूर्ण जीवन बदल गया; तब इन्होंने वाद-विवाद, तर्क, न्याय का अध्यापन, सब कुछ छोड़ दिया। संसार में भक्ति के जितने बड़े बड़े आचार्य हुए हैं, प्रेमोन्मत्त चैतन्य उनमें से एक श्रेष्ठ आचार्य हैं। उनकी भक्ति-तरंग सारे बंगाल में फैल गयी, जिससे सबके हृदय को शांति मिली। उनके प्रेम की सीमा न थी। साधु, असाधु, हिन्दू, मुसलमान, पवित्र, अपवित्र, वेश्या, पतित—सभी उनके प्रेम के भागी थे, वे सब पर दया रखते थे। यद्यपि काल के प्रभाव से सभी

अवनति को प्राप्त होते हैं और उनका चलाया हुआ सम्प्रदाय घोर अवनति की दशा को पहुँच गया है। फिर भी आज तक वह दरिद्र, दुर्बल, जातिच्युत, पतित, किसी भी समाज में जिनका स्थान नहीं है, ऐसे लोगों का आश्रयस्थान है। परन्तु साथ ही सत्य के लिए मुझे स्वीकार करना ही होगा कि दार्शनिक सम्प्रदायों में ही हम अद्भुत उदार भाव देखते हैं। शंकर-मतावलम्बी कोई भी यह बात स्वीकार नहीं करेगा कि भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में वास्तव में कोई भेद है, किन्तु जाति-भेद के विषय में शंकर अत्यन्त संकीर्णता का भाव रखते थे। इसके विपरीत, प्रत्येक वैष्णवाचार्य में हम जातिविषयक प्रश्नों की शिक्षा के बारे में अद्भुत उदारता देखते हैं, जब कि उनमें धार्मिक प्रश्नों के विषय में अत्यन्त संकीर्णता पाते हैं।

एक का था अद्भुत मस्तिष्क, दूसरे का था विशाल हृदय। अब एक ऐसे अद्भुत पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, जिसमें ऐसा ही हृदय और मस्तिष्क, दोनों एक साथ विराजमान हों, जो शंकर के प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क एवं चैतन्य के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय का एक ही साथ अधिकारी हो, जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से चालित हो रहे हैं और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिसका हृदय भारत में अथवा भारत के बाहर दरिद्र, दुर्बल, पतित सबके लिए द्रवित हो, लेकिन साथ ही जिसकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वों की परिकल्पना करे, जिनसे भारत में अथवा भारत के बाहर सब विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौम धर्म को प्रकट करे। एक ऐसे ही पुरुष ने जन्म ग्रहण किया और मैंने वर्षों तक उनके चरणों तले बैठकर शिक्षा-लाभ का सौभाग्य प्राप्त किया। ऐसे एक पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, इसकी आवश्यकता पड़ी थी, और वह उत्पन्न हुआ। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि उसका समग्र जीवन एक ऐसे शहर के पास व्यतीत हुआ, जो पाश्चात्य भावों से उन्मत्त हो रहा था, जो भारत के सब शहरों की अपेक्षा विदेशी भावों से अधिक भरा हुआ था। वहाँ पुस्तकीय ज्ञान से हर प्रकार से अनभिज्ञ वह रहता था, यह महाप्रतिभासम्पन्न व्यक्ति अपना नाम तक लिखना नहीं जानता था।[1] किन्तु हमारे विश्वविद्यालय के बड़े बड़े अत्यन्त प्रतिभावान स्नातकों ने उनको एक महान् बौद्धिक प्रतिभा के रूप में स्वीकार किया। वे अद्भुत महापुरुष थे—श्री रामकृष्ण परमहंस। यह तो एक बड़ी लम्बी कहानी है; आज रात को तुम्हें उनके विषय में कुछ भी बताने का समय नहीं है। इसलिए

---

१. सामान्यतः यह प्रचलित है कि वे बिल्कुल निरक्षर थे, पर बाद में अनुसंधान से पता चला कि वे थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना भी जानते थे। स०

मुझे भारतीय सब महापुरुषों के पूर्णप्रकाशस्वरूप, युगाचार्य श्री रामकृष्ण का उल्लेख भर करके आज समाप्त करना होगा। उनके उपदेश आजकल हमारे लिए विशेष कल्याणकारी हैं। उनमें जो ईश्वरीय शक्ति थी, उस पर विशेष ध्यान दो। वे एक दरिद्र ब्राह्मण के लड़के थे। उनका जन्म बंगाल के सुदूर, अज्ञात, अपरिचित किसी एक गाँव में हुआ था। आज यूरोप, अमेरिका के सहस्रों व्यक्ति वास्तव में उनकी पूजा कर रहे हैं, भविष्य में और भी सहस्रों मनुष्य उनकी पूजा करेंगे। ईश्वर की लीला कौन समझ सकता है?

भाइयो, तुम यदि इसमें विधाता का हाथ नहीं देखते, तो अन्धे हो, सचमुच जन्मान्ध हो। यदि समय मिला, यदि दूसरा अवसर मिल सका, तो इनके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक कहूँगा। इस समय केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि यदि मैंने जीवन भर एक भी सत्य शब्द कहा है, तो वह उन्हींका, केवल उनका ही शब्द है; पर यदि मैंने ऐसे शब्द कहे हैं, जो असत्य, भ्रमपूर्ण अथवा मानव जाति के लिए हितकारी न हों, तो वे सब मेरे ही शब्द हैं और उनके लिए पूरा उत्तरदायी मैं ही हूँ।

ईशदूत ईसा

(१९०० ई० लॉस एंजिलिस, कैलिफ़ोर्निया में दिया गया भाषण)

तरंग उठती है, वहाँ उसके पीछे एक गर्त भी होता है। उच्च तरंग उठती है, और विलीन होती है। फिर एक प्रबलतर तरंग उठती है, मुहूर्त मात्र में उसका पतन होता है और पुनः उत्थान भी। इसी प्रकार तरंग पर तरंग सागर के वक्ष पर अग्रसर होती रहती है। विश्व के घटना-प्रवाह में भी निरन्तर इसी प्रकार का उत्थान और पतन होता रहता है, किन्तु हमारा ध्यान केवल उत्थान की ओर जाता है, हमें पतन का विस्मरण हो जाता है। पर विश्व की गति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं——दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। यही विश्व-प्रवाह की रीति है। हमारे मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जगत् में सर्वत्र यही क्रमगति, यही उत्थान-पतन चल रहा है। उसी प्रकार विश्व-प्रवाह में उच्चतम कार्य, उदार आदर्श समय समय पर जन्म लेते हैं और जनसमूह की दृष्टि आकृष्ट कर विलीन हो जाते हैं—मानो वे अतीत के भावों का परिपाक कर रहे हों, मानो प्राचीन आदर्शों का रोमन्थन करने को वे अदृश्य हो गये हों, जिससे पुनः एक प्रबल एवं उच्चतर उत्थान के लिए वे शक्तिसंचय और समायोजन कर लें।

दुनिया के राष्ट्रों का इतिहास भी सदा ऐसा ही रहा। इस महान् आत्मा का, इस ईशदूत ईसा का, जिसकी जीवन-गाथा पर आज विवेचन किया जायगा, अपनी जाति के इतिहास के एक ऐसे युग में आविर्भाव हुआ था, जिसे पतन-काल कहने में अत्युक्ति न होगी। उनके उपदेश और कार्यकलाप के किंचित् लिपिबद्ध विवेचनों की हमें यत्र-तत्र कुछ झलक मात्र ही मिलती है; यह सच ही कहा गया है कि उस महापुरुष के उपदेश और कार्यों की सब गाथाएं यदि लिपिबद्ध की जातीं, तो सारा विश्व उनसे व्याप्त हो जाता। उनके धर्म-प्रचार-काल के तीन वर्ष तो मानो एक घनीभूत युग के सदृश थे, जिसके प्रस्फुटन में पूरी उन्नीस शताब्दियाँ लग गयी हैं, और न जाने कितनी और लगेंगी! मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जन केवल अल्प मात्र शक्ति के वाहक हैं। कुछ क्षण, कुछ घटिकाएं, कतिपय मास, ज्यादा से ज्यादा कुछ वर्ष, बस ये उस अल्प शक्ति के व्यय के लिए, उसके पूर्ण प्रसार और अधिकतम विकास

के लिए पर्याप्त हैं, और उसके बाद हम सदा के लिए चल बसते हैं। किन्तु हमारे अवतीर्ण होनेवाले इस असाधारण पुरुष की ओर ज़रा देखो। कई शताब्दियाँ बीत गयीं, किन्तु वे जगत् में जिस शक्ति का संचार कर गये, उसका प्रसार-कार्य अभी तक रुका नहीं, उसका पूर्ण व्यय अभी तक हुआ नहीं। ज्यों ज्यों युग पर युग बीतते जा रहे हैं, त्यों त्यों वह नूतन बल से बलवती होती जा रही है।

आज हम ईसा की जीवनी में सम्पूर्ण अतीत का इतिहास देखते हैं। वैसे तो हर सामान्य मानव का जीवन भी उसके अतीत भावसमूह का इतिहास ही है। समूची जाति का यह अतीत भावसमूह प्रत्येक व्यक्ति में आनुवंशिकता, वातावरण, शिक्षा एवं पूर्व जन्म के संस्कारों द्वारा आता ही रहता है। एक प्रकार से इस पृथ्वी का, सम्पूर्ण विश्व का अतीत हर जीवात्मा पर अंकित है। हमारा आज का वर्तमान रूप उस अनन्त अतीत के एक कार्य और फल के अतिरिक्त और क्या है? अनन्त घटना-प्रवाह में अनिवार्यता अविराम रूप से अग्रसर होनेवाली, स्थिर रहने में असमर्थ, छोटी छोटी उर्मियों के अतिरिक्त हम और क्या हैं? किन्तु मैं और तुम केवल क्षुद्र वस्तुएँ, बुलबुले मात्र हैं। विश्व-व्यापार के महासागर में कुछ विशाल तरंगें रहती ही हैं। मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जनों में जाति के अतीत जीवन का अत्यल्प अंश ही व्यक्त होता है। किन्तु ऐसे शक्तिसम्पन्न महापुरुष भी होते हैं, जो प्रायः सम्पूर्ण अतीत के साकार रूप होते हैं, और जो मानो अपनी दीर्घ प्रसारित बाहुओं से सुदूर भविष्य की सीमाओं को भी स्पर्श करते रहते हैं। ये महापुरुष मानव-जाति के उन्नति-पथ पर यत्र-तत्र स्थापित मार्ग-दर्शक स्तम्भों के समान हैं। वे सचमुच इतने महान् हैं कि उनकी छाया मानो समस्त पृथ्वी को आच्छन्न कर लेती है; वे अमर, अनन्त और अविनाशी हैं। इसी महापुरुष ने कहा है, 'किसी भी व्यक्ति ने ईश्वर-पुत्र के माध्यम बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है।' और यह कथन अक्षरशः सत्य है। ईश्वर-पुत्र के अतिरिक्त हम ईश्वर को और कहाँ देखेंगे? यह सच है कि मुझमें और तुममें, हममें से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति में भी परमेश्वर विद्यमान है, उसका प्रतिबिम्ब मौजूद है। प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसका स्पन्दन सर्वव्यापी है, किन्तु उसे देखने के लिए दीप जलाने की आवश्यकता होती है। जगत् का सर्वव्यापी ईश भी तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता, जब तक ये महान् शक्तिशाली दीपक, ये ईशदूत, ये उसके सन्देशवाहक और अवतार, ये नर-नारायण उसे अपने में प्रतिबिम्बित नहीं करते।

हम सबको ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है, फिर भी हम उसे देख नहीं पाते, उसे समझ नहीं पाते। ईश्वर के इन सब महान् ज्ञानज्योति से सम्पन्न अग्रदूतों में से तुम किसी एक की ही जीवन-कथा लो और ईश्वर की जो उच्चतम भावना तुमने

हृदय में धारण की है, उससे उसके चरित्र की तुलना करो। तुमको प्रतीत होगा कि इन जीवित और जाज्वल्यमान आदर्श महापुरुषों के चरित्र की अपेक्षा तुम्हारी भावनाओं का ईश्वर अनेकांश में हीन है; ईश्वर के अवतार का चरित्र तुम्हारे कल्पित ईश्वर की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च है। आदर्श के विग्रहस्वरूप इन महापुरुषों ने ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर, अपने महान् जीवन का जो आदर्श, जो दृष्टांत हमारे सम्मुख रखा है, ईश्वरत्व की उससे उच्च भावना धारण करना असम्भव है। इसलिए यदि कोई इनकी ईश्वर के समान अर्चना करने लगे, तो इसमें क्या अनौचित्य है? इन नर-नारायणों के चरणों में गिरकर यदि कोई उनकी भूमि पर अवतीर्ण ईश्वर के समान पूजा करने लगे, तो क्या पाप है? यदि उनका जीवन हमारे ईश्वरत्व के उच्चतम आदर्श से भी उच्च है, तो उनकी पूजा करने में क्या दोष? दोष की बात तो दूर रही, ईश्वरोपासना की केवल यही एक विधि सम्भव है। तुम कितना ही प्रयत्न करो, पुनः पुनः सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर मनन करो, पर जब तक तुम इस मानव जगत् में, मानव देह में अवस्थित हो, नर-भावापन्न हो, तब तक तुम्हारा विश्व मानवीय होगा, तुम्हारा धर्म मानवीय होगा और तुम्हारा ईश्वर भी मानवीय होगा। उसका अन्यथा होना असम्भव है। कौन इतना निर्बुद्धि है, जो प्रत्यक्ष साक्षात् वस्तु का ग्रहण न कर, कल्पनाओं के पीछे दौड़ता फिरेगा, उन भावनाओं के साक्षात्कार के लिए खाक छानता फिरेगा, जिनकी धारणा करना भी कठिन है। और जिन तक किसी स्थूल माध्यम की सहायता बिना पहुँचना सर्वथा असम्भव है! इसीलिए ईश्वर के इन अवतारों की सभी युगों तथा सभी देशों में पूजा होती रही है।

अब हम यहूदियों के पैग़म्बर, ईसा मसीह के जीवन का कुछ विवेचन करेंगे। विविध जातियों के इतिहास में हमें उत्थान और पतन का क्रम दृष्टिगत होता है। ईसा का जन्म एक ऐसे युग में हुआ, जिसे हम यहूदी जाति का पतन-काल कह सकते हैं—एक ऐसा युग, जब मानवीय मस्तिष्क कुछ समय के लिए अग्रसर होने से थक जाता है और पूर्व अर्जित की रक्षा में ही व्यस्त रहता है; एक ऐसी अवस्था जब विवरणों, विस्तारों पर महान्, व्यापक तथा उच्च जीवन की समस्याओं की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाने लगता है; एक उन्नतिशील की अपेक्षा रुकावट की अवस्था; कार्यशीलता की अपेक्षा उत्पीड़न की अवस्था—यह दो तरंगों के उत्थान के बीच की पतनावस्था के समान ही थी। ध्यान रहे कि मैं इस अवस्था में कोई दोष नहीं देखता। हमें इसकी निन्दा करने का कोई अधिकार नहीं; क्योंकि यदि यहूदी जाति के इतिहास में यह अवस्था न आती, तो इसके परवर्ती उत्थान की—जिसके कि नाज़रथवासी ईसा-मूर्त स्वरूप थे—कोई सम्भावना न रहती। भले ही

फैरिसी[1] एवं सैड्युसी[2] लोग कपटशील रहे हों, ऐसे कार्यों में रत रहे हों, जो उन्हें नहीं करने चाहिए थे, किन्तु उनके इन्हीं कार्यों का परिणाम ईसा है। फैरिसी और सैड्युसी एक छोर पर वह प्रेरणा हैं, जो दूसरे छोर पर नाज़रथ-निवासी महामनीषी ईसा के विराट् मस्तिष्क के रूप में प्रकट हुईं।

बाह्य धार्मिक क्रियाकलापों, रीतियों तथा छोटे छोटे विवरणों का प्रायः उपहास किया जाता है, किन्तु उनमें एक शक्ति निहित रहती है। प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए जल्दबाज़ी करने से हम बहुधा अपनी धर्म-शक्ति खो बैठते हैं। देखा जाता है कि साधारणतः उदारमना व्यक्ति की अपेक्षा धर्मान्ध व्यक्ति का मनोबल अधिक होता है। इसलिए धर्मान्ध पुरुष में भी एक बड़ा गुण है। वह अपने में मानो महान् शक्ति-राशि संचित रखता है। व्यक्ति के समान जाति में भी इसी प्रकार शक्ति-संचय होता है। चारों ओर बाह्य शत्रुओं से घिरी हुई, रोमन् जाति के पराक्रम से प्रताड़ित हो एक केन्द्र में सन्निबद्ध, बौद्धिक जगत् में यूनानी भाव-समूह द्वारा तथा फ़ारस, भारत एवं अलेक्ज़ेन्ड्रिया से आनेवाली भाव-लहरियों से विताड़ित यह जाति प्रबल मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक शक्तियों से परिवेष्टित होने के कारण प्रचण्ड, स्वाभाविक एवं स्थितिशील शक्ति का आगार हो गयी, जो अब भी उसके वंशधरों में लुप्त नहीं हुई है। बाध्य होकर इस जाति को अपनी सम्पूर्ण शक्ति जरुसलेम और यहूदी धर्म पर केन्द्रित करनी पड़ी, और शक्ति की यह प्रकृति है कि एक बार संचित होने पर फिर वह एक स्थान में अधिक समय तक नहीं रह सकती; वह अपना प्रसार कर अपने को निःशेष करने लगती है। पृथ्वी में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो दीर्घ काल तक एक सीमित स्थान में बन्दी बनायी जा सके। यह कहकर कि सुदूर भविष्य में उसका प्रसार हो जायगा, उसे एक स्थान में अति दीर्घ काल तक संकुचित रखना असम्भव है।

यहूदी जाति की यह केन्द्रित शक्ति भी परवर्ती युग में ईसाई धर्म के उत्थान के रूप में प्रकट हुई। विभिन्न दिशाओं से आनेवाले क्षुद्र स्रोतों ने मिल मिलकर एक स्रोतस्विनी का निर्माण किया और क्रमशः उन्होंने एक तरंगशालिनी, वेगवती महानदी का रूप धारण कर लिया। इसी विशाल प्रवाह की उच्च तरंग के शिखर

---

१. फैरिसी (Pharisee)—इस धर्म-सम्प्रदाय का ईसा मसीह के आविर्भाव के समय अस्तित्व था। इस सम्प्रदाय के लोग धर्म के यथार्थ तत्त्व की अपेक्षा बाह्य अनुष्ठानों को ही अधिक महत्त्व देते थे।

२. सैड्युसी (Sadducee)—इसी समय का एक यहूदी सम्प्रदाय। ये अभिजात वंश के और सन्देहवादी थे।

पर हम नाज़रथ-निवासी ईसा को अधिष्ठित पाते हैं। इस प्रकार सभी महापुरुष अपने युग के घटनाचक्र के परिणाम या कार्यस्वरूप हैं, उनकी जाति का अतीत ही उनका निर्माण करता है, किन्तु वे स्वयं अपनी जाति के भविष्य का सर्जन करते हैं। आज का कार्य अपने पूर्ववर्ती कारणसमूह का फल और भावी कार्य का कारण है। इसी स्थिति में ईशदूत आते हैं। ईसा मसीह उस सबके साकारस्वरूप हैं, जो उनकी जाति में श्रेष्ठ और उच्च है; जाति के उस जीवनोद्देश्य के मूर्तरूप हैं, जिसकी सिद्धि के लिए जाति ने शत शत युगों तक संघर्ष किया है, और वे स्वयं केवल अपनी ही जाति के नहीं, अपितु असंख्य जातियों के भावी जीवन के शक्ति-स्रोत हैं।

और एक बात हमें यहाँ स्मरण रखनी चाहिए: इस महान् पैग़म्बर पर मेरा विवेचन प्राच्य दृष्टिकोण से होगा। प्रायः तुम यह भी भूल जाते हो कि ईसा प्राच्य-देशीय थे। ईसा को नील चक्षुओं और पीत केशों के साथ चित्रित करने के तुम्हारे प्रयत्नों के बावजूद ईसा की प्राच्यदेशीयता में कोई अन्तर नहीं आता। बाइबिल में प्रयुक्त उपमा तथा रूपक, उसमें वर्णित स्थान तथा दृश्य, उसका दृष्टिकोण, उसके रहस्यमय काव्य एवं चरित्र-चित्रण, उसके प्रतीक, ये सब प्राच्य का ही तो संकेत करते हैं। उसमें वर्णित नीला चमकीला आकाश, ग्रीष्म का उत्ताप, प्रखर रवि, तृषार्त नर-नारी तथा खग-मृग, सिर पर घड़े लेकर जल भरने कुओं पर जाते हुए किसान, मेघदल तथा कृषि-कार्य, पनचक्की और उसके समीपवर्ती सरोवरादि-- ये सब केवल एशिया ही में तो दिखायी पड़ते हैं।

एशिया की आवाज़ सदैव धर्म की आवाज़ रही है। और यूरोप सदैव राजनीति की भाषा बोलता रहा है। अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही महान् हैं। यूरोप की यह बोली प्राचीन यूनानी विचारों की प्रतिध्वनि मात्र है। यूनानी अपने समाज को ही सर्वस्व और सर्वोच्च मानते थे। उनकी दृष्टि में अन्य सब बर्बर और असभ्य थे, उनके सिवाय इतरों को जीवित रहने का अधिकार नहीं था। उनके मत में वे स्वयं जो करते थे, वही कर्तव्य था, वही श्रेष्ठ था; संसार में अन्य जो कुछ है, वह ग़लत है और उसको नष्ट कर देना चाहिए। अतः वे अपनी भावनाओं में प्रखर मानवतावादी, प्रखर प्रकृतिपरक और प्रखर कलाप्रिय हैं। यूनानी पूर्णतया इसी लोक में जीता है। वह स्वप्न देखना नहीं चाहता। उसका काव्य भी व्यावहारिक है। उसके देवी-देवता केवल मानव प्राणी ही नहीं हैं, वरन् हमारी ही तरह सभी मानवीय आवेगों और भावनाओं से युक्त प्रखर मानव हैं। यूनानी सौन्दर्य से प्रेम करता है, किन्तु वह सौन्दर्य बाह्य प्रकृति का है: शैलराज की शुभ्र हिमराशि का, पुष्पों का, रूप और आकार का, मानवीय मुख एवं उसकी सुघड़ता और प्रायः मानवीय आकृति के सौन्दर्य तक ही सीमित है। यही यूनान परवर्ती यूरोप का आचार्य था,

और इसीलिए आज के यूरोप की वाणी यूनान की वाणी की एक प्रतिध्वनि मात्र है।

एशिया की आवाज़ इससे भिन्न है। एशियावासियों की प्रकृति कुछ और है। उस प्रकाण्ड भूमिखण्ड, उस विशाल महादेश की ज़रा कल्पना तो करो, जिसके शैल-शिखर बादलों को चीरकर आकाश की नीलिमा को चूमते रहते हैं; जिसके अंक में एक ओर अनन्त बालुकाराशि पड़ी है, जिसमें एक बूंद भी पानी मिलना असम्भव है, कोसों तक एक हरित तृण के दर्शन होना भी दुर्लभ है, और दूसरी ओर अनन्त वन एवं महानदियाँ अठखेलियाँ करती समुद्र की ओर बहती जाती हैं। इस परिवेश में एशियावासियों का सौन्दर्य एवं उदात्त के प्रति प्रेम बिलकुल भिन्न दिशा में विकसित हुआ। बहिर्दृष्टि त्यागकर वे अन्तर्दृष्टिपरायण हो गये। उनमें भी प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए वही पिपासा है, शक्ति के लिए वही भूख है, यूनानियों के समान उनमें भी इतरों को असभ्य तथा वर्बर समझने की प्रवृत्ति है, उन्नति की आकांक्षा है, किन्तु उनके इन भावों की परिधि विशाल और विस्तृत है। एशिया में आज भी जन्म, वर्ण या भाषा के भेद पर जातियों का संघटन आधारित नहीं है। जाति का निर्णायक उसका धर्म है। इस प्रकार सब ईसाइयों की जाति एक होगी, सब मुसलमान एक ही जाति के होंगे और इसी प्रकार सब बौद्ध तथा हिन्दू भी एक एक जाति के होंगे। चीन-निवासी एक बौद्ध फ़ारस में रहनेवाले दूसरे बौद्ध को अपना भाई मानता है, अपनी ही जाति का अंग समझता है—केवल इसीलिए कि उन दोनों का धर्म एक है। धर्म ही मानव-जाति को एक सूत्र में बांधता है, वही एक सम्मिलन-भूमि है। इसी कारण एशियावासी, ये प्राची के निवासी जन्मजात कल्पनाप्रिय होते हैं, स्वप्नद्रष्टा होते हैं। जलप्रपातों पर नाचती हुई लहरियाँ, खगकुल का कलरव, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों तथा निसर्ग आदि का सौन्दर्य उन्हें मनोरम प्रतीत होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु प्राच्य मन के लिए यह पर्याप्त नहीं है। वह इनसे परे का स्वप्न देखना चाहता है। वर्तमान के परे जाना चाहता है। वर्तमान उसके लिए नहीं जैसा है। युगों से प्राची कई जातियों के जीवन का रंगमंच रही है, उसने न मालूम नियति-चक्र के कितने परिवर्तन देखे हैं। उसने एक राज्य के बाद दूसरे राज्य को, एक साम्राज्य के बाद दूसरे साम्राज्य को अभ्युदित होते, उठते और फिर गिरकर मिट्टी में मिलते देखा है; मानवीय शक्ति, प्रभुत्व, ऐश्वर्य और धनराशि को अपने क़दमों में लुढ़कते और निछावर होते देखा है। अनन्त विद्या, असीम शक्ति तथा अनेकानेक साम्राज्यों की विशाल समाधि-भूमि—यह है प्राच्य भूमि का परिचय। कोई आश्चर्य नहीं, यदि प्राची के निवासी इहलोक की वस्तुओं को तिरस्कार के साथ देखें और स्वभावतः किसी ऐसी वस्तु के दर्शन की चिर अभि-

लाषा उनके हृदय में अंकुरित हो जाय, जो अपरिवर्तनशील हो, जो अविनाशी हो, जो इस विनाशशील एवं दुःखपूर्ण जगत् में अमर तथा नित्य आनन्दपूर्ण हो। प्राची के महापुरुष इन आदर्शों की घोषणा करते कभी नहीं थकते—और जहाँ तक महापुरुषों तथा अवतारों का प्रश्न है, तुमको स्मरण होगा कि उनमें सभी, बिना किसी अपवाद के, प्राच्यदेशीय हैं।

इसलिए हम अपने आलोच्य महापुरुष, जीवन के इस दिव्य सन्देशवाहक के जीवन का मूलमन्त्र यही पाते हैं कि 'यह जीवन कुछ नहीं है, इससे भी उच्च कुछ और है।' और सच्चे प्राची-पुत्र की भाँति वह इसमें अत्यन्त व्यावहारिक भी है। पाश्चात्य देशों के निवासी भी अपने कार्यक्षेत्र में—सामरिक, राजनीतिक आदि कार्यों के संचालन में अपनी दक्षता तथा व्यावहारिकता का परिचय देते हैं। शायद, पूर्व का निवासी इन सब कार्यों में इतना व्यावहारिक नहीं है, किन्तु अपने निजी क्षेत्र में वह भी कार्यदक्ष है—अपने धर्म में वह व्यावहारिक है। यदि वह आज किसी दर्शन का प्रचार करता है, तो देखा जायगा कि कल ही सैकड़ों नर-नारी अपने जीवन में उसकी उपलब्धि करने का जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं। यदि कोई व्यक्ति उपदेश करता है कि एक पैर पर खड़े रहने से मुक्ति सम्भव है, तो उसे अल्प काल में ही एक पैर पर खड़े रहनेवाले सैकड़ों अनुयायी मिल जायँगे। शायद तुम इसे हास्यास्पद समझते हो, किन्तु तुम यह स्मरण रखो कि इसके पीछे उनके जीवन का यह मूलमन्त्र, उनका यह दर्शन विद्यमान है कि धर्म केवल विचार तथा मनन की वस्तु नहीं, जीवन में उसकी उपलब्धि एवं परिणति की जानी चाहिए। पाश्चात्य देशों में मुक्ति के जो विविध उपाय निर्दिष्ट किये जाते हैं, वे केवल बौद्धिक कलाबाजियाँ मात्र हैं और कभी भी उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। पश्चिम में जो प्रचारक अच्छा वक्ता है, वही श्रेष्ठ धर्मोपदेष्टा मान लिया जाता है।

अतएव, हम देखते हैं कि प्राची के सच्चे पुत्र नाज़रथ-निवासी ईसा धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक थे। उन्हें इस नश्वर जगत् तथा उसके क्षणभंगुर ऐश्वर्य में विश्वास नहीं था। शास्त्र-वाक्यों को तोड़-मरोड़कर व्याख्या करने की, जो कि आजकल पाश्चात्य देशों में प्रथा सी हो गयी है, कोई आवश्यकता नहीं। शास्त्र-वाक्य कोई रबर-से लचीले नहीं हैं कि उन्हें जिधर चाहो उधर खींच लो और मरोड़ लो। और फिर खींचने-मरोड़ने की भी तो सीमा है! शास्त्रों का जो अर्थ नहीं है, वह कितनी भी खींचातानी करने पर भी कैसे निकलेगा? धर्म को वर्तमान इन्द्रिय-सर्वस्व का समर्थक बनाना बन्द कर देना चाहिए। कम से कम हमें अपने प्रति तो सच्चे तथा अकपटी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम आदर्श

का अनुगमन नहीं कर सकते, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लें, पर उसे हीन न बनायें, उसे उसके उच्च धरातल से न गिरायें। पश्चिम के लोग, ईसा के चरित्र पर जो नित्य नये नये और विभिन्न विवेचन प्रकाशित कर रहे हैं, उनसे हृदय अवसन्न हो जाता है। इन वर्णनों से इस बात का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं होता कि ईसा क्या थे और क्या नहीं। एक उन्हें महान् राजनीतिज्ञ बताता है, तो दूसरा कहता है, ईसा एक बड़े युद्ध-विशारद सेनापति थे और तीसरा कहता है, वे एक देशभक्त यहूदी थे। इन सब धारणाओं के लिए क्या इन पुस्तकों में कोई आधार है? एक श्रेष्ठ धर्माचार्य के जीवन और उपदेशों पर सर्वश्रेष्ठ भाष्य उसका निज का जीवन ही है। स्वयं ईसा ने अपने विषय में कहा है: "लोमड़ियों के माँद होती है, नभचारी खग-कुल अपने नीड़ में निवास करते हैं, पर मानवपुत्र (ईसा) के पास अपना सिर टेकने तक के लिए स्थान नहीं है।" ईसा की शिक्षा भी यही है; इसके अतिरिक्त मुक्ति का और कोई पथ नहीं है।

यदि हममें इस मार्ग पर अग्रसर होने की क्षमता नहीं है, तो हमें मुख में तृण धारण कर विनीत भाव से अपनी यह दुर्बलता स्वीकार कर लेनी चाहिए कि हममें अब भी 'मैं' और 'मेरे' के प्रति ममत्व है, हममें धन और ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति है। हमें धिक्कार है कि हम यह सब स्वीकार न कर, मानव-जाति के उन महान् आचार्य का अन्य रूप से वर्णन कर उन्हें निम्न स्तर पर खींच लाने की चेष्टा करते हैं। उन्हें पारिवारिक बन्धन नहीं जकड़ सके। क्या तुम सोचते हो कि ईसा के मन में कोई सांसारिक भाव था? क्या तुम सोचते हो कि यह ज्योतिःस्वरूप अमानवी मानव, यह प्रत्यक्ष ईश्वर पृथ्वी पर पशुओं का सहधर्मी बनने के लिए अवतीर्ण हुआ? किन्तु फिर भी लोग उनके उपदेशों का अपनी इच्छानुसार अर्थ लगाकर प्रचार करते हैं। उन्हें देह-ज्ञान नहीं था, उनमें लिंग-भेद नहीं था—वे आत्मस्वरूप थे। वे जानते थे कि वे शुद्ध आत्मस्वरूप हैं—देह में अवस्थित हो मानव-जाति के कल्याण के लिए देह का परिचालन मात्र कर रहे हैं। देह के साथ उनका केवल इतना ही सम्पर्क था। आत्मा लिंगविहीन है। विदेह आत्मा का देह तथा पाशव भाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अवश्यमेव त्याग और वैराग्य का यह आदर्श साधारण जनों की पहुँच के बाहर है। कोई हर्ज नहीं, हमें अपना आदर्श विस्मृत नहीं कर देना चाहिए—उसकी प्राप्ति के लिए सतत यत्नशील रहना चाहिए। हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि त्याग हमारे जीवन का आदर्श है, किन्तु अभी तक हम उस तक पहुँचने में असमर्थ हैं।

मैं आत्मा हूँ, इस तत्त्व की उपलब्धि के अतिरिक्त ईसा के जीवन में अन्य कोई कार्य न था, और कोई चिन्ता न थी। वे वास्तव में विदेह, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्म-

स्वरूप थे। यही नहीं, उन्होंने अपनी अद्‌भुत दिव्य दृष्टि से जान लिया था कि सभी नर-नारी, चाहे वे यहूदी हों या किसी अन्य इतर जाति के हों, दरिद्र हों या धनवान, साधु हों या पापात्मा, उनके ही समान अविनाशी आत्मस्वरूप हैं। इसलिए उनके जीवन में हम एकमात्र यही कार्य देखते हैं कि वे सारी मानव-जाति को अपने शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यस्वरूप की उपलब्धि करने के लिए आह्वान कर रहे हैं। उन्होंने कहा, यह कुसंस्कारमय मिथ्या भावना छोड़ दो कि हम दीन-हीन हैं। यह न सोचो कि तुम पर ग़ुलामों के समान अत्याचार किया जा रहा है, तुम पैरों तले रौंदे जा रहे हो; क्योंकि तुममें एक ऐसा तत्त्व विद्यमान है, जिसे पददलित तथा पीड़ित नहीं किया जा सकता, जिसका विनाश नहीं हो सकता। तुम सब ईश्वर के पुत्र हो, अमर और अनादि हो। अपनी महान् वाणी से ईसा ने जगत् में घोषणा की, "दुनिया के लोगो, इस बात को भली भाँति जान लो कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अभ्यन्तर में अवस्थित है।"—"मैं और मेरे पिता अभिन्न हैं।" साहस कर खड़े हो जाओ और घोषणा करो कि मैं केवल ईश्वरपुत्र ही नहीं हूँ, पर अपने हृदय में मुझे यह भी प्रतीति हो रही है कि मैं और मेरे पिता एक और अभिन्न हैं। नाज़रथवासी ईसा मसीह ने यही कहा। उन्होंने इस संसार और इस देह के सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहा। जगत् के साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध न था—उसके साथ सम्पर्क केवल इतना ही था कि वे उसे प्रगति-पथ पर कुछ आगे की ओर बढ़ा दें—और धीरे धीरे तब तक अग्रसर करते रहें, जब तक कि समग्र जगत् उस परम ज्योतिर्मय परमेश्वर के निकट नहीं पहुँच जाता, जब तक कि प्रत्येक मानव अपने प्रकृत स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर लेता, जब तक कि दुःख-कष्ट और मृत्यु-जगत् से सम्पूर्ण रूप से निर्वासित नहीं हो जाती।

ईसा के जीवन पर लिखी गयी विभिन्न आख्यायिकाएँ हमने पढ़ी हैं। उनकी जीवनी के समालोचक विद्वज्जनों, उनकी ग्रन्थावलियों तथा 'उच्चतर भाष्यादि'[१] से भी हमारा परिचय है। इन सब आलोचनाओं द्वारा क्या सम्पादित किया गया है, इससे भी हम अज्ञ नहीं हैं। हमें यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना है कि बाइबिल के नव व्यवस्थान का कितना अंश सत्य है, अथवा उसमें वर्णित ईसा मसीह का जीवन-चरित्र कहाँ तक ऐतिहासिक सत्य पर आधारित है। ईसा की पाँचवीं

---

१. उच्चतर भाष्य (Higher or Historical criticism)—**इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से बाइबिल के विभिन्न अंशों की रचना, रचना-काल तथा उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विचार करनेवाला साहित्य। बाइबिल के वाक्य एवं शब्द-राशि सम्बन्धी आलोचना** (Textual or Verbal criticism) **से इसके पृथक् एवं उच्चतर होने के कारण इसे 'उच्चतर भाष्य' कहा गया है। स०**

शताब्दी तक नव व्यवस्थान लिखा जा चुका था या नहीं, अथवा ईसा के जीवन-चरित्र में कितना सत्यांश है, इससे भी हमें कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु इन सब लेखों का आधार एक ऐसी वस्तु है, जो अवश्य सत्य है, अनुकरणीय है। मिथ्या प्रलाप करने के लिए भी हमें किसी सत्य की नक़ल करनी पड़ती है, और सत्य सदैव वास्तविक ही होता है। जिसका कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था, उसका अनुकरण भी कैसा? जिसे किसीने कभी देखा नहीं, उसकी नक़ल कैसे हो सकती है? इसलिए यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि बाइबिल की कथाएँ कितनी ही अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण क्यों न हों, उस कल्पना का अवश्य कोई आधार था--निश्चित ही उस युग में, जगत् में किसी महाशक्ति का आविर्भाव हुआ था, किसी महान् आध्यात्मिक शक्ति का अपूर्व विकास हुआ था--और उसीकी आज हम चर्चा कर रहे हैं। उस महाशक्ति के अस्तित्व में जब हमें कोई सन्देह नहीं है, तब हमें पण्डित वर्ग द्वारा की गयी आलोचनाओं का क्या भय? यदि एक प्राच्य-देशीय के रूप में मैं नाज़रथ-निवासी ईसा की उपासना करूँ, तो मेरे लिए ऐसा करने की केवल एक ही विधि है--और वह है उनकी ईश्वर के समान आराधना करना। उनकी अर्चना की और कोई विधि मैं नहीं जानता। क्या तुम कहते हो कि हमें इस प्रकार उनकी उपासना करने का अधिकार नहीं है? यदि हम ईसा को अपने ही हीन धरातल पर आसीन कर, उन्हें केवल एक महान् व्यक्ति मान उनके प्रति कुछ सम्मान प्रदर्शित करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं, तो फिर उपासना का प्रयोजन ही क्या रह गया? हमारे शास्त्र कहते हैं, 'ये अनन्त-ज्योति के पुत्र--जिनमें ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित है, जो स्वयं ब्रह्मज्योतिस्वरूप हैं--आराधित किये जाने पर हमारे साथ तादात्म्य भाव प्राप्त कर लेते हैं और हम भी उनके साथ एकत्व स्थापित कर लेते हैं।'

मनुष्य ईश्वर को तीन प्रकार से देखता है। प्रथमावस्था में अशिक्षित मनुष्य की अपरिपक्व बुद्धि कल्पना करती है कि ईश्वर आकाश में बहुत ऊँचे, किसी स्वर्ग नामक स्थान में सिंहासनासीन हो न्यायाधीश की भाँति पाप-पुण्य का निर्णय करता है। वह उसको अग्नि और भयावह रूप में देखता है। ईश्वर की इस प्रकार की भावना में भी कोई बुराई नहीं है। तुमको यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव जाति की गति सदैव एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर रही है; असत्य से--भ्रम से सत्य की ओर नहीं। कल्पना करो कि तुम एक सरल रेखा में पृथ्वी से सूर्य की ओर जा रहे हो। यहाँ से तो तुम्हें सूर्य एक लघु बिम्ब के समान दृष्टिगत होता है। किन्तु कई लक्ष कोस प्रयाण करने पर सूर्य का आकार बृहत से बृहत्तर होता जायगा। ज्यों ज्यों हम अग्रसर होते रहेंगे, त्यों त्यों सूर्य अधिकाधिक बृहत्तर

दिखने लगेगा। अब यदि यात्रा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से तुम सूर्य के बीस हज़ार छायाचित्र लो, तो वे अवश्य ही एक दूसरे से भिन्न होंगे। किन्तु क्या तुम यह नहीं कहोगे कि वे एक ही वस्तु—एक ही सूर्य के छायाचित्र हैं? इसी प्रकार भिन्न भिन्न धर्म, चाहे वे उच्चतर हों या निम्नतर, उस अनन्त ज्योतिर्मय परमेश्वर की ओर मानव के प्रयाण की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। उनमें केवल यही भेद है कि किसीमें ईश्वर की निम्नतर धारणा की गयी है और किसीमें उच्चतर। इसीलिए संसार के अविचारशील जनसाधारण के धर्मों में सदैव ही एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की गयी है, जो भौतिक विश्व की परिधि के बाहर, स्वर्ग नामक स्थान में निवास करता है, वहीं से संसार-चक्र की गतिविधि पर नियंत्रण करता है, और पाप-पुण्य का न्याय कर मनुष्यों को दण्ड एवं पुरस्कार वितरित करता है, इत्यादि। ज्यों ज्यों मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति करता गया, त्यों त्यों उसे यह प्रतीत होने लगा कि ईश्वर सर्वव्यापी है, स्वयं उसमें भी उसी ईश्वर का निवास है और उसका ईश्वर में। ईश्वर सब आत्माओं की आत्मा है और उससे दूर अवस्थित नहीं है। जिस प्रकार मेरी आत्मा मेरे शरीर का परिचालन करती है, वैसे ही ईश्वर मेरी आत्मा का संचालन करता है, मेरी आत्मा में विद्यमान अन्तरात्मा है। कुछ व्यक्तियों ने, जो अभीष्ट रूप से विकसित हो चुके थे और पर्याप्त मात्रा में निर्मल थे, और भी अधिक अग्रसर होकर अंततः ईश्वर को प्राप्त कर लिया। जैसा कि नव व्यवस्थान में कहा गया है, 'धन्य हैं वे, जिनका हृदय पवित्र है, क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन प्राप्त करेंगे!' और उन्हें अन्त में इस तत्त्व की उपलब्धि हो सकी कि वे और उनके पिता एक हैं।

तुम देखोगे कि नव व्यवस्थान में मानव-जाति के उन महान् शास्ता ने भी ईश्वर-प्राप्ति की इस सोपान-त्रयी की ही शिक्षा दी है। उन्होंने जिस सार्वजनिक प्रार्थना (common prayer) का उपदेश किया है, उस पर ध्यान दो, 'हे मेरे स्वर्ग-निवासी पिता, तेरे नाम का जयजयकार हो' इत्यादि। कितनी सरल और शिशु की सी प्रार्थना है। देखो, और यह साधारण सार्वजनिक प्रार्थना है, क्योंकि यह अशिक्षित जनसाधारण के लिए है। अपेक्षाकृत उच्चतर व्यक्तियों के लिए, जो किंचित् अधिक प्रगति कर चुके थे, ईसा ने अपेक्षाकृत उच्चतर उपदेश दिया है; 'मैं अपने पिता में हूँ, तुम मुझमें हो और मैं तुममें हूँ।' क्या तुम्हें याद है यह? और फिर जब यहूदियों ने ईसा से पूछा था, "तुम कौन हो?"—तो ईसा ने अपनी महान् वाणी में घोषणा की, "मैं और मेरे पिता एक हैं।" यहूदियों ने सोचा, यह घोर नास्तिकता है, भगवान् का घोर तिरस्कार है। पर ईसा के कथन का अर्थ क्या था? यह भी तुम्हारे पैग़म्बर स्पष्ट कर गये हैं: 'तुम सब देवता हो—तुम

सब उस परात्पर पुरुष की सन्तान हो।' उन्हीं तीन स्तरों या भूमिकाओं पर ध्यान दो। तुम यह भी देखोगे कि प्रथमावस्था से आरम्भ करके धीरे धीरे अन्तिम अवस्था में आरोहण करना तुम्हारे लिए अपेक्षाकृत अधिक सरल है।

ईश्वर का यह दूत, मार्ग प्रदर्शित करने के लिए अवतीर्ण हुआ था : वे हमें बताने आये थे कि आत्मा बाह्याचार में नहीं है, गूढ़ दार्शनिक तर्क-वितर्कों से आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। अच्छा होता, यदि तुम कोई पुस्तक न पढ़ते, अच्छा होता, यदि तुम विद्याहीन होते। मुक्ति के लिए इन उपकरणों की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए धन, ऐश्वर्य और उच्च पद की ज़रूरत नहीं, यहाँ तक कि पाण्डित्य की भी आवश्यकता नहीं। उसके लिए केवल एक वस्तु की आवश्यकता है--और वह है पवित्रता। 'पवित्रहृदय पुरुष धन्य हैं', क्योंकि आत्मा स्वयं पवित्र है, वह अन्यथा अर्थात् अपवित्र हो भी कैसे सकती है? ईश्वर से ही उसका आविर्भाव हुआ है, वह ईश्वर-प्रसूत है। बाइबिल के शब्दों में वह 'ईश्वर का निःश्वास है।' क़ुरान की भाषा में वह 'ईश्वर का आत्मस्वरूप है।' क्या तुम कहना चाहते हो कि ईश्वरात्मा कभी अपवित्र हो सकती है? किन्तु दुर्भाग्य से हमारे शुभाशुभ कार्यों के कारण वह मानो सदियों की मैल, सैकड़ों वर्षों की अशुद्धि और धूलि से आवृत है; हमारे नानाविध दुष्कर्म, नानाविध अन्याय कार्य शत शत वर्षों से अज्ञानरूपी धूलि और मलिनता द्वारा उसके प्रकाश को मन्द कर रहे हैं। केवल इस धूलि और मैल की तह को उस पर से पोंछने भर की देर है कि आत्मा पुनः अपनी उज्ज्वल एवं दिव्य प्रभा से प्रकाशित हो जायगी। 'पवित्रहृदय व्यक्ति धन्य हैं, क्योंकि वे ईशदर्शन करेंगे।' 'महान् स्वर्ग-राज्य तुम्हारे ही अन्तर में विराजमान है।' और इसीलिए नाज़रथ का यह महान् पैग़म्बर पूछता है, 'जब स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विराजमान है, तो उसे ढूंढ़ने अन्यत्र कहाँ जा रहे हो? अपनी आत्मा को माँजधोकर स्वच्छ करो, और वह तत्काल मिल जायगा। वह तो पहले से ही तुम्हारा है। यदि वह तुम्हारा न होता, तो तुम कैसे पा सकते? तुम उनके अधिकारी हो। तुम अमरता के उत्तराधिकारी हो, तुम उस नित्य, सनातन पिता की सन्तान हो।

यह है उस महान् सन्देश-वाहक की महान् शिक्षा। उसकी दूसरी शिक्षा है त्याग—जो प्रायः सभी धर्मों का आधार है। आत्म-शुद्धि कैसे प्राप्त की जा सकती है?—त्याग द्वारा। एक धनी युवक ने एक बार ईसा से पूछा, "प्रभो, अनन्त जीवन की प्राप्ति के लिए मैं क्या करूँ?" ईसा बोले, "तुझमें एक बड़ी कमी है। जाकर अपनी सारी सम्पत्ति बेच डाल। जो धन प्राप्त हो, उसे ग़रीबों को दे दे। तुझे स्वर्ग में अक्षय धन-सम्पदा प्राप्त होगी। उसके बाद 'क्रूस' धारण कर मेरा अनुगमन कर।" धनी युवक यह सुनकर अत्यन्त उदास हो गया और दुःखी होकर

चला गया, क्योंकि उसके पास विशाल सम्पत्ति थी। हम सब न्यूनाधिक अंशों में उसी युवक के समान हैं। रात-दिन हमारे कानों में यही वाणी ध्वनित होती रहती है। हम अपने आनन्द और विषयोपभोग के क्षणों में सोचते हैं कि हम और सब कुछ भूल गये हैं। पर जब कभी क्षण भर का विराम आता है, तो हमारे कानों में वही ध्वनि गूँजने लगती है, 'अपना सर्वस्व त्यागकर मेरा अनुसरण कर।' 'जो अपनी जीवन-रक्षा का प्रयत्न करेगा, वह उसे खो देगा, और जो मेरे लिए अपना जीवन खोयेगा, वह उसे पा लेगा।' जो भी अपना जीवन उन्हें समर्पित कर देगा, वही अमृतत्व लाभ करेगा, उसे ही अमरता वरण करेगी। हमारी समस्त दुर्बलता के बीच, एक क्षण का विराम आ उपस्थित होता है और पुनः उस वाणी की घोषणा हमारे कानों में शुरू हो जाती है: 'अपना सर्वस्व त्याग कर दे, उसे ग़रीबों को बाँट दे, और मेरा अनुगमन कर।' यही एक आदर्श है, जिसकी ईसा मसीह ने शिक्षा दी है, जिसकी दुनिया के सभी पैग़म्बरों ने शिक्षा दी है। इस त्याग का क्या तात्पर्य है? त्याग का मर्म केवल यही है कि निःस्वार्थता ही नैतिकता का एकमेव आदर्श है। निःस्व बनो। पूर्ण निःस्वार्थपरता ही आदर्श है। 'यदि किसीने तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मार दिया है, तो दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दो। यदि किसीने तुम्हारा कोट छीन लिया है, तो तुम उसे अपना चोग़ा भी दे दो।'

आदर्श को उसके उच्च धरातल से नीचा न करते हुए हमें उसे प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। और यह आदर्श अवस्था वह है, जिसमें मनुष्य का अहंभाव पूर्णतया नष्ट हो जाता है, उसका स्वत्व-भाव लुप्त हो जाता है, जब उसके लिए ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे वह 'मैं' और 'मेरी' कह सके, जब वह पूर्णतया आत्म-विसर्जन कर देता है, मानो अपनी आहुति दे देता है। इस प्रकार अवस्थापन्न व्यक्ति के अन्तर में स्वयं ईश्वर निवास करता है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति की अहं-वासना पूर्ण रूप से नष्ट हो गयी है, एकदम निर्मूल हो गयी है। यह है आदर्श व्यक्ति, और यद्यपि इस आदर्शावस्था को हम प्राप्त नहीं हुए हैं, तथापि हमें इस आदर्श की पूजा करते हुए, उस ओर शनैः शनैः अग्रसर होते रहना चाहिए। आज, कल या सहस्रों वर्ष के बाद हमें उस आदर्श को प्राप्त करना ही होगा, क्योंकि यह साध्य ही नहीं है, साधन भी है। निःस्वार्थपरता, पूर्ण अहं-शून्यता प्रत्यक्ष मुक्ति है, क्योंकि तब भीतर का व्यक्ति मर जाता है, और अवशिष्ट रह जाता है केवल ईश्वर!

एक बात और। मानव-जाति के सभी महान् शिक्षक स्वार्थशून्य हैं। कल्पना करो कि नाज़रथ के ईसा उपदेश दे रहे हैं—और इसी बीच कोई व्यक्ति उठकर पूछने लगता है, 'आपका उपदेश बहुत सुन्दर है, मेरा विश्वास है कि

पूर्णत्व-प्राप्ति का यही एक मार्ग है और मैं उसका अनुसरण करने को भी प्रस्तुत हूँ, किन्तु मैं ईश्वर के उत्पन्न एकमात्र पुत्र के रूप में आपकी उपासना नहीं कर सकता।' ईसा मसीह के पास इसका क्या उत्तर होगा ?—सोचो। अवश्य ईसा उस व्यक्ति से कहते, 'अच्छा भाई, आदर्श का अनुसरण करो और अपने भाव के अनुसार उस ओर प्रगति करो। तुम मुझे मेरे उपदेशों के लिए कोई श्रेय दो या न दो—मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। मैं कोई दूकानदार नहीं हूँ, बनिया नहीं हूँ। मैं धर्म का व्यवसाय नहीं करता। मैं केवल सत्य की शिक्षा देता हूँ—और सत्य किसीकी बपौती—किसीकी जायदाद नहीं है। सत्य पर किसीका एकाधिपत्य नहीं है। सत्य स्वयं ईश्वर है। तुम अपने मार्ग पर बढ़ते जाओ।' पर आज ईसा के अनुयायी उसी प्रश्न का यह जवाब देते हैं, 'तुम इन उपदेशों पर, चलो या न चलो, पर यह बतलाओ कि तुम उपदेशक को श्रेय देते हो या नहीं? यदि तुम शास्ता को श्रेय देते हो, तो अवश्य ही तुम्हारा उद्धार हो जायगा; यदि नहीं, तो तुम्हारी मुक्ति की कोई आशा नहीं।' इस प्रकार उन महापुरुष की सारी शिक्षाओं को विकृत रूप दे दिया गया है। सारे विवाद, सारे झगड़े, केवल उनके व्यक्तित्व को लेकर खड़े होते हैं। वे नहीं जानते कि इस प्रकार का भेद आरोपित कर वे उसी व्यक्ति को लांछित और अपमानित कर रहे हैं, जो उनका आदरणीय एवं पूजार्ह है, जो स्वयं इस प्रकार के विचार सुनकर लज्जा से संकुचित हो जाता। संसार में कोई उन्हें स्मरण रखता है या नहीं, इसकी उन महापुरुष को क्या परवाह थी? उन्हें तो विश्व को एक सन्देश देना था—और वह उन्होंने दे दिया। इसके बाद यदि उन्हें बीस सहस्र जीवन भी प्राप्त होते, तो उन्हें वे दुनिया के ग़रीब से ग़रीब आदमी के लिए भी निछावर कर देते। यदि लक्ष लक्ष घृणित 'समारिया'-वासियों के उद्धार के लिए उन्हें करोड़ों बार करोड़ों यातनाएँ भी सहनी पड़तीं, यदि उनमें से एक एक की मुक्ति के लिए उन्हें अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़ती, तो वे सहर्ष यह सब अंगीकार कर लेते और यह सब करते हुए उन्हें यह इच्छा छू भी न पाती कि दुनिया में किसीको उनका नाम मालूम हो। स्वयं ईश्वर जिस प्रकार कार्य करता है, वे भी उसी प्रकार शान्त, स्थिर, नीरव और अज्ञात रूप से अपना कार्य करते। लेकिन इनके अनुयायी क्या कहते हैं? वे कहते हैं—'तुम पूर्ण निःस्वार्थ और दोषरहित ही क्यों न हो, जब तक तुम हमारे पैग़म्बर, हमारे धर्माचार्य की पूजा और उनका सम्मान नहीं करोगे, तुम्हारा उद्धार नहीं होगा।' पर यह क्यों? इस कुसंस्कार, इस अज्ञान का कारण क्या है—इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि ईसा के शिष्य सोचते हैं—ईश्वर केवल एक ही बार अवतीर्ण हो सकता है। किन्तु यही विचार सब

कुसंस्कारों, सब भ्रमों की जड़ है। ईश्वर मानव-रूप में तुम्हारे सामने प्रकट हुआ है। किन्तु प्राकृतिक जगत् में जो घटनाएँ होती हैं, वे अवश्यमेव भूतकाल में भी हुई हैं और भविष्य में भी होंगी। प्रकृति में ऐसी कोई घटना नहीं है, जो नियमाधीन न हो। उसके नियमबद्ध होने का अर्थ केवल यही है कि जो घटना एक बार हुई है, वह चिरकाल से घटती आ रही है और भविष्य में भी घटती रहेगी।

भारत में ईश्वरावतार के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त प्रचलित है। भारतीयों के अन्यतम अवतार श्री कृष्ण ने, जिनकी भगवद्‌गीता के रूप में अपूर्व उपदेश-माला तुममें से अनेक ने पढ़ी होगी, कहा है: 'यद्यपि मैं जन्मरहित, अक्षयस्वभाव एवं इस भूतसमूह का ईश्वर हूँ, तथापि मैं अपनी प्रकृति का अधिष्ठान कर, अपनी माया से जन्म-ग्रहण करता हूँ। हे अर्जुन! जब जब धर्म की अवनति और अधर्म का उत्थान होता है, तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ। साधुजन के परित्राणार्थ, दुष्कार्य-रत व्यक्तियों के विनाशार्थ तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में जन्म ग्रहण करता हूँ।'[1] जब संसार की अवनति होने लगती है, तो भगवान् उसकी सहायता करने को अवतार लेते हैं; इस प्रकार वे विभिन्न स्थानों एवं विभिन्न युगों में आविर्भूत होते रहते हैं। एक दूसरे स्थान पर भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—'जहाँ कहीं किसी असाधारण शक्तिसम्पन्न एवं पवित्र आत्मा को मानव-जाति के उत्थान के लिए यत्नशील देखो, तो यह जान लो कि वह मेरे ही तेज से उत्पन्न हुआ है, मैं उसके माध्यम से कार्य कर रहा हूँ।'[2]

इसलिए हमें केवल नाज़रथवासी ईसा में ही ईश्वर का दर्शन न कर विश्व के उन सभी महान् आचार्यों और पैग़म्बरों में भी उसका दर्शन करना चाहिए, जो ईसा के पहले जन्म ले चुके थे, जो ईसा के पश्चात् आविर्भूत हुए हैं और जो भविष्य में अवतार ग्रहण करेंगे। हमारा सम्मान और हमारी पूजा सीमाबद्ध न हो। ये सब महापुरुष उसी एक अनन्त ईश्वर की विभिन्न अभिव्यक्ति हैं।

---

१. अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ गीता॥४।६-८॥

२. यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥गीता॥१०।४१॥

वे सब शुद्ध और स्वार्थगन्धशून्य हैं, सभी ने इस दुर्बल मानव-जाति के उद्धार के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया है, इसीके लिए अपना जीवन निछावर कर दिया है। वे हमारे और हमारी आनेवाली सन्तान के सब पापों को ग्रहण कर उनका प्रायश्चित्त कर गये हैं।

एक दृष्टि से हम सभी अवतार हैं, हम सब अपने कन्धों पर संसार का भार वहन कर रहे हैं। क्या तुमने कोई ऐसा व्यक्ति देखा है, ऐसी कोई स्त्री देखी है, जो धैर्यपूर्वक शान्ति से अपने जीवन का लघु भार न वहन कर रही हो? ये महान् अवतार हमारी तुलना में अवश्य ही बहुत बड़े थे और इसलिए वे अपने कन्धों पर इस विशाल जगत् का भार उठाने में भी सफल हो सके। अवश्य उनसे तुलना करने पर हम बौने प्रतीत होते हैं, किन्तु हम भी वही कार्य कर रहे हैं—हम भी अपने छोटे छोटे घरों में, अपने छोटे संसार में अपने क्रूस सिर पर रख अग्रसर हो रहे हैं। कोई कितना ही अपदार्थ क्यों न हो, कितना ही हीन क्यों न हो, अपना क्रूस स्वयं ही वहन करता है। हमारी सब भ्रान्तियों, सब दुष्कृतियों, हमारे सब हीन और गर्हित विचारों के लांछन तथा अपवाद की कालिमा के बावजूद भी हमारे चरित्र में एक उज्ज्वल अंश है, कहीं न कहीं एक ऐसा सुवर्ण सूत्र है, जिसके द्वारा हम सदैव भगवान् से संयुक्त रहते हैं। कारण, यह निश्चय ही जानो कि जिस क्षण भगवान् के साथ हमारा यह संयोग नष्ट हो जायगा, उसी क्षण हमारा विनाश हो जायगा। और चूँकि कभी किसीका सम्पूर्ण नाश होना असम्भव है, हम कितने ही हीन, पतित तथा दुष्कर्मरत क्यों न हों, कहीं न कहीं हमारे हृदय में—हमारे अन्तर के अन्तरतम प्रदेश में ज्योति की एक ऐसी किरण विराजमान है, जो भगवान् से चिर संयुक्त है।

विभिन्न देशीय, विभिन्न जातीय और विभिन्न मतावलम्बी, भूतकाल के उन सब महापुरुषों को हम प्रणाम करते हैं, जिनके उपदेश और चरित्र हमने उत्तराधिकार में पाये हैं! विभिन्न जातियों, देशों और धर्मों में जो देवतुल्य नर-नारी मानव-जाति के कल्याण में रत हैं, उन सबको प्रणाम है। जीवन्त ईश्वर-स्वरूप जो महापुरुष भविष्य में हमारी सन्तान के लिए निःस्पृहता से कार्य करने के लिए अवतार धारण करेंगे, उन सबको प्रणाम है!

भगवान् बुद्ध

(अमेरिका के डिट्रॉएट नगर में दिया हुआ भाषण)

हर एक धर्म में हम किसी एक प्रकार की साधना को चरम सीमा पर पहुँची हुई पाते हैं। बौद्ध धर्म में निष्काम कर्म का भाव अत्यन्त विकसित है। तुम लोग बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मण धर्म को समझने में भूल न करो। बौद्ध धर्म हमारे सम्प्रदायों में से एक है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था, कठिन कर्मकाण्ड एवं दार्शनिक वाद-विवादों से ऊबकर गौतम नामक एक महापुरुष ने बौद्ध धर्म की स्थापना की। कुछ लोग कहते हैं कि हमारा एक विशेष कुल में जन्म हुआ है और इसलिए हम उन लोगों से श्रेष्ठ हैं, जिनका जन्म ऐसे वंश में नहीं हुआ। भगवान् बुद्ध का इस सिद्धान्त में कोई विश्वास न था——वे इस प्रकार के जाति-भेद के विरोधी थे। और पुरोहित लोग धर्म के नाम पर जो कपटाचरण द्वारा स्वार्थ-सिद्धि करते थे, इसके भी वे घोर विरोधी थे। इसलिए उन्होंने एक ऐसे धर्म का प्रचार किया, जिसमें कामनाओं तथा वासनाओं के लिए स्थान न था। वे दर्शन तथा ईश्वर के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अज्ञेयवादी थे।

उनसे कई बार ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गये, पर उन्होंने सदैव यही उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता।" उनसे पूछा गया कि मनुष्य का प्रकृत कर्तव्य क्या है। उन्होंने कहा, "शुभ चरित्र बनो और शुभ कर्म करो।" एक बार पाँच ब्राह्मणों ने आकर उनसे बिनती की, "भगवन्, हमारे वाद-विवाद का न्याय कीजिए।" उनमें से एक ने कहा, "भगवन्, मेरे शास्त्रों में ईश्वर का यह स्वरूप बतलाया गया है और उसकी प्राप्ति के लिए यह मार्ग दर्शाया गया है।" दूसरे ब्राह्मण ने कहा, "नहीं, यह सब मिथ्या है, क्योंकि मेरे शास्त्र में इसके विपरीत लिखा है और ईश्वर-प्राप्ति का अन्य मार्ग बतलाया गया है।" इस प्रकार दूसरों ने भी शास्त्रों की दुहाई देकर ईश्वर के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में अपने अपने मत प्रकट किये। बुद्धदेव यह विवाद शान्तिपूर्वक सुनकर उनसे क्रमशः पूछने लगे, "क्या किसीके शास्त्र में यह भी कथन है कि ईश्वर कभी क्रोध करता है? किसीकी हानि करता है या अशुद्ध है?" उन सबने कहा, "नहीं भगवन्, हमारे सभी शास्त्र यही कहते हैं कि ईश्वर शुद्ध, विकाररहित और कल्याणकर

है।" तब भगवान् बुद्ध बोले, "मित्रो, तब तुम पहले शुद्ध और सदाचारी बनने की चेष्टा क्यों नहीं करते, जिससे तुम्हें ईश्वर का ज्ञान हो सके।"

अवश्य ही मैं बुद्ध के समस्त दर्शन का अनुमोदन नहीं करता हूँ। मुझे अपने लिए यथेष्ट दार्शनिक विचार की आवश्यकता प्रतीत होती है। मैं पूर्णतया बौद्ध दर्शन से सहमत नहीं हूँ; किन्तु यह मेरे उस महान् आत्मा के चरित्र एवं भाव-सौन्दर्य के दर्शन में बाधक नहीं है। बुद्ध ही एक व्यक्ति थे, जो पूर्णतया तथा यथार्थ में निष्काम कहे जा सकते हैं। ऐसे अन्य कई महापुरुष थे, जो अपने को ईश्वर का अवतार कहते थे और विश्वास दिलाते थे कि जो उनमें श्रद्धा रखेंगे, वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे। पर बुद्ध के अधरों पर अन्तिम क्षण तक ये ही शब्द थे, 'अपनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से होगी। अन्य कोई इसमें तुम्हारा सहायक नहीं हो सकता। स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।' अपने सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध कहा करते थे, 'बुद्ध शब्द का अर्थ है—आकाश के समान अनन्त ज्ञान-सम्पन्न; मुझ गौतम को यह अवस्था प्राप्त हो गयी है। तुम भी यदि प्राणपण से प्रयत्न करो, तो उस स्थिति को प्राप्त हो सकते हो।' बुद्ध ने अपनी सब कामनाओं पर विजय पा ली थी। उन्हें स्वर्ग जाने की कोई लालसा न थी और न ऐश्वर्य की ही कोई कामना थी। अपने राज-पाट और सब प्रकार के सुखों को तिलांजलि दे, इस राजकुमार ने अपना सिन्धु सा विशाल हृदय लेकर नर-नारी तथा जीव-जन्तुओं के कल्याण के हेतु, आर्यावर्त की वीथी वीथी में भ्रमण कर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए अपने उपदेशों का प्रचार किया। जगत् में वे ही एकमात्र ऐसे हैं, जो यज्ञों में पशुबलि-निवारण के हेतु, किसी प्राणी के जीवन की रक्षा के लिए अपना जीवन भी निछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा, "यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हें स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य के होम से और किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन्, उस पशु के पाश काटकर मेरी आहुति दे दो—शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके।" राजा स्तब्ध हो गया! इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् पूर्ण रूप से निष्काम थे। वे कर्मयोग के ज्वलन्त आदर्शस्वरूप थे और जिस उच्चावस्था पर वे पहुँच गये थे, उससे प्रतीत होता है कि कर्म-शक्ति द्वारा हम भी उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं।

ईश्वर में विश्वास रखने से अनेक व्यक्तियों का मार्ग सुगम हो जाता है। किन्तु बुद्ध का चरित्र बताता है कि एक ऐसा व्यक्ति भी, जो नास्तिक है, जिसका किसी दर्शन में विश्वास नहीं, जो न किसी सम्प्रदाय को मानता है और न किसी मन्दिर-मस्जिद में ही जाता है, जो घोर जड़वादी है, परमोच्च अवस्था प्राप्त कर सकता

है। बुद्ध के मतामत या कार्यकलापों का मूल्यांकन करने का हमें कोई अधिकार नहीं। उनके विशाल हृदय का सहस्रांश पाकर भी मैं स्वयं को धन्य मानता। बुद्ध की आस्तिकता या नास्तिकता से मुझे कोई मतलब नहीं। उन्हें भी वह पूर्णावस्था प्राप्त हो गयी थी, जो अन्य जन भक्ति, ज्ञान या योग के मार्ग से प्राप्त करते हैं। केवल इसमें-उसमें विश्वास करने से ही पूर्णता प्राप्त नहीं होती, जल्पना से कोई अर्थ-सिद्धि नहीं होती। यह तो शुक-सारिका भी कर लेते हैं। केवल निष्काम कर्म ही मनुष्य को पूर्णत्व तक पहुँचा सकता है।

ॐ : प्रतीक

तुम्हारे मन में जो भी भाव उठता है, उसका एक प्रतिरूप शब्द भी रहता है; इस शब्द और भाव को अलग नहीं किया जा सकता। एक ही वस्तु के बाहरी भाग को शब्द और अन्तर्भाग को विचार या भाव कहते हैं। कोई भी व्यक्ति विश्लेषण के वल से विचार को शब्द से अलग नहीं कर सकता। वहुतों का मत है कि कुछ लोग एक साथ बैठकर यह स्थिर करने लगे कि किस भाव के लिए कौन से शब्द का प्रयोग किया जाय, और इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति हो गयी। किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि यह मत भ्रमात्मक है। जब से मनुष्य विद्यमान है, तब से शब्द और भाषाएँ रही हैं। अब प्रश्न यह है कि एक भाव और एक शब्द में परस्पर क्या सम्बन्ध है। यद्यपि हम देखते हैं कि एक भाव के साथ एक शब्द का रहना अनिवार्य है, तथापि ऐसा नहीं कि एक भाव एक ही शब्द द्वारा प्रकाशित हो। बीस विभिन्न देशों में भाव एक ही होने पर भी भाषाएँ बिल्कुल भिन्न भिन्न हो सकती हैं। प्रत्येक भाव को प्रकट करने के लिए एक न एक शब्द की आवश्यकता अवश्य होगी, किन्तु इन शब्दों का एक ही ध्वनिविशिष्ट होना कोई आवश्यक नहीं। विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न ध्वनिविशिष्ट शब्दों का व्यवहार होगा। इसीलिए टीकाकार ने कहा है, "यद्यपि भाव और शब्द का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है, तथापि एक ध्वनि और एक भाव के बीच एक नितान्त अलंघनीय सम्बन्ध ही रहे, ऐसी कोई वात नहीं।"[१] यद्यपि ये सब ध्वनियाँ भिन्न भिन्न होती हैं, तो भी ध्वनि और भाव का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। यदि वाच्य और वाचक के बीच प्रकृत सम्बन्ध रहे, तभी यह कहा जा सकता है कि भाव और ध्वनि के बीच परस्पर सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो, तो वह वाचक शब्द कभी सर्वसाधारण के उपयोग में नहीं आ सकता। वाचक वाच्य पदार्थ का प्रकाशक होता है। यदि वह वाच्य वस्तु पहले से अस्तित्व में रहे, और हम यदि पुनः पुनः परीक्षा द्वारा यह देखें कि उस वाचक शब्द ने उस वस्तु को अनेक बार सूचित किया है, तो हम निश्चित रूप से यह मान सकते हैं कि उस वाच्य और वाचक के बीच एक यथार्थ सम्बन्ध है। यदि ये वाच्य पदार्थ न भी रहें, तो भी हज़ारों मनुष्य उनके वाचकों के द्वारा ही उनका

---

१. **सर्वे एव शब्दाः सर्वाकारार्थभिधानसमर्था—इति स्थित एवैषां सर्वाकारैरर्थैः स्वाभाविकः स म्बन्धः।—व्यास-भाष्य की वाचस्पति मिश्र कृत टीका।**

ज्ञान प्राप्त करेंगे। पर हाँ, वाच्य और वाचक के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। ऐसा होने पर, ज्यों ही उस वाचक-शब्द का उच्चारण किया जायगा, त्यों ही वह उस वाच्य पदार्थ की बात मन में ला देगा। सूत्रकार कहते हैं, ओंकार ईश्वर का वाचक है। सूत्रकार ने विशेष रूप से 'ॐ' शब्द का ही उल्लेख क्यों किया है? 'ईश्वर'—इस भाव को व्यक्त करने के लिए तो सैकड़ों शब्द हैं। एक भाव के साथ हजारों शब्दों का संबन्ध रहता है। 'ईश्वर'—इस भाव का सैकड़ों शब्दों के साथ सम्बन्ध है और उनमें से प्रत्येक ही तो ईश्वर का वाचक है। फिर उन्होंने 'ॐ' को ही क्यों चुना? हाँ, ठीक है; पर वैसा होने पर भी उन शब्दों में से एक सामान्य शब्द चुन लेना चाहिए। उन सारे वाचकों का एक सामान्य आधार निकालना होगा, और जो वाचक-शब्द सबका सामान्य वाचक होगा, वही सर्वश्रेष्ठ समझा जायगा, और वास्तव में वही उसका यथार्थ वाचक होगा। किसी ध्वनि के लिए हम कण्ठ-नली और तालु का ध्वनि के आधार-रूप में व्यवहार करते हैं। क्या ऐसी कोई भौतिक ध्वनि है, जिसकी कि अन्य सब ध्वनियाँ अभिव्यक्ति हैं, जो स्वभावतः ही दूसरी सब ध्वनियों को समझा सकती हैं? हाँ, 'ओम' (अउम्) ही वह ध्वनि है; वही सारी ध्वनियों की भित्तिस्वरूप है। उसका प्रथम अक्षर 'अ' सभी ध्वनियों का मूल है—वह सारी ध्वनियों की कुंजी के समान है, वह जिह्वा या तालु के किसी अंश को स्पर्श किये बिना ही उच्चारित होता है। 'म्' ध्वनि-शृंखला की अन्तिम ध्वनि है, उसका उच्चारण करने में दोनों ओंठों को बन्द करना पड़ता है। और 'उ' ध्वनि जिह्वा के मूल से लेकर मुख के मध्यवर्ती ध्वनि के आधार की अन्तिम सीमा तक मानो ढुलकता आता है। इस प्रकार 'ॐ' शब्द के द्वारा ध्वनि-उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया प्रकट हो जाती है। अतएव वही स्वाभाविक वाचक-ध्वनि है, वही सब विभिन्न ध्वनियों की जननीस्वरूप है। जितने प्रकार के शब्द उच्चारित हो सकते हैं—हमारी ताक़त में जितने प्रकार के शब्द के उच्चारण की सम्भावना है, 'ओम्' उन सभी का सूचक है। यह सब तात्त्विक चर्चा छोड़ देने पर भी, हम देखते हैं कि भारतवर्ष में जितने सारे विभिन्न धर्मभाव हैं, यह ओंकार उन सबका केन्द्रस्वरूप है, वेद के सब विभिन्न धर्मभाव इस ओंकार का ही अवलम्बन किये हुए है। अब प्रश्न यह है कि इसके साथ अमेरिका, इंग्लैंड और अन्यान्य देशों का क्या सम्बन्ध है? उत्तर यह है कि सब देशों में इस ओंकार का व्यवहार हो सकता है। कारण, भारत में धर्म के विकास की प्रत्येक अवस्था में—उसके प्रत्येक सोपान में ओंकार को अपनाया गया है, उसका आश्रय लिया गया है और वह ईश्वर सम्बन्धी सारे विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है। अद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, भेदवादी, यहाँ तक कि नास्तिकों ने भी अपने उच्चतम

आदर्श को प्रकट करने के लिए इस ओंकार का अवलम्बन किया था। मानव-जाति के अधिकांश के लिए यह ओंकार उनकी अपनी धार्मिक स्पृहा का एक प्रतीक बन गया है। अंग्रेज़ी गॉड (God) शब्द को लो। वह जिस भाव को प्रकट करता है, वह कोई अधिक दूर तक नहीं जा सकता। यदि तुम उसके अतिरिक्त अन्य कोई भाव उस शब्द से व्यक्त करने की इच्छा करो, तो तुम्हें उसमें विशेषण लगाना पड़ेगा—जैसे सगुण (personal), निर्गुण (impersonal), निर्विशेष (absolute) आदि, आदि। अन्य दूसरी भाषाओं में ईश्वरवाचक जो सब शब्द हैं, उनके बारे में भी यही बात घटती है, उनमें बहुत कम भाव प्रकट करने की शक्ति है; किन्तु 'ॐ' शब्द में ये सभी प्रकार के भाव विद्यमान हैं। अतएव सर्वसाधारण को उसका ग्रहण करना चाहिए।

संन्यास : उसका आदर्श तथा साधन

१९ जून, सन् १८९९ को जब स्वामी जी दूसरी बार पाश्चात्य देशों को जाने लगे, उस अवसर पर बिदाई के उपलक्ष्य में बेलूड़ मठ के युवा संन्यासियों ने उन्हें एक मानपत्र दिया। उसके उत्तर में स्वामी जी ने जो कहा था, उसका सारांश निम्नलिखित है :

स्वामी जी का भाषण

यह समय लम्बा भाषण देने का नहीं है, परन्तु संक्षेप में मैं कुछ उन बातों की चर्चा करूँगा, जिनका तुम्हें आचरण करना चाहिए। पहले हमें अपने आदर्श को भली भाँति समझ लेना चाहिए और फिर उन साधनों को भी जानना चाहिए, जिनके द्वारा हम उसको चरितार्थ कर सकते हैं। तुम लोगों में से जो संन्यासी हैं, उन्हें सदव दूसरों के प्रति भलाई करते रहने का यत्न करना चाहिए, क्योंकि संन्यास का यही अर्थ है। इस समय 'संन्यास' पर भी एक लम्बा भाषण देने का अवसर नहीं है, परन्तु संक्षेप में मैं इसकी परिभाषा इस प्रकार करूँगा कि 'संन्यास' का अर्थ है, 'मृत्यु के प्रति प्रेम'। सांसारिक लोग जीवन से प्रेम करते हैं, परन्तु संन्यासी के लिए प्रेम करने को मृत्यु है। तो प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर हम आत्महत्या कर लें ? नहीं नहीं, इससे वहुत दूर। आत्महत्या करनेवालों को मृत्यु तो कभी प्यारी नहीं होती, क्योंकि यह बहुधा देखा गया है कि कोई मनुष्य आत्महत्या करने जाता है और यदि वह अपने यत्न में असफल रहता है, तो दुबारा फिर वह उसका कभी नाम भी नहीं लेता। तो फिर प्रश्न यह है कि मृत्यु के लिए प्रेम कैसा होता है ?

हम यह निश्चित जानते हैं कि हम एक न एक दिन अवश्य मरेंगे और जब ऐसा है, तो फिर किसी सत्कार्य के लिए ही हम क्यों न मरें ! हमें चाहिए कि हम अपने सारे कार्यो को जैसे खाना-पीना, सोना, उठना, बैठना आदि सभी---आत्म-त्याग की ओर लगा दें। भोजन द्वारा तुम अपने शरीर को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे क्या लाभ हुआ, यदि तुमने उस शरीर को दूसरों की भलाई के लिए अर्पण न किया ? इसी प्रकार तुम पुस्तकें पढ़कर अपने मस्तिष्क को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे भी कोई लाभ नहीं, यदि समस्त संसार के हित के लिए तुमने उस मस्तिष्क को लगाकर आत्म-त्याग न किया। चूँकि सारा संसार एक है और तुम इसके एक

अत्यन्त अकिंचन अंश हो, इसीलिए केवल इस तुच्छ स्वयं के अभ्युदयार्थ यत्न करने की अपेक्षा यह श्रेष्ठ है कि तुम अपने करोड़ों भाइयों की सेवा करते रहो।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

—'सर्वत्र उसके हाथ पैर हैं, सर्वत्र उसके नेत्र, शिर और मुख हैं तथा लोक में सर्वत्र उसके कान हैं। वह ईश्वर सर्वव्यापी होकर सर्वत्र विद्यमान है।'[1]

इस प्रकार धीरे धीरे मृत्यु को प्राप्त हो जाओ। ऐसी ही मृत्यु में स्वर्ग है, उसी में सारी भलाई है। और इसके विपरीत समस्त अमंगल तथा नरक है।

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि किन उपायों अथवा साधनों द्वारा हम इन आदर्शों को कार्यरूप में परिणत कर सकते हैं। सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारा आदर्श ऐसा न हो, जो असम्भव हो, अत्यन्त उच्च आदर्श रखने में एक बुराई यह है कि उससे राष्ट्र कमज़ोर हो जाता है तथा धीरे धीरे गिरने लगता है। यही हाल बौद्ध तथा जैन सुधारों के बाद हुआ। परन्तु साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि अत्यधिक व्यावहारिकता भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि तुममें थोड़ी भी कल्पना-शक्ति नहीं है, यदि तुम्हारे पथ-प्रदर्शन के लिए तुम्हारे सामने कोई भी आदर्श नहीं है, तो तुम निरे जंगली ही हो। अतएव हमें अपने आदर्श को कभी नीचा नहीं करना चाहिए और साथ ही यह भी न होना चाहिए कि हम व्यावहारिकता को बिल्कुल भूल बैठें। इन दो 'अतियों' से हमें बचना चाहिए। हमारे देश में तो प्राचीन पद्धति यह है कि हम एक गुफा में बैठ जायँ, वहीं ध्यान करें और बस वहीं मर जायँ, परन्तु मुक्ति-लाभ के लिए यह ग़लत सिद्धान्त है कि हम दूसरों से आगे ही बढ़ते चले जायँ। आगे या पीछे साधक को यह समझ लेना चाहिए कि यदि वह अपने अन्य भाइयों की मुक्ति के लिए भी यत्न नहीं करता है, तो उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अतएव तुम्हें इस बात का यत्न करना चाहिए कि तुम्हारे जीवन में उच्च आदर्श तथा उत्कृष्ट व्यावहारिकता का सुन्दर सामंजस्य हो। तुम्हें इस बात के लिए तैयार होना चाहिए कि एक क्षण तो तुम पूर्ण रूप से ध्यान में मग्न हो सको, पर दूसरे ही क्षण (मठ के चरागाह की भूमि की ओर इशारा करके स्वामी जी ने कहा) इन खेतों को जोतने के लिए उद्यत हो जाओ। अभी तुम इस बात के योग्य बनो कि शास्त्रों की कठिन गुत्थियों को स्पष्ट रूप से समझा सको, पर दूसरे ही क्षण उसी उत्साह से इन खेतों

---

१. गीता॥१३।१३॥

की फ़सल को ले जाकर बाज़ार में भी बेच सको। छोटे से छोटे सेवा-टहल के कार्य के लिए भी तुम्हें उद्यत रहना चाहिए और वह भी केवल यहीं नहीं, वरन् सर्वत्र।

अब दूसरी बात जो ध्यान में रखने योग्य है, वह यह है कि इस मठ का उद्देश्य है, 'मनुष्य' का निर्माण करना। तुम्हें केवल वही नहीं सीखना चाहिए, जो हमें ऋषियों ने सिखाया है। वे ऋषि चले गये और उनकी सम्मतियाँ भी उन्हींके साथ चली गयीं। अब तुम्हें स्वयं ऋषि बनना होगा। तुम भी वैसे ही मनुष्य हो, जैसे कि बड़े से बड़े व्यक्ति जो कभी पैदा हुए, यहाँ तक कि तुम अवतारों के सदृश हो। केवल ग्रन्थों के पढ़ने से ही क्या होगा? केवल ध्यान-धारणा से भी क्या होगा तथा केवल मंत्र-तंत्र भी क्या कर सकते हैं? तुम्हें तो अपने ही पैरों पर खड़े होना चाहिए और इस नये ढंग से कार्य करना चाहिए—वह ढंग, जिससे मनुष्य 'मनुष्य' बन जाता है। सच्चा 'नर' वही है, जो इतना शक्तिशाली हो, जितनी शक्ति स्वयं है, परन्तु फिर भी जिसका हृदय एक नारी के सदृश कोमल हो। तुम्हारे चारों ओर जो करोड़ों व्यक्ति हैं, उनके लिए तुम्हारे हृदय में प्रेम भाव होना चाहिए, परन्तु साथ ही तुम लोहे के समान दृढ़ और कठोर बने रहो, पर ध्यान रहे कि साथ ही तुममें आज्ञा-पालन की नम्रता भी हो। मैं जानता हूँ कि ये गुण एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु हाँ, ऐसे ही परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले गुण तुममें होने चाहिए। यदि तुम्हारे वरिष्ठ तुम्हें इस बात की आज्ञा दें कि तुम नदी में कूद पड़ो और एक मगर को पकड़ लाओ, तो तुम्हारा कर्तव्य यह होना चाहिए कि पहले तुम आज्ञा-पालन करो, और फिर कारण पूछो। भले ही तुम्हें दी हुई आज्ञा ठीक न हो, परन्तु फिर भी तुम पहले उसका पालन करो और फिर उसका प्रतिवाद करो। हमारे सम्प्रदायों में, विशेषकर बंगीय संप्रदायों में एक विशेष दोष यह है कि यदि किसी के मत में कुछ अन्तर होता है, तो बिना कुछ सोचे-बिचारे वह झट से एक नया सम्प्रदाय शुरू कर देता है। थोड़ा सा भी रुकने का उसमें धीरज नहीं होता। अतएव अपने संघ के प्रति तुममें अटूट श्रद्धा तथा विश्वास होना चाहिए। यहाँ अवज्ञा को तनिक भी स्थान नहीं मिल सकता और यदि कहीं वह दिखायी दे, तो निर्दयतापूर्वक उसे कुचलकर नष्ट कर डालो। हमारे इस संघ में एक भी अवज्ञाकारी सदस्य नहीं रह सकता; और यदि कोई हो, तो उसे निकाल बाहर करो। हमारे इस शिविर में दग़ाबाज़ी नहीं चल सकती, यहाँ एक भी धोखेबाज़ नहीं रह सकता। इतने स्वतंत्र रहो, जितनी वायु, पर हाँ, साथ ही ऐसे आज्ञापालक तथा नम्र, जैसा कि यह पौधा या कुत्ता।

गीता पर विचार

सन् १८९७ में स्वामी विवेकानन्द अपने कलकत्ते के अल्पवास में प्रायः मठ में ही रहते थे। यह मठ रामकृष्ण मिशन का प्रधान कार्यालय था, और उन दिनों आलमबाज़ार में स्थित था। उस अवधि में कई युवक, जो पहले से ही अपने को तैयार कर रहे थे, उनके पास आये। उन्होंने संन्यास और ब्रह्मचर्य का व्रत लिया और स्वामी जी ने गीता और वेदान्त पर कक्षाएँ लेकर तथा उनसे ध्यान का अभ्यास आरम्भ कराकर उन्हें भावी कार्य के लिए प्रशिक्षित करना शुरू किया। इनमें से एक कक्ष में गीता पर बंगला भाषा में उन्होंने ज़ोरदार प्रवचन किया। मठ की डायरी में प्रवचन का जो संक्षिप्त विवरण अंकित है, उसका हिन्दी रूपान्तर निम्नलिखित है:

गीता नाम से विख्यात ग्रंथ महाभारत का एक अंश है। गीता को ठीक से समझने के लिए कई बातों का जानना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह, कि क्या वह सचमुच महाभारत का एक अंश है, अर्थात् क्या यह सच है कि उसके रचयिता, जैसा कि कहा जाता है, वेदव्यास थे, अथवा उस महाकाव्य में वह क्षेपक के रूप में सम्मिलित कर ली गयी है; द्वितीय यह, कि क्या कृष्ण नाम के कोई ऐतिहासिक पुरुष थे; तृतीय यह, कि गीता में कुरुक्षेत्र के जिस महायुद्ध का उल्लेख है, क्या वह सचमुच हुआ था; और चतुर्थ यह, कि क्या अर्जुन तथा अन्य लोग वास्तविक ऐतिहासिक पुरुष थे।

अब सर्वप्रथम हम यह देखें कि इस तरह की जाँच-पड़ताल के क्या आधार हैं। हम जानते हैं कि वेदव्यास नाम के कई व्यक्ति हुए, और उनमें से गीता का असली लेखक कौन था——बादरायण व्यास या द्वैपायन व्यास? 'व्यास' तो उपाधि मात्र थी। जो कोई किसी नये पुराण की रचना करता था, वह व्यास के नाम से प्रसिद्ध हो जाता था, जो विक्रमादित्य शब्द के सदृश एक सामान्य नाम था। एक अन्य बात यह है कि साधारण जनता को गीता के विषय में तब तक अधिक जानकारी नहीं थी, जब तक शंकराचार्य ने उस पर अपना महान् भाष्य लिखकर उसे विख्यात नहीं बना दिया। बहुतों का कहना है कि उससे बहुत पहले उस पर बोधायन का भाष्य प्रचलित था। यदि यह सिद्ध हो सके, तो निस्संदेह गीता की प्राचीनता और व्यास का उसका लेखक होना काफ़ी हद तक मान्य हो सकता है। किन्तु भारत भर में

भ्रमण करते समय मुझे वेदान्त-सूत्र पर बोधायन भाष्य की कोई प्रति नहीं मिली। रामानुज ने उससे अपना श्रीभाष्य संकलित किया, शंकराचार्य ने उसका उल्लेख किया है और स्वयं अपने भाष्य में उन्होंने यत्र-तत्र उसे अंशतः उद्धृत तक किया है और स्वामी दयानन्द ने उसकी बड़ी चर्चा की है। कहा जाता है कि रामानुज तक ने कीड़ों-मकोड़ों से खायी हुई एक हस्तलिखित प्रति से, जो संयोग से उन्हें मिल गयी थी, अपने भाष्य को संकलित किया। जब वेदान्त-सूत्र पर लिखा गया बोधायन का यह महान् भाष्य भी अनिश्चितता के अंधकार में इतना ढका हुआ है, तब गीता पर बोधायन भाष्य के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है। कुछ लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि गीता के लेखक शंकराचार्य थे और उन्होंने ही उसे महाभारत के बीच प्रक्षिप्त कर दिया।

फिर जहाँ तक दूसरा विचारणीय प्रश्न है, कृष्ण के व्यक्तित्व के विषय में बहुत संदेह की स्थिति है। छान्दोग्योपनिषद् में एक जगह हमें देवकी के पुत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने एक घोर नामक योगी से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की थी। महाभारत में कृष्ण द्वारकाधीश हैं और विष्णुपुराण में गोपियों के साथ लीला करते हुए कृष्ण का वर्णन मिलता है। फिर भागवत में उनकी रासलीला का विशद वर्णन किया गया है। हमारे देश में अति प्राचीन काल में मदनोत्सव के नाम से एक उत्सव (कामदेव के सम्मान में समारोह) प्रचलित था। बिल्कुल वही चीज़ दोल में रूपान्तरित कर दी गयी और वह कृष्ण के मत्थे मढ़ दी गयी; कौन इतना साहसी हो सकता है, जो ज़ोर देकर कहे कि उनसे सम्बन्धित रासलीला तथा अन्य वस्तुएँ उनके साथ उसी भाँति नहीं जोड़ दी गयीं? प्राचीन काल में हमारे देश में ऐतिहासिक शोध द्वारा सत्य का पता लगाने की प्रवृत्ति बहुत कम थी। अतएव समुचित तथ्यों और प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये बिना ही जिसके विचार में जो सर्वोत्तम जान पड़ता, उसे वह कह डालता था। इसलिए प्रायः ऐसा हुआ कि किसी आदमी ने कोई ग्रंथ रचा और अपने गुरु या किसी अन्य के नाम से उसे प्रचलित कर दिया। ऐसे मामलों में ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करनेवालों के लिए सत्य तक पहुँचना बड़ी जोखिम का काम है। प्राचीन काल में लोगों को भूगोल का ज़रा भी ज्ञान नहीं था—कल्पना की बेसिर-पैर की उड़ानें थीं, अतः हमें मस्तिष्क की ऐसी काल्पनिक सृष्टियों के नमूने मिलते हैं यथा इक्षु-सागर, क्षीर-सागर, घृत-सागर, दधि-सागर, आदि! पुराणों में हमें मिलता है कि एक की आयु दस हज़ार वर्ष थी, तो दूसरे की आयु एक लाख वर्ष थी! किन्तु वेद कहते हैं, **शतायुर्वै पुरुषः**—'मनुष्य की आयु एक सौ वर्ष की है।' यहाँ हम किसका मत ठीक मानें? अतः, कृष्ण के विषय में सही निष्कर्ष पर पहुँचना प्रायः असम्भव है।

यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह किसी महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र में तरह तरह की काल्पनिक अतिमानवीय विशेषताएँ जोड देता है। कृष्ण के विषय में अवश्य ऐसा हुआ होगा, किन्तु यह बिल्कुल सम्भव प्रतीत होता है कि वह राजा थे। मैं इसे बिल्कुल सम्भव कहता हूँ, क्योंकि प्राचीन काल में हमारे देश में ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश देने में मुख्यतः राजन्य वर्ग ही उद्योग करता था। यहाँ एक और बात पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा कि गीता का लेखक चाहे जो कोई रहा हो, हमें उसमें वही शिक्षाएँ मिलती हैं, जो समस्त महाभारत में हैं। इससे हम निरापद रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि महाभारत-काल में किसी महान् पुरुष का अभ्युदय हुआ, जिसने तत्कालीन समाज को इस नये परिधान में ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। एक और बात सामने आती है कि प्राचीन समय में जब एक धर्म-सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरे धर्म-सम्प्रदाय का अभ्युदय होता था, तब किसी न किसी नये धर्मशास्त्र का भी प्रणयन होता था और वह उनमें व्यवहृत होने लगता था। यह भी होता था कि काल व्यतीत होने पर धर्म-सम्प्रदाय तथा उसका धर्मशास्त्र दोनों लुप्त हो गये, या धर्म-सम्प्रदाय का तो अस्तित्व मिट गया, किन्तु धर्मशास्त्र बचा रह गया। इस प्रकार, यह बिल्कुल सम्भव है कि गीता किसी ऐसे धर्म-सम्प्रदाय का शास्त्र रही हो, जिसने अपने उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को इस पवित्र ग्रंथ में समाविष्ट किया हो।

अब तीसरा प्रश्न है, जो कुरुक्षेत्र के युद्ध के विषय से सम्बन्धित है। इसके समर्थन में कोई विशेष प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि कुरुओं और पांचालों में एक युद्ध हुआ था। दूसरी बात यह है कि रण-क्षेत्र में, जहाँ विशाल सेना व्यूहबद्ध खड़ी हो और लड़ने के लिए सन्नद्ध हो, बस, अन्तिम संकेत की प्रतीक्षा कर रही हो, ज्ञान, भक्ति और योग के विषय में इतनी अधिक चर्चा कैसे हो सकती थी? और क्या रणक्षेत्र के कोलाहल और खलबली में कृष्ण तथा अर्जुन के संवाद के प्रत्येक शब्द को नोट करने के लिए वहाँ कोई शीघ्रलिपिक उपस्थित था? कुछ लोगों का कहना है कि कुरुक्षेत्र-युद्ध केवल एक रूपक है। जब हम उसके गुह्य अभिप्राय का सारांश निकालते हैं, तो उसका अर्थ उस युद्ध से होता है, जो निरन्तर मनुष्य के अन्तःकरण में उसकी दैवी तथा आसुरी प्रवृत्तियों में हो रहा है। यह अर्थ भी विवेकवर्जित नहीं हो सकता।

चौथा प्रश्न लो। अर्जुन तथा अन्य लोगों की ऐतिहासिकता के विषय में सन्देह का काफ़ी आधार है और वह आधार यह है—अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ, शतपथ ब्राह्मण है। उसमें कहीं पर उन सभी नामों का उल्लेख है, जो अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठाता थे, किन्तु वहाँ अर्जुन तथा अन्य लोगों के नामों के उल्लेख की कौन कहे उनका

संकेत भी नहीं है, यद्यपि उसमें जनमेजय का वर्णन है, जो परीक्षित के पुत्र और अर्जुन के प्रपौत्र थे; फिर भी महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में कहा गया कि युधिष्ठिर, अर्जुन तथा अन्य लोगों ने अश्वमेध यज्ञ किया।

यहाँ एक बात विशेष रूप से याद रखनी चाहिए कि इन ऐतिहासिक खोजों और हमारे वास्तविक उद्देश्य के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा वास्तविक उद्देश्य वह ज्ञान है, जो धर्मोपार्जन कराता है। यदि इसकी सारी ऐतिहासिकता आज पूर्ण रूप से मिथ्या प्रमाणित हो जाय, तब भी इससे हमें कोई क्षति नहीं पहुँचेगी। तब तुम पूछ सकते हो कि इतने ऐतिहासिक शोध से क्या लाभ है? इससे लाभ है, क्योंकि हमें सत्य का पता लगाना है। वह हमें अज्ञानवश ग़लत भावनाओं में बँधे नहीं रहने देगा। इस देश में इस प्रकार की छानबीन के महत्त्व को लोग बहुत कम समझते हैं। बहुत से धर्म-सम्प्रदायों का विश्वास है कि बहुजनहिताय किसी अच्छी बात का उपदेश देने में, एक असत्य कह देने से कोई हानि नहीं है, बशर्ते उससे उपदेश को सहायता मिले, या दूसरे शब्दों में उद्देश्य पावन होने से साधनों के अपावन होने के दोष का परिमार्जन हो जाता है। अतः हम देखते हैं कि हमारे तन्त्र ग्रन्थों में से बहुतों का आरम्भ 'महादेव ने पार्वती से कहा' से होता है। किन्तु हमारा कर्तव्य यह होना चाहिए कि हमें स्वयं सत्य की पूरी प्रतीति हो जाय और हम केवल सत्य में ही विश्वास करें। कुसंस्कार अथवा सत्य की छानबीन किये बिना प्राचीन परंपराओं के विश्वास में इतना बल है कि वह लोगों का हाथ-पाँव जकड़ देता है, इतना जकड़ देता है कि ईसा मसीह, मुहम्मद और अन्य महापुरुष तक ऐसे बहुत से कुसंस्कारों के प्रति आस्था रखते थे और उन्हें विदा न कर सके। तुम्हें सदा अपनी दृष्टि सत्य पर जमाये रखनी चाहिए और सभी कुसंस्कारों का पूर्णतया परिहार करना चाहिए।

अब हमें यह देखना चाहिए कि गीता में क्या है। उपनिषदों का अध्ययन करें, तो हम देखते हैं कि बहुत से असम्बद्ध विषयों की भूलभुलैया में भटकने पर सहसा किसी महान् सत्य की चर्चा छिड़ जाती है, ठीक वैसे ही जैसे किसी विशाल वीरान प्रदेश में किसी यात्री को अकस्मात् यत्र-तत्र अति सुन्दर गुलाब मिल जाता है, जिसकी पत्तियाँ, काँटे, जड़ें सभी परस्पर उलझी हैं। उनकी तुलना में गीता इन सत्यों के सदृश है, जो सुन्दर ढंग से यथास्थान व्यवस्थित है—वह एक सुन्दर पुष्पमाला के या सर्वोत्तम चुने हुए फूलों के एक गुलदस्ते के समान है। उपनिषदों में कई स्थलों पर श्रद्धा की विस्तृत विवेचना की गयी है, किन्तु भक्ति का उल्लेख अल्प ही है। दूसरी ओर गीता में भक्ति की बार बार विवेचना ही नहीं की गयी है, वरन् उसमें भक्ति की अन्तर्निष्ठ भावना चरम उत्कर्ष तक पहुँच गयी है।

अब गीता के कुछ प्रमुख प्रसंगों पर दृष्टिपात करें, जिनकी उसमें चर्चा है। गीता की मौलिकता किस बात में है, जिससे पूर्ववर्ती सभी शास्त्रों से वह विशिष्ट मानी जा सकती है ? यद्यपि उसके प्रवर्तन के पूर्व योग, ज्ञान, भक्ति आदि सभी के दृढ़ अनुयायी थे, तथापि वे सब आपस में विवाद करते थे। अपने चुने हुए मार्गों की सर्वोत्कृष्टता का प्रत्येक दावा करता था। इन विभिन्न मार्गों में समन्वय स्थापित करने का किसीने कभी प्रयत्न नहीं किया। गीता के रचयिता ने ही सर्वप्रथम उसमें समन्वय का प्रयास किया। तत्कालीन प्रचलित सभी धर्म-सम्प्रदायों के सर्वोत्तम तत्त्वों को उन्होंने लिया और गीता में सूत्रबद्ध कर दिया। किन्तु जहाँ आपस में लड़ने-झगड़नेवाले इन धर्म-सम्प्रदायों में पूर्ण समन्वय प्रस्तुत करने में कृष्ण विफल हुए, वहाँ इस उन्नीसवीं शताब्दी में वह रामकृष्ण परमहंस द्वारा पूर्णतः सम्पन्न हुआ।

इसके पश्चात् है निष्काम कर्म, आसक्तिरहित कर्म। आजकल लोग इसका अर्थ कई तरह से करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अनासक्त होने का अर्थ है, निरभिप्राय हो जाना। यदि उसका यथार्थ यही है, तब तो हृदयहीन पशु और दीवारें निष्काम कर्म के सम्पादन के सबसे बढ़िया नमूने हैं। फिर लोग जनक का उदाहरण रखते हैं और चाहते हैं कि निष्काम कर्म के अभ्यास में सिद्धहस्त होने में उनको भी वैसी ही मान्यता दी जाय। जनक (शाब्दिक अर्थ, पिता) ने वह गौरव बच्चे पैदा कर उपार्जित नहीं किया था, किन्तु ये लोग एक झुंड बच्चों के पिता होने की एकमात्र अर्हता पर जनक बनना चाहते हैं! नहीं! सच्चे निष्काम कर्मी (बिना कामना के काम करनेवाले) को न तो पशु बनना है, न जड़, न हृदयहीन। वह तामसिक नहीं, बल्कि विशुद्ध सात्त्विक होता है। उसका हृदय प्रेम और सहानुभूति से इतना ओतप्रोत है कि वह अपने प्रेम से सारे विश्व को लपेट सकता है। किन्तु संसार साधारणतः उसके सर्वग्राही प्रेम तथा सहानुभूति को पूरी तरह समझ नहीं पाता।

धर्म के विभिन्न मार्गों का समन्वय और निःस्पृह या निष्काम कर्म—ये गीता की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं।

अब हम द्वितीय अध्याय से कुछ पढ़ें—

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

श्री भगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

संजय ने कहा—जो अर्जुन करुणा और विषाद से अभिभूत हो गया था और जिसके नेत्र आँसुओं से गीले हो गये थे, उससे मधुसूदन ने ये शब्द कहे :

श्री भगवान् ने कहा :

हे अर्जुन, तुझको ऐसे विषम स्थल में यह नैराश्य किस हेतु प्राप्त हुआ ? यह तो अनार्यों के जैसा है, अकीर्तिकारी है और स्वर्ग-प्राप्ति के विपरीत है।

हे पृथा-पुत्र, तू नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर, हे शत्रुतापी, उठ।

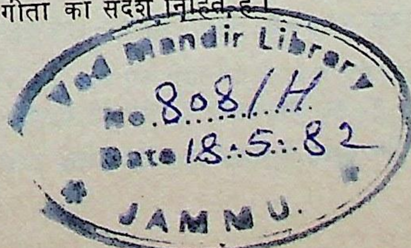
तं तथा कृपयाविष्टम् से आरम्भ होनेवाले श्लोक में कैसे कवित्वपूर्ण और कैसे सुन्दर ढंग से अर्जुन की सच्ची स्थिति का चित्रण किया गया है ! तब श्री कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं, और **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ** आदि कहकर वह लड़ने के लिए अर्जुन को प्रेरित क्यों कर रहे हैं ? क्योंकि अर्जुन में युद्ध से विरति विशुद्ध सत्त्व गुण की अति प्रबलता के कारण पैदा नहीं हुई। अनिच्छा पैदा होने का कारण बिल्कुल तमस् था। सत्त्व-गुण-प्रधान व्यक्ति की प्रकृति होती है कि वह जीवन की सभी स्थितियों में—चाहे सम्पत्ति हो अथवा विपत्ति हो—समभाव से शान्त रहता है। किन्तु अर्जुन त्रस्त था, वह करुणा से आकुल था। वह रणक्षेत्र में लड़ने के अलावा किसी दूसरे अभिप्राय से नहीं आया था, इस सीधे से तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि उसमें युद्ध की जन्मजात-प्रवृत्ति थी और उस ओर झुकाव था। हमारे जीवन में भी बहुधा ऐसी घटनाएँ देखी जाती हैं। बहुत से लोग सोचते हैं कि उनकी प्रकृति सात्त्विक है, परन्तु वस्तुतः वे तामसिक के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। बहुत से लोग गन्दे तरीक़े से रहते हैं और अपने को परमहंस मान बैठते हैं ! क्यों ? क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि परमहंस लोग किसी जड़ या पागल या गंदे जीव सदृश रहते हैं। परमहंसों की उपमा बच्चों से दी जाती है, लेकिन इसे समझना चाहिए कि यह उपमा एकांगी है। परमहंस और बालक एक तथा अभिन्न नहीं हैं। वे केवल एक से प्रतीत होते हैं, मानो दो छोरों पर स्थित दो ध्रुव हों। एक ज्ञानातीत अवस्था में पहुँच गया है और दूसरे को ज्ञान का आभास तक नहीं हुआ है। प्रकाश के सबसे तीव्र और मन्द कम्पन, दोनों ही, हमारी स्थूल दृष्टि की पहुँच के परे हैं, किन्तु एक में प्रखर ताप है और दूसरे में, हम कह सकते हैं कि ताप प्रायः बिल्कुल नहीं होता। सत्त्व और तमस् के परस्पर विरोधी गुण भी ऐसे ही हैं, निस्संदेह कई दृष्टियों से तो वे एक प्रतीत होते हैं, लेकिन उनमें आकाश-पाताल की भिन्नता है। तमोगुण को अपने

को सत्त्व के वेश-विन्यास में दिखाना बहुत प्रिय है। यहाँ महायोद्धा अर्जुन में वह तमस् दया (करुणा) के छद्म वेश में आया है।

अर्जुन को जिस मोह ने धर दबाया है, उसके निवारण के लिए भगवान् ने क्या कहा ? जैसा कि मैं सदा उपदेश देता हूँ कि किसी व्यक्ति को पापी कहकर तुम्हें उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए, बल्कि तुम्हें उसका ध्यान उसमें विद्यमान सर्वशक्तिमत्ता की ओर आकृष्ट करना चाहिए, वैसे ही भगवान् अर्जुन से कहते हैं। **नैतत्त्वय्युपपद्यते**--'यह तुम्हारे योग्य नहीं है !' 'तुम अविनाशी आत्मा हो, सब दोषों से परे हो। अपनी सत्य प्रकृति को भूलकर और अपने को पापी समझकर, तुमने अपने को वैसा बना लिया है, जैसा कि कोई शारीरिक पापों तथा मानसिक शोक से पीड़ित हो--यह तुम्हारे योग्य नहीं है।'--भगवान् इस प्रकार कहते हैं, **"क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ**--हे पृथा-पुत्र, नपुंसकता को न प्राप्त हो। दुनिया में न तो पाप है, न दुःख है, न रोग है और न शोक है; यदि दुनिया में कोई ऐसी वस्तु है, जिसे पाप कहा जा सकता है, तो वह है--'भय'। जान लो कि जिस किसी काम से तुममें गुप्त शक्ति पैदा हो, वह पुण्य है; और जो तुम्हारे शरीर और मन को निर्बल बनाये, वह सचमुच पाप है। इस निर्बलता और इस हृदय-दुर्बलता को दूर भगाओ ! **क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ !** तुम बहादुर हो, वीर हो; यह तुम्हारे अयोग्य है।"

यदि तुम लोग, ऐ मेरे बच्चो, दुनिया को यह सन्देश पहुँचा सको कि **क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते**--तो ये सारे रोग, शोक, पाप और विषाद तीन दिन में धरती से निर्मूल हो जायँ। दुर्बलता के ये सब भाव कहीं नहीं रह जायँगे। इस समय सर्वत्र है--भय के स्पंदन का यह प्रवाह। प्रवाह को उलट दो; उलटा स्पंदन लाओ, और देखो, जादू का रूपान्तर ! तुम सर्वशक्तिमान हो--तोप के मुँह तक जाओ, जाओ तो, डरो मत। अति अधम पापी से घृणा मत करो, उसके बाहर को मत देखो। दृष्टि को अन्तर्मुख करो, जहाँ परमात्मा का निवास है। तुरही की ध्वनि से विश्व को निनादित कर दो, 'तुममें कोई पाप नहीं है, तुममें कोई दुःख नहीं है, तुम परम शक्ति के आगार हो। उठो, जागो और भीतर के देवत्व को अभिव्यक्त करो।'

यदि कोई यह श्लोक पढ़ता है--**क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप**--तो उसे सम्पूर्ण गीता-पाठ का लाभ होता है, क्योंकि इसी एक श्लोक में पूरी गीता का संदेश निहित है।



समालाप

१

भारत का मिशन

('संडे टाइम्स', लंदन, १८९६)

इंग्लैण्डवासी इस तथ्य को अच्छी तरह जानते हैं कि वे भारत के 'प्रवाल तटों'[1] को मिशनरी भेजते हैं। वास्तव में, वे इस धर्माज्ञा का, 'तुम समस्त संसार में जाओ और ईश्वर के सन्देश का प्रचार करो', इतनी पूर्णता के साथ पालन करते हैं, कि मुख्य ब्रिटिश सम्प्रदायों में कोई भी ईसा की शिक्षा के प्रचार के इस आदेश का पालन करने में पीछे नहीं रहा है। पर लोग इस बात को इतनी अच्छी तरह नहीं जानते कि भारत भी इंग्लैण्ड में धर्म-प्रचारक भेजता है।

संयोग की बात है, यदि इस शब्द का उपयोग किया जा सके, मैं स्वामी विवेकानन्द के अस्थायी निवास ६३, सेण्ट जॉर्ज रोड, एस० डब्ल्यू० में उनके सामने पड़ गया; और क्योंकि उन्होंने अपने कार्य की रूपरेखा और अपने इंग्लैण्ड आगमन के विषय में बातचीत करने में कोई आपत्ति नहीं की, इसलिए मैं उनके निकट पहुँचा, और अपने अनुरोध की स्वीकृति पर आश्चर्य प्रकट करते हुए बात आरम्भ की।

"मैं अमेरिका में इण्टरव्यू लेनेवालों से पूर्ण अभ्यस्त हो गया हूँ। क्योंकि मेरे देश में ऐसा रिवाज़ नहीं है, इसलिए यह कोई कारण नहीं है कि मैं जिस देश में जाऊँ, वहाँ सुलभ साधनों का उपयोग उन बातों को फैलाने के लिए न करूँ, जिनका मैं प्रचार करना चाहता हूँ! वहाँ मैं १८९३ में, शिकागो की विश्व-धर्म-महासभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि था। मैसूर के राजा और कुछ दूसरे मित्रों ने मुझे वहाँ भेजा था। मैं समझता हूँ कि मैं अमेरिका में कुछ सफलता प्राप्त करने का दावा कर सकता हूँ। शिकागो के अतिरिक्त मुझे अमेरिका के अन्य बड़े नगरों से भी बहुत से निमन्त्रण मिले। मैं वहाँ बहुत दिनों तक ठहरा; क्योंकि पिछली गर्मियों में और,

---

१. इस धारणा के अनुसार कि भारत के सागर-तट पर प्रवाल पाये जाते हैं, प्राचीन समय में पाश्चात्य लोग भारत के साथ इसी नाम से परिचित थे। स०

जैसा कि आप देख रहे हैं, इन गर्मियों में इंग्लैण्ड आने के अतिरिक्त, मैं अमेरिका में लगभग तीन वर्ष रहा। मेरी राय में अमेरिका की सभ्यता एक महान् सभ्यता है। मैंने अमेरिकी मस्तिष्क को नये विचारों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील पाया है। वहाँ कोई बात इसलिए त्याज्य नहीं है, क्योंकि वह नयी है। वह अपनी अच्छाई और बुराई के आधार पर जाँची जाती है और केवल इसी आधार पर स्वीकार अथवा अस्वीकार की जाती है।''

''जब कि इंग्लैण्ड में—क्या आप संकेत से कुछ कहना चाहते हैं?''

''हाँ। इंग्लैण्ड में सभ्यता पुरानी है। ज्यों ज्यों सदियाँ बीती हैं, उसमें बहुत विस्तार हुआ है। विशेष रूप से, आपके बहुत से पूर्वाग्रह बन गये हैं, जिनको जीतने की आवश्यकता है, और जो कोई आपसे विचारों का आदान-प्रदान करता है, उसे यह काम करना होगा।''

''ऐसा कहा जाता है। मैं समझता हूँ कि आपने अमेरिका में किसी धर्म अथवा नये मत की स्थापना नहीं की है।''

''यह सच है। संगठनों की संख्या बढ़ाना हमारे सिद्धान्तों के विपरीत है; क्योंकि, सब प्रकार से, उनकी संख्या पहले ही काफ़ी है। और जब संगठन बनाये जाते हैं, तो उनकी देख-रेख के लिए व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। और वे, जिन्होंने संन्यास ले लिया है—अर्थात् जिन्होंने सब सांसारिक पद, सम्पदा और ख्याति त्याग दी है—तथा जिनका उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञान की खोज है, इस काम को नहीं सँभाल सकते, और वह फिर दूसरों के हाथों में चला जाता है।''

''क्या आपकी शिक्षा एक तुलनात्मक धर्म-प्रणाली है?''

''इस विषय में अधिक सुनिश्चित धारणा हमें शायद यह कहने से प्राप्त हो सकती है कि वह धर्म के सब रूपों का सार है; उनके ऊपर से असार को हटाकर उसके ऊपर बल देना है, जो उनका वास्तविक आधार है। मैं रामकृष्ण परमहंस का शिष्य हूँ। वे एक पूर्ण संन्यासी थे। मैं उनके प्रभाव और विचारों से प्रभावित हुआ। इस महान् संन्यासी ने दूसरे धर्मों के प्रति कभी नकारात्मक अथवा आलोचनात्मक दृष्टिकोण नहीं रखा, वरन् उनके सकारात्मक पक्ष को प्रदर्शित किया अर्थात् जीवन में उनका कैसे पालन और अभ्यास किया जा सकता है। झगडना, विरोध का दृष्टिकोण रखना उनकी शिक्षा के बिल्कुल विपरीत पड़ता है; उनकी शिक्षा का विषय यह सत्य है कि संसार प्रेम से चलता है। आप जानते हैं कि हिन्दू धर्म विधर्मियों को कभी कष्ट नहीं पहुँचाता। यह एक ऐसा देश है, जहाँ सब धर्म शान्ति और सद्भावना के साथ रह सकते हैं। मुसलमान अपने साथ हत्या और वध लाये, पर उनके आने से पहले शान्ति का शासन था। इस प्रकार जैन, जो

किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करते और ऐसे विश्वास को भ्रम समझते हैं, सहन किये गये और वे आज भी हैं। भारत वास्तविक शक्ति—नम्रता का उदाहरण उपस्थित करता है। आक्रमण, दुस्साहस, संघर्ष ये सब बातें दुर्बलता हैं।"

"यह बहुत कुछ टाल्स्टाय के सिद्धान्त के समान जान पड़ता है, इससे व्यक्तियों का काम चल सकता है, यद्यपि मैं स्वयं इस पर सन्देह करता हूँ। पर इससे राष्ट्रों का काम कैसे चलेगा ?"

"उनका काम भी बहुत अच्छी तरह से चलेगा। यह भारत का कर्म था, उसका भाग्य था, कि वह जीता जाय, और अपनी बारी आने पर, अपने विजेता पर विजय प्राप्त करे। वह अपने मुसलमान विजेताओं के प्रति यह कर चुका है: शिक्षित मसलमान सूफ़ी हैं, उनमें और हिन्दुओं में विशेष भेद नहीं है। हिन्दू विचार उनकी सभ्यता में रम गया है और उन्होंने शिक्षार्थी की स्थिति ले ली है। मुग़ल सम्राट् महान् अकबर व्यवहारतः हिन्दू था। और समय आने पर इंग्लैण्ड भी विजित होगा। आज उसके हाथों में तलवार है, पर विचारों के संसार में वह व्यर्थ से भी अधिक गया-बीता है। आप जानते हैं कि शापेनहॉवर ने भारतीय चिन्तन के बारे में क्या कहा है। उन्होंने भविष्यवाणी की है कि जब ये विचार हमारे सुपरिचित हो जायँगे, तो यूरोप पर उनका प्रभाव उतना ही गम्भीर पड़ेगा, जितना कि अन्ध युग के बाद यूनानी और लेटिन संस्कृति के पुनर्जीवन का पड़ा था।"

"क्षमा करें, यदि मैं कहूँ कि अभी तो इसके कोई लक्षण दिखायी नहीं देते।"

"शायद नहीं", स्वामी जी गम्भीरता से बोले। "मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि बहुत से लोगों को पुराने नवजागरण के चिह्न भी दिखायी नहीं दिये थे, और उन्हें उसके आगमन का पता उस समय भी नहीं चला था, जब कि वह आ चुका था। पर एक महान् गति आ रही है, जिसे वे लोग ही पहचान सकते हैं, जो समय के संकेतों को समझते हैं। पिछले कुछ वर्षों में प्राच्य अन्वेषणों में बहुत प्रगति हुई है। अभी वे विद्वानों के हाथों में हैं, और जो कार्य उन्होंने किया है, उसमें वे नीरस और भारी दिखायी देते हैं। पर धीरे धीरे समझ का प्रकाश फैलेगा।"

"और भारत भविष्य का महान् विजेता होगा। पर वह अपने विचारों के प्रचार के लिए अधिक धर्मोपदेशक नहीं भेजता। मैं समझता हूँ कि वह उस समय तक प्रतीक्षा करेगा, जब तक कि संसार उसके चरणों में नहीं आ जाता।"

"एक समय था, जब भारत धर्म-प्रचार-कार्य की एक महान् शक्ति था। इंग्लैण्ड के ईसाई धर्म स्वीकार करने से सैकड़ों वर्ष पहले बुद्ध ने एशिया की दुनिया को अपने सिद्धान्त में दीक्षित करने के लिए धर्म-प्रचारक भेजे थे। विचारों के संसार में परिवर्तन आ रहा है। हम अभी केवल आरम्भ कर रहे हैं। उन लोगों की संख्या, जो

धर्म के किसी रूपविशेष को स्वीकार करने से इन्कार करते हैं, बहुत बढ़ रही है, और यह हलचल शिक्षित वर्ग में है। अभी हाल की एक अमेरिकी जन-गणना में बहुत से लोगों ने अपने को किसी विशिष्ट धार्मिक वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाला लिखवाना अस्वीकार किया है। सब धर्म एक ही सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं; वे आगे बढ़ते हैं, नहीं तो मर जाते हैं। वे एक ही सत्यस्वरूप केन्द्र की त्रिज्याएँ हैं--अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनकी विविध मस्तिष्कों को आवश्यकता होती है।"

"अब हम समस्या के निकट पहुँच रहे हैं। यह केन्द्रीय सत्य क्या है?"

"वह है भीतर का ईश्वर। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना ही पतित हो, ईश्वर की---दिव्यत्व की अभिव्यक्ति है। दिव्यत्व पर आवरण आ जाता है, वह दृष्टि से छिप जाता है। मुझे भारतीय विद्रोह की एक घटना याद आती है। वर्षों तक चिर मौन रहने के व्रत की साधना करनेवाले एक स्वामी जी को एक मुसलमान ने छुरा भोंक दिया। लोग हत्यारे को खींचकर आहत के सामने ले गये और बोले, 'स्वामी जी, आप कहें, तो हम इसे ठिकाने लगा दें।' अनेक वर्षों तक मौन रहने के बाद उसने अपना व्रत अपने अन्तिम समय में यह कहने के लिए तोड़ा, 'मेरे बच्चो, तुम सब भूल में हो। यह मनुष्य साक्षात् ईश्वर है।' महान् शिक्षा यह है कि सबके पीछे वही एक है। उसे गॉड, प्रेम, आत्मा, अल्लाह, जिहोवा---चाहे जो कहिए, वह है वही एक, जो निम्नतम जन्तु से लेकर उच्चतम मनुष्य तक, सब जीवों को प्राणवान बनाता है। आप बहुविध छिद्रों से विद्ध हिम से आवेष्ठित एक महासागर की कल्पना कीजिए; इनमें से प्रत्येक छिद्र एक आत्मा है, एक मनुष्य है, जो अपनी बुद्धि की मात्रा के अनुसार मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा है और बर्फ़ को तोड़कर निकलने का प्रयास कर रहा है।"

"मैं समझता हूँ कि मुझे पूर्व और पश्चिम के आदर्श में एक अन्तर दिखायी देता है। आप संन्यास, मनन और ऐसे ही उपायों द्वारा अत्यन्त पूर्ण व्यक्ति उत्पन्न करना चाहते हैं। और पश्चिम का आदर्श यह जान पड़ता है कि वह समाज-व्यवस्था को पूर्ण बनाये, और इसलिए हम राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर कार्य करते हैं, क्योंकि हम समझते हैं कि हमारी सभ्यता का स्थायित्व लोगों के कल्याण पर निर्भर है।"

स्वामी जी ने बड़ी गम्भीरता से कहा, "पर सभी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ मनुष्यों के भलेपन पर टिकती हैं। कोई राष्ट्र इसलिए महान् और अच्छा नहीं होता कि पार्लियामेण्ट ने यह या वह पास कर दिया है, वरन् इसलिए होता है कि उसके निवासी महान् और अच्छे होते हैं। मैं चीन गया हूँ; उसका संगठन, सब राष्ट्रों से अधिक प्रशंसनीय है। फिर भी चीन आज एक अव्यवस्थित

भीड़ है, क्योंकि उसके निवासी अब प्राचीन काल में बनायी गयी व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार सक्षम नहीं हैं। धर्म इस समस्या की जड़ तक पहुँचता है। यदि वह ठीक रहता है, तो सब ठीक होता है।"

"ईश्वर प्रत्येक के भीतर है, पर आच्छन्न है; यह बात अस्पष्ट और व्यावहारिक जीवन से दूर मालूम होती है। मनुष्य सदा उसीकी खोज में नहीं रह सकता।"

"बहुत से लोग अक्सर एक ही उद्देश्य के लिए काम करते हैं, पर इस तथ्य को पहचान नहीं पाते। यह तो हमें मान ही लेना चाहिए कि क़ानून, सरकार, राजनीति ऐसी अवस्थाएँ हैं, जो किसी प्रकार अन्तिम नहीं हैं। उनसे परे एक ध्येय है, जहाँ क़ानून की आवश्यकता नहीं होती। और साथ ही स्वयं संन्यासी शब्द का अर्थ है: विधित्यागी ब्रह्मतत्त्वान्वेषी, या यह कह सकते हैं, 'नेतिवादी' ब्रह्मज्ञानी। पर यह भी है कि जो लोग ऐसे शब्द का उपयोग करते हैं, उन्हें सदा भ्रम बना रहता है। ईसा ने देखा कि विधि-नियम उन्नति का मूल नहीं है, केवल नैतिकता और पवित्रता ही शक्ति हैं। अपने इस कथन के बारे में कि पूर्व का उद्देश्य उच्चतर आतम-विकास और पश्चिम के सामाजिक शासन को पूर्ण करना है, आप निश्चय ही यह नहीं भूल रहे हैं कि एक हमारा दृश्य व्यक्तित्व है और एक वास्तविक व्यक्तित्व है।"

"आपका तात्पर्य निश्चय ही यह है कि हम दृश्य के लिए काम करते हैं और आप वास्तविक के लिए।"

मन पूर्ण विकास प्राप्त करने के लिए विभिन्न अवस्थाओं में होकर आगे बढ़ता है। पहले वह ठोस को पकड़ता है और फिर धीरे धीरे सिद्धान्तों में पहुँचता है। यह भी देखिए कि हम विश्व-बन्धुत्व के विचार तक कैसे पहुँचते हैं। पहले हम उसे एक दृढ़, संकीर्ण और पृथक् सम्प्रदाय के भीतर ग्रहण करते हैं। फिर धीरे धीरे हम विस्तृत सामान्यीकरण और सूक्ष्म विचारों के संसार में पदार्पण करते हैं।"

"तो आप समझते हैं कि वे सम्प्रदाय, जो इंग्लैण्डनिवासियों को इतने प्रिय हैं, समाप्त हो जायँगे? आप जानते हैं कि एक फ़ांसीसी ने कहा था कि 'इंग्लैण्ड ऐसा देश है, जहाँ सम्प्रदाय तो हजार हैं, पर सबकी रुचि एक ही है।'"

"मुझे पूर्ण विश्वास है कि उन्हें समाप्त होना है। उनकी स्थापना असार बातों के आधार पर हुई है: उनका सार भाग रहेगा और एक दूसरी इमारत के रूप में निर्मित होगा। आप इस पुरानी कहावत को तो जानते हैं कि किसी सम्प्रदाय में पैदा होना तो ठीक है, पर उसीमें मरना ठीक नहीं है।"

"शायद आप इस विषय में कुछ कहेंगे कि इंग्लैण्ड में आपका काम कैसा चल रहा है?"

"धीरे धीरे, उसी कारण से जो मैंने अभी बताया है। जब आप मूल और आधार के प्रति कुछ करना चाहते हैं, तो समस्त वास्तविक प्रगति मन्द ही होगी। निश्चय ही मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ये विचार, इस रीति से नहीं, तो किसी दूसरी से, फैले बिना न रहेंगे, और हममें से बहुतों का विचार है कि उनके प्रचार का उचित समय अब आ गया है।"

इसके बाद मैंने वह विवरण सुना कि उनका काम किस प्रकार चलाया जाता है। बहुत से पुराने सिद्धान्त के समान यह नया सिद्धान्त भी बिना शुल्क और बिना मूल्य वितरित किया जाता है, यह पूर्णतया उन्हीं लोगों के निजी प्रयासों पर निर्भर होता है, जो उसे अपनाते हैं।

स्वामी जी अपनी पूर्वीय वेश-भूषा में एक दार्शनिक व्यक्ति हैं। उनका सरल और प्रेमपूर्ण ढंग, जिससे उदासीपन की सामान्य धारणा की तनिक भी गन्ध नहीं आती, अंग्रेज़ी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार और वार्तालाप की महान् क्षमता उनके व्यक्तित्व की रोचकता में काफ़ी वृद्धि करती है। उनके संन्यास व्रत का अर्थ है पद, सम्पदा और ख्याति का त्याग और आध्यात्मिक ज्ञान की निरन्तर खोज।

२

विदेशों की बात और देश की समस्याएँ

('दि हिन्दू', मद्रास, फ़रवरी, १८९७)

हमारे एक प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द से गाड़ी में चिंगलपुट स्टेशन पर मिले और उनके साथ मद्रास तक आये। इस भेंट का विवरण यहाँ दिया जा रहा है :

"स्वामी जी, आप अमेरिका किसलिए गये थे ?"

"यह प्रश्न कुछ ऐसा गंभीर है कि इसका उत्तर संक्षेप में देना कठिन है। मैं अभी इसका उत्तर अंशतः देता हूँ। क्योंकि मैंने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की थी और मैं दूसरे देशों की भी यात्रा करना चाहता था। मैं अमेरिका सुदूर पूर्व होकर गया।"

"आपने जापान में क्या देखा, और क्या ऐसी सम्भावना है कि भारत जापान के प्रगतिशील चरणों का अनुसरण करे ?"

"बिल्कुल नहीं, जब तक कि भारत के तीस करोड़ एक सम्पूर्ण राष्ट्र की भाँति परस्पर मिल नहीं जाते, यह सम्भव नहीं। संसार ने कभी जापानियों के समान देशभक्त और कलाप्रिय जाति नहीं देखी; और उनकी एक विशेषता यह है कि जब कि यूरोप और दूसरे देशों में कला, साधारणतया गंदगी के साथ पायी जाती है, जापान में कला का अर्थ होता है कला+परम स्वच्छता। मेरी इच्छा है कि हमारे

नवयुवकों में से प्रत्येक अपने जीवन में कम से कम एक बार जापान अवश्य जाय। वहाँ जाना बहुत आसान है। जापानी समझते हैं कि हिन्दुओं की प्रत्येक वस्तु महान् है; और विश्वास करते हैं कि भारत पवित्र भूमि है। जापानी बुद्धमत उससे बिल्कुल भिन्न है, जो हमें लंका में दिखायी देता है। वह बिल्कुल वेदांत है। वह सकारात्मक और ईश्वरवादी बुद्धमत है, लंका का नकारात्मक निरीश्वरवादी बुद्धमत नहीं।

"जापान की हठात् महानता की कुंजी क्या है?"

"जापानियों का अपने में विश्वास और अपने देश के लिए उनका अनुराग। जब आपके पास ऐसे मनुष्य होंगे, जो अपना सब कुछ देश के लिए होम कर देने को तैयार हों, भीतर तक एकदम सच्चे, जब ऐसे मनुष्य उठेंगे, तो भारत प्रत्येक अर्थ में महान् हो जायगा। ये मनुष्य हैं, जो देश को महान् बनाते हैं! देश का अर्थ क्या होता है? यदि आप जापानियों की सामाजिक नैतिकता और राजनीतिक नैतिकता ले लेते हैं, तो आप उतने ही महान् हो जायँगे, जितने जापानी हैं। जापानी अपने देश के लिए सब कुछ बलिदान करने को तैयार हैं और वे एक महान् राष्ट्र बन गये हैं। पर आप ऐसे नहीं हैं और आप नहीं बन सकते; आप अपना सब कुछ केवल अपने परिवारों और अपनी सम्पत्ति के लिए ही बलिदान कर सकते हैं।"

"क्या आपकी यह इच्छा है कि भारत जापान के समान हो जाय?"

"निश्चय ही नहीं। भारत को वही रहना चाहिए, जो वह है। भारत कभी जापान के समान कैसे हो सकता है, और वास्तव में कोई भी देश उसके समान कैसे हो सकता है? प्रत्येक राष्ट्र का, जैसा कि संगीत में होता है, एक मुख्य स्वर होता है, एक केन्द्रीय विषय-वस्तु होती है, जिस पर अन्य सब बातें घूमती हैं। प्रत्येक राष्ट्र की एक विशिष्टता होती है, अन्य सब बातें उसके बाद आती हैं। भारत की विशिष्टता धर्म है। समाज-सुधार और अन्य सब बातें गौण हैं। इसलिए भारत जापान के जैसा नहीं हो सकता। यह कहा जाता है कि जब हृदय को ठेस लगती है, तो भावनाएँ उमड़ती हैं। भारत के हृदय को ठेस पहुँचनी चाहिए और आध्यात्मिकता का प्रवाह फूट निकलेगा। भारत भारत है। हम जापानियों जैसे नहीं हैं, हम हिन्दू हैं। भारत का वातावरण ही शांति देनेवाला है। मैं यहाँ निरन्तर काम कर रहा हूँ और इस काम में मुझे विश्राम मिल रहा है। हमें भारत में केवल आध्यात्मिक कार्य से ही विश्राम मिल सकता है। यदि आप यहाँ पार्थिव कार्य करते हैं, तो आप मरते हैं—मधुमेह से।"

"यह तो जापान की बात रही। स्वामी जी, आपका अमेरिका का प्रथम अनुभव कैसा रहा?"

"वह आदि से अंत तक बहुत अच्छा रहा। मिशनरियों और 'चर्च-नारियों' (Church-women) को छोड़कर, अमेरिका के लोग अत्यन्त अतिथि-सत्कारी, दयालु, उदार और अच्छे स्वभाववाले हैं।"

"ये 'चर्च-नारियाँ', जिनकी बात आप कह रहे हैं, कौन हैं, स्वामी जी ?"

"जब कोई नारी अपने लिए पति खोजने का अधिक से अधिक प्रयत्न करती है, तो वह सभी फ़ैशनेबुल समुद्रतटीय स्नान-स्थानों पर जाती है, और किसी पुरुष को पकड़ पाने के लिए सब प्रकार के छल-छद्म काम में लाती है। जब वह अपने प्रयत्नों में असफल रहती है, तो वह, जैसा कि अमेरिका में कहते हैं, 'ओल्ड मेड' हो जाती है और चर्च में सम्मिलित हो जाती है। उनमें से कुछ चर्च के काम में बहुत उत्साह प्रदर्शित करती हैं। ये चर्च-नारियाँ बहुत दुराग्रही होती हैं। वे वहाँ पादरियों के कठोर शासन में रहती हैं। वे और पादरी मिलकर पृथ्वी को नरक बनाते हैं और धर्म की मिट्टी पलीत करते हैं। इनके अतिरिक्त अमेरिका के निवासी बहुत अच्छे हैं। वे मुझसे स्नेह करते थे, और मैं उन्हें बहुत स्नेह करता हूँ। मुझे लगता था कि मानो मैं भी उन्हींमें से एक हूँ।"

"धर्मों की महासभा के परिणामों के विषय में आपकी क्या राय है ?"

"जैसा कि मुझे लगता है कि धर्म-महासभा इस विचार से की गयी थी कि संसार के सामने ग़ैर-ईसाइयों का प्रदर्शन हो, पर वहाँ हुआ यह कि ग़ैर-ईसाइयों के हाथ ही बाज़ी रही और सब प्रकार से ईसाइयों का ही प्रदर्शन हो गया। इसलिए ईसाइया के दृष्टिकोण से वह सफल नहीं हुई। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जो रोमन कैथोलिक उस महासभा के संगठनकर्ता थे, वे ही अब, जब कि पेरिस में दूसरी महासभा बुलाने की बात चल रही है, उसका दृढ़तापूर्वक विरोध कर रहे हैं। पर शिकागो की महासभा भारत और भारतीय विचारों के लिए अत्यन्त महान् सफलता थी। उसने वेदांत की लहर को सहायता दी, जो अब संसार भर में फैल गयी है। अमेरिका के लोग निश्चय ही, कट्टर पादरियों और चर्च-नारियों को छोड़कर, महासभा के परिणामों से बहुत प्रसन्न हैं।"

"स्वामी जी, आपके संदेश के इंग्लैण्ड में फैलने की क्या सम्भावना है ?"

"सम्भावना काफ़ी अच्छी है। थोड़े से वर्षों में ही अंग्रेज़ों का बहुत बड़ा बहुमत वेदांती हो जायगा। इंग्लैण्ड में इसकी संभावना अमेरिका से अधिक है। बात यह है कि अमेरिकी प्रत्येक वस्तु का वड़ा धूम-धड़ाका करते हैं; अंग्रेज़ों के विषय में ऐसी बात नहीं है। ईसाई भी अपने नवीन व्यवस्थान को बिना वेदांत समझे नहीं समझ सकते। वेदांत सब धर्मों का बौद्धिक सार है। वेदांत के बिना सब धर्म अंधविश्वास है; इसके साथ मिलकर प्रत्येक वस्तु धर्म बन जाती है।"

"आपने अंग्रेज़ों के चरित्र में कौन सी विशेषता परिलक्षित की ?"

"अंग्रेज़ ज्यों ही किसी वस्तु में विश्वास करने लगता है, तुरंत व्यावहारिक कार्य में जुट जाता है। व्यावहारिक कार्य के लिए उसकी क्षमता अद्भुत है। समस्त संसार में अंग्रेज़ भद्र पुरुष अथवा महिला से बढ़िया कोई दूसरा मानव प्राणी नहीं है। अंग्रेज़ों में मेरा विश्वास होने का कारण यही है। पक्का अंग्रेज़ व्यवहार में कुछ मोटी बुद्धि के सज्जन हैं। आपको किसी विचार को उस समय तक दोहराना चाहिए, जब तक कि वह उनके मस्तिष्क में न पहुँच जाय, पर एक बार वहाँ पहुँच जाने के बाद वह फिर बाहर नहीं निकलता। इंग्लैण्ड में एक भी धर्म-प्रचारक अथवा व्यक्ति नहीं था, जिसने मेरे विरुद्ध कुछ कहा हो; एक भी ऐसा नहीं, जिसने किसी प्रकार मेरी बदनामी करने का निश्चय किया हो। मुझे आश्चर्य है कि मेरे मित्रों में से बहुत से इंग्लैण्ड के चर्च के हैं। मुझे पता लगा है कि ये धर्म-संघ के सदस्य इंग्लैण्ड के ऊँचे वर्गों में से नहीं आते। जाति वहाँ भी उतनी कठोर है, जितनी कि यहाँ, और अंग्रेज़ी चर्च के लोग भद्र जनों के वर्ग के हैं। उनका मत आपसे भिन्न हो सकता है, पर इससे उनके आपके मित्र होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसलिए, मैं अपने देशवासियों को छोटी सी सलाह दूँगा और वह यह है कि तीखा बोलनेवाले धर्म-प्रचारकों की ओर ध्यान न दीजिए, क्योंकि अब मैं जानता हूँ कि वे क्या हैं। जैसा कि अमेरिकी लोग कहते हैं, हमने उन्हें 'नाप लिया' है। उनके प्रति हमें जो रुख अपनाना है, वह यही है कि हम उन्हें मानते ही नहीं।"

"स्वामी जी, क्या आप मुझे अमेरिका और इंग्लैण्ड के समाज-सुधार-आन्दोलनों के बारे में कुछ बताने की कृपा करेंगे ?"

"हाँ। सब सामाजिक उथल-पुथल करनेवाले, कम से कम उनके नेता यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उनके समस्त साम्यवादी सिद्धान्तों का आधार आध्यात्मिक होना चाहिए, और वह आध्यात्मिक आधार केवल वेदांत में है। मुझसे मेरा भाषण सुननेवाले कितने ही नेताओं ने कहा है कि उन्हें नयी व्यवस्था के आधार के रूप में वेदांत की आवश्यकता है।"

"भारतीय जनसमुदाय के विषय में आपकी क्या राय है ?"

"हम अत्यन्त दरिद्र हैं, और हमारी जनता को पार्थिव वस्तुओं के बारे में बहुत कम ज्ञान है। हमारे जन बहुत अच्छे हैं, क्योंकि यहाँ दरिद्र होना अपराध नहीं है। हमारी जनता हिंसक नहीं है। अमेरिका और इंग्लैण्ड में मैं बहुत बार केवल अपनी वेश-भूषा के कारण भीड़ों द्वारा प्रायः आक्रांत किया गया हूँ। पर भारत में मैंने ऐसी बात कभी नहीं सुनी कि भीड़ किसी मनुष्य की वेष-भूषा के कारण

उसके पीछे पड़ गयी हो। अन्य सभी बातों में, हमारी जनता यूरोप की जनता की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य है।"

"हमारी जनता के सुधार के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?"

"उन्हें हमें लोकोपयोगी शिक्षा देनी होगी। हमें अपने पूर्वजों द्वारा निश्चित की हुई योजना के अनुसार चलना होगा, अर्थात् सब आदर्शों को धीरे धीरे जनता में पहुँचाना होगा। उन्हें धीरे धीरे ऊपर ा इए, अपने बराबर उठाइए। उन्हें लौकिक ज्ञान भी धर्म के द्वारा दीजिए।"

"पर स्वामी जी, क्या आप समझते हैं कि यह काम सरलता से पूरा किया जा सकता है ?"

"निश्चय ही इसे धीरे धीरे आगे बढ़ाना होगा। पर यदि यहाँ काफ़ी आत्म-बलिदानी युवक हों, जैसा कि मैं आशा करता हूँ, मेरे साथ काम करेंगे, तो यह कल किया जा सकता है। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि कितने उत्साह और कितने आत्म-बलिदान से कार्य किया जाता है।"

"पर स्वामी जी, यदि उनकी वर्तमान पतित अवस्था उनके पूर्व जन्मों के कर्म के कारण है, तो आप कैसे समझते हैं कि वे सरलता से उससे छुटकारा पा सकेंगे; औरं आप उनकी सहायता के लिए क्या उपाय सुझायेंगे ?"

स्वामी जी ने तुरंत उत्तर दिया, "कर्म मनुष्य की स्वतन्त्रता की एक चिर प्रतिज्ञा है। यदि हम स्वयं को अपने कर्म से नीचे गिरा सकते हैं, तो निश्चय ही यह हमारी क्षमता में है कि हम उसके द्वारा अपने को ऊँचा उठायें। इसके अतिरिक्त जनता ने अपने को केवल अपने कर्म से ही नीचे गिराया है। इसलिए हमें उनको काम करने के लिए अधिक अच्छी परिस्थितियाँ देनी चाहिए। मैं जातियों को किसी प्रकार मिटाने की बात नहीं कहता। जाति-प्रथा बहुत अच्छी व्यवस्था है। जाति वह योजना है, जिसके अनुसार हम चलना चाहते हैं। जाति वास्तव में क्या है, यह लाखों में से एक भी नहीं समझता। संसार में एक भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ जाति-भेद न हो। भारत में हम जाति के द्वारा ऐसी स्थिति में पहुँचते हैं, जहाँ जाति नहीं रह जाती। जाति-प्रथा सदा इसी सिद्धांत पर आधारित है। भारत में योजना है कि प्रत्येक मनुष्य को ब्राह्मण बनाया जाय; ब्राह्मण मानवता का आदर्श है। यदि आप भारत का इतिहास पढ़ेंगे, तो पायेंगे कि सदा नीचे वर्गों को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया है। बहुत से वर्ग हैं, जो उठाये गये हैं और भी अधिक उठाये जायँगे, जब तक कि सब ब्रह्मण नहीं हो जायँ।

"यह योजना है। हमें उन्हें ऊपर ही उठाना है, किसीको नीचे नहीं गिराना है। और यह काम स्वयं ब्राह्मणों को करना है, क्योंकि यह प्रत्येक अभिजात वर्

का कर्तव्य है कि वह अपनी क़ब्र आप ही खोदे, और वह जितनी जल्दी खोदता है, वह उतना ही सबके लिए अच्छा होता है। इसमें बिलकुल देर नहीं लगानी चाहिए। यूरोप और अमेरिका में जिस तरह का जाति-भेद है, भारतीय जाति-भेद उससे अच्छा है। मैं यह नहीं कहता कि वह एकदम अच्छा है। यदि जाति न होती, तो आज आप कहाँ होते ? यदि जाति न होती, तो आपका ज्ञान-भांडार और दूसरी वस्तुएँ कहाँ होतीं ? यदि जाति न होती तो, आज यूरोपवालों के अध्ययन करने के लिए कुछ भी न बचा होता। मुसलमानों ने सब कुछ नष्ट कर दिया होता। वह कौन सा स्थल है, जहाँ हम भारतीय समाज को स्थिर खड़ा पाते हैं ? यह सदा गतिमान रहा है। कभी कभी, जैसे कि विदेशी आक्रमणों के समय में, यह गति मंद रही है, पर दूसरे अवसरों पर अधिक तेज़ रही है। मैं अपने देशवासियों से यही कहता हूँ। मैं उन्हें दोष नहीं देता। मैं उनके अतीत में देखता हूँ। मैं देखता हूँ कि ऐसी परिस्थितियों में कोई भी देश इससे अधिक शानदार काम नहीं कर सकता था। मैं उन्हें बताता हूँ कि आपने बहुत अच्छा काम किया है। और उनसे केवल और अच्छा करने के लिए कहता हूँ।"

"स्वामी जी, जाति के साथ अनुष्ठानों के संबंध के विषय में आपके क्या विचार हैं ?"

"जाति निरंतर बदल रही है, अनुष्ठान निरंतर बदल रहे हैं, यही दशा विधियों की है। यह केवल सार है, सिद्धांत है, जो नहीं बदलता। हमें अपने धर्म का अध्ययन वेदों में करना है; वेदों को छोड़कर अन्य सब ग्रंथों में परिवर्तन अनिवार्य है। वेदों की प्रामाणिकता सदा के लिए है; उनके अतिरिक्त हमारे दूसरे ग्रंथों की प्रामाणिकता केवल विशिष्ट समय के लिए है। उदाहरण के लिए, एक स्मृति एक युग में शक्तिशाली होती है, तो दूसरी दूसरे युग में। महान् पैग़म्बर सदा आते रहते हैं और काम करने का मार्ग बताते रहते हैं। कुछ पैगम्बरों ने निम्न वर्गों के लिए काम किया है, और मध्व के समान दूसरों ने नारी को वेदों के अध्ययन का अधिकार दिया है। जाति-व्यवस्था का नाश नहीं होना चाहिए; उसे केवल समय समय पर परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जाना चाहिए। हमारी पुरानी व्यवस्था के भीतर इतनी जीवनी-शक्ति है कि उससे दो लाख नयी व्यवस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। जाति-व्यवस्था को मिटाने की बात करनी कोरी बुद्धिहीनता है। नयी रीति यह है कि—पुरातन का विकास हो।"

"क्या हिन्दुओं को सामाजिक सुधारों की आवश्यकता नहीं है ?"

"निश्चय ही, हमें सामाजिक सुधारों की आवश्यकता है। समय समय पर महान् पुरुष प्रगति के नये विचारों का विकास करते हैं और राजा उन्हें क़ानून का

समर्थन देते हैं। पुराने समय में भारत में समाज-सुधार इसी प्रकार किये गये हैं और वर्तमान समय में ऐसे प्रगतिशील सुधार करने के लिए हमें पहले एक ऐसी अधिकारी सत्ता का निर्माण करना होगा। राजा अब नहीं रहे, अधिकार जनता के पास है। इसलिए हमें उस समय तक ठहरना होगा, जब तक कि लोग शिक्षित न हो जायँ, जब तक कि वे अपनी आवश्यकताओं को न समझने लगें और अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए तैयार न हो जायँ और ऐसा करने की क्षमता न प्राप्त कर लें। अल्पमत का अत्याचार संसार में सबसे दारुण अत्याचार है। इसलिए, उन आदर्श सुधारों पर, जो कभी व्यावहारिक नहीं होंगे, अपनी शक्ति व्यर्थ नष्ट करने के स्थान पर, यह अच्छा होगा कि हम इस समस्या की जड़ तक पहुँचें और एक व्यवस्थापिका संस्था का निर्माण करें, तात्पर्य यह कि लोगों को शिक्षित करें, जिससे कि वे स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सकें। जब तक यह नहीं किया जाता, तब तक ये सब आदर्श सुधार केवल आदर्श ही रहेंगे। नये युग का विधान है कि जनता ही जनता का परित्राण करे; और इसे विशेषतया भारत में, जो अतीत में सदा राजाओं द्वारा ही शासित रहा है, कार्यान्वित करने में समय लगेगा।''

''क्या आप समझते हैं कि हिन्दू समाज यूरोपीय सामाजिक नियमों को सफलतापूर्वक अपना सकता है?''

''नहीं, पूर्णतया नहीं। मेरा कहना है कि यूरोपीय राष्ट्रों की बहिर्मुखी शक्ति जिस यूनानी मस्तिष्क का परिचय देती है, उसका और हिन्दू आध्यात्मिकता का संयोग भारत के लिए एक आदर्श समाज होगा। उदाहरण के लिए, आपके वास्ते यह नितांत आवश्यक है कि अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करने और अक्सर निरर्थक बातें बनाने के स्थान पर, आप अंग्रेजों से नेताओं की आज्ञा का तुरंत पालन, ईर्ष्याहीनता, अथक लगन और अटूट आत्मविश्वास की शिक्षा प्राप्त करें। जब वह किसी काम के लिए एक नेता चुन लेता है, तो अंग्रेज हार-जीत में सदा उसका साथ देता है और उसकी आज्ञा पालन करता है। यहाँ भारत में प्रत्येक व्यक्ति नेता बनना चाहता है, आज्ञा-पालन करनेवाला कोई भी नहीं है। आज्ञा देने की क्षमता प्राप्त करने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा-पालन करना सीखना चाहिए। हमारी ईर्ष्याओं का कहीं अंत नहीं है; और जो हिन्दू जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह उतना ही अधिक ईर्ष्यालु है। जब तक हिन्दू ईर्ष्या से बचना और नेताओं की आज्ञा का पालन करना नहीं सीखता, उसमें संगठन की क्षमता नहीं आयेगी। हम उस समय तक आज की तरह अत्यन्त अव्यवस्थित भीड़ बने रहेंगे; हम कोरी आशा करते रहेंगे, कर कुछ भी नहीं सकेंगे। भारत को यूरोप से बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त

करना सीखना है और यूरोप को भारत से अंतःप्रकृति की विजय सीखनी होगी। तब न हिन्दू होंगे और न यूरोपियन, होगी आदर्श मानव-जाति, जिसने बाह्य और अंतः, दोनों प्रकृतियों को जीत लिया होगा। हमने मानव-जाति के एक पहलू का विकास किया है, तो उन्होंने दूसरे का। चाहिए यह कि दोनों का मेल हो। मुक्ति शब्द, जो हमारे धर्म का मूलमंत्र है, वास्तव में भौतिक मुक्ति, मानसिक मुक्ति और आध्यात्मिक मुक्ति का बोध कराता है।"

"स्वामी जी, अनुष्ठान और धर्म के बीच में क्या संबंध है?"

"अनुष्ठान धर्म की शिशुशाला हैं। संसार आजकल जैसा है, उसके लिए वे नितांत आवश्यक हैं। हमें लोगों को नये और ताज़े अनुष्ठान देने होंगे। यह काम चिन्तकों के एक दल को अपने ऊपर लेना होगा। पुराने अनुष्ठानों को समाप्त किया जाना चाहिए और उनके स्थान पर नयों की स्थापना होनी चाहिए।"

"तो आप अनुष्ठानों को मिटाने का समर्थन करते हैं; ठीक है न?"

"नहीं, मेरा ध्येय निर्माण है, विनाश नहीं। वर्तमान अनुष्ठानों में से नये अनुष्ठानों का विकास करना होगा। प्रत्येक वस्तु में विकास की अनन्त क्षमता है, ऐसा मेरा विश्वास है। एक परमाणु के पीछे समस्त ब्रह्मांड की शक्ति है। हिन्दू जाति के इतिहास में सदा केवल निर्माण का प्रयत्न रहा है, विनाश का कभी नहीं किया गया। एक सम्प्रदायवालों ने विनाश करना चाहा और वे भारत से बाहर निकाल दिये गये; वे बौद्ध थे। हमारे यहाँ बहुत से सुधारक—शंकर, रामानुज, मध्व और चैतन्य—हुए हैं। ये महान् सुधारक थे, जो सदा निर्माता रहे और उन्होंने अपने समय की परिस्थिति के अनुसार निर्माण किया। यह काम करने की हमारी विशिष्ट विधि है। सब आधुनिक सुधारक यूरोप के विनाशात्मक सुधार की नक़ल करना चाहते हैं, इससे न कभी किसीकी भलाई हुई है और न होगी। केवल एक आधुनिक सुधारक हुए हैं, जो अधिकतर निर्माता रहे हैं और वे थे राजा राममोहन राय। हिन्दू जाति की प्रगति वेदांती आदर्शों को प्राप्त करने की दिशा में रही है। भारतीय जीवन का समस्त इतिहास वह प्रयत्न है, जो उसने सुख अथवा दुःख में होकर वेदांत के आदर्शों तक पहुँचने के लिए किया है। जब कभी कोई ऐसा सुधारवादी सम्प्रदाय अथवा धर्म उदित हुआ, जिसने वेदांती आदर्श की अवहेलना की, तो उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया।"

"आपका यहाँ का कार्यक्रम क्या है?"

"मैं अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए दो संस्थाएँ चलाना चाहता हूँ, एक मद्रास में और एक कलकत्ते में। संक्षेप में वह योजना है: वेदांती आदर्शों

को संत और पापी, ज्ञानी और मूर्ख, ब्राह्मण और चांडाल के नित्यप्रति के व्यावहारिक जीवन में प्रतिष्ठित करना।"

यहाँ हमारे प्रतिनिधि ने उनसे भारतीय राजनीति के विषय में कुछ प्रश्न पूछे, पर इससे पहले कि स्वामी जी उनका कुछ उत्तर देवे, गाड़ी एगमोर प्लेटफ़ार्म पर पहुँच गयी। जल्दी में स्वामी जी के मुँह से जो निकला, वह यह था कि वे भारतीय और यूरोपीय समस्याओं के राजनीतिक उलझाव के परम विरोधी हैं। यहाँ यह समालाप समाप्त हो गया।

३

हिन्दू धर्म की सीमा

('प्रबुद्ध भारत', अप्रैल, १८९९)

हमारा प्रतिनिधि लिखता है:

सम्पादक का आदेश था कि मैं हिन्दू धर्म-ग्रहण करने के प्रश्न पर स्वामी विवेकानन्द से भेंट करूँ। इस काम के लिए मुझे एक सन्ध्या को गंगा में बजरे की छत पर अवसर मिला। अँधेरा हो चुका था और हम रामकृष्ण मठ, बेलूड़ के बाँध पर रुक गये थे और स्वामी जी मुझसे बातें करने के लिए नीचे बजरे पर आये।

समय और स्थान, दोनों एक से सुहावने थे। ऊपर तारे थे और चारों ओर—बहती हुई गंगा; और एक ओर खड़ा था अस्पष्ट रूप से आलोकित मठ-भवन, जिसकी पृष्ठभूमि में ताड़ और ऊँचे छायादार वृक्ष थे।

मैंने आरम्भ किया, "स्वामी जी, इस प्रश्न पर मैं आपसे समालाप करना चाहता हूँ कि हिन्दू धर्म से जो लोग बाहर निकल गये थे, उनको वापस लेने के विषय में आपकी क्या राय है। क्या आपकी राय है कि उनको स्वीकार किया जाना चाहिए?"

स्वामी जी ने कहा, "निश्चय ही वे लिये जा सकते हैं और लिये जाने चाहिए।"

वे एक क्षण गम्भीर, विचारमग्न बैठे रहे और फिर बोले, "इसके अतिरिक्त यह भी है कि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो हमारी संख्या घट जायगी। जब मुसलमान पहले-पहल यहाँ आये, तो कहा जाता है—मैं समझता हूँ, प्राचीनतम मुसलमान इतिहास-लेखक फ़रिश्ता के प्रमाण से—कि हिन्दुओं की संख्या साठ करोड़ थी। अब हम लोग बीस करोड़ हैं। और फिर हिन्दू धर्म में से जो एक व्यक्ति बाहर जाता है, उससे हमारा एक व्यक्ति केवल कम ही नहीं होता, वरन् एक शत्रु भी बढ़ता है।

"फिर जो हिन्दू मुसलमान अथवा ईसाई बने हैं, उनमें से अधिकतर या तो तलवार के भय से बने हैं या जो इस प्रकार बने हैं, उनके वंशज हैं। इन लोगों पर किसी प्रकार की अयोग्यता आरोपित करना स्पष्ट ही अन्याय होगा। क्या कहा,

जन्मतः परायों के बारे में ? क्यों, जन्मतः परायों के तो समूहों के समूह अतीत में हिन्दू धर्म में लिये गये हैं, और यह उपक्रम आज भी चल रहा है।

"मेरी अपनी राय में, यह कथन न केवल आदिम जातियों, सीमांत के राष्ट्रों और मुसलमानी विजय से पहले के लगभग सभी विजेताओं पर लागू होता है, वरन् उन जातियों के लिए भी सत्य है, जिनकी पुराणों में विशेष उत्पत्ति हुई है। मैं समझता हूँ कि वे लोग बाहर के थे और इस प्रकार स्वीकृत कर लिये गये।

"निश्चय ही प्रायश्चित्त का अनुष्ठान अपनी इच्छा से धर्म-परिवर्तन करनेवालों के अपने मातृधर्म में लौटने के लिए उपयुक्त है; पर उन लोगों के लिए जो विजय के द्वारा—जैसे कि कश्मीर और नेपाल में—हमसे अलग कर दिये गये हैं, अथवा उन नये लोगों के लिए, जो हममें सम्मिलित होना चाहते हैं, किसी प्रकार के प्रायश्चित्त की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।"

"पर ये लोग किस जाति के होंगे, स्वामी जी ?" मैंने पूछने का साहस किया, "उनकी कोई जाति होनी चाहिए, नहीं तो वे हिन्दुओं के इस विशाल समाज में कभी भी अंगीकृत नहीं हो सकते। हम उन्हें देने के लिए उचित स्थान कहाँ खोजें ?"

स्वामी जी ने शान्त भाव से कहा, "लौटनेवाले लोग, निश्चय ही अपनी पहली जाति प्राप्त कर लेंगे। और नये लोग अपनी बना लेंगे।" आगे उन्होंने कहा, "आपको याद होगा कि वैष्णव धर्म में ऐसा पहले किया जा चुका है। विभिन्न जातियों से आये हुए और बाहर के लोग एक झण्डे के नीचे मिले और उन्होंने एक अपनी जाति बना ली—और वह भी बहुत आदरणीय। रामानुज से लेकर बंगाल के चैतन्य तक, सभी महान् वैष्णव आचार्यों ने यही किया है।"

"और ये नये लोग शादी-विवाह कहाँ करेंगे ?" मैंने पूछा।

"आपस में, जैसे कि अब करते हैं।" स्वामी जी ने शान्त भाव से कहा।

"और उनके नाम ?" मैंने पूछा, "मैं समझता हूँ कि बाहर से आनेवालों के और उन लोगों के, जो अहिन्दू नाम धारण किये हुए हैं, नाम फिर से रखे जाने चाहिए। आप उन्हें जाति के नाम देंगे अथवा और क्या ?"

"निश्चय ही", स्वामी जी ने विचारपूर्वक कहा, "नाम में बहुत कुछ है !" और इस प्रश्न पर वे अधिक नहीं बोले।

पर मेरे दूसरे प्रश्न से वे उद्दीप्त हो उठे; मैंने पूछा, "स्वामी जी, क्या आप इन नव आगन्तुकों को बहुमुखी हिन्दू धर्म में से अपनी इच्छानुसार कोई धार्मिक विश्वास चुन लेने की स्वतन्त्रता देंगे, अथवा आप उनके लिए एक धर्म निश्चित कर देंगे।"

"क्या आप यह पूछ सकते हैं?" उन्होंने कहा, "वे अपने लिए आप चुनेंगे। क्योंकि जब तक मनुष्य स्वयं अपने लिए नहीं चुनता, हिन्दू धर्म की भावना ही नष्ट हो जाती है। हमारे धर्म का सार केवल इष्ट चुनने की इस स्वतन्त्रता में है।"

मैं इस कथन को बहुत महत्त्वपूर्ण समझता हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ, मेरे सामने जो व्यक्ति है, और किसी जीवित व्यक्ति की तुलना में उसने, वैज्ञानिक और सहानुभूतिपूर्ण भावना से हिन्दू धर्म के सामान्य आधारों का अध्ययन करने में सबसे अधिक समय लगाया है; और इष्ट की स्वतन्त्रता स्पष्ट ही इतना बड़ा सिद्धान्त है कि उसमें समस्त संसार को स्थान दिया जा सकता है।

पर अब बात दूसरे विषयों पर चली गयी; और तब प्रेमपूर्वक नमस्कार के बाद इन महान् धर्मोपदेशक ने अपनी लालटेन उठायी और मठ में वापस चले गये, जब कि मैं गंगा के पथहीन पथ से उसकी विविध आकारों की नौकाओं के बीच निकलता-पैठता अपने घर, कलकत्ते वापस लौटा।

प्रश्नोत्तर

विचार-विमर्श : हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय[1]

प्रश्न—मैं यह जानना चाहता हूँ कि भारत में दार्शनिक चिन्तन की वर्तमान अवस्था कैसी है? इन सब बातों की वहाँ आजकल कहाँ तक आलोचना होती है?

उत्तर—मैंने पहले ही कहा है कि भारत में अधिकांश लोग द्वैतवादी हैं। अद्वैतवादियों की संख्या बहुत अल्प है। उस देश में (भारत में) आलोचना का प्रधान विषय है, मायावाद और जीव-तत्त्व। मैंने इस देश में आकर देखा कि यहाँ के श्रमिक संसार की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति से भली भाँति परिचित हैं, परन्तु जब मैंने उनसे पूछा, 'धर्म कहने से तुम क्या समझते हो, अमुक अमुक सम्प्रदाय का धर्म-मत किस प्रकार का है', तो उन्होंने कहा, 'ये सब बातें हम नहीं जानते—हम तो बस चर्च में जाते भर हैं।' परन्तु भारत में किसी किसान के पास जाकर यदि मैं पूछूँ कि तुम्हारा शासनकर्ता कौन है, तो वह उत्तर देगा, 'यह बात मैं नहीं जानता, मैं तो केवल टैक्स (कर) दे देता हूँ।' पर यदि मैं उससे धर्म के विषय में पूछूँ, तो वह तत्काल बता देगा कि वह द्वैतवादी है, और माया तथा जीव-तत्त्व के सम्बन्ध में वह अपनी धारणा को विस्तृत रूप से कहने के लिए भी तैयार हो जायगा। वे लिखना-पढ़ना नहीं जानते, परन्तु इन बातों को उन्होंने साधु-संन्यासियों से सीखा है, और इन विषयों पर विचार करना उन्हें बहुत अच्छा लगता है। दिन भर काम करने के पश्चात् पेड़ के नीचे बैठकर किसान लोग इन सब तत्त्वों पर विचार किया करते हैं।

प्रश्न—कट्टर या असल हिन्दू किसे कह सकते हैं? हिन्दू धर्म में कट्टरता (orthodoxy) का क्या अर्थ है?

उत्तर—वर्तमान काल में तो खान-पान अथवा विवाह के विषय में जातिगत विधि-निषेध का पालन करने से ही कट्टर या असल हिन्दू हो जाता है। फिर वह

---

१. स्वामी जी ने २५ मार्च, सन् १८९६ ई० को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय की 'ग्रेजुएट दार्शनिक-सभा' में वेदान्त दर्शन के बारे में एक व्याख्यान दिया था। व्याख्यान समाप्त होने पर श्रोताओं के साथ ये प्रश्नोत्तर हुए। स०

चाहे जिस किसी धर्म-मत में विश्वास क्यों न करे, कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। भारत में कभी भी कोई नियमित धर्म-संघ या चर्च नहीं था; इसलिए कट्टर या असल हिन्दूपन गठित तथा नियमित करने के लिए संघबद्ध रूप से कभी चेष्टा नहीं हुई। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जो वेदों में विश्वास रखते हैं, वे ही असल या कट्टर हिन्दू हैं। पर वास्तव में, देखने में यह आता है कि द्वैतवादी सम्प्रदायों में से अनेक केवल वेद-विश्वासी न होकर पुराणों में ही अधिक विश्वास रखते हैं।

प्रश्न—आपके हिन्दू दर्शन ने यूनानियों के स्टोइक दर्शन[1] पर किस प्रकार प्रभाव डाला था?

उत्तर—बहुत सम्भव है कि उसने सिकन्दरियानिवासियों द्वारा उस पर कुछ प्रभाव डाला था। ऐसा सन्देह किया जाता है कि पाइथागोरस के उपदेशों में सांख्य दर्शन का प्रभाव विद्यमान है। जो हो, हमारी यह धारणा है कि सांख्य दर्शन ही वेदों में निहित दार्शनिक तत्त्वों का युक्ति-विचार द्वारा समन्वय करने का सबसे प्रथम प्रयत्न है। हम वेदों तक में कपिल के नाम का उल्लेख पाते हैं—ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे। —'जिन्होंने उन कपिल ऋषि को पहले प्रसव किया था।'[2]

प्रश्न—पाश्चात्य विज्ञान के साथ इस मत का विरोध कहाँ पर है?

उत्तर—विरोध कुछ भी नहीं है। बल्कि हमारे इस मत के साथ पाश्चात्य विज्ञान का सादृश्य ही है। हमारा परिणामवाद तथा आकाश और प्राण-तत्त्व ठीक आपके आधुनिक दर्शनों के सिद्धान्त के समान है। आपका परिणामवाद या क्रमविकास हमारे योग और सांख्य दर्शन में पाया जाता है। दृष्टान्तस्वरूप देखिए—पतंजलि ने बतलाया है कि प्रकृति के आपूरण के द्वारा एक जाति अन्य जाति में परिणत होती है—जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्। केवल इसकी व्याख्या के विषय में पतंजलि के साथ पाश्चात्य विज्ञान का मतभेद है। पतंजलि की परिणाम की व्याख्या आध्यात्मिक है। वे कहते हैं—जब एक किसान अपने खेत में पानी देने के लिए पास के ही जलाशय से पानी लेना चाहता है, तो वह बस पानी को रोक रखनेवाले द्वार को खोल भर देता है—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां

---

१. सम्भवतः ईसा से ३०८ वर्ष पूर्व ग्रीस के दार्शनिक जीनो (Zeno) ने इस दर्शन का प्रचार किया था। इनके मत से, सुख-दुःख, भला-बुरा, सब विषयों में समभावसम्पन्न रहना और अविचलित रहकर सबको सहना ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है। सं०

२. श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥५।२॥

वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य पहले से ही अनन्त है, केवल इन सब विभिन्न अवस्था-चक्ररूपी द्वारों या प्रतिबन्धों ने उसे बद्ध कर रखा है। इन प्रतिबन्धों को हटाने मात्र से ही उसकी वह अनन्त शक्ति बड़े वेग के साथ अभिव्यक्त होने लगती है। तिर्यक् योनि में मनुष्यत्व गूढ़ भाव से निहित है; अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर वह तत्क्षण ही मानवरूप में अभिव्यक्त हो जाता है। उसी प्रकार उपयुक्त सुयोग तथा अवसर उपस्थित होने पर मनुष्य में जो ईश्वरत्व विद्यमान है, वह अपने को अभिव्यक्त कर देता है। इसलिए आधुनिक नूतन मतवादवालों के साथ विवाद करने को विशेष कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, विषय-प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के सम्बन्ध में सांख्य मत के साथ आधुनिक शरीरविज्ञान (physiology) का बहुत ही थोड़ा मतभेद है।

प्रश्न—परन्तु आप लोगों की पद्धति भिन्न है।

उत्तर—हाँ, हमारे मतानुसार मन की समस्त शक्तियों को एकमुखी करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है। बहिर्विज्ञान में बाह्य विषयों पर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञान में मन की गति को आत्माभिमुखी करना पड़ता है। मन की इस एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं।

प्रश्न—एकाग्रता की दशा में क्या इन सब तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आप ही आप प्रकट होता है?

उत्तर—योगी कहते हैं कि इस एकाग्रता-शक्ति का फल अत्यन्त महान् है। उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के बल से संसार के सारे सत्य—बाह्य और अन्तर, दोनों जगत् के सत्य—करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

प्रश्न—अद्वैतवादी सृष्टि-तत्त्व के विषय में क्या कहते हैं?

उत्तर—अद्वैतवादी कहते हैं कि यह सारा सृष्टि-तत्त्व तथा इस संसार में जो कुछ भी है, सब माया के, इस आपातप्रतीयमान प्रपंच के अन्तर्गत है। वास्तव में इस सबका कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु जब तक हम बद्ध हैं, तब तक हमें यह दृश्य जगत् देखना पड़ेगा। इस दृश्य जगत् में घटनाएँ कुछ निर्दिष्ट क्रम के अनुसार घटती रहती हैं। परन्तु उसके परे न कोई नियम है, न क्रम। वहाँ सम्पूर्ण मुक्ति—सम्पूर्ण स्वाधीनता है।

प्रश्न—अद्वैतवाद क्या द्वैतवाद का विरोधी है?

उत्तर—उपनिषद् प्रणालीबद्ध रूप से लिखित न होने के कारण जब कभी दार्शनिकों ने किसी प्रणालीबद्ध दर्शनशास्त्र की रचना करनी चाही, तब उन्होंने इन उपनिषदों में से अपने अभिप्राय के अनुकूल प्रामाणिक वाक्यों को चुन लिया है। इसी कारण सभी दर्शनकारों ने उपनिषदों को प्रमाणरूप से ग्रहण किया है,—

अन्यथा उनके दर्शन को किसी प्रकार का आधार नहीं रह जाता। तो भी हम देखते हैं कि उपनिषदों में सब प्रकार की विभिन्न चिन्तन-प्रणालियाँ विद्यमान हैं। हमारा यह सिद्धान्त है कि अद्वैतवाद द्वैतवाद का विरोधी नहीं है। हम तो कहते हैं कि चरम ज्ञान में पहुँचने के लिए जो तीन सोपान हैं, उनमें से द्वैतवाद एक है। धर्म में सर्वदा तीन सोपान देखने में आते हैं। प्रथम—द्वैतवाद। उसके बाद मनुष्य अपेक्षाकृत उच्चतर अवस्था में उपस्थित होता है—वह है विशिष्टाद्वैतवाद। और अन्त में उसे यह अनुभव होता है कि वह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ अभिन्न है। यही चरम दशा अद्वैतवाद है। इसलिए इन तीनों में परस्पर विरोध नहीं है, बल्कि वे आपस में एक दूसरे के सहायक या पूरक हैं।

प्रश्न—माया या अज्ञान के अस्तित्व का क्या कारण है?

उत्तर—कार्य-कारण संघात की सीमा के बाहर 'क्यों' का प्रश्न नहीं पूछा जा सकता। माया-राज्य के भीतर ही 'क्यों' का प्रश्न पूछा जा सकता है। हम कहते हैं कि यदि न्यायशास्त्र के अनुसार यह प्रश्न पूछ सका जाय, तभी हम उसका उत्तर देंगे। उसके पहले उसका उत्तर देने का हमें अधिकार नहीं है।

प्रश्न—सगुण ईश्वर क्या माया के अन्तर्गत है?

उत्तर—हाँ; पर यह सगुण ईश्वर मायारूपी आवरण के माध्यम से दृष्ट उस निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माया या प्रकृति के अधीन होने पर वही निर्गुण ब्रह्म जीवात्मा कहलाता है, और मायाधीश या प्रकृति के नियन्ता के रूप में वही ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य को देखने के लिए यहाँ से ऊपर की ओर यात्रा करे, तो जब तक वह असल सूर्य के निकट नहीं पहुँचता, तब तक वह सूर्य को क्रमशः अधिकाधिक बड़ा ही देखता जायगा। वह जितना ही आगे बढ़ेगा, उसे ऐसा मालूम होगा कि वह भिन्न भिन्न सूर्यों को देख रहा है, परन्तु वास्तव में वह उसी एक सूर्य को देख रहा है, इसमें सन्देह नहीं। इसी प्रकार, हम जो कुछ देख रहे हैं, सभी उसी निर्गुण ब्रह्मसत्ता के विभिन्न रूप मात्र हैं, इसलिए उस दृष्टि से ये सब सत्य हैं। इनमें से कोई भी मिथ्या नहीं है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि ये निम्नतर सोपान मात्र हैं।

प्रश्न—उस पूर्ण निरपेक्ष सत्ता को जानने की विशेष प्रणाली कौन सी है?

उत्तर—हमारे मत में दो प्रणालियाँ हैं। उनमें से एक तो अस्तिभावद्योतक या प्रवृत्ति मार्ग है और दूसरी नास्तिभावद्योतक या निवृत्ति मार्ग है। प्रथमोक्त मार्ग से सारा विश्व चलता है—इसी पथ से हम प्रेम के द्वारा उस पूर्ण वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। यदि प्रेम की परिधि अनन्त गुनी बढ़ा दी जाय, तो हम

उसी विश्व-प्रेम में पहुँच जायँगे। दूसरे पथ में 'नेति', 'नेति' अर्थात् 'यह नहीं', 'यह नहीं' इस प्रकार की साधना करनी पड़ती है। इस साधना में चित्त की जो कोई तरंग मन को बहिर्मुखी बनाने की चेष्टा करती है, उसका निवारण करना पड़ता है। अन्त में मन ही मानो मर जाता है, तब सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है। हम इसीको समाधि या ज्ञानातीत अवस्था या पूर्ण ज्ञानावस्था कहते हैं।

प्रश्न---तब तो यह विषयी (ज्ञाता या द्रष्टा) को विषय (ज्ञेय या दृश्य) में डुबा देने की अवस्था हुई ?

उत्तर--विषयी को विषय में नहीं, वरन् विषय को विषयी में डुबा देने की। वास्तव में यह जगत् विलीन हो जाता है, केवल 'मैं' रह जाता है---एकमात्र 'मैं' ही वर्तमान रहता है।

प्रश्न---हमारे कुछ जर्मन दार्शनिकों का मत है कि भारतीय भक्तिवाद सम्भवतः पाश्चात्य प्रभाव का ही फल है।

उत्तर---इस विषय में मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। इस प्रकार का अनुमान एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता। भारतीय भक्ति पाश्चात्य देशों की भक्ति के समान नहीं है। भक्ति के सम्बन्ध में हमारी मुख्य धारणा यह है कि उसमें भय का भाव बिल्कुल ही नहीं रहता---रहता है केवल भगवान् के प्रति प्रेम। दूसरी बात यह है कि ऐसा अनुमान बिल्कुल अनावश्यक है। भक्ति की बातें हमारी प्राचीनतम उपनिषदों तक में विद्यमान हैं और ये उपनिषद् ईसाइयों की बाइबिल से बहुत प्राचीन हैं। संहिता में भी भक्ति का बीज देखने में आता है। फिर 'भक्ति' शब्द भी कोई पाश्चात्य शब्द नहीं है। वेद-मन्त्र में 'श्रद्धा' शब्द का जो उल्लेख है, उसीसे क्रमशः भक्तिवाद का उद्भव हुआ था।

प्रश्न---ईसाई धर्म के सम्बन्ध में भारतवासियों की क्या धारणा है ?

उत्तर---बड़ी अच्छी धारणा है। वेदान्त सभी को ग्रहण करता है। दूसरे देशों की तुलना में भारत में हमारी धर्म-शिक्षा का एक विशेषत्व है। मान लीजिए, मेरे एक लड़का है। मैं उसे किसी धर्ममत की शिक्षा नहीं दूँगा, मैं उसे प्राणायाम सिखाऊँगा, मन को एकाग्र करना सिखाऊँगा और थोड़ी-बहुत सामान्य प्रार्थना की शिक्षा दूँगा; परन्तु वैसी प्रार्थना नहीं, जैसी आप समझते हैं, वरन् इस प्रकार की कुछ प्रार्थना---'जिन्होंने इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, मैं उनका ध्यान करता हूँ---वे मेरे मन को ज्ञानालोक से आलोकित करें।'[1] इस प्रकार उसकी धर्म-शिक्षा चलती रहेगी। इसके बाद वह विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिकों एवं

---

१. ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

आचार्यों के मत सुनता रहेगा। उनमें से जिनका मत वह अपने लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझेगा, उन्हींको वह गुरुरूप से ग्रहण करेगा और वह स्वयं उनका शिष्य बन जायगा। वह उनसे प्रार्थना करेगा, 'आप जिस दर्शन का प्रचार कर रहे हैं, वही सर्वोत्कृष्ट है; अतएव आप कृपा करके मुझे उसकी शिक्षा दीजिए।'

हमारी मूल बात यह है कि आपका मत मेरे लिए तथा मेरा मत आपके लिए उपयोगी नहीं हो सकता। प्रत्येक का साधन-पथ भिन्न भिन्न होता है। यह भी हो सकता है कि मेरी लड़की का साधन-मार्ग एक प्रकार का हो, मेरे लड़के का दूसरे प्रकार का, और मेरा इन दोनों से बिल्कुल भिन्न प्रकार का। अतः प्रत्येक व्यक्ति का इष्ट या निर्वाचित पथ भिन्न भिन्न हो सकता है,—और सब लोग अपने अपने साधन-मार्ग की बातें गुप्त रखते हैं। अपने साधन-पथ के विषय में केवल मैं जानता हूँ और मेरे गुरु—किसी तीसरे व्यक्ति को यह नहीं बताया जाता; क्योंकि हम दूसरों से वृथा विवाद करना नहीं चाहते। फिर, इसे दूसरों के पास प्रकट करने से उनका कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक को ही अपना अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है। इसीलिए सर्वसाधारण को केवल सर्वसाधारणोपयोगी दर्शन और साधना-प्रणाली का ही उपदेश दिया जा सकता है। एक दृष्टान्त लीजिए—अवश्य उसे सुनकर आप हँसेंगे। मान लीजिए, एक पैर पर खड़े रहने से शायद मेरी उन्नति में कुछ सहायता होती हो; परन्तु इसी कारण यदि मैं सभी को एक पैर पर खड़े होने का उपदेश देने लगूँ, तो क्या यह हँसी की बात न होगी? हो सकता है कि मैं द्वैतवादी होऊँ और मेरी स्त्री अद्वैतवादी। मेरा कोई लड़का, इच्छा करे तो ईसा, बुद्ध या मुहम्मद का उपासक बन सकता है, वे उसके इष्ट हैं। हाँ, यह अवश्य है कि उसे अपने जातिगत सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ेगा।

प्रश्न—क्या सब हिन्दुओं का जाति-विभाग में विश्वास है?

उत्तर—उन्हें बाध्य होकर जातिगत नियम मानने पड़ते हैं। उनका भले ही उनमें विश्वास न हो, पर तो भी वे सामाजिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते।

प्रश्न—इस प्राणायाम और एकाग्रता का अभ्यास क्या सब लोग करते हैं?

उत्तर—हाँ; पर कोई कोई लोग बहुत थोड़ा करते हैं—धर्मशास्त्र के आदेश का उल्लंघन न करने के लिए जितना करना पड़ता है, बस, उतना ही करते हैं। भारत के मन्दिर यहाँ के गिरजाघरों के समान नहीं हैं। चाहे तो कल ही सारे मन्दिर ग़ायब हो जायँ, तो भी लोगों को उनका अभाव महसूस नहीं होगा। स्वर्ग की इच्छा से, पुत्र की इच्छा से, अथवा इसी प्रकार की और किसी कामना से लोग

मन्दिर बनवाते हैं। हो सकता है, किसीने एक बड़े भारी मन्दिर की प्रतिष्ठा कर उसमें पूजा के लिए दो-चार पुरोहितों को भी नियुक्त कर दिया; पर मुझे वहाँ जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मेरा जो कुछ पूजा-पाठ है, वह मेरे घर में ही होता है। प्रत्येक घर में एक अलग कमरा होता है, जिसे 'ठाकुर-घर' या 'पूजा-गृह' कहते हैं। दीक्षा-ग्रहण के बाद प्रत्येक बालक या बालिका का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह पहले स्नान करे, फिर पूजा, सन्ध्या, वन्दनादि। उसकी इस पूजा या उपासना का अर्थ है—प्राणायाम, ध्यान तथा किसी मन्त्र विशेष का जप। और एक बात की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है; वह है—साधना के समय शरीर को हमेशा सीधा रखना। हमारा विश्वास है कि मन के बल से शरीर को स्वस्थ और सबल रखा जा सकता है। एक व्यक्ति इस प्रकार पूजा आदि करके चला जाता है, फिर दूसरा आकर वहाँ बैठकर अपना पूजा-पाठ आदि करने लगता है। सभी निस्तब्ध भाव से अपनी अपनी पूजा करके चले जाते हैं। कभी कभी एक ही कमरे में तीन-चार व्यक्ति बैठकर उपासना करते हैं, परन्तु उनमें से हर एक की उपासना-प्रणाली भिन्न भिन्न हो सकती है। इस प्रकार की पूजा प्रतिदिन कम से कम दो बार करनी पड़ती है।

प्रश्न—आपने जिस अद्वैत-अवस्था के बारे में कहा है, वह क्या केवल एक आदर्श है, अथवा उसे लोग प्राप्त भी करते हैं?

उत्तर—हम कहते हैं कि वह यथार्थ है—हम कहते हैं कि वह अवस्था उपलब्ध होती है। यदि वह केवल थोथी बात हो, तब तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं। उस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिए वेदों में तीन उपाय बतलाये गये हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इस आत्म-तत्त्व के विषय में पहले श्रवण करना होगा। श्रवण करने के बाद इस विषय पर विचार करना होगा—आँखें मूँदकर विश्वास न कर, अच्छी तरह विचार करके समझ-बूझकर उस पर विश्वास करना होगा। इस प्रकार अपने सत्य स्वरूप पर विचार करके उसके निरन्तर ध्यान में नियुक्त होना होगा, तब उसका साक्षात्कार होगा। यह प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ धर्म है। केवल किसी मतवाद को स्वीकार कर लेना धर्म का अंग नहीं है। हम तो कहते हैं कि यह समाधि या ज्ञानातीत अवस्था ही धर्म है।

प्रश्न—यदि आप कभी इस समाधि अवस्था को प्राप्त कर लें, तो क्या आप उसका वर्णन भी कर सकेंगे?

उत्तर—नहीं; परन्तु समाधि अवस्था या पूर्ण ज्ञान की अवस्था प्राप्त हुई है या नहीं, इस बात को हम जीवन के ऊपर उसके फलाफल को देखकर जान सकते हैं। एक मूर्ख व्यक्ति जब सोकर उठता है, तो वह पहले जैसा मूर्ख था, अब भी वैसा

ही मूर्ख रहता है; शायद पहले से और भी खराब हो सकता है। परन्तु जब कोई व्यक्ति समाधि में स्थित होता है, तो वहाँ से व्युत्थान के बाद वह एक तत्त्वज्ञ, साधु, महापुरुष हो जाता है। इसीसे स्पष्ट है कि ये दोनों अवस्थाएं कितनी भिन्न हैं।

प्रश्न—मैं प्राध्यापक—के प्रश्न का सूत्र पकड़ते हुए यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आप ऐसे लोगों के विषय में जानते हैं, जिन्होंने आत्म-सम्मोहन विद्या (self-hypnotism) का कुछ अध्ययन किया है? अवश्य ही प्राचीन भारत में इस विद्या की बहुत चर्चा होती थी—पर अब उतनी दिखायी नहीं देती। मैं जानना चाहता हूँ कि जो लोग आजकल उसकी चर्चा और साधना करते हैं, उनका इस विद्या के विषय में क्या कहना है, और वे इसका अभ्यास या साधना किस तरह करते हैं।

उत्तर—आप पाश्चात्य देश में जिसे सम्मोहन-विद्या कहते हैं, वह तो असली विषय का एक सामान्य अंश मात्र है। हिन्दू लोग उसे 'आत्मापसम्मोहन' (self-de-hypnotisation) कहते हैं। वे कहते हैं, आप तो पहले से ही सम्मोहित (hypnotised) हैं—इस सम्मोहित-भाव को दूर करना होगा, अपसम्मोहित (de-hypnotised) होना होगा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

—'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्र, तारक, विद्युत् भी नहीं—तो फिर इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! उन्हींके प्रकाश से समस्त प्रकाशित हो रहा है।'[1]

यह तो सम्मोहन (hypnotism) नहीं है—यह तो अपसम्मोहन (de-hypnotisation) है। हम कहते हैं कि वह प्रत्येक धर्म, जो इस प्रपंच की सत्यता की शिक्षा देता है, एक प्रकार से सम्मोहन का प्रयोग कर रहा है। केवल अद्वैतवादी ही ऐसे हैं, जो सम्मोहित होना नहीं चाहते। एकमात्र अद्वैतवादी ही समझते हैं कि सभी प्रकार के द्वैतवाद से सम्मोहन या मोह उत्पन्न होता है। इसीलिए अद्वैतवादी कहते हैं, 'वेदों को भी अपरा विद्या समझकर उनके अतीत हो जाओ, सगुण ईश्वर के भी परे चले जाओ, सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को भी दूर फेंक

---

१. कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥

दो, इतना ही नहीं, अपने शरीर-मन आदि को भी पार कर जाओ---कुछ भी शेष न रहने पाये, तभी तुम सम्पूर्ण रूप से मोह से मुक्त होओगे।'

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

---'मन के सहित वाणी जिसे न पाकर जहाँ से लौट आती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने पर फिर किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता।'[१] यही अपसम्मोहन है।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

---'मेरे न कोई पुण्य है, न पाप; न सुख है, न दुःख; मेरे लिए मन्त्र, तीर्थ, वेद या यज्ञ कुछ भी नहीं है। मैं भोजन, भोज्य या भोक्ता कुछ भी नहीं हूँ---मैं तो चिदानन्दरूप शिव हूँ, मैं ही शिव (मंगलस्वरूप) हूँ।'[२]

हम लोग सम्मोहन-विद्या के सारे तत्त्व जानते हैं। हमारी जो मनस्तत्त्व-विद्या है, उसके विषय में पाश्चात्य देशवालों ने हाल ही में थोड़ा थोड़ा जानना प्रारम्भ किया है; परन्तु दुःख की बात है कि अभी तक वे उसे पूर्ण रूप से नहीं जान सके हैं।

प्रश्न---आप लोग 'ऍस्ट्रल बॉडी' (astral body) किसे कहते हैं?

उत्तर---हम उसे लिंग-शरीर कहते हैं। जब इस देह का नाश होता है, तब दूसरे शरीर का ग्रहण किस प्रकार होता है? जड़-भूत को छोड़कर शक्ति नहीं रह सकती। इसलिए सिद्धान्त यह है कि देहत्याग होने के पश्चात् भी सूक्ष्म-भूत का कुछ अंश हमारे साथ रह जाता है। भीतर की इन्द्रियाँ इस सूक्ष्म-भूत की सहायता से और एक नूतन देह तैयार कर लेती हैं; क्योंकि प्रत्येक ही अपनी अपनी देह बना रहा है---मन ही शरीर को तैयार करता है। यदि मैं साधु बनूं, तो मेरा मस्तिष्क साधु के मस्तिष्क में परिणत हो जायगा। योगी कहते हैं कि वे इसी जीवन में अपने शरीर को देव-शरीर में परिणत कर सकते हैं।

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्॥२।४।१॥

२. निर्वाणषट्कम्॥४॥

योगी अनेक चमत्कार दिखाते हैं। कोरे मतवादों की राशि की अपेक्षा अल्प अभ्यास का मूल्य अधिक है। अतएव मुझे यह कहने का अधिकार नहीं है कि अमुक अमुक बातें घटती मैंने नहीं देखीं, इसलिए वे मिथ्या हैं। योगियों के ग्रन्थों में लिखा है कि अभ्यास के द्वारा सब प्रकार के अति अद्भुत फलों की प्राप्ति हो सकती है। नियमित रूप से अभ्यास करने पर अल्प काल में ही थोड़े-बहुत फल की प्राप्ति हो जाती है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इसमें कुछ कपट या धोखेबाज़ी नहीं है। और इन सब शास्त्रों में जिन अलौकिक बातों का उल्लेख है, योगी वैज्ञानिक रीति से उनकी व्याख्या करते हैं। अब प्रश्न यह है कि संसार की सभी जातियों में इस प्रकार के अलौकिक कार्यों का विवरण कैसे लिपिबद्ध किया गया? जो व्यक्ति कहता है कि ये सब मिथ्या हैं, अतः इनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं, उसे युक्तिवादी विचारक नहीं कहा जा सकता। जब तक आप उन बातों को भ्रमात्मक प्रमाणित नहीं कर सकते, तब तक उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार आपको नहीं है। आपको यह प्रमाणित करना होगा कि इन सबका कोई आधार नहीं है, तभी उनको अस्वीकार करने का अधिकार आपको होगा। परन्तु आप लोगों ने तो ऐसा किया नहीं। दूसरी ओर, योगी कहते हैं कि ये सब व्यापार वास्तव में अद्भुत नहीं हैं और वे इस बात का दावा करते हैं कि ऐसी क्रियाएँ वे अभी भी कर सकते हैं। भारत में आज भी अनेक अद्भुत घटनाएँ होती रहती हैं, परन्तु उनमें से कोई भी किसी चमत्कार द्वारा नहीं घटती। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। जो हो, यदि वैज्ञानिक रूप से मनस्तत्त्व की आलोचना करने के प्रयत्न को छोड़कर इस दिशा में अधिक और कुछ न हुआ हो, तो भी इसका सारा श्रेय योगियों को ही देना चाहिए।"

प्रश्न—योगी क्या क्या चमत्कार दिखा सकते हैं, इसके उदाहरण क्या आप दे सकते हैं?

उत्तर—योगियों का कथन है कि अन्य किसी विज्ञान की चर्चा करने के लिए जितने विश्वास की आवश्यकता होती है, योग-विद्या के निमित्त उससे अधिक विश्वास की ज़रूरत नहीं। किसी विषय को स्वीकार करने के बाद एक भद्र व्यक्ति उसकी सत्यता की परीक्षा के लिए जितना विश्वास करता है, उससे अधिक विश्वास करने को योगी लोग नहीं कहते। योगी का आदर्श अतिशय उच्च है। मन की शक्ति से जो सब कार्य हो सकते हैं, उनमें से निम्नतर कुछ कार्यों को मैंने प्रत्यक्ष देखा है; अतः मैं इस पर अविश्वास नहीं कर सकता कि उच्चतर कार्य भी मन की शक्ति द्वारा हो सकते हैं। योगी का आदर्श है—सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमता की प्राप्ति कर उनकी सहायता से शाश्वत शान्ति और प्रेम का अधिकारी हो जाना।

मैं एक योगी को जानता हूँ, जिन्हें एक बड़े विषैले सर्प ने काट लिया था। सर्पदंश होते ही वे वेहोश हो ज़मीन पर गिर पड़े। सन्ध्या के समय वे होश में आये। उनसे जब पूछा गया कि क्या हुआ था, तो वे बोले, 'मेरे प्रियतम के पास से एक दूत आया था।' इन महात्मा की सारी घृणा, क्रोध और हिंसा का भाव पूर्ण रूप से दग्ध हो चुका है। कोई भी चीज़ उन्हें बदला लेने के लिए प्रवृत्त नहीं कर सकती। वे सर्वदा अनन्त प्रेमस्वरूप हैं और प्रेम की शक्ति से सर्वशक्तिमान हो गये हैं। बस, ऐसा व्यवित ही यथार्थ योगी है, और यह सब शक्तियों का विकास—अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाना—गौण मात्र है। यह सब प्राप्त कर लेना योगी का लक्ष्य नहीं है। योगी कहते हैं कि योगी के अतिरिक्त अन्य सब मानो ग़ुलाम हैं—खाने-पीने के ग़ुलाम, अपनी स्त्री के ग़ुलाम, अपने लड़के-बच्चों के ग़ुलाम, रुपये-पैसे के ग़ुलाम, स्वदेशवासियों के ग़ुलाम, नाम-यश के ग़ुलाम, जलवायु के ग़ुलाम, इस संसार के हज़ारों विषयों के ग़ुलाम! जो मनुष्य इन बन्धनों में से किसीमें भी नहीं फँसे, वे ही ययार्थ मनुष्य हैं—यथार्थ योगी हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

—'जिनका मन साम्यभाव में अवस्थित है, उन्होंने ही संसार पर जय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म निर्दोष और समभावापन्न है, इसलिए वे ब्रह्म में अवस्थित हैं।'[1]

प्रश्न—क्या योगी जाति-भेद को विशेष आवश्यक समझते हैं?

उत्तर—नहीं, जाति-विभाग तो उन लोगों को, जिनका मन अभी अपरिपक्व है, शिक्षा प्रदान करने का एक विद्यालय मात्र है।

प्रश्न—इस समाधि-तत्त्व के साथ भारत की गर्म जलवायु का तो कुछ सम्बन्ध नहीं है?

उत्तर—मैं तो ऐसा नहीं समझता। कारण, समुद्र-धरातल से पन्द्रह हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर, सुमेरु के समान जलवायुवाले हिमालय में ही तो योगविद्या का उद्भव हुआ था।

प्रश्न—ठण्डी जलवायु में क्या योग में सिद्धि प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—हाँ, अवश्य हो सकती है। और संसार में इसकी प्राप्ति जितनी सम्भव है, उतनी सम्भव और कुछ भी नहीं है। हम कहते हैं आप लोग—आपमें से प्रत्येक, जन्म से ही वेदान्ती है। आप अपने जीवन के प्रत्येक मुहूर्त में

---

१. गीता ॥५।१९॥

संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने एकत्व की घोषणा कर रहे हैं। जब कभी आपका हृदय संसार के कल्याण के लिए उन्मुख होता है, तभी आप अनजान में सच्चे वेदान्तवादी हो जाते हैं। आप नीतिपरायण हैं, पर यह नहीं जानते कि आप क्यों नीतिपरायण हो रहे हैं। एकमात्र वेदान्त दर्शन ही नीति-तत्त्व का विश्लेषण कर मनुष्य को ज्ञानपूर्वक नीतिपरायण होने की शिक्षा देता है। वह सब धर्मों का सारस्वरूप है।

प्रश्न—आपके मत में क्या हम पाश्चात्यों में ऐसा कुछ असामाजिक भाव है, जिसके कारण हम इस तरह बहुवादी और भेदपरायण बन रहे हैं, और जिसके अभाव के कारण प्राच्य देश के लोग हमसे अधिक सहानुभूतिसम्पन्न हैं?

उत्तर—मेरे मत में, पाश्चात्य जाति अधिक निर्दय स्वभाव की है, और प्राच्य देश के लोग सब भूतों के प्रति अधिक दयासम्पन्न हैं। परन्तु इसका कारण यही है कि आपकी सभ्यता बहुत ही आधुनिक है। किसीके स्वभाव को दयालु बनाने के लिए समय की आवश्यकता होती है। आप में शक्ति काफ़ी है, परन्तु जिस मात्रा में शक्ति का संचय हो रहा है, उस मात्रा में हृदय का विकास नहीं हो पा रहा है। विशेषकर मनःसंयम का अभ्यास बहुत ही अल्प परिमाण में हुआ है। आपको साधु और शान्त प्रकृति बनने में बहुत समय लगेगा। पर भारतवासियों के प्रत्येक रक्त-बिन्दु में यह भाव प्रवाहित है। यदि मैं भारत के किसी गाँव में जाकर वहाँ के लोगों को राजनीति की शिक्षा देना चाहूँ, तो वे उसे नहीं समझेंगे। परन्तु यदि मैं उन्हें वेदान्त का उपदेश दूँ, तो वे कहेंगे, 'हाँ, स्वामी जी, अब हम आपकी बात समझ रहे हैं—आप ठीक ही कह रहे हैं।' आज भी भारत में सर्वत्र यह वैराग्य या अनासक्ति का भाव देखने में आता है। आज हमारा बहुत पतन हो गया है, परन्तु अभी भी वैराग्य का प्रभाव इतना अधिक है कि राजा भी अपने राज्य को त्यागकर, साथ में कुछ भी न लेता हुआ देश में सर्वत्र पर्यटन करेगा।

कहीं कहीं पर गाँव की एक साधारण लड़की भी अपने चरखे से सूत कातते समय कहती है—मुझे अद्वैतवाद का उपदेश मत सुनाओ, मेरा चरखा तक 'सोऽहं' 'सोऽहं' कह रहा है। इन लोगों के पास जाकर उनसे वार्तालाप कीजिए और उनसे पूछिए कि जब तुम इस प्रकार 'सोऽहं' कहते हो, तो फिर उस पत्थर को प्रणाम क्यो करते हो? इसके उत्तर में वे कहेंगे, 'आपकी दृष्टि में तो धर्म एक मतवाद मात्र है, पर हम तो धर्म का अर्थ प्रत्यक्षानुभूति ही समझते हैं।' उनमें से कोई शायद कहेगा, 'मैं तो तभी यथार्थ वेदान्तवादी हो गया, जब यह सारा संसार अन्तर्हित हो गया, जब मैंने सत्य के दर्शन कर लिये। जब तक मैं

उस स्थिति में नहीं पहुँचता, तब तक मुझमें और एक साधारण अज्ञ व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है कि मैं प्रस्तर-मूर्ति की उपासना कर रहा हूँ, मन्दिर में जाता हूँ, जिससे मुझे प्रत्यक्षानुभूति हो जाय। मैंने वेदान्त का श्रवण किया तो है, पर मैं अब उस वेदान्त-प्रतिपाद्य आत्म-तत्त्व को देखना चाहता हूँ—उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना चाहता हूँ।'

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥

—'धाराप्रवाह रूप से मनोरम सद्वाक्यों की योजना, शास्त्रों की व्याख्या करने के नाना प्रकार के कौशल—ये केवल पण्डितों के आमोद के लिए ही हैं, इनके द्वारा मुक्ति-लाभ की कोई सम्भावना नहीं है।'[1] ब्रह्म के साक्षात्कार से ही हमें उस मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न—आध्यात्मिक विषय में जब सर्वसाधारण के लिए इस प्रकार की स्वाधीनता है, तो क्या इस स्वाधीनता के साथ जाति-भेद का मानना मेल खाता है?

उत्तर—कदापि नहीं। लोग कहते हैं कि जाति-भेद नहीं रहना चाहिए; इतना ही नहीं, बल्कि जो लोग भिन्न भिन्न जातियों के अन्तर्गत हैं, वे भी कहते हैं कि जाति-विभाग कोई बहुत उच्च स्तर की चीज़ नहीं है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यदि तुम इससे अच्छी कोई अन्य वस्तु हमें दो, तो हम इसे छोड़ देंगे। वे पूछते हैं कि तुम इसके बदले, हमें क्या दोगे? जाति-भेद कहाँ नहीं है, बोलो? आप भी तो अपने देश में इसी प्रकार के एक जाति-विभाग की सृष्टि करने का प्रयत्न सर्वदा कर रहे हैं। जब कोई व्यक्ति कुछ अर्थ संग्रह कर लेता है, तो वह कहने लगता है कि 'मैं भी तुम्हारे चार सौ धनिकों में से एक हूँ।' केवल हमीं लोग एक स्थायी जाति-विभाग का निर्माण करने में सफल हुए हैं। अन्य देशवाले इस प्रकार के स्थायी जाति-विभाग की स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे सफल नहीं हो पा रहे हैं। यह सच है कि हमारे समाज में काफ़ी कुसंस्कार और बुरी बातें हैं; पर क्या आपके देश के कुसंस्कारों तथा बुरी बातों को हमारे देश में प्रचलित कर देने से ही सब ठीक हो जायगा? जाति-भेद के कारण ही तो आज भी हमारे देश के तीस करोड़ लोगों को खाने के लिए रोटी का एक टुकड़ा मिल रहा है। हाँ, यह सच है कि रीति-नीति की दृष्टि से इसमें अपूर्णता है। पर यदि यह जाति-विभाग न होता, तो आज आपको एक भी

---

१. विवेकचूड़ामणि॥५८॥

संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने के लिए न मिलता। इसी जाति-विभाग के द्वारा ऐसी मजबूत दीवालों की सृष्टि हुई थी, जो शत शत बाहरी चढ़ाइयों के बावजूद भी नहीं गिरीं। आज भी वह प्रयोजन मिटा नहीं है, इसीलिए अभी तक जाति-विभाग बना हुआ है। सात सौ वर्ष पहले जाति-विभाग जैसा था, आज वह वैसा नहीं है। उस पर जितने ही आघात होते गये, वह उतना ही दृढ़ होता गया। क्या आप यह नहीं जानते कि केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है, जो दूसरे राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करने अपने सीमा से बाहर कभी नहीं गया? महान् सम्राट् अशोक यह विशेष रूप से कह गये थे कि उनके कोई भी उत्तराधिकारी परराष्ट्र विजय के लिए प्रयत्न न करें। यदि कोई अन्य जाति हमारे यहाँ प्रचारक भेजना चाहती है, तो भेजे; पर वह हमारी वास्तविक सहायता ही करे, जातीय सम्पत्ति-स्वरूप हमारा जो धर्म-भाव है, उसे क्षति न पहुँचावे। ये सब विभिन्न जातियाँ हिन्दू जाति पर विजय प्राप्त करने के लिए क्यों आयीं? क्या हिन्दुओं ने अन्य राष्ट्रों का कुछ अनिष्ट किया था? बल्कि जहाँ तक सम्भव था, उन्होंने संसार का उपकार ही किया था। उन्होंने संसार को विज्ञान, दर्शन और धर्म की शिक्षा दी, तथा संसार की अनेक असभ्य जातियों को सभ्य बनाया। परन्तु उसके बदले में उनको क्या मिला?—रक्तपात! अत्याचार!! और बदमाश मूर्तिपूजक यह शुभ नाम!!! वर्तमान काल में भी, पाश्चात्य व्यक्तियों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़कर देखिए तथा वहाँ (भारत में) भ्रमण करने के लिए जो लोग गये थे, उनके द्वारा लिखित आख्यायिकाओं को पढ़िए। आप देखेंगे, उन्होंने भी हिन्दुओं को 'हिदन' कहकर गालियाँ दी हैं। मैं पूछता हूँ, भारतवासियों ने ऐसा कौन सा अनिष्ट किया है, जिसके प्रतिशोध में उनके प्रति इस प्रकार की लांछनपूर्ण बातें कही जाती हैं?

प्रश्न—सभ्यता के विषय में वेदान्त की क्या धारणा है?

उत्तर—आप दार्शनिक लोग हैं—आप यह नहीं मानते कि रुपये की थैली पास रहने से ही मनुष्य मनुष्य में कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है। इन सब कल-कारखानों और जड़-विज्ञानों का मूल्य क्या है? उनका तो बस एक ही फल देखने में आता है—वे सर्वत्र ज्ञान का विस्तार करते हैं। आप अभाव अथवा दारिद्र्य की समस्या को हल नहीं कर सके, बल्कि आपने तो अभाव की मात्रा और भी बढ़ा दी है। यन्त्रों की सहायता से 'दारिद्र्य-समस्या' का कभी समाधान नहीं हो सकता। उनके द्वारा जीवन-संग्राम और भी तीव्र हो जाता है, प्रतियोगिता और भी बढ़ जाती है। जड़-प्रकृति का क्या कोई स्वतन्त्र मूल्य है? कोई व्यक्ति यदि तार के माध्यम से बिजली का प्रवाह भेज सकता है, तो आप उसी

समय उसका स्मारक बनाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। क्यों! क्या प्रकृति स्वयं यह कार्य लाखों बार नित्य नहीं करती? प्रकृति में सब कुछ क्या पहले से ही विद्यमान नहीं है? आपको उसकी प्राप्ति हुई भी, तो उससे क्या लाभ? वह तो पहले से ही वहाँ वर्तमान है। उसका एकमात्र मूल्य यही है कि वह हमें भीतर से उन्नत बनाता है। यह जगत् मानो एक व्यायामशाला के सदृश है—इसमें जीवात्माएँ अपने अपने कर्म के द्वारा अपनी अपनी उन्नति कर रही हैं और इसी उन्नति के फलस्वरूप हम देवस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। अतः किस विषय में ईश्वर की कितनी अभिव्यक्ति है, यह जानकर ही उस विषय का मूल्य या सार निर्धारित करना चाहिए। सभ्यता का अर्थ है, मनुष्य में इसी ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति ।

प्रश्न—क्या बौद्धों में भी किसी प्रकार का जाति-विभाग है?

उत्तर—बौद्धों में कभी कोई विशेष जाति-विभाग नहीं था, और भारत में बौद्धों की संख्या भी बहुत थोड़ी है। बुद्ध एक समाज-सुधारक थे। फिर भी मैंने बौद्ध देशों में देखा है, वहाँ जाति-विभाग की सृष्टि करने के बहुत प्रयत्न होते रहे हैं, पर उसमें सफलता नहीं मिली। बौद्धों का जाति-विभाग वास्तव में नहीं जैसा ही है, परन्तु मन ही मन वे स्वयं को उच्च जाति मानकर गर्व करते हैं।

बुद्ध एक वेदान्तवादी संन्यासी थे। उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जैसे कि आजकल नये नये सम्प्रदाय स्थापित होते हैं। जो सब भाव आजकल बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित हैं, वे वास्तव में बुद्ध के अपने नहीं थे। वे तो उनसे भी बहुत प्राचीन थे। बुद्ध एक महापुरुष थे—उन्होंने इन भावों में शक्ति का संचार कर दिया था। बौद्ध धर्म का सामाजिक भाव ही उसकी नवीनता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही सदा हमारे आचार्य रहे हैं। उपनिषदों में से अधिकांश तो क्षत्रियों द्वारा रचे गये हैं, और वेदों का कर्मकाण्ड-भाग ब्राह्मणों द्वारा। समग्र भारत में हमारे जो बड़े बड़े आचार्य हो गये हैं, उनमें से अधिकांश क्षत्रिय थे, और उनके उपदेश भी बड़े उदार और सार्वजनीन हैं; परन्तु केवल दो ब्राह्मण आचार्यों को छोड़कर शेष सब ब्राह्मण आचार्य अनुदार भावसम्पन्न थे। भगवान् के अवतार के रूप में पूजे जानेवाले राम, कृष्ण, बुद्ध—ये सभी क्षत्रिय थे।

प्रश्न—सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र—ये सब क्या तत्त्व की उपलब्धि में सहायक हैं?

उत्तर—तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य सब कुछ छोड़ देता है। विभिन्न सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र आदि की वहीं तक उपयोगिता है, जहाँ तक

वे उस पूर्णत्व की अवस्था में पहुँचने के लिए सहायक हैं। परन्तु जब उनसे कोई सहायता नहीं मिल पाती; तब अवश्य उनमें परिवर्तन करना चाहिए।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

—'अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति को कभी भी अज्ञानी की अवस्था के प्रति घृणा प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए और न उनकी अपनी अपनी साधन-प्रणाली में उनके विश्वास को नष्ट ही करना चाहिए; बल्कि ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि वह उनको ठीक ठीक मार्ग प्रदर्शित करे, जिससे वे उस अवस्था में पहुँच जायँ, जहाँ वह स्वयं पहुँचा हुआ है।'[1]

प्रश्न—वेदान्त व्यक्तित्व[2] (individuality) और नीतिशास्त्र की व्याख्या किस प्रकार करता है?

उत्तर—वह पूर्ण ब्रह्म यथार्थ अविभाज्य व्यक्तित्व ही है—माया द्वारा उसने पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। केवल ऊपर से ही इस प्रकार का बोध हो रहा है, पर वास्तव में वह सदैव वही पूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। वास्तव में सत्ता एक है, पर माया के कारण वह विभिन्न रूपों में प्रतीत हो रही है। यह समस्त भेद-बोध माया में है। पर इस माया के भीतर भी सर्वदा उसी एक की ओर लौट जाने की प्रवृत्ति चली हुई है। प्रत्येक राष्ट्र के समस्त नीतिशास्त्र और समस्त आचरणशास्त्र में यही प्रवृत्ति अभिव्यक्त हुई है, क्योंकि यह तो जीवात्मा का स्वभावगत प्रयोजन है। यह उसी एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रही है—और एकत्व-लाभ के इस संघर्ष को हम नीतिशास्त्र और आचरण-शास्त्र कहते हैं। इसीलिए हमें सर्वदा उन्हें अभ्यास करना चाहिए।

---

१. गीता ॥३।२५-६॥

२. अंग्रेजी के individual शब्द में 'अविभाज्य' और 'व्यष्टि', दोनों भाव निहित हैं। स्वामी जी जब उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्म ही यथार्थ individual है', तब प्रथमोक्त भाव को अर्थात् उपचय-अपचय-हीन अविभाज्यता के प्रति वे संकेत करते हैं। फिर वे कहते हैं कि उस सत्ता ने माया के कारण पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। स०

प्रश्न---नीतिशास्त्र का अधिकांश भाग क्या विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को ही लेकर नहीं है?

उत्तर---नीतिशास्त्र एकदम यही है। पूर्ण ब्रह्म कभी माया की सीमा के भीतर नहीं आ सकता।

प्रश्न---आपने कहा कि 'मैं' ही वह पूर्ण ब्रह्म है---मैं आपसे पूछनेवाला था कि इस 'मैं' या 'अहं' का कोई ज्ञान रहता है या नहीं?

उत्तर---यह 'अहं' या 'मैं' उसी पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, और इस अभिव्यक्त दशा में उसमें जो प्रकाश-शक्ति कार्य कर रही है, उसीको हम 'ज्ञान' कहते हैं। इसलिए उस पूर्ण ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि वह पूर्णावस्था तो इस सापेक्ष ज्ञान के परे है।

प्रश्न---यह सापेक्ष ज्ञान क्या पूर्ण ज्ञान के अन्तर्गत है?

उत्तर---हाँ, एक दृष्टि से सापेक्ष ज्ञान को पूर्ण ज्ञान के अन्तर्गत कहा जा सकता है। जिस प्रकार सोने की मुहर, भुनाने पर, रुपये, आने, पैसे में बदल ली जा सकती है,उसी प्रकार इस पूर्ण अवस्था से सब प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति की जा सकती है। इस अतिचेतन अवस्था को ज्ञानातीत या पूर्ण ज्ञान की अवस्था कहते हैं---चेतन और अचेतन, दोनों उसके अन्तर्गत हैं। जो व्यक्ति इस पूर्ण ज्ञानावस्था को प्राप्त कर लेता है, उसमें यह सापेक्ष साधारण ज्ञान भी पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है। जब वह ज्ञान की इस दूसरी अवस्था अर्थात् हमारी परिचित सापेक्ष ज्ञानावस्था का अनुभव करना चाहता है, तो उसे एक सीढ़ी नीचे उतर आना पड़ता है। यह सापेक्ष ज्ञान एक निम्नतर अवस्था है---केवल माया के भीतर ही इस प्रकार का ज्ञान हो सकता है।

योग, वैराग्य, तपस्या, प्रेम

प्रश्न---क्या योग शरीर को पूर्ण स्वास्थ्य और जीवनी-शक्ति प्रदान करने में सहायक होता है?

उत्तर---हाँ, सहायक है, यह रोगों को दूर रखता है। स्वयं अपने शरीर को मन से बहिर्वस्तु समझना कठिन है, अतः दूसरों के सम्बन्ध में यह बड़ा कारगर है। फल और दूध योगियों के लिए सर्वोत्तम आहार हैं।

प्रश्न---क्या वैराग्य के साथ ही आनन्द-लाभ होता है?

उत्तर---वैराग्य का प्रथम सोपान बड़ा कष्टदायक होता है। जब वह पक्का हो जाता है, तब निरतिशय आनन्द-लाभ होता है।

प्रश्न---तपस्या क्या है?

उत्तर---तपस्या त्रिविध है---शरीर की, वाणी की और मन की। प्रथम है लोकसेवा, द्वितीय है सत्य बोलना और तृतीय है मन को जीतना और उसकी एकाग्रता।

प्रश्न---हमें यह क्यों नहीं सुझायी पड़ता कि एक ही चेतना चींटी और मुनि, दोनों में है।

उत्तर---इस व्यक्त सृष्टि के एकत्व का ज्ञान होने में केवल समय की बात रहती है।

प्रश्न---सम्यक् ज्ञान के पूर्व क्या उपदेश देना सम्भव है?

उत्तर---नहीं। प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि मेरे गुरुदेव के सभी संन्यासी शिष्यों को सम्यक् ज्ञान हो जाय, जिससे वे धर्म-प्रचार के योग्य बन सकें!

प्रश्न---क्या गीता में श्री कृष्ण के विश्वरूप में जिस दिव्य ऐश्वर्य का दर्शन कराया गया है, वह श्री कृष्ण के रूप में निहित अन्य सगुण उपाधियों के बिना गोपियों से उनके सम्बन्ध में व्यक्त प्रेम भाव के प्रकाश से श्रेष्ठतर है?

उत्तर---दिव्य ऐश्वर्य के प्रकाश की अपेक्षा निश्चय ही वह प्रेम हीनतर है, जो प्रिय के प्रति भगवद्भावना से रहित हो। यदि ऐसा न होता, तो हाड़-मांस के शरीर से प्रेम करनेवाले सभी लोग मोक्ष प्राप्त कर लेते।

गुरु अवतार, योग, जप, सेवा

प्रश्न---वेदान्त के लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है?

उत्तर---श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा। किसी सद्गुरु से ही श्रवण करना चाहिए। चाहे कोई नियमित रूप से शिष्य न हुआ हो, पर अगर जिज्ञासु सुपात्र है और वह सद्गुरु के शब्दों का श्रवण करता है, तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न---सद्गुरु कौन है?

उत्तर---सद्गुरु वह है, जिसे गुरु-परम्परा से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हुई है। अध्यात्म गुरु का कार्य बडा कठिन है। दूसरों के पापों को स्वयं अपने ऊपर लेना पड़ता है। कम समुन्नत व्यक्तियों के पतन की पूरी आशंका रहती है। यदि शारीरिक पीड़ा मात्र हो, तो उसे अपने को भाग्यवान समझना चाहिए।

प्रश्न---क्या अध्यात्म गुरु जिज्ञासु को सुपात्र नहीं बना सकता।

उत्तर---कोई अवतार बना सकता है। साधारण गुरु नहीं।

प्रश्न---क्या मोक्ष का कोई सरल मार्ग नहीं है।

उत्तर—'प्रेम को पंथ कृपाण की धारा'—केवल उन लोगों के लिए आसान है, जिन्हें किसी अवतार के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। परमहंस-देव कहा करते थे, "जिसका यह आखिरी जन्म है, वह किसी न किसी प्रकार से मेरा दर्शन कर लेगा।"

प्रश्न—क्या उसके लिए योग सुगम मार्ग नहीं है?

उत्तर—(मज़ाक़ में) आपने ख़ूब कहा, समझा!—योग, सुगम मार्ग! यदि आपका मन निर्मल न होगा और आप योगमार्ग पर आरूढ़ होंगे, तो आपको कुछ अलौकिक सिद्धियाँ मिल जायँगी, परन्तु वे रुकावटें होंगी। इसलिए मन की निर्मलता प्रथम आवश्यकता है।

प्रश्न—इसका उपाय क्या है?

उत्तर—सुकृत द्वारा। सुकृत दो प्रकार के हैं: सकारात्मक और नकारात्मक। 'चोरी मत करो'—यह नकारात्मक निर्देश है, 'परोपकार करो'—यह सकारात्मक है।

प्रश्न—परोपकार उच्च अवस्था में क्यों न किया जाय, क्योंकि निम्न अवस्था में वैसा करने से साधक भवबन्धन में पड़ सकता है?

उत्तर—प्रथम अवस्था में ही इसे करना चाहिए। आरम्भ में जिसे कोई कामना रहती है, वह भ्रान्त होता है और बन्धन में पड़ता है, अन्य लोग नहीं। धीरे धीरे यह बिल्कुल स्वाभाविक बन जायगा।

प्रश्न—स्वामी जी! कल रात आपने कहा था, 'तुममें सब कुछ हैं।' तब यदि मैं विष्णु जैसा बनना चाहूँ, तो क्या मुझे केवल इस मनोरथ का ही चिन्तन करना चाहिए अथवा विष्णुरूप का ध्यान करना चाहिए?

उत्तर—सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है।

प्रश्न—आत्मानुभूति का साधन क्या है?

उत्तर—गुरु ही आत्मानुभूति का साधन है। 'गुरु बिनु होइ कि ज्ञान।'

प्रश्न—कुछ लोगों का कहना है कि ध्यान लगाने के लिए किसी पूजा-गृह में बैठने की आवश्यकता नहीं है। यह कहाँ तक ठीक है?

उत्तर—जिन्होंने प्रभु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनके लिए इसकी आवश्यकता नहीं है, लेकिन औरों के लिए है। किन्तु साधक को सगुण ब्रह्म की उपासना से ऊपर उठकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की ओर अग्रसर होना चाहिए, क्योंकि सगुण या साकार उपासना से मोक्ष नहीं मिल सकता। साकार के दर्शन से आपको सांसारिक समृद्धि प्राप्त हो सकती है। जो माता की

भक्ति करता है, वह इस दुनिया में सफल होता है; जो पिता की पूजा करता है, वह स्वर्ग जाता है; किन्तु जो साधु की पूजा करता है, वह ज्ञान तथा भक्ति लाभ करता है।

प्रश्न--इसका क्या अर्थ है **क्षणमिह सज्जन संगतिरेका** आदि--'सत्संग का एक क्षण भी मनुष्य को इस भवलोक के परे ले जाता है?'

उत्तर--सच्चे साधु के सम्पर्क में आने पर सत्पात्र मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है। सच्चे साधु बिरले होते हैं, किन्तु उनका प्रभाव इतना होता है कि एक महान् लेखक ने लिखा है, 'पाखंड वह कर है, जो दुष्टता सज्जनता को देती है।' दुष्ट जन सज्जन होने का ढोंग करते हैं। किन्तु अवतार कपाल-मोचन होते हैं, अर्थात् वे लोगों का दुर्भाग्य पलट सकते हैं। वे सारे विश्व को हिला सकते हैं। सबसे कम खतरनाक और पूजा का सर्वोत्तम तरीक़ा किसी मनुष्य की पूजा करना है, जिसने मानव में ब्रह्म के होने का विचार प्रतिष्ठित कर लिया, उसने विश्वव्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया। विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार संन्यस्त जीवन तथा गृहस्थ जीवन, दोनों ही श्रेयस्कर हैं। केवल ज्ञान आवश्यक वस्तु है।

प्रश्न--ध्यान कहाँ लगाना चाहिए--शरीर के भीतर या बाहर? मन को भीतर समेटना चाहिए अथवा बाह्य प्रदेश में स्थापित करना चाहिए?

उत्तर--हमें भीतर ध्यान लगाने का यत्न करना चाहिए। जहाँ तक मन के इधर-उधर भागने का सवाल है, मनोमय कोष में पहुँचने में लम्बा समय लगेगा। अभी तो हमारा संघर्ष शरीर से है। जब आसन सिद्ध हो जाता है, तभी मन से संघर्ष आरम्भ होता है। आसन सिद्ध हो जाने पर अंग-प्रत्यंग निश्चल हो जाता है--और साधक चाहे जितने समय तक बैठा रह सकता है।

प्रश्न--कभी कभी जप से थकान मालूम होने लगती है। तब क्या उसकी जगह स्वाध्याय करना चाहिए, या उसी पर आरूढ़ रहना चाहिए?

उत्तर--दो कारणों से जप में थकान मालूम होती है। कभी कभी मस्तिष्क थक जाता है और कभी कभी आलस्य के परिणामस्वरूप ऐसा होता है। यदि प्रथम कारण है, तो उस समय कुछ क्षण तक जप छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हठपूर्वक जप में लगे रहने से विभ्रम या विक्षिप्तावस्था आदि आ जाती है। परन्तु यदि द्वितीय कारण है, तो मन को बलात् जप में लगाना चाहिए।

प्रश्न--कभी कभी जप करते समय पहले आनन्द की अनुभूति होती है, लेकिन तब आनन्द के कारण जप में मन नहीं लगता। ऐसी स्थिति में क्या जप जारी रखना चाहिए?

उत्तर—हाँ, वह आनन्द आध्यात्मिक साधना में बाधक है। उसे रसास्वादन कहते हैं। उससे ऊपर उठना चाहिए।

प्रश्न—यदि मन इधर-उधर भागता रहे, तब भी क्या देर तक जप करते रहना ठीक है?

उत्तर—हाँ, उसी प्रकार जैसे अगर किसी बदमाश घोड़े की पीठ पर कोई अपना आसन जमाये रखे, तो वह उसे वश में कर लेता है।

प्रश्न—आपने अपने 'भक्तियोग' में लिखा है कि यदि कोई कमज़ोर आदमी योगाभ्यास का यत्न करता है, तो घोर प्रतिक्रिया होती है। तब क्या किया जाय?

उत्तर—यदि आत्मज्ञान के प्रयास में मर जाना पड़े, तो भय किस बात का! ज्ञानार्जन तथा अन्य बहुत सी वस्तुओं के लिए मरने में मनुष्य को भय नहीं होता और धर्म के लिए मरने में आप भयभीत क्यों हों?

प्रश्न—क्या जीव-सेवा मात्र से मुक्ति मिल सकती है?

उत्तर—जीव-सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, परोक्ष रूप से आत्मशुद्धि द्वारा मुक्ति प्रदान कर सकती है। किन्तु यदि आप समुचित रूप से किसी कार्य के करने की इच्छा रखते हैं, तो सम्प्रति उसे ही पूर्ण पर्याप्त समझिए। किसी भी पंथ में खतरा है, मुमुक्षा के अभाव का। निष्ठा का होना आवश्यक है, अन्यथा विकास न होगा। इस समय कर्म पर ज़ोर देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न—कर्म में हमारी भावना क्या होनी चाहिए—परोपकारमूलक करुणा या अन्य कोई भावना?

उत्तर—करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है।

प्रश्न—प्रार्थना की उपादेयता क्या है?

उत्तर—सोयी हुई शक्ति प्रार्थना से आसानी से जाग उठती है और यदि सच्चे दिल से की जाय, तो सभी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं; किन्तु अगर सच्चे दिल से न की जाय, तो दस में से एक की पूर्ति होती है। परन्तु इस तरह की प्रार्थना स्वार्थपूर्ण होती है, अतः वह त्याज्य है।

प्रश्न—नर-रूपधारी अवतार की पहचान क्या है?

उत्तर—जो मनुष्यों के विनाश के दुर्भाग्य को बदल सके, वह भगवान् है। कोई भी साधु, चाहे वह कितना भी पहुँचा हुआ क्यों न हो, इस अनुपम पद के लिए दावा नहीं कर सकता। मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखायी पड़ता, जो रामकृष्ण को भगवान् समझता हो। हमें कभी कभी इसकी धुंधली प्रतीति मात्र हो जाती है,

बस। उन्हें भगवान् के रूप में जान लेने और साथ ही संसार से आसक्ति रखने में संगति नहीं है।

बेलूड़ मठ की डायरी से

प्रश्न---गुरु किसे कह सकते हैं?

उत्तर---जो तुम्हारे भूत-भविष्य को बता सकें, वे ही तुम्हारे गुरु हैं।

प्रश्न---भक्ति-लाभ किस प्रकार होता है?

उत्तर---भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है---केवल उसके ऊपर काम-कांचन का एक आवरण सा पड़ा हुआ है। उसको हटाते ही भीतर की वह भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जायगी।

प्रश्न---हमें आत्मनिर्भर होना चाहिए---इस कथन का सच्चा अर्थ क्या है?

उत्तर---यहाँ 'आत्म' का अर्थ है, चिरंतन नित्य आत्मा। फिर भी, इस 'अनित्य अहं' पर निर्भरता का अभ्यास भी हमें धीरे धीरे सच्चे लक्ष्य पर पहुँचा देगा; क्योंकि जीवात्मा वस्तुत: नित्यात्मा की मायिक अभिव्यक्ति ही तो है।

प्रश्न---यदि सचमुच एक ही वस्तु सत्य हो, तो फिर यह द्वैत-बोध, जो सदा-सर्वदा सबको हो रहा है, कहाँ से आया?

उत्तर---किसी विषय के प्रत्यक्ष में कभी द्वैत-बोध नहीं होता। प्रत्यक्ष के पुन: उपस्थित होने में ही द्वैत का बोध होता है। यदि विषय-प्रत्यक्ष के समय द्वैत-बोध रहता, तो ज्ञेय ज्ञाता से सम्पूर्ण स्वतन्त्र रूप में तथा ज्ञाता भी ज्ञेय से स्वतन्त्र रूप में रह सकता।

प्रश्न---चरित्र का सामंजस्यपूर्ण विकास करने का सर्वोत्तम उपाय कौन सा है?

उत्तर---जिनका चरित्र उस रूप से गठित हुआ हो, उनका संग करना ही इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

प्रश्न---वेद के विषय में हमारा दृष्टिकोण किस प्रकार का होना चाहिए?

उत्तर---वेदों के केवल उन्हीं अंशों को प्रमाण मानना चाहिए, जो युक्ति-विरोधी नहीं हैं। पुराणादि अन्यान्य शास्त्र वहीं तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वे वेद से अविरोधी हैं। वेद के पश्चात् इस संसार में जहाँ कहीं जो भी धर्म-भाव आविर्भूत हुआ है, उसे वेद से ही गृहीत समझना चाहिए।

प्रश्न---यह चार युगों का काल-विभाजन क्या ज्योतिषशास्त्र की गणना के अनुसार सिद्ध है अथवा केवल रूढ़िगत ही है?

उत्तर---वेदों में तो कहीं ऐसे विभाजन का उल्लेख नहीं है। यह पौराणिक युग की निराधार कल्पना मात्र है।

प्रश्न—शब्द और भाव के बीच क्या सचमुच कोई नित्य सम्बन्ध है ? अथवा मात्र संयोगज और रूढ़िगत ?

उत्तर—इस विषय में अनेक तर्क किये जा सकते हैं, किसी स्थिर सिद्धान्त पर पहुँचना बड़ा कठिन है। मालूम होता है कि शब्द और अर्थ के बीच नित्य सम्बन्ध है, पर पूर्णतया नहीं; जैसा भाषाओं की विविधता से सिद्ध होता है। हाँ, कोई सूक्ष्म सम्बन्ध हो सकता है, जिसे हम अभी नहीं पकड़ पा रहे हैं।

प्रश्न—भारत में कार्य-प्रणाली कैसी होनी चाहिए ?

उत्तर—पहले तो, व्यावहारिक और शरीर से सबल होने की शिक्षा देनी चाहिए। ऐसे केवल बारह नर-केसरी संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु लाख लाख भेड़ों द्वारा यह नहीं होने का। और दूसरे, किसी व्यक्तिगत आदर्श के अनुकरण की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, चाहे वह आदर्श कितना ही बड़ा क्यों न हो।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने कुछ हिन्दू प्रतीकों की अवनति का वर्णन किया। उन्होंने ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का भेद समझाया। वास्तव में ज्ञानमार्ग आर्यों का था, और इसलिए उसमें अधिकारी-विचार के इतने कड़े नियम थे। भक्ति-मार्ग की उत्पत्ति दाक्षिणात्य से—आर्येतर जाति से हुई है, इसलिए उसमें अधि-कारी-विचार नहीं है।

प्रश्न—भारत के इस पुनरुत्थान में रामकृष्ण मिशन क्या कार्य करेगा ?

उत्तर—इस मठ से चरित्रवान व्यक्ति निकलकर सारे संसार को आध्या-त्मिकता की बाढ़ से प्लावित कर देंगे। इसके साथ साथ दूसरे क्षेत्रों में भी पुन-रुत्थान होगा। इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति का अभ्युदय होगा। शूद्र जाति का अस्तित्व समाप्त हो जायगा—वे लोग आज जो काम कर रहे हैं, वे सब यंत्रों की सहायता से किये जायँगे। भारत की वर्तमान आवश्यकता है—क्षत्रिय-शक्ति।

प्रश्न—क्या मनुष्य के उपरान्त अधोगामी पुनर्जन्म संभव है ?

उत्तर—हाँ, पुनर्जन्म कर्म पर निर्भर रहता है। यदि मनुष्य पशु के समान आचरण करे, तो वह पशु-योनि में खिंच जाता है।

एक समय (सन् १८९८ ई०) में इस प्रकार के प्रश्नोत्तर-काल में स्वामी जी ने मूर्ति-पूजा की उत्पत्ति बौद्ध युग में मानी थी। उन्होंने कहा था—पहले बौद्ध चैत्य, फिर स्तूप, और तत्पश्चात् बुद्ध का मन्दिर निर्मित हुआ। उसके साथ ही हिन्दू देवताओं के मन्दिर खड़े हुए।

प्रश्न---क्या कुण्डलिनी नाम की कोई वास्तविक वस्तु इस स्थूल शरीर के भीतर है ?

उत्तर---श्री रामकृष्णदेव कहते थे, 'योगी जिन्हें पद्म कहते हैं, वास्तव में वे मनुष्य के शरीर में नहीं हैं। योगाभ्यास से उनकी उत्पत्ति होती है।'

प्रश्न---क्या मूर्ति-पूजा के द्वारा मुक्ति-लाभ हो सकता है ?

उत्तर---मूर्ति-पूजा से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर भी वह मुक्ति-प्राप्ति में गौण कारणस्वरूप है---सहायक है। मूर्ति-पूजा की निन्दा करना उचित नहीं, क्योंकि बहुतों के लिए मूर्ति-पूजा ही अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि के लिए मन को तैयार कर देती है---और केवल इस अद्वैत-ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

प्रश्न---हमारे चरित्र का सर्वोच्च आदर्श क्या होना चाहिए ?

उत्तर---त्याग।

प्रश्न---बौद्ध धर्म ने अपने दाय के रूप में भ्रष्टाचार कैसे छोड़ा ?

उत्तर---बौद्धों ने प्रत्येक भारतवासी को भिक्षु या भिक्षुणी बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु सब लोग तो वैसा नहीं हो सकते। इस तरह किसी भी व्यक्ति के साधु बन जाने से भिक्षु-भिक्षुणियों में क्रमशः शिथिलता आती गयी। और भी एक कारण था---धर्म के नाम पर तिब्बत तथा अन्यान्य देशों के बर्बर आचारों का अनुकरण करना। वे इन स्थानों में धर्म-प्रचार के हेतु गये और इस प्रकार उनके भीतर उन लोगों के दूषित आचार प्रवेश कर गये। अन्त में उन्होंने भारत में इन सब आचारों को प्रचलित कर दिया।

प्रश्न---माया क्या अनादि और अनन्त है ?

उत्तर---समष्टि रूप से अनादि-अनन्त अवश्य है, पर व्यष्टि रूप से सान्त है।

प्रश्न---ब्रह्म और माया का बोध युगपत् नहीं होता। अतः उनमें से किसी-की भी पारमार्थिक सत्ता एक दूसरे से अद्भुत कैसे सिद्ध की जा सकती है ?

उत्तर---उसको केवल साक्षात्कार द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। जब व्यक्ति को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसके लिए माया की सत्ता नहीं रह जाती, जैसे रस्सी की वास्तविकता जान लेने पर सर्प का भ्रम फिर उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न---माया क्या है ?

उत्तर---वास्तव में वस्तु केवल एक ही है---चाहे उसको चैतन्य कहो या जड़। पर उनमें से एक को दूसरे से नितांत स्वतंत्र रूप से सोचना केवल कठिन ही नहीं, असम्भव है। यही माया या अज्ञान है।

प्रश्न—मुक्ति क्या है?

उत्तर—मुक्ति का अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता—शुभ और अशुभ, दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना। लोहे की शृंखला भी शृंखला ही है, और सोने की शृंखला भी शृंखला है। श्री रामकृष्ण देव कहते थे, 'पैर में काँटा चुभने पर उसे निकालने के लिए एक दूसरे काँटे की आवश्यकता होती है। काँटा निकल जाने पर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं। इसी तरह सत्प्रवृत्ति के द्वारा असत् प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है, परन्तु बाद में सत्प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी पड़ती है।'

प्रश्न—भगवत्कृपा बिना क्या मुक्ति-लाभ हो सकता है?

उत्तर—मुक्ति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति तो पहले से ही वर्तमान है।

प्रश्न—हमारे भीतर जिसे 'मैं' या 'अहं' कहा जाता है, वह देह आदि से उत्पन्न नहीं है, इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर—अनात्मा की भाँति 'मैं' या 'अहं' भी देह-मन आदि से ही उत्पन्न होता है। वास्तविक 'मैं' के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है साक्षात्कार।

प्रश्न—सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त किसे कह सकते हैं?

उत्तर—जिसके हृदय में अथाह प्रेम है और जो सभी अवस्थाओं में अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करता है, वही सच्चा ज्ञानी है। और सच्चा भक्त वह है, जो परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभिन्न रूप से उपलब्धि कर यथार्थ ज्ञानसम्पन्न हो गया है, जो सबसे प्रेम करता है और जिसका हृदय सबके लिए रुदन करता है। ज्ञान और भक्ति में से किसी एक का पक्ष लेकर जो दूसरे की निन्दा करता है, वह न तो ज्ञानी है, न भक्त—वह तो ढोंगी और धूर्त है।

प्रश्न—ईश्वर की सेवा करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यदि तुम एक बार ईश्वर के अस्तित्व को मान लेते हो, तो उनकी सेवा करने के यथेष्ट कारण पाओगे। सभी शास्त्रों के मतानुसार भगवत्सेवा का अर्थ है 'स्मरण'। यदि तुम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हो, तो तुम्हारे जीवन में पग पग पर उनको स्मरण करने का हेतु सामने आयेगा।

प्रश्न—क्या मायावाद अद्वैतवाद से भिन्न है?

उत्तर—नहीं, दोनों एक ही हैं। मायावाद को छोड़ अद्वैतवाद की और कोई भी व्याख्या सम्भव नहीं।

प्रश्न—ईश्वर तो अनन्त है, वह फिर मनुष्य रूप धारण कर इतना छोटा किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर--यह सत्य है कि ईश्वर अनन्त है। परन्तु तुम लोग अनन्त का जो अर्थ सोचते हो, अनन्त का वह अर्थ नहीं है। अनन्त कहने से तुम एक विराट् जड़ सत्ता समझ बैठते हो। इसी समझ के कारण तुम भ्रम में पड़ गये हो। जब तुम यह कहते हो कि भगवान् मनुष्य रूप धारण नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ तुम ऐसा समझते हो कि एक विराट् जड पदार्थ को इतना छोटा नहीं किया जा सकता। परन्तु ईश्वर इस अर्थ में अनन्त नहीं है। उसका अनन्तत्व चैतन्य का अनन्तत्व है। इसलिए मानव के आकार में अपने को अभिव्यक्त करने पर भी उनके स्वरूप को कुछ भी क्षति नहीं पहुँचती।

प्रश्न--कोई कोई कहते हैं कि पहले सिद्ध बन जाओ, फिर तुम्हें कर्म करने का ठीक ठीक अधिकार होगा; परन्तु कोई कहते हैं कि शुरू से ही कर्म करना, दूसरों की सेवा करना उचित है। इन दो विभिन्न मतों का सामंजस्य किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर--तुम तो दो अलग अलग बातों को एक में मिलाये दे रहे हो, इसलिए भ्रम में पड़ गये हो। कर्म का अर्थ है मानव-जाति की सेवा अथवा धर्म-प्रचार-कार्य। यथार्थ प्रचार-कार्य में अवश्य ही सिद्ध पुरुष के अतिरिक्त और किसीका अधिकार नहीं है, परन्तु सेवा में तो सभी का अधिकार है; इतना ही नहीं, जब तक हम दूसरों से सेवा ले रहे हैं, तब तक हम दूसरों की सेवा करने को बाध्य भी हैं।

देववाणी

(सहस्रद्वीपोद्यान, न्यूयार्क में, १८९५ ई० में दिये हुए प्रवचन)

२५ जून, मंगलवार, १८९५

प्रत्येक सुखोपभोग के बाद दुःख आता है--यह दुःख उसी क्षण आ सकता है, अथवा सम्भव है, कुछ देर में आये। जो आत्मा जितनी उन्नत है, उसे सुख के बाद दुःख भी उतना ही शीघ्र प्राप्त होता है। हमें सुख-दुःख दोनों ही नहीं चाहिए। ये दोनों ही हमारे प्रकृत स्वरूप को भुला देते हैं। दोनों ही जंज़ीर हैं--एक लोहे की, दूसरी सोने की। इन दोनों के पीछे ही आत्मा है--उसमें न सुख है, न दुःख। सुख-दुःख, दोनों ही अवस्थाविशेष हैं और प्रत्येक अवस्था सदा परिवर्तनशील होती है। परन्तु आत्मा आनन्दस्वरूप, अपरिणामी और शान्तिस्वरूप है। हमें आत्मा की प्राप्ति नहीं करनी है, वह तो हमारा प्रकृत रूप ही है, केवल मैल को धो डालो, तभी उसका दर्शन होगा।

इस आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर ही हम जगत् से ठीक ठीक प्रेम कर सकेंगे। खूब उच्च भाव में अपने को प्रतिष्ठित करो; "मैं अनन्त आत्मस्वरूप हूँ", यह समझकर हमें जगत्प्रपंच की ओर सम्पूर्ण शान्त भाव से दृष्टिपात करना होगा। यह जगत् तो एक छोटे बच्चे के खिलौने के समान है; हम जब उसे समझ लेंगे, तब जगत् में कुछ भी क्यों न हो, वह हमें चंचल न कर सकेगा। यदि प्रशंसा से मन प्रसन्न होगा, तो निन्दा से वह अवश्य ही विषण्ण हो जायगा। केवल इन्द्रियों का ही नहीं, मन का भी समस्त सुख अनित्य है; किन्तु हमारे भीतर ही वह निरपेक्ष सुख रहता है, जो किसी और के ऊपर निर्भर नहीं रहता। यह सुख पूरी तरह स्वायत्त और आनन्दस्वरूप है। सुख के लिए आभ्यन्तरिक आत्मा पर हम जितना निर्भर रहेंगे, उतना ही हम आध्यात्मिक होंगे। इस आत्मानन्द को ही जगत् में धर्म कहते हैं।

अन्तर्जगत्--जो कि वास्तविक सत्य है--बहिर्जगत् की अपेक्षा अनन्त गुना श्रेष्ठ है। बहिर्जगत् तो उस सत्य अन्तर्जगत् का छायामय प्रक्षेप मात्र है। वह जगत् न तो सत्य है, न मिथ्या। यह तो सत्य की छाया मात्र है। कवि कहते हैं, 'यह कल्पना सत्य की स्वर्णिम छाया है।'

हम जब जगत् में प्रवेश करते हैं, तभी वह हमारे लिए सजीव हो उठता है। हम यदि अलग कर दिये जायँ, तो जगत् अचेतन, मृत और जड पदार्थ मात्र रह जाता है। हमीं जगत् के पदार्थसमूह को जीवन दान करते हैं, किन्तु एक निर्बोध जीव के समान इस तथ्य को भूलकर कभी हम उनसे भयभीत हो जाते हैं और कभी उनका उपभोग करने लगते हैं। मछली की टोकरी यदि पास में न रहे, तो नींद नहीं आयेगी—यह जैसे उन मछली बेचनेवाली औरतों को हुआ था, वैसा ही तुम लोगों को कहीं न हो : कुछ मछलीवाली सिर पर मछली की टोकरियाँ लेकर बाज़ार से घर लौट रही थीं। उसी समय ख़ूब ज़ोर से वर्षा होने लगी। घर जाने में असमर्थ हो उन्होंने रास्ते में अपनी पहचान की एक मालिन के बगीचे में आश्रय लिया। मालिन ने रात में सोने के लिए जो कोठरी उन्हें दी, ठीक उसके पास ही फूलों का बगीचा था। हवा के कारण बगीचे के सुन्दर सुन्दर फूलों की महक उन औरतों की नाक में आने लगी, किन्तु वह महक उनके लिए इतनी असह्य हो उठी कि वे किसी तरह भी न सो सकीं। अन्त में उनमें से एक ने सुझाव दिया—'आओ, हम मछली की टोकरियों को भिगोकर सिर के पास रख लें।' वैसा करने पर जब उन टोकरियों से मछलियों की गन्ध उनकी नाक में आने लगी, तब वे आराम से खर्राटे भरने लगीं!

यह संसार भी हमारे लिए उस मछली की टोकरी के समान है—हमें सुख-भोग के लिए उस पर निर्भर न रहना चाहिए। जो उस पर निर्भर रहते हैं, वे तामस प्रकृति अथवा बद्ध जीव हैं। उनके बाद राजस प्रकृति के लोग हैं; उनका अहंकार ख़ूब प्रबल होता है, वे सर्वदा 'मैं-मैं' कहते रहते हैं। कभी कभी वे सत्कार्य भी करते हैं, चेष्टा करने पर वे धार्मिक भी हो सकते हैं। किन्तु सात्त्विक प्रकृतिवाले ही सर्वश्रेष्ठ हैं, वे सर्वदा अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में सत्त्व, रज और तमोगुण हैं। एक एक समय में मनुष्य में एक एक गुण का प्राधान्य होता है।

सृष्टि का अर्थ कुछ निर्माण करना या बनाना नहीं है; सृष्टि का अर्थ है—जो साम्य भाव नष्ट हो गया है, उसीको पुनः प्राप्त करने की चेष्टा—जैसे यदि एक काग को टुकड़े टुकड़े कर उसे पानी के नीचे फेंक दें, तो वे सब टुकड़े अलग अलग या एक साथ मिलकर पानी के ऊपर आने की चेष्टा करते हैं। जीवन अशुभ है और अशुभ सदा उसके साथ रहता है। किंचित् अशुभ से ही जगत् की सृष्टि हुई है। जगत् में जो थोड़ा-बहुत अशुभ है, उसे अच्छा ही कहना चाहिए; क्योंकि साम्य भाव आने पर यह जगत् ही नष्ट हो जायगा। साम्य और विनाश, दोनों एक ही हैं। जितने दिनों तक यह जगत् चल रहा है, उतने दिनों तक साथ ही साथ

शुभ और अशुभ भी चलते रहेंगे, किन्तु जब हम जगत् के परे चले जाते हैं, तब शुभाशुभ दोनों से अतीत हो जाते हैं अर्थात् परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

जगत् में दुःखविरहित सुख, अशुभविरहित शुभ पाने की संभावना कदापि नहीं है; क्योंकि जीवन का अर्थ ही है, साम्य भाव की विच्युति। हमें चाहिए मुक्ति; जीवन, सुख अथवा शुभ कुछ भी नहीं। सृष्टि-प्रवाह अनन्त काल से चल रहा है —न उसका आदि है, न अन्त—एक अनन्त सागर के ऊपर की निरन्तर गतिशील तरंग के समान है। इसमें कुछ ऐसे गहरे स्थल हैं, जहाँ हम अब भी नहीं पहुँचे हैं, और ऐसे भी कुछ स्थल हैं, जहाँ साम्य भाव पुनः स्थापित हो चुका है, किन्तु ऊपर की सतह पर तरंग सर्वदा ही उठती रहती है, वहाँ पर अनन्त काल से इस साम्यावस्था को प्राप्त करने की चेष्टा चलती ही रहती है। जीवन और मृत्यु एक ही वस्तु के विभिन्न नाम मात्र हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, दोनों ही माया हैं—यह अवस्था स्पष्ट रूप से समझी नहीं जा सकती—एक समय जीवित रहने की चेष्टा होती है, तो दूसरे ही क्षण विनाश या मृत्यु की। हमारी यथार्थ स्वरूप आत्मा इन दोनों से परे है। जब हम ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तो ईश्वर, और कुछ नहीं, वास्तव में आत्मा ही है, जिससे हमने अपने को अलग कर लिया है और जिसे हम अपने से अलग मानकर पूजते हैं; किन्तु वास्तव में यह उपासना उसीकी है जो चिर काल से एकमात्र ईश्वरपदवाच्य हमारी अन्तरात्मा ही है।

उस नष्ट साम्यावस्था को पुनः प्राप्त करने के लिए पहले हमें रजस् द्वारा तमस् को और सत्त्व द्वारा रजस् को जीतना होगा। सत्त्व का अभिप्राय उस प्रकार की स्थिर, धीर, प्रशान्त अवस्था से है, जिसके धीरे धीरे बढ़ने पर अंत में अन्यान्य भाव अर्थात् रजस् और तमस् सर्वथा लुप्त हो जाते हैं। बन्धन काट डालो, मुक्त बनो, यथार्थ 'पुत्र' बनो, तभी ईसा के समान 'पिता को देख सकोगे।' धर्म और ईश्वर कहने से अनन्त शक्ति और अनन्त वीर्य समझा जाता है। दुर्बलता और दासत्व का त्याग करो। जब तुम मुक्त हो, केवल तभी तुम आत्मा हो; यदि तुम मुक्त हो, तभी अमृतत्व तुम्हारे करतलगत है; तभी ईश्वर वास्तव में है, यदि वह मुक्त है। . . .

* * *

जगत् मेरे लिए है, मैं जगत् के लिए कदापि नहीं हूँ! शुभ-अशुभ सभी मेरे दास हैं; मैं उनका दास कदापि नहीं हूँ। जिस अवस्था में पड़ा है, उसी अवस्था में पड़े रहना पशु का स्वभाव है; मनुष्य का स्वभाव है; —अशुभ छोड़कर शुभ प्राप्त करने की चेष्टा करना; और शुभाशुभ किसीके लिए भी चेष्टा न करना—

सर्वदा सब अवस्थाओं में आनन्दमय होकर रहना ईश्वर का स्वभाव है। हमें ईश्वर होना होगा। हृदय को समुद्र के समान महान् बना लो, संसार के क्षुद्र भावों के परे चले जाओ, इतना ही नहीं, अशुभ आने पर भी आनन्द से उन्मत्त हो जाओ; जगत् को एक तस्वीर के समान देखो; और यह जानकर कि जगत् में तुम्हें कोई भी वस्तु विचलित नहीं कर सकती, जगत् के सौन्दर्य का उपभोग करो। जगत् के सुख इस प्रकार हैं, जैसे छोटे छोटे लड़के खेल करते करते कीचड़ में काँच की गुरिया पा जाते हैं। जगत् के सुख-दुःख के ऊपर शान्त भाव से दृष्टिपात करो; शुभ और अशुभ, दोनों को एक दृष्टि से देखो--दोनों ही भगवान् के खेल हैं, इसलिए सभी में आनन्द का अनुभव करो।

* * *

मेरे गुरुदेव कहते थे--'सभी नारायण हैं, किन्तु बाघ नारायण से दूर रहना होता है; सभी जल नारायण हैं, तो भी गन्दा जल नहीं पिया जाता।'

'आकाशरूपी थाली में रवि-चन्द्र रूपी दीपक जलते हैं--फिर अन्य मन्दिरों की क्या आवश्यकता? सभी नेत्र तेरे नेत्र हैं, फिर भी तेरा एक भी नेत्र नहीं है; सभी हाथ तेरे हाथ हैं, फिर भी तेरा एक भी हाथ नहीं है।'

न कुछ पाने की चेष्टा करो, न कुछ छोड़ने की चेष्टा करो, यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट बनो। किसी भी विषय से तुम विचलित न हो, तभी समझो कि तुमने मुक्ति या स्वाधीनता प्राप्त कर ली। केवल सहन करने से न होगा--बिल्कुल अनासक्त बनो। उस साँड़ की कहानी मन में रखो, जिसके सींग पर एक मच्छर बहुत समय तक बैठा रहा--इतनी देर बैठने के बाद उसकी औचित्य बुद्धि जाग्रत हो उठी, यह सोचकर कि सम्भव है, साँड़ के सींग पर मेरे बैठने से उसे बहुत कष्ट हो रहा हो। वह साँड़ को सम्बोधित कर कहने लगा, "भाई साँड़! मैं बहुत देर से तुम्हारे सींग पर बैठा हुआ हूँ। मालूम होता है, तुम्हें बहुत असुविधा हो रही है, मुझे क्षमा करना। यह लो, मैं उड़ जाता हूँ।" साँड़ बोला--"नहीं, नहीं, तुम सपरिवार आकर भी मेरे सींग पर निवास करो न। मेरा उनसे कुछ न बिगड़ेगा।"

२६ जून, बुधवार

जब हमारा 'अहं ज्ञान' नहीं रहता, तभी हम अपना सर्वोत्तम कार्य कर सकते हैं, दूसरों को सर्वाधिक प्रभावित कर पाते हैं; सभी महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति इस बात को जानते हैं। उस दिव्य कर्ता के प्रति अपना हृदय खोल दो, तुम स्वयं कुछ भी करने मत जाओ। श्री कृष्ण गीता में कहते हैं--'हे अर्जुन, त्रिलोक में

मेरे लिए कर्तव्य नामक कुछ भी नहीं है।' उनके ऊपर सम्पूर्णतया निर्भर रहो, सम्पूर्ण रूप से अनासक्त होओ, ऐसा होने पर ही तुम्हारे द्वारा कुछ यथार्थ कार्य हो सकता है। जिस शक्ति द्वारा ये सभी कार्य होते हैं, उसे हम देख नहीं पाते, हम केवल उसका फल मात्र देख पाते हैं। अहं को निकाल डालो, उसका नाश कर डालो, उसे भूल जाओ; अपने द्वारा ईश्वर को कार्य करने दो--यह उन्हींका कार्य है, उन्हें करने दो। हमें और कुछ नहीं करना होगा--केवल स्वयं हटकर उन्हें काम करने देना होगा। हम जितनी दूर हटते जायँगे, ईश्वर उतना ही हमारे भीतर आयेगा। क्षुद्र 'अहं' को नष्ट कर डालो--केवल विराट् 'अहं' रहने दो। हम अभी जो कुछ हैं, वह सब अपने चिन्तन का ही फल है। इसलिए तुम क्या चिन्तन करते हो, इस विषय में विशेष ध्यान रखो। शब्द तो गौण वस्तु है। चिन्तन ही बहुकाल-स्थायी है और उसकी गति भी बहु-दूरव्यापी है। हम जो कुछ चिन्तन करते हैं, उसमें हमारे चरित्र की छाप लग जाती है; इस कारण साधु पुरुषों की हँसी या गाली में भी उनके हृदय का प्रेम और पवित्रता रहती है और उससे हमारा कल्याण ही होता है।

कुछ भी कामना मत करो। ईश्वर का चिन्तन करो, किन्तु किसी भी फल की कामना मत करो। जो कामनाशून्य होते हैं, उन्हींका कार्य फलप्रद होता है। भिक्षाजीवी संन्यासी द्वार द्वार पर धर्म का सन्देश लेकर जाते हैं, किन्तु वे मन में सोचते हैं, हम कुछ भी नहीं करते। वे किसी प्रकार की अपनी अधिकार-सत्ता भी नहीं दर्शाते, उनका कार्य उनके अनजान में हो जाता है। यदि वे (ऐहिक) ज्ञानरूपी वृक्ष का फल[1] खायें, तो उन्हें अहंकार आ जाय, फिर वे जो कुछ लोक-कल्याण करेंगे--सब नष्ट हो जायगा। जब हम 'मैं मैं' कहते हैं, तब हम मूर्ख से बन जाते हैं, और कहते जाते हैं--हमने 'ज्ञान' लाभ कर लिया है, किन्तु वास्तव में तो हम 'आँख बँधे बैल' के समान कोल्हू में ही लगातार घूमते रहते हैं। भगवान् खूब अच्छी तरह अपने को छिपाकर रखते हैं, इसीलिए उनका कार्य भी सर्वोत्तम है। इसी प्रकार जो अपने को सम्पूर्ण रूप से छिपाकर रख सकते

---

१. बाइबिल में इस प्रकार वर्णन है: ईश्वर ने आदम और हव्वा नामक प्रथम सृष्ट पुरुष और स्त्री को नन्दन वन में रख दिया और उनको वहाँ के ज्ञानवृक्ष का फल खाने के लिए मना कर दिया। किन्तु वे शैतान की प्रेरणा से उसे खाकर अपने पूर्व के निष्पाप स्वभाव से भ्रष्ट हो गये। यहाँ पर ज्ञान का अर्थ सुख-दुःख, शुभा-शुभ आदि सापेक्षिक ज्ञान समझना चाहिए। स०

हैं, वे ही सबकी अपेक्षा अधिक कार्य कर पाते हैं। पहले अपने को जीत लो, फिर सम्पूर्ण जगत् तुम्हारे पैरों के नीचे आ जायगा।

सत्त्व गुण में अवस्थित होने पर हम सभी वस्तुओं के असली रूप को देख पाते हैं, उस समय हम पंचेन्द्रियों और बुद्धि के अतीत प्रदेश में चले जाते हैं। 'अहं' ही वह वज्रदृढ़ प्राचीर है, जिसने हमें बद्ध कर रखा है--सत्य के मुक्त वायु-मण्डल में वह हमें नहीं जाने देता--सभी विषयों में, सभी कार्यों में इसीसे 'मैं, मेरा' यह भाव आता है--हम सोचते हैं, मैं यह कार्य करता हूँ, वह कार्य करता हूँ, इत्यादि। इस क्षुद्र अहं को दूर कर डालो, हममें यह जो अहंरूप पैशाचिक भाव रहता है, उसे बिल्कुल नष्ट कर डालो। **नाहं नाहं, त्वमेव त्वमेव**, इस मन्त्र का उच्चारण करो, हृदय से उसे अनुभव करो, समग्र जीवन उससे अनुप्राणित कर दो। जब तक हम इस अहं से निर्मित जगत् का परित्याग नहीं कर पाते, तब तक हम स्वर्ग राज्य में कभी भी प्रवेश नहीं कर सकते--न कोई कभी कर सका है और न कर सकेगा। संसार त्याग करने का अर्थ है--इस अहं को बिल्कुल भूल जाना, अहं की ओर कभी भी ध्यान न देना; देह में वास करना, लेकिन देह का न होना। इस बदमाश अहं को बिल्कुल नष्ट कर डालना होगा। लोग जब तुम्हारी बुराई करें, तो तुम उन्हें आशीर्वाद दो; सोचकर देखो, वे तुम्हारा कितना उपकार करते हैं; अनिष्ट यदि किसीका होता है, तो केवल उनका अपना ही होता है। ऐसे स्थान पर जाओ, जहाँ लोग तुमसे घृणा करें; तुम अपनी अहंता को उन्हें मार मारकर अपने भीतर से बाहर निकाल फेंकने दो--ऐसा होने पर तुम भगवान् के सन्निकट पहुँच जाओगे। बँदरिया जैसे अपने बच्चे को गोद में दबाये रहती है, किन्तु अन्त में बाध्य होने पर उसको हटाकर फेंक देती है, उसे कुचल डालने में भी पीछे नहीं रहती, उसी प्रकार हम भी संसार को जितने दिन तक सम्भव होता है, छाती से चिपकाये रहते हैं, किन्तु अन्त में जब हम उसे पददलित करने पर बाध्य होते हैं, तभी हम ईश्वर के समीप जाने के अधिकारी होते हैं। धर्म के लिए यदि दूसरों का अत्याचार सहन करना पड़े, तो हम धन्य हो जायँगे; यदि हम लिखना-पढ़ना न जानें, तो हम धन्य हैं, क्योंकि ईश्वर के सान्निध्य से दूर करनेवाली अनेक बातें उससे कम हो जाती हैं।

भोग है लाख फनवाला साँप--हमें उसे कुचलना ही होगा। हम भोगों को त्यागकर अग्रसर होने लगें; कुछ भी न पाने पर सम्भव है, हम निराश हो जायँ; किन्तु लगे रहो, लगे रहो--कभी छोड़ो मत। यह संसार एक पिशाच के समान है। यह संसार मानो एक राज्य है--हमारा क्षुद्र अहं मानो उसका राजा है। उसे दूरकर दृढ़ होकर खड़े हो जाओ। काम-कांचन, नाम-यश को छोड़कर दृढ़

भाव से ईश्वर की शरण लो। अन्त में हम सुख-दुःख में सम्पूर्ण उदासीनता लाभ करेंगे। इन्द्रियचरितार्थता ही सुख है---यह धारणा सम्पूर्ण जड़वादात्मक है। उसमें एक विन्दु मात्र भी यथार्थ सुख नहीं है। उसमें जो कुछ सुख है, वह वास्तविक आनन्द का प्रतिविम्ब मात्र है।

जिन्होंने ईश्वर के श्रीचरणों में आत्मसमर्पण किया है, वे जगत् के लिए उन तथाकथित कर्मियों की अपेक्षा अनेक गुना अधिक कार्य करते हैं। जिसने स्वयं को सम्पूर्ण रूप से शुद्ध वना लिया है, वह सैकड़ों धर्म-प्रचारकों की अपेक्षा अधिक कार्य करता है। पवित्रता और मौन से ही वाणी में शक्ति आती है।

लिली फूल के सदृश बनो---एक ही स्थान में रहो; अपनी पंखड़ियों को मुकुलित करो, मधुमक्खियाँ स्वयं ही आ जुटेंगी। श्री केशवचन्द्र सेन और श्री रामकृष्ण के बीच एक बड़ा अन्तर था। श्री रामकृष्णदेव जगत् में पाप या अशुभ नहीं देख पाते थे---वे जगत् में कुछ भी अशुभ नहीं देख पाते थे, और वे उस अशुभ को दूर करने के लिए चेष्टा करने का भी कोई प्रयोजन नहीं देखते थे। और केशवचन्द्र एक महान् धर्मसंस्कारक, नेता एवं ब्राह्म समाज के प्रतिष्ठाता थे। बारह वर्ष के पश्चात् इन शान्त दक्षिणेश्वरवासी महापुरुष ने केवल भारत में ही नहीं, वरन् समग्र संसार में एक क्रान्ति कर दी। ये सभी नीरव महापुरुष वास्तव में महाशक्ति के आगार हैं---वे जीते हैं, प्रेम करते हैं और फिर अपने व्यक्तित्व को खींच लेते हैं। वे कभी भी, 'मैं, मेरा' नहीं कहते। वे अपने को ईश्वर का यन्त्र-स्वरूप समझकर ही अपने को धन्य मानते हैं। ऐसे व्यक्ति ईसा और बुद्ध आदि के निर्माता हैं। वे सदैव ईश्वर के साथ सम्पूर्ण भाव से तादात्म्य लाभ करके एक आदर्श जगत् में निवास करते हैं। वे कुछ नहीं चाहते और अहंभाव से कुछ भी नहीं करते। वे ही वस्तुतः प्रेरकस्वरूप हैं---वे जीवन्मुक्त एवं बिल्कुल अहंशून्य हैं। उनका क्षुद्र अहं ज्ञान पूर्ण रूप से नष्ट हो गया है, उन्हें महत्त्वाकांक्षा बिल्कुल नहीं है। उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है; वे निराकार तत्त्व-स्वरूप हैं।

१ जुलाई, सोमवार

श्री रामकृष्णदेव

श्री रामकृष्णदेव एक अत्यन्त निष्ठावान ब्राह्मण के पुत्र थे। उनके पिता ब्राह्मणों की एक जातिविशेष को छोड़कर अन्य किसीका दान नहीं ग्रहण करते थे। जीविकोपार्जन के लिए सर्वसाधारण व्यक्ति के समान वे कोई काम भी नहीं

कर सकते थे, पुस्तकें बेचना या किसीके यहाँ नौकरी करना तो दूर की बात है, किसी देवमन्दिर में पौरोहित्य करना भी उनके लिए सम्भव नहीं था। उनकी वृत्ति आकाशी वृत्ति थी; जो अयाचित भाव से उपस्थित होता था, उसी-से उनके भोजन-वस्त्र का निर्वाह होता था; किन्तु वह भी वे किसी पतित ब्राह्मण के पास से नहीं लेते थे। हिन्दू धर्म में देवमन्दिरों का ऐसा कोई प्राधान्य नहीं है। चाहे सभी मन्दिर नष्ट हो जायँ, फिर भी धर्म की विन्दु मात्र भी क्षति नहीं होगी। हिन्दुओं के मत में अपने लिए घर बनवाना स्वार्थपरायणता का कार्य है; केवल देवता और अतिथि के लिए ही घर बनवाया जा सकता है। इसी-लिए लोग भगवान् के निवासस्वरूप मन्दिर आदि का निर्माण करवाते हैं।

अपनी पारिवारिक स्थिति अत्यन्त विपन्न होने के कारण श्री रामकृष्ण बहुत थोड़ी अवस्था में एक मन्दिर में पुजारी होने के लिए बाध्य हुए। मन्दिर में जग-ज्जननी की मूर्ति प्रतिष्ठित थी—उन्हें प्रकृति या काली भी कहा जाता है। एक स्त्रीमूर्ति एक पुरुषमूर्ति पर खड़ी है—इसका अर्थ यह है कि मायावरण को हटाये बिना हम ज्ञान लाभ नहीं कर सकते। ब्रह्म निर्लिंग है—वह अज्ञात और अज्ञेय है। वह जब अपने को अभिव्यक्त करता है, तब अपने को माया के आवरण से आवृत कर जगज्जननी का स्वरूप धारण करता और सृष्टि-प्रपंच का विस्तार करता है। धराशायी पुरुष (शिव या ब्रह्म) मायावृत होने के कारण शव हो गया। ज्ञानी कहता है—'मैं बलपूर्वक माया को हटाकर ब्रह्म को प्रकाशित करूँगा' (अद्वैतवाद); किन्तु द्वैतवादी या भक्त कहता है—'उन जग-ज्जननी से प्रार्थना करने पर वे द्वार छोड़ देंगी, तभी ब्रह्म प्रकाशित होगा—उन्हीके हाथ में चाभी है।'

प्रतिदिन माँ काली की सेवा तथा पूजा-अर्चना करते करते इन तरुण पुरोहित के हृदय में क्रमशः ऐसी तीव्र व्याकुलता तथा भक्ति का उद्रेक हुआ कि वे फिर नियमित रूप से मन्दिर में पूजा आदि कार्य करने में असमर्थ हो गये। इसलिए वे उसे छोड़कर मन्दिर के अहाते के भीतर ही एक छोटे से जंगल में जाकर दिन-रात ध्यान-धारणा करने लगे। वह जंगल ठीक गंगा जी के किनारे था; एक दिन गंगा जी की प्रबल धारा में ठीक एक कुटी के निर्माणोपयोगी सामग्री उनके पास बहकर आ गयी। उसी कुटीर में रहकर वे सर्वदा प्रार्थना करने और रोने लगे—जगन्माता को छोड़कर और किसी भी विषय की चिन्ता उन्हें नहीं रही; इतना ही नहीं, अपने शरीर की भी चिन्ता उन्हें नहीं रही। इस समय उनका एक आत्मीय प्रतिदिन मध्याह्न में एक बार उनको भोजन करा जाता था और उनकी देख-रेख करता था। कुछ दिनों के बाद एक संन्यासिनी आकर उन्हें उनकी 'माँ'

से मिलाने के लिए सहायता करने लगीं। उन्हें जिस प्रकार के गुरु की आवश्यकता होती थी, वे स्वयं उनके पास आकर उपस्थित हो जाते थे। सभी सम्प्रदाय के कोई न कोई साधु आकर उन्हें उपदेश देते थे और वे ध्यानपूर्वक सभी का उपदेश सुनते थे। परन्तु वे केवल उन जगन्माता की ही उपासना करते थे—वे सभी में जगन्माता को ही देखते थे।

श्री रामकृष्ण ने कभी किसीके विरुद्ध कोई कड़ी बात नहीं कही। उनका हृदय इतना उदार था कि उनके बारे में सभी सम्प्रदाय सोचते थे कि वे उन्हींके हैं। वे सभी से प्रेम करते थे। उनकी दृष्टि में सभी धर्म सत्य थे—वे कहते थे, धर्मजगत् में सभी धर्मों का स्थान है। वे मुक्त थे, किन्तु सर्वसाधारण के प्रति समान प्रेम में ही उनके मुक्त स्वभाव का परिचय पाया जाता था, वज्रवत् कठोरता में नहीं। इस प्रकार के कोमलहृदय व्यक्ति ही नूतन भाव की सृष्टि करते हैं। और कर्मप्रवण लोग इस भाव को चारों ओर फैला देते हैं। सन्त पॉल इस दूसरी कोटि के थे। इसीलिए उन्होंने सत्य का आलोक चारों ओर फैलाया था।

किन्तु अब सन्त पॉल का युग नहीं है। हमको ही आधुनिक जगत् का नूतन आलोकस्वरूप होना होगा। हमारे युग की विशेष आवश्यकता है, एक ऐसे संघ का निर्माण, जो स्वयं अपना समायोजन कर ले। जब ऐसा होगा, तब वही जगत् का अन्तिम धर्म होगा। संसार-चक्र चलेगा ही—हमें उसकी सहायता करनी होगी, बाधा देने से काम नहीं चलेगा। धार्मिक विचार-धाराओं की तरंग उठती है, गिरती है और उन सभी तरंगों के शीर्ष-प्रदेश में उसी युग के पैग़म्बर विराजते हैं: श्री रामकृष्ण वर्तमान युग के उपयुक्त धर्म की शिक्षा देने आये थे, जो विधायक है, न कि विध्वंसक। उन्हें अभिनव ढंग से प्रकृति के समीप जाकर सत्य जानने की चेष्टा करनी पड़ी थी, फलस्वरूप उन्होंने वैज्ञानिक धर्म को प्राप्त कर लिया था। वह धर्म किसीको कुछ मान लेने को नहीं कहता है, स्वयं परख लेने को कहता है। 'मैं सत्य का दर्शन करता हूँ, तुम भी इच्छा करने पर उसका दर्शन कर सकते हो।' मैंने जिस साधन का अवलम्बन किया है, तुम भी उसी-का अवलम्बन करो, वैसा करने पर तुम भी हमारे सदृश सत्य का दर्शन करोगे। ईश्वर सभी के समीप आयेंगे—इस समत्व भाव को सभी प्राप्त कर सकेंगे। श्री रामकृष्ण जो कुछ उपदेश दे गये हैं, वह सब हिन्दू धर्म का सार-स्वरूप है, उन्होंने अपनी ओर से कोई नयी बात नहीं कही। और वे उन सब बातों को अपनी बतलाने का भी कभी दावा नहीं करते थे; वे नाम-यश के लिए किंचित् मात्र भी आकांक्षा नहीं रखते थे।

उनकी अवस्था जब लगभग चालीस वर्ष की थी, तब उन्होंने उपदेश करना

प्रारम्भ किया। किन्तु वे इस प्रचार के लिए कभी भी कहीं बाहर नहीं गये। जो उनके पास आकर उपदेश ग्रहण करने की इच्छा रखते थे, उन्हींकी वे प्रतीक्षा करते थे। हिन्दू समाज की प्रथा के अनुसार उनके माता-पिता ने उनके यौवन-काल के प्रारम्भ में पाँच वर्ष की एक छोटी लड़की के साथ उनका विवाह कर दिया था। विवाह के उपरान्त यह बालिका बहुत दूर के एक ग्राम में अपने परि-वारवालों के साथ रहती रही—वह यह नहीं जानती थी कि उसके तरुण पति कितने कठोर संघर्षों में व्यस्त हैं। जब वह सयानी हुई, उस समय उसका पति भगवत्प्रेम में तन्मय हो चुका था। वह पैदल ही अपने गाँव से दक्षिणेश्वर काली मन्दिर में पति के समीप उपस्थित हुई। वह अपने पति को देखते ही उनकी वास्तविक अवस्था को समझ गयी; क्योंकि वह स्वयं अत्यन्त विशुद्ध एवं उन्नत स्वभाव की थी। वह केवल अपने पति के कार्य में सहायता करने की ही इच्छुक थी; उसे कभी भी ऐसी इच्छा नहीं हुई कि वह अपने पति को गृहस्थ-जीवन की ओर खींच लाये।

श्री रामकृष्ण की पूजा भारत में एक महान् अवतार के रूप में होती है। उनका जन्म-दिन वहाँ पर एक धर्मोत्सव-रूप में मनाया जाता है।

* * *

एक विशिष्ट लक्षणयुक्त गोलाकार शिला विष्णु अर्थात् सर्वव्यापी भगवान् के प्रतीक-रूप में व्यवहृत होती है। प्रातःकाल पुरोहित आकर उस शालिग्राम शिला की पुष्पचंदन, नैवेद्य आदि के द्वारा पूजा करते हैं, धूप-कर्पूरादि के द्वारा आरती करते हैं, उसके बाद उन्हें सुलाकर उस प्रकार की पूजा के लिए उनके समीप क्षमा-प्रार्थना करते हैं। ईश्वर के स्वरूपतः रूपविर्वजित होने पर भी वे इस प्रकार के प्रतीक या जड़ वस्तु की सहायता के बिना उनकी उपासना नहीं कर पाते—इस दोष या दुर्बलता के लिए वे उनके निकट क्षमा-प्रार्थना करते हैं। वे शिला को स्नान कराते हैं, कपड़ा पहनाते हैं, और अपनी चैतन्य-शक्ति के द्वारा उनकी प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं।

* * *

एक सम्प्रदाय है, जो कहता है—भगवान् की केवल शिव और सुन्दर रूप में पूजा करना दुर्बलता मात्र है, हमें अशिव और बीभत्स रूप से भी प्रेम करना होगा और उसकी पूजा करनी होगी। यह सम्प्रदाय तिब्बत देश में सर्वत्र विद्यमान है और उसके भीतर विवाह प्रथा नहीं है। भारत में यह सम्प्रदाय प्रकट रूप में रह नहीं सकता, इसलिए वे गुप्त रूप में वहाँ अपने समाज का संगठन करते हैं। कोई भी सत्पुरुष गुप्त रूप के अतिरिक्त इन सम्प्रदायों में योग नहीं दे

सकता। तिब्बत देश में तीन बार साम्यवाद[1] को कार्य में परिणत करने की चेष्टा की गयी है, किन्तु प्रत्येक बार वह चेष्टा विफल हो गयी। वे खूब तपस्या करते हैं और शक्ति (विभूति) लाभ की दृष्टि से उसमें खूब सफलता भी प्राप्त करते हैं।

'तपस्' शब्द का धात्वर्थ है, ताप देना या उत्तप्त करना। यह हमारी उच्च प्रकृति को 'तप्त' या उत्तेजित करने की साधना या प्रक्रिया विशेष है, उदाहरणार्थ, सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त पर्यन्त ओंकार का लगातार जप करना। इन सभी क्रियाओं के द्वारा एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे अपनी इच्छानुसार आध्यात्मिक या भौतिक, किसी भी रूप में परिणत किया जा सकता है। इस तपस्या का भाव समग्र हिन्दू धर्म में ओतप्रोत है। इतना ही नहीं, हिन्दू लोग कहते हैं कि ईश्वर को भी जगत् की सृष्टि करने के लिए तपस्या करनी पड़ी थी। यह मानो मानसिक यन्त्रविशेष है—इसके द्वारा सब कुछ किया जा सकता है। शास्त्र में कहा है—'त्रिभुवन में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो तपस्या द्वारा पाया नहीं जा सकता।'

*   *   *

जो लोग ऐसे सम्प्रदायों के मतामत या कार्य-कलाप का दोष-दृष्टि से वर्णन करते हैं, जिनके साथ उनकी सहानुभूति नहीं है, वे जान या अनजान में मिथ्यावादी होते हैं। जो सम्प्रदायविशेष में दृढ़ विश्वासी हैं, वे प्रायः यह देख नहीं पाते कि दूसरे सम्प्रदाय में भी सत्य है।

*   *   *

भक्तश्रेष्ठ हनुमान से एक बार पूछा गया था—"आज महीने की कौन सी तिथि है?" उन्होंने उत्तर दिया, "राम ही मेरे सम्वत्, तिथि आदि सब कुछ हैं। मैं और कोई तिथि आदि कुछ नहीं जानता।"

२ जुलाई, मंगलवार

जगज्जननी

शाक्त जगत् की उस सर्वव्यापिनी शक्ति को 'माँ' कहकर उसकी पूजा करते हैं—क्योंकि 'माँ' नाम की अपेक्षा अधिक मधुर और दूसरा नाम नहीं है। भारत में माता ही स्त्री-चरित्र का चरम आदर्श है। भगवान् की मातृरूप में तथा प्रेम के

---

१. साम्यवाद (Communism)—**इस मत के अनुसार किसीकी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का रहना उचित नहीं, सभी की साधारण सम्पत्ति होनी चाहिए। सं०**

उच्चतम विकास रूप में पूजा करने को हिन्दू लोग दक्षिणाचार या दक्षिण-मार्ग कहते हैं; इस उपासना से हमारी आध्यात्मिक उन्नति होती है, मुक्ति होती है-- इसके द्वारा कभी भी ऐहिक उन्नति नहीं होती। उसके भीषण रूप की अर्थात् रुद्रमूर्ति की उपासना को वामाचार या वाम-मार्ग कहते हैं। साधारणतः इसमें सांसारिक उन्नति खूब होती है, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति विशेष रूप से नही होती। काल-क्रम से अवनति होती है और जो जाति उसका साधन करती है, उसका बिल्कुल ध्वंस हो जाता है।

जननी ही शक्ति का प्रथम विकासस्वरूप है और जनक के भाव की अपेक्षा जननी का भाव ही भारत में उच्चतर बताया गया है। 'माँ' नाम लेने से ही शक्ति का भाव, सर्वशक्तिमत्ता और दैवी शक्ति का भाव आ जाता है, जैसे शिशु अपनी माँ को सर्वशक्तिमती समझता है अर्थात् माँ सब कुछ कर सकती है। वह जगज्जननी भगवती ही हमारी आभ्यन्तरिक निद्रिता कुण्डलिनी हैं—उनकी उपासना किये बिना हम कभी भी अपने को पहचान नहीं सकते। सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापिता और अनन्त दया उन्हीं जगज्जननी भगवती के गुण हैं। जगत् में जितनी शक्ति है, उसकी समष्टिस्वरूपिणी वही हैं। जगत् में समस्त शक्ति की वह पूर्ण योग हैं। जगत् में शक्ति की सभी अभिव्यक्तियाँ 'माँ' ही हैं। वही प्राणरूपिणी हैं, वही बुद्धिरूपिणी हैं, वही हैं प्रेमरूपिणी। वे समग्र जगत के भीतर विराजमान हैं, फिर भी वे जगत् से सम्पूर्ण पृथक् हैं। वे एक व्यक्तिरूप हैं—उनको जाना जा सकता है, देखा जा सकता है (जैसे श्री रामकृष्ण ने उनको जाना और देखा था)। उन जगन्माता के भाव में प्रतिष्ठित होकर हम जो चाहें कर सकते हैं। वे तुरन्त ही हमारी प्रार्थनाओं का उत्तर देती हैं।

वे जब चाहें, किसी भी रूप में हमें दर्शन दे सकती हैं। उन जगज्जननी के नाम-रूप दोनों रह सकते हैं। अथवा रूप के न रहने पर केवल नाम रह सकता है। उनकी इन सभी विभिन्न भावों में उपासना करते करते हम एक ऐसी अवस्था में पहुँचते हैं, जहाँ पर नाम-रूप कुछ भी नहीं रहता, केवल शुद्ध सत्ता मात्र रह जाती है।

जैसे किसी शरीर विशेष के समुदय कोषों से (Cells) मिलकर एक मनुष्य बनता है, उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा मानो एक एक कोषस्वरूप है, एवं उन सबकी समष्टि ईश्वर है—और वह अनन्त पूर्ण तत्त्व (ब्रह्म) उससे भी अतीत है। समुद्र जब स्थिर रहता है, तब उसे कहा जाता है 'ब्रह्म', और उसी समुद्र में जब तरंग उठती है, तब उसीको हम 'शक्ति' या 'माँ' कहते हैं। वह शक्ति या महामाया ही देश-काल-निमित्तस्वरूप है। वह ब्रह्म ही माँ है। उसके दो रूप हैं—एक सविशेष या सगुण,

और दूसरा निर्विशेष या निर्गुण। प्रथम रूप में वह ईश्वर, जीव और जगत् है, द्वितीय रूप में वह अज्ञात और अज्ञेय है। उस निरुपाधिक सत्ता से ही ईश्वर, जीव और जगत् यह त्रित्व भाव आता है। समस्त सत्ता--जो कुछ हम जान सकते हैं, सभी यह त्रिकोणात्मक है; यही विशिष्टाद्वैत भाव है।

उन्हीं जगदम्बा का एक कण, एक विन्दु है कृष्ण, और एक कण बुद्ध, और एक कण ईसा। हमारी पार्थिव जननी में उन जगन्माता का जो एक कण प्रकाशित रहता है, उसीकी उपासना से महानता का लाभ होता है। यदि परम ज्ञान और आनन्द चाहते हो, तो उन जगज्जननी की उपासना करो।

२० जुलाई, शनिवार

प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ ज्ञान या यथार्थ धर्म है। अनन्त युगों तक हम यदि धर्म के सम्बन्ध में केवल बातें ही करते रहें, तो उससे हमें कभी भी आत्मज्ञान नहीं हो सकता। केवल सिद्धान्त विशेष में विश्वासी होना और नास्तिकता--इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। वरन् इस प्रकार के आस्तिक और नास्तिक में तो नास्तिक ही अच्छा है। उस प्रत्यक्षानुभूति के आलोक में मैं जितने क़दम आगे बढ़ूँगा, उससे मुझे कोई कभी भी पीछे नहीं हटा सकेगा। किसी देश को जब तुमने स्वयं जाकर देखा, तब तुम्हें उसके सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान हुआ। हममें से प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्षानुभूति करनी होगी। आचार्य केवल हमारे समीप 'खाना ला सकते हैं'--इससे पुष्टि लाभ करने के लिए हमें स्वयमेव खाना पड़ेगा। तर्क-युक्ति ईश्वर को, एक तर्कसंगत निष्कर्ष के रूप में छोड़कर, अन्य किसी प्रकार प्रमाणित नहीं कर सकती।

भगवान् को अपने से बाहर प्राप्त करना हमारे लिए असम्भव है। बाहर जो ईश्वर-तत्त्व की उपलब्धि होती है, वह हमारी आत्मा का ही प्रकाश मात्र है। हमीं हैं भगवान् के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर। बाहर जो कुछ उपलब्धि होती है, वह हमारे आभ्यन्तरिक ज्ञान का ही अति सामान्य अनुकरण या प्रतिबिम्ब मात्र है।

हमारे मन की शक्तियों की एकाग्रता ही हमारे लिए ईश्वर-दर्शन का एकमात्र साधन है। यदि तुम एक आत्मा को (अपनी आत्मा को) जान सको, तो तुम भूत, भविष्य, वर्तमान सभी आत्माओं को जान सकोगे। इच्छा-शक्ति के द्वारा मन की एकाग्रता साधित होती है--और विचार, भक्ति, प्राणायाम इत्यादि विभिन्न उपायों से यह इच्छा-शक्ति उद्बुद्ध और वशीकृत हो सकती है। एकाग्र मन मानो एक प्रदीप है, जिसके द्वारा आत्मा का स्वरूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

एक प्रकार की साधना-प्रणाली सबके लिए उपयोगी नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि विभिन्न साधना-प्रणालियों का सोपान के समान एक एक करके अवलम्बन करना होगा। क्रिया-कलाप, अनुष्ठान आदि सबकी अपेक्षा निम्न साधन है, उससे श्रेष्ठतर साधन है ईश्वर को अपनी आत्मा से बाहर देखना, और सर्वश्रेष्ठ साधन है, अपनी आत्मा के भीतर ब्रह्म का साक्षात्कार करना। कुछ व्यक्तियों के लिए एक के बाद दूसरा—इस प्रकार के क्रम की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु अधिकांश व्यक्तियों के लिए एक ही मार्ग की आवश्यकता होती है। सबके लिए यह कहना कि 'ज्ञान-लाभ करने के लिए तुम्हें कर्म और भक्ति के मार्ग से ही जाना होगा'—इससे बढ़कर अधिक अहमक़पन और क्या हो सकता है?

जब तक तुम किसी उच्च तत्त्व को प्राप्त नहीं करते हो, तब तक तुम अपने तर्क-विचार को पकड़े रहो और इस अवस्था में पहुँचने पर तुम्हें मालूम हो जायगा कि तत्त्व श्रेष्ठ इसलिए है कि युक्ति-विचार का विरोधी नहीं है। इस युक्ति-विचार या ज्ञान के परे की भूमि है समाधि, किन्तु स्नायवीय रोगों की प्रतिक्रियास्वरूप मूर्च्छा-विशेष को ही समाधि मत समझ बैठो। अनेक व्यक्ति झूठा दावा करते हैं कि उन्होंने समाधि प्राप्त कर ली है, वे पशु के सदृश स्वाभाविक या सहज ज्ञान को ही समाधि-अवस्था कहने की भूल करते हैं—यह बड़ी भयानक बात है। 'यह यथार्थ भाव-समाधि है या स्नायवीय रोग', इसका बाहर से निर्णय करने का कोई उपाय नहीं। 'वह ठीक ठीक समाधि अवस्था है या नहीं', यह आप ही आप मालूम हो जाता है। इस भूल से हमारा रक्षक नकारात्मक है—अर्थात् बुद्धि की आवाज़। धर्म-लाभ का अर्थ है बुद्धि के परे जाना, किन्तु वहाँ तक हमें पहुँचाने में हमारा पथ-निर्देश बुद्धि ही करती है। सहजात ज्ञान मानो बर्फ़ है, बुद्धि-विचार मानो जल है, और अलौकिक ज्ञान मानो वाष्प है, जो सर्वापेक्षा सूक्ष्म है। ये एक के बाद एक आते हैं। सर्वत्र ही यह अनुक्रम रहता है, जैसे अचेतन, चेतन, बुद्धि, जड़ पदार्थ, देह, मन। और ऐसा प्रतीत होता है कि हम इस श्रृंखला की जिस कडी को पकड़ते हैं, वहीं से उसका आरम्भ होता है। अर्थात् कोई कहते हैं, देह से मन की उत्पत्ति हुई है; और कोई कहते हैं, मन से देह की। दोनों ही पक्षों में युक्ति का समान मूल्य है, और दोनों ही मत सत्य हैं। हमें इन दोनों के परे जाना होगा—ऐसी अवस्था में पहुँचना होगा, जहाँ देह और मन, दोनों ही नहीं हैं। यह सारा अनुक्रम भी माया है।

धर्म बुद्धि के परे है और परा-प्राकृतिक है। श्रद्धा का अर्थ कुछ भी मान लेना नहीं है—वह है उस चरम तत्त्व को हस्तगत करना, वह है एक प्रकाश।

पहले उस आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में श्रवण करो, उसके बाद विचार करो—विचार द्वारा आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में यथाशक्ति जानने का प्रयत्न करो; इसके ऊपर से विचार की बाढ़ को बहने दो—उसके बाद जो शेष रहे, उसीको ग्रहण करो। यदि कुछ भी शेष न रहे, तो तुम भगवान् को धन्यवाद दो, क्योंकि तुम एक अन्ध-विश्वास से बच गये। और जब तुम्हें यह निश्चय हो जायगा कि तुम्हारी आत्मा को कोई भी नहीं ले जा सकता, जब आत्मा हर कसौटी पर खरी उतरेगी, तब तुम उसे दृढ़ भाव से पकड़े रहो तथा सभी को इस आत्म-तत्त्व का उपदेश दो। सत्य कभी पक्षपात नहीं करता, उससे सभी का कल्याण होगा। अन्त में, स्थिर भाव और शान्त चित्त से उसका निदिध्यासन करो—उसका ध्यान करो, तुम अपने मन को उसके ऊपर एकाग्र करो, इस आत्मा के साथ अपने को एकभावापन्न कर डालो। तब फिर शब्दों का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा, तुम्हारा मौन ही सत्य का संचार करेगा। बोलने में शक्ति का ह्रास मत करो, शान्त होकर ध्यान करो। बहिर्जगत् की गति-विधि से अपने को विचलित न होने दो। जब तुम्हारा मन सर्वोच्च अवस्था में पहुँचता है, तब उसकी चेतना तुम्हें नहीं रहती। शान्त रहकर संचय करो और आध्यात्मिकता के 'डाइनेमो' बन जाओ। भिखारी क्या दे सकता है? जो राजा है, वही दे सकता है—और वह राजा भी तभी दे सकता है, जब वह स्वयं कुछ न चाहे।

* * *

तुम्हारे पास जो रुपये-पैसे हैं, उन्हें तुम अपना मत समझो, तुम अपने को तो भगवान् का भण्डारी समझो। उन रुपये-पैसों के प्रति आसक्ति मत रखो। नाम, यश, रुपये-पैसे सभी चले जायँ—जाने दो, ये सब तो भयानक बन्धनस्वरूप हैं। स्वाधीनता की अपूर्व मुक्त वायु का उपभोग करो। तुम तो मुक्त हो, मुक्त हो, पहले से ही मुक्त हो; सर्वदा यह कहो—मैं सदानन्दस्वरूप हूँ, मैं मुक्तस्वभाव हूँ, मैं अनन्तस्वरूप हूँ, मेरी आत्मा का आदि-अन्त नहीं है; सब मेरे आत्म-स्वरूप हैं।

२९ जुलाई, सोमवार, प्रातःकाल

हम कभी कभी किसी पदार्थ का संकेत उसके आस-पास के कुछ व्यापारों के वर्णन द्वारा करते हैं। हम जब ब्रह्म को सच्चिदानन्द नाम से अभिहित करते हैं, तब हम वास्तव में उसी अनिवर्चनीय सर्वातीत सत्तारूपी समुद्र के तट मात्र का कुछ संकेत देते हैं। हम इसे 'अस्ति' स्वरूप नहीं कह सकते, क्योंकि अस्ति कहने से ही उसके विपरीत 'नास्ति' का ज्ञान भी होता है, अतएव वह भी सापेक्षिक है।

कोई भी धारणा या कल्पना व्यर्थ है। केवल 'नेति' 'नेति'--(यह नहीं, यह नहीं) ही कहा जा सकता है, क्योंकि विचार मात्र करना भी सीमित कर देना है और अतः खो देना है।

इन्द्रियाँ दिन-रात तुम्हें धोखा देती रहती हैं। वेदान्त ने बहुत पहले ही यह जान लिया था, आधुनिक विज्ञान भी अब इस तत्त्व को समझने लगा है। किसी चित्र में केवल लम्बाई और चौड़ाई होती है। किन्तु चित्रकार तस्वीर में कृत्रिम रूप से मोटाई या गहराई का भाव भी अंकित कर प्रकृति की प्रतारणा का अनुकरण करता है। दो व्यक्ति कभी भी एक ही जगत् नहीं देख पाते। सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने पर तुम देखोगे कि किसी भी वस्तु में न किसी प्रकार की गति है, न किसी प्रकार का परिणाम, उसकी यह धारणा ही माया है। समस्त प्रकृति अर्थात् समस्त गति के तत्त्व का समष्टि-रूप से निरीक्षण करो। देह और मन कोई भी हमारी यथार्थ आत्मा नहीं है--दोनों ही प्रकृति के अन्तर्गत हैं; किन्तु अंततः इनके भीतर की सार वस्तु को हम तत्त्वतः समझ सकते हैं। उस समय देह और मन के परे चले जाने के कारण देह और मन के द्वारा जो कुछ अनुभव होता है, वह भी चला जाता है। जब तुम इस जगत्प्रपंच को देखना या जानना बंद कर दोगे, तभी तुम्हें आत्मोपलब्धि होगी। हमारा यथार्थ प्रयोजन है, इस द्वैत या सापेक्षिक ज्ञान का अतिक्रमण करना। अनन्त मन या अनन्त ज्ञान नामक कुछ भी नहीं है, क्योंकि मन और ज्ञान, दोनों ही ससीम हैं। अभी हम एक परदे में से देख रहे हैं--उसके बाद क्रमशः आवरण का परित्याग कर हम अपने ज्ञान के सार-सत्यस्वरूप उस अज्ञात वस्तु 'क' के समीप पहुँच जायँगे।

यदि हम कार्डबोर्ड में सुई से किये छिद्र द्वारा किसी तस्वीर को देखें, तो हमें उसका एक नितान्त भ्रामक रूप प्राप्त होता है, किन्तु तथापि हम जो देखते हैं, वह वास्तव में तस्वीर ही है। छिद्र को हम जितना बढ़ाते जाते हैं, उस तस्वीर के बारे में हमारी धारणा उतनी ही स्पष्ट हो जाती है। हम अपनी नाम-रूपविषयक भ्रमात्मक उपलब्धि के अनुसार ही सत्य-वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न धारणा करते हैं। और जब हम कार्डबोर्ड को फेंक देते हैं, तब भी हम वही तस्वीर देखते हैं, किन्तु तब उसे वैसी देखते हैं, जैसी वह वास्तव में है। हम इस तस्वीर में चाहे जितने विभिन्न प्रकार के गुणों या भ्रमात्मक धारणाओं का आरोप क्यों न करें, किन्तु तस्वीर में उससे कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा ही सभी वस्तुओं का मूल सत्यस्वरूप है--हम जो कुछ देखते हैं, सभी आत्मा है, किन्तु हम उसे जिस प्रकार नाम-रूप करके देखते हैं, वह वैसा नहीं है। यह नाम-रूप हमारे परदे में, माया में हैं।

ये सब मानो दूरबीन के विषयग्राही शीशे के दाग़ हैं; और जैसे सूर्य के प्रकाश द्वारा ही हम ये सब दाग़ देख पाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मरूप सत्य वस्तु के पृष्ठ-भाग में न रहने से हम भ्रम भी नहीं देख पाते। स्वामी विवेकानन्द नाम का मनुष्य इस दूरबीन के विषयग्राही काँच का दाग़ मात्र है। वास्तव में मैं केवल सत्यस्वरूप अपरिणामी आत्मा हूँ, और केवल वह सत्य वस्तु ही मुझे स्वामी विवेकानन्द को देखने में समर्थ बनाती है। सभी भ्रमों की मूलभूत सार-सत्ता है आत्मा—और जैसे सूर्य इस काँच के दाग़ों के साथ कभी अभिन्न नहीं माना जाता, वह हमें केवल दाग़ मात्र दिखा देता है, उसी प्रकार आत्मा भी नाम-रूप के साथ कभी भी मिलती नहीं। हमारे शुभ या अशुभ कर्मसमूह इन दाग़ों को केवल घटा या बढ़ा देते हैं, किन्तु वे हमारे अन्त:स्थित ईश्वर के ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते। मन के दाग़ों को पूर्ण रूप से साफ़ कर डालो। ऐसा करने पर ही हम देख सकेंगे —'मैं और मेरे पिता एक ही हैं।'

हम पहले प्रत्यक्षानुभूति करते हैं, युक्ति-विचार बाद में आता है। हमें यह प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करनी होगी, और इसीको धर्म, साक्षात्कार कहा जाता है। किसी व्यक्ति ने भले ही शास्त्र, संप्रदाय या अवतारों का नाम भी सुना हो, किन्तु यदि उसने प्रत्यक्षानुभूति कर ली है, तो उसे और किसी बात का प्रयोजन नहीं रह जाता। चित्त शुद्ध करो—यही संपूर्ण धर्म है, और हम जब तक अपने मन के इन दाग़ों को दूर नहीं करते, तब तक हम उस सत्य का तत्त्वत: दर्शन नहीं कर सकते। शिशु संसार में कोई भी पाप नहीं देख पाता, क्योंकि बाहर के पापों का परिमाण-निर्णायक कोई मापदण्ड उसके भीतर है ही नहीं। अपने भीतर की दोष-राशि को दूर कर डालो, तो तुम बाहर के दोषों को फिर नहीं देख पाओगे। शिशु के सामने डकैती होती है, परन्तु उसके लिए वह कोई अर्थ ही नहीं रखती। किसी चित्र-पहेली में छिपी हुई वस्तु को यदि तुम एक बार देख लो, तो फिर तुम उसे सर्वदा देख सकोगे। इसी प्रकार जब तुम एक बार मुक्त और निर्दोष हो जाओगे, तब तुम जगत्प्रपंच के भीतर मुक्ति और शुद्धता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाओगे। उसी क्षण हृदय की सभी ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं, सभी टेढ़े-मेढ़े स्थान सीधे हो जाते हैं, और यह जगत्प्रपंच स्वप्न के समान उड़ जाता है। और निद्राभंग होते ही यह सोचकर कि हमने ये सब निरर्थक स्वप्न देखे, हमें आश्चर्य होता है।

'जिसे प्राप्त कर लेने पर पर्वतप्राय दु:ख भी हृदय को विचलित नहीं कर पाता', (उसे प्राप्त करना होगा)।

ज्ञान-कुठार द्वारा देह और मन के चक्रों को काट डालो—ऐसा करने पर ही

आत्मा मुक्तस्वरूप होकर पृथग्भाव से स्थित हो सकेगी--यद्यपि पुराने वेग में उस समय भी चक्रद्वय कुछ देर के लिए चलते रहेंगे। परन्तु उस समय चक्र सीधे ही चलेंगे, अर्थात् इस देह-मन के द्वारा शुभ कार्य ही होगा। यदि उस शरीर के द्वारा कुछ बुरे कार्य होते हैं, तो समझ लो, वह व्यक्ति जीवन्मुक्त नहीं है--यदि वह अपने को जीवन्मुक्त कहलाने का दावा करता है, तो उसकी यह बात मिथ्या है। जब चित्तशुद्धि के द्वारा चक्रों की गति सीधी दिशा में हो गयी हो, केवल उसी समय उस पर कुठाराघात सम्भव है। सभी शुद्धिकारक कर्म अज्ञान को ज्ञात या अज्ञात रूप में नष्ट करते हैं। दूसरे को पापी कहने से बढ़कर और कोई बुरा कार्य नहीं है। शुभ कार्य बिना समझ के भी यदि किया जाय, तो भी उसका फल अच्छा ही होता है--वह बन्धन-मोचन में सहायता करता है।

दूरबीन के काँच के दाग़ों का तादात्म्य सूर्य के साथ कर देना ही मूलभूत भ्रम है। वह 'अहं' सूर्य, किसी भी वस्तु से सदा अप्रभावित रहता है, यह समझ लो और अपने को इन दाग़ों के हटाने में नियुक्त करो। मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ प्राणी और कोई नहीं है। कृष्ण, बुद्ध और ईसा के समान मनुष्यों की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है। तुम्हें जिस किसी वस्तु का अभाव-बोध होता है, उसकी सृष्टि तुम्हीं करते हो--वासनामुक्त हो जाओ।

* * *

देवदूत और पितर सभी इसी जगत् में रहते हैं--इसी जगत् को वे स्वर्ग-रूप में देखते हैं। वही अज्ञात वस्तु 'क' को सभी अपने अपने मन के भाव के अनुसार भिन्न भिन्न रूप में देखते हैं। किन्तु इस पृथ्वी पर इस अज्ञात वस्तु का सर्वोत्तम दर्शन प्राप्त हो सकता है। कभी भी स्वर्ग जाने की इच्छा मत करो--यह भ्रम निकृष्टतम है। इस पृथ्वी पर भी अत्यधिक धन और घोर दरिद्रता, दोनों ही बन्धन हैं--दोनों ही हमें धर्म से दूर रखते हैं। हमारे पास तीन वरदान हैं--प्रथम, मनुष्य देह (मनुष्य का मन ही ईश्वर का निकटतम प्रतिबिंब है, हम 'उसकी ही प्रतिमा हैं।') द्वितीय, मुक्त होने के लिए आकांक्षा। तृतीय, गुरु के रूप में एक ऐसे महात्मा की सहायता प्राप्त करना, जो स्वयं इस मोहसागर को पार कर चुका हो।[१] इन तीनों की यदि प्राप्ति हो जाय, तो भगवान् को धन्यवाद, तुम अवश्यमेव मुक्त होओगे।

जो केवल बुद्धि के द्वारा तुम ग्रहण करते हो, उसको कोई नया तर्क उड़ा

---

१. दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥ विवेकचूड़ामणि॥

दे सकता है, किंतु जिसकी अनुभूति तुम्हें होती है, वह सदा के लिए तुम्हारा अपना हो जाता है। धर्म के सम्बन्ध में केवल वाक्चातुरी से कुछ फल नहीं होता। जिस किसी वस्तु के संपर्क में आओ---जैसे मनुष्य, जानवर, आहार, क्रियाकलाप---सभी के भीतर ब्रह्मदर्शन करो---और इस प्रकार के सर्वत्र ब्रह्मदर्शन को अभ्यास में परिणत करो।

(अमेरिका के विख्यात अज्ञेयवादी) इंगरसोल ने मुझसे एक बार कहा था---'इस जगत् से जितना अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके, उसे प्राप्त करने की चेष्टा सभी को करनी चाहिए---यह मेरा विश्वास है। संतरे को निचोड़कर जितना निकल सके, सभी रस निकाल लें---जिससे रस की एक बूंद भी व्यर्थ न जाय---क्योंकि हम इस जगत् को छोड़कर अन्य किसी जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध में निश्चित नहीं हैं।' मैंने उन्हें उत्तर दिया---'मैं आपकी अपेक्षा इस जगत्‌रूपी संतरे को निचोड़ने की और अधिक उत्कृष्ट प्रणाली जानता हूँ---और मैं उससे अधिक रस प्राप्त करता हूँ। मैं जानता हूँ, मैं मर नहीं सकता, अतएव मुझे रस निचोड़ने की जल्दी नहीं पड़ी है। मैं जानता हूँ, भय का कोई कारण नहीं है---अतएव आनन्दपूर्वक निचोड़ता हूँ! मेरा कोई कर्तव्य नहीं है, मुझे स्त्री-पुत्रादि और विषय-संपत्ति का कोई बन्धन नहीं है, मैं सभी नर-नारियों से प्रेम रख सकता हूँ। सभी मेरे लिए ब्रह्मस्वरूप हैं। मनुष्य को भगवान् समझकर उसके प्रति प्रेम रखने में कितना आनन्द है! संतरे को इस रूप से निचोड़-कर देखिए---अन्य रूप से निचोड़ने पर आप जो रस पायेंगे, उसकी अपेक्षा इस प्रकार निचोड़ने पर दस हज़ार गुना अधिक रस पायेंगे---रस की एक बूंद भी व्यर्थ न जायगी।'

जो इच्छा के रूप में प्रतीत होता है, वही हमारी अन्तःस्थ आत्मा है, और वह यथार्थतः मुक्त है।

सोमवार, अपराह्न

ईसा मसीह अपूर्ण थे, क्योंकि उन्होंने जिस आदर्श का प्रचार किया था, उसके अनुसार पूर्णतया उन्होंने जीवन-यापन नहीं किया और सर्वोपरि इस कारण कि उन्होंने नारी जाति को पुरुष के तुल्य अधिकार नहीं दिया। स्त्रियों ने ही उनके लिए सब कुछ किया, किन्तु वे यहूदियों के देशाचार द्वारा इतने बद्ध थे कि एक स्त्री को भी वे 'प्रेरित शिष्या' (apostle) न बना सके। तथापि उच्चतम चरित्र की दृष्टि से बुद्ध के बाद उनका स्थान है---इसी तरह बुद्ध भी पूर्णतया पूर्ण रहे हों, सो भी नहीं है। जो कुछ हो, परन्तु बुद्ध ने

धर्म में पुरुषों के समान ही स्त्रियों का भी अधिकार स्वीकार किया था, और उनकी अपनी स्त्री ही उनकी प्रथम और प्रधान शिष्या थीं। वह बौद्ध भिक्षुणियों की अधिनायिका हुई थीं। किन्तु हमें इन महापुरुषो का दोषानुसन्धान करना उचित नहीं। हमें उनके बारे में केवल यही धारणा रखनी चाहिए कि वे हमारी अपेक्षा अनन्त गुना श्रेष्ठ थे। कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, उस पर केवल विश्वास करके ही हमें पड़े न रहना चाहिए, हमें भी बुद्ध और ईसा बनना होगा।

किसी व्यक्ति के दोष या उसकी अपूर्णता देखकर उसके बारे में विचार करना उचित नहीं है। मनुष्य का जो महा सद्‌गुण देखा जाता है, वह उसका अपना है, किन्तु उसके दोष मनुष्य जाति की सर्वसाधारण दुर्बलता मात्र हैं; अतएव उनके चरित्र का विचार करते समय उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए।

* * *

अंग्रेजी वर्चू (virtue—धर्म) शब्द संस्कृत 'वीर' शब्द से आया है; क्योंकि प्राचीन काल में श्रेष्ठ योद्धा ही सर्वाधिक श्रेष्ठ माना जाता था।

३० जुलाई, मंगलवार

ईसा और बुद्ध प्रभृति—वे आलंबन हैं, जिन पर हम अपनी आभ्यन्तरीण शक्तियों का आरोपण मात्र करते हैं। अपनी प्रार्थना का उत्तर वस्तुतः स्वयं हमीं देते हैं।

यह सोचना कि यदि ईसा उत्पन्न न होते, तो मनुष्य जाति का कभी भी उद्धार न होता, घोर नास्तिकता है। मनुष्य-स्वभाव के भीतर जो ऐश्वरिक भाव अन्तर्निहित है, उसे इस प्रकार भूल जाना बड़ा भयानक है—यह ईश्वरी भाव कभी न कभी प्रकाशित होगा ही। मनुष्य-स्वभाव की महिमा कभी मत भूलना। भूत या भविष्य में, न कोई हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ ईश्वर था, न होगा। मैं ही वह अनन्त महासमुद्र हूँ—ईसा, बुद्ध प्रभृति उसकी लहर मात्र हैं। तुम अपने अंतःस्थ आत्मा को छोड़ और किसीके सामने सिर मत झुकाओ। जब तक तुम यह अनुभव नहीं करते कि तुम स्वयं देवों के देव हो, तब तक तुम मुक्त नहीं हो सकते।

हमारे सभी अतीत कर्म वास्तव में अच्छे हैं, क्योंकि हमारी जो चरमावस्था होगी, उसी ओर हमारे ये सभी कर्म हमें ले जाते हैं। किसके निकट मैं भिक्षा-याचना करूँगा? मैं ही यथार्थ सत्ता हूँ, और जो कुछ मेरी सत्ता से भिन्न रूप में

प्रतीयमान होता है, वह तो स्वप्न मात्र है। मैं ही समग्र समुद्र हूँ--तुम स्वयं इस समुद्र में जिस एक क्षुद्र तरंग की सृष्टि करते हो, उसे 'मैं' मत कहो। यह जान लो कि वह तो उस समुद्र की तरंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सत्यकाम (सत्य का प्रेमी) ने सुना था कि उनकी हृदयाभ्यन्तरस्थ वाणी उनसे कह रही है, 'तुम अनन्तस्वरूप हो, वही सर्वव्यापिनी सत्ता तुम्हारे भीतर विराजमान है। अपने को संयत करो, और तुम अपनी यथार्थ आत्मा की वाणी सुनो।'

जो महापुरुष प्रचार-कार्य के लिए अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, वे उन महापुरुषों की तुलना में अपेक्षाकृत अपूर्ण हैं, जो मौन रहकर पवित्र जीवन-यापन करते हैं एवं श्रेष्ठ विचारों का चिन्तन करते हुए जगत् की सहायता करते हैं। इन सभी महापुरुषों में एक के बाद दूसरे का आविर्भाव होता है--अन्त में उनकी शक्ति का चरम फलस्वरूप ऐसा कोई शक्तिसम्पन्न पुरुष आविर्भूत होता है, जो जगत् को शिक्षा प्रदान करता है।

* * *

ज्ञान स्वयमेव वर्तमान है, मनुष्य केवल उसका आविष्कार मात्र करता है। वेदसमूह ही यह चिरन्तन ज्ञान है, जिसकी सहायता से ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि की है। वे उच्चतम दार्शनिक तत्त्वों की चर्चा करते हैं और साथ ही यह महान् दावा भी करते हैं।

* * *

जो सत्य है, उसे साहसपूर्वक निर्भीक होकर लोगों से कहो—उससे किसीको कष्ट होता है या नहीं, इस ओर ध्यान मत दो। दुर्बलता को कभी प्रश्रय न दो। सत्य की ज्योति बुद्धिमान मनुष्यों के लिए यदि अत्यधिक मात्रा में प्रखर प्रतीत होती है, और उन्हें बहा ले जाती है, तो ले जाने दो--वे जितना शीघ्र बह जायँ उतना अच्छा ही है। बचकाने विचार बच्चों को तथा जंगली असभ्यों को ही शोभा देते हैं; किन्तु देखा जाता है कि वे केवल शिशुशाला या जंगलों में ही सीमित नहीं हैं, उनमें से कुछ उपदेशकों के आसन पर भी प्रतिष्ठित हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित हो चुकने पर धर्मसंघ में बने रहना अवांछनीय है। उससे बाहर निकलकर स्वाधीनता की मुक्त वायु में जीवन व्यतीत करो।

जो कुछ उन्नति होती है, वह सापेक्षिक जगत् में ही होती है। मानव-देह ही सर्वश्रेष्ठ देह है, एवं मनुष्य ही सर्वोच्च प्राणी है, क्योंकि इस मानव-देह तथा इस जन्म में ही हम इस सापेक्षिक जगत् से सम्पूर्णतया बाहर हो सकते हैं--निश्चय ही मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर सकते हैं, और यह मुक्ति ही हमारा चरम लक्ष्य है। केवल हमीं नहीं हैं, बहुत से अन्य व्यक्ति भी मुक्तावस्था प्राप्त कर चुके हैं, अतएव

आगे चलकर कितने ही अधिक श्रेष्ठ शरीर क्यों न आयें, वे रहेंगे सापेक्ष स्तर पर ही, और हमारी अपेक्षा कुछ भी अधिक उपलब्ध नहीं कर सकेंगे। क्योंकि मुक्ति-लाभ के अतिरिक्त और कौन सी उच्चावस्था का लाभ किया जा सकता है? देवदूत कभी कोई बुरे कार्य नहीं करते, इसलिए उन्हें कभी दण्ड भी प्राप्त नहीं होता; अतएव वे मुक्त भी नहीं हो सकते। सांसारिक धक्का ही हमें जगा देता है, वही इस जगत्स्वप्न को भंग करने में सहायता पहुँचाता है। इस प्रकार के लगातार आघात ही इस जगत् की असम्पूर्णता के परिचायक हैं, वे ही इस संसार से छुटकारा पाने की अर्थात् मुक्ति-लाभ करने की हमारी आकांक्षा को जाग्रत करते हैं।

* * *

किसी वस्तु को जब हम अस्पष्ट भाव में प्रत्यक्ष करते हैं, तब हम उसका एक नाम रखते हैं और फिर जब उसी वस्तु का प्रत्यक्ष हम पूर्ण रूप से कर लेते हैं, तब उसको एक दूसरा नाम दे देते हैं। हमारी नैतिक प्रकृति जितनी उन्नत होती है, उतना ही उच्च हमारा प्रत्यक्ष अनुभव होता है, और उतनी ही हमारी इच्छा-शक्ति अधिक बलवती होती है।

मंगलवार, अपराह्न

जड़ और चेतन के भीतर हम जो सामंजस्य देखते हैं, उसका कारण यह है कि वे दोनों ही एक अज्ञात वस्तु 'क' के दो पहलू हैं, वही वस्तु दो भागों में विभक्त हो बाह्य और आन्तर रूप में स्थित है।

अंग्रेज़ी का 'पैराडाइज़' शब्द संस्कृत 'पर-देश' शब्द से आया है, यह शब्द फ़ारसी भाषा में चला गया था—इसका अर्थ होता है, देश के पार अथवा अन्य देश या अन्य लोक। प्राचीन आर्य लोग सर्वदा आत्मा में विश्वास करते थे, वे मनुष्य को केवल देह कभी नहीं समझते थे। उनके मत में स्वर्ग-नरक, दोनों ही सान्त हैं, क्योंकि कोई भी कार्य अपने कारण के नष्ट हो जाने के बाद कभी भी नहीं रह सकता, और कोई भी कारण चिरस्थायी नहीं है; अतएव कार्य या फल मात्र का नाश होगा ही।

निम्नलिखित उपाख्यान में समग्र वेदान्त दर्शन का सार निहित है :

स्वर्ण पक्षवाले दो पक्षी एक वृक्ष पर वास करते हैं। ऊपर जो पक्षी बैठा है, वह स्थिर, शान्त भाव से अपनी महिमा में स्वयं विभोर होकर रहता है; और जो पक्षी नीचे की डाल पर बैठा है, वह सदा चंचल रहता है, और वह इस वृक्ष का कभी मीठा फल, कभी कड़ुआ फल खाता है। एक बार उसने एक अत्यन्त

कटु फल खाया; तव कुछ स्थिर होकर ऊपर बैठे हुए उस महिमामय पक्षी की ओर उसने देखा। किन्तु फिर वह उसे शीघ्र ही भूल गया, और पहले के समान ही उस वृक्ष के फल खाने में लग गया। फिर उसने एक कटु फल खाया—इस बार वह फुदक फुदककर ऊपर की ओर कूदा और ऊपर के पक्षी के कुछ समीप जा पहुँचा। इस प्रकार अनेक बार हुआ, अन्त में नीचे का पक्षी विल्कुल ऊपर के पक्षी के स्थान पर जा बैठा, और अपने को खो बैठा—अर्थात् ऊपरवाले पक्षी के साथ एकरूप हो गया। अव उसे यह ज्ञान हुआ कि दो पक्षी कभी भी नहीं थे, वह स्वयमेव सर्वदा शान्त, स्थिर भाव से स्वमहिमा में मग्न, ऊपरवाला पक्षी ही था।

१ अगस्त, बृहस्पतिवार, अपराह्ण

घूमनेवाले हिंडोले की तरह अभिव्यक्तियों के अनंत क्रम हैं, जिनमें आत्मा मानो चढ़कर घूम रही है। ये चक्र-क्रम शाश्वत हैं। व्यष्टिगत आत्माएँ इस झूले में से निकल आती हैं अवश्य, किन्तु झूले की गति का विराम नहीं, एक ही प्रकार की घटनाओं की आवृत्ति सदा होती रहती है; और इसी कारण लोगों का भूत-भविष्यत् सब कुछ पढ़ा जा सकता है, क्योंकि वास्तव में सभी वर्तमान है। जव आत्मा एक शृंखला के भीतर आ पड़ती है, तब उसे उस शृंखला का जो कुछ अनुभव या भोग है—सभी कुछ ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार की एक शृंखला या श्रेणी में से आत्मा एक दूसरी शृंखला या श्रेणी में चली जाती है, और किसी किसी श्रेणी में आने पर वह अपने को ब्रह्मस्वरूप अनुभव करती है और फिर सदा के लिए उसमें से वाहर निकल जाती है। इस प्रकार की एक श्रेणी या शृंखला विशेष की एक प्रधान घटना का अवलम्बन कर समस्त शृंखला को पकड़कर लाया जा सकता है, और उसके भीतर की समग्र घटनाओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह शक्ति सरलता से प्राप्त की जा सकती है, किन्तु इससे वास्तव में कोई लाभ नहीं हैं; और इस शक्तिके लाभ के लिए जितनी चेष्टा की जाती है, हमारी आध्यात्मिक साधना में उतनी ही हानि पहुँचती है। इसलिए उन सब विषयों की चेष्टा मत करो, भगवान् की उपासना करो।

२ अगस्त, शुक्रवार

निष्ठा सिद्धि का प्रारंभ है।

सबसे रसिये सबसे बसिये, सबका लीजिए नाम।
हाँ जी हाँ जी करते रहिए, बैठिए अपने ठाम।।

—'सभी के साथ आनन्द करो, सभी के साथ रहो, सभी का नाम लो, दूसरों की बातों में हाँ हाँ करते रहो, किन्तु अपना भाव कभी मत छोड़ो।' इसकी अपेक्षा उच्चतर अवस्था है—दूसरे की स्थिति को अपनाना। यदि मैं ही सब हूँ, तो अपने भाई के साथ यथार्थ भाव से एवं सक्रिय रूप में सहानुभूति क्यों नहीं कर सकता और उसकी आँखों से क्यों देख नहीं सकता? जब तक मैं दुर्बल हूँ, तब तक मुझको निष्ठापूर्वक एक मार्ग को पकड़े रहना होगा; किन्तु जब मैं सबल हो जाऊँगा, तब मैं अन्य सभी लोगों के भावों को अनुभव कर सकूँगा, उन भावों के साथ सम्पूर्ण सहानुभूति रख सकूँगा।

प्राचीन भाव था, 'अन्य सभी भावों को नष्ट कर एक भाव को प्रबल बनाओ।' आधुनिक भाव है—'सभी विषयों में सामंजस्य रखकर उन्नति करो।' एक तृतीय मार्ग है—'मन का विकास करो और उसका संयम करो', उसके बाद जहाँ इच्छा हो, वहाँ उसका प्रयोग करो—उससे अति शीघ्र फल-प्राप्ति होगी। यह है यथार्थ आत्मोन्नति का उपाय। एकाग्रता सीखो, और जिस ओर इच्छा हो, उसका प्रयोग करो। ऐसा करने पर तुम्हें कुछ खोना नहीं पड़ेगा। जो समस्त को प्राप्त करता है, वह अंश को भी प्राप्त कर सकता है। द्वैतवाद का अद्वैतवाद में अन्तर्भाव होता है।

'मैंने पहले उसे देखा, उसने भी मुझे देखा, मैंने भी उसके प्रति कटाक्ष किया, उसने भी मेरे प्रति कटाक्ष किया'—ऐसा चलता रहा और अन्त में दोनों आत्माएँ ऐसे घनिष्ठ रूप में मिल गयीं कि वे एक हो गयीं।

समाधि के दो प्रकार हैं—एक है सविकल्प—इसमें कुछ द्वैत का भास रहता है। और दूसरा है निर्विकल्प—इसमें ध्यान के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय का अभेद हो जाता है।

प्रत्येक विशेष के साथ सहानुभूति कर सकने की क्षमता तुममें होनी चाहिए, उसके बाद कूदकर एकदम उच्चतम अद्वैत भाव में चले जाना होगा। पहले स्वयं सम्पूर्ण मुक्तावस्था प्राप्त कर लो, उसके बाद इच्छा करने पर फिर अपने को सीमा-बद्ध कर सकते हो। प्रत्येक कार्य में अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करो। कुछ समय के लिए द्वैतवादी बनने का सामर्थ्य प्राप्त करो और अद्वैत को भूल जाओ; परन्तु अपनी इच्छानुसार फिर से इस अद्वैत भाव को लाभ करने के लिए समर्थ बनो।

* * *

कार्य-कारण सभी माया है; और हम जितने बड़े होंगे, उतना ही समझेंगे कि छोटे छोटे बच्चों की परियों की कथा आज हमें जैसी असम्बद्ध मालूम होती है, उसी प्रकार जो कुछ हम देखते हैं, वह भी वैसा ही असम्बद्ध है। वास्तव में कार्य-कारण पद-वाच्य कुछ भी नहीं है, यह बात हम यथासमय समझ सकेंगे। अतएव

यदि कर सको, तो जब कोई रूपक-कथा सुनो, तब अपनी बुद्धि को कुछ नीचे ले आओ, मन ही मन इस कथा की पूर्वापर संगति के विषय में प्रश्न मत उठाओ। रूपकवर्णन और सुन्दर कवित्व के प्रति हृदय में अनुराग का विकास करो, उसके बाद समस्त पौराणिक वर्णनों का कवि-दृष्टि से रसास्वादन करो। पुराण-चर्चा के समय इतिहास और विचार की दृष्टि मत लाओ। इन सब पौराणिक कल्पनाओं को अपने मन में एक प्रवाह के रूप में बहने दो। तुम अपनी आँखों के सामने उन्हें मशाल के समान घुमाओ—मशाल को कौन पकड़े हुए है, यह प्रश्न मत करो। इस प्रकार घुमाने से वह चक्राकार धारण करेगी, इसमें जो सत्य का कण अन्तर्निहित है, वह तुम्हारी समझ में आ जायगा।

सभी पुराण-लेखकों ने जो जो देखा या सुना था, उसीको रूपकाकार में लिखा है—वे कुछ प्रवहमान चित्र अंकित कर गये हैं। उनके भीतर से केवल उनके प्रतिपाद्य विषय को ही निकाल लेने की चेष्टा करके चित्रों को नष्ट मत कर डालो। वे जिस रूप में हैं, उसी रूप में उन्हें ग्रहण करो; उन सबको तुम अपने ऊपर कार्य करने दो। उनका फलाफल देखकर उनका मूल्य आंको—उनमें जो कुछ उत्तम है, उतना ही ग्रहण करो।

* * *

तुम्हारी अपनी इच्छा-शक्ति ही तुम्हारी प्रार्थना का उत्तर दे देती है—किन्तु विभिन्न व्यक्तियों के मन की धर्म सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं के अनुसार वह विभिन्न आकार में अभिव्यक्ति होती है। हम उसे बुद्ध, ईसा, कृष्ण, जिहोवा, अल्ला अथवा अग्नि, चाहे किसी नाम से पुकार सकते हैं, किन्तु वास्तव में वह है हमारी ही आत्मा।

* * *

हमारी धारणा क्रमशः उन्नत होती है, किन्तु जिन सब रूपकों के आकार में वह हमारे सम्मुख प्रकट होती है, उनका कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। हमारे अलौकिक दर्शन-समूह की अपेक्षा मूसा के अलौकिक दर्शन में भूल की संभावना अधिक है; क्योंकि हम अधिक ज्ञानसंपन्न हैं एवं मिथ्या भ्रम द्वारा हमारे ठगे जाने की संभावना भी कम है।

जब तक हमारा हृदयरूपी शास्त्र नहीं खुला है, तब तक शास्त्र-पाठ वृथा है। फिर इन सब शास्त्रों का हमारे हृदय-शास्त्र के साथ जहाँ तक सामंजस्य है, वहीं तक उनकी सार्थकता है। बल क्या है, यह बलवान व्यक्ति ही समझ सकता है, हाथी ही सिंह को समझ सकता है, चूहा नहीं। हम-जब तक ईसा के समान नहीं हुए हैं, तब तक उन्हें किस प्रकार समझ सकेंगे? दो डबल रोटियों में ५००० लोग खायें, अथवा पाँच डबल रोटियों में दो व्यक्ति खायें, ये दोनों बातें माया के राज्यान्तर्गत

हैं। इनमें कोई भी सत्य नहीं है। अतएव दोनों में कोई भी एक दूसरे के द्वारा बाधित नहीं होती। महत्ता ही केवल महत्ता का आदर कर सकती है, ईश्वर ही ईश्वर की उपलब्धि कर सकता है। स्वप्न स्वप्नद्रष्टा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उसकी अन्य कोई भित्ति नहीं है। स्वप्न और स्वप्नद्रष्टा दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। समग्र संगीत के भीतर **सोऽहं सोऽहं**, यह एक ही स्वर बजता है, अन्य सब स्वर उसीके विभिन्न रूप मात्र हैं, अतएव उनसे मूल स्वर में---मूल तत्त्व में कुछ भेद नहीं पड़ता। जीवन्त शास्त्र हमीं लोग हैं, हम जो बातें करते हैं, वे ही सब 'शास्त्र' शब्द से परिचित हैं। सभी जीवन्त ईश्वर, जीवन्त ईसा हैं---इस भाव से सबको देखो। मनुष्य का अध्ययन करो, मनुष्य ही जीवन्त काव्य है। जगत् में जितने बाइबिल, ईसा या बुद्ध हुए हैं, सभी हमारी ज्योति से ज्योतिष्मान हैं। इस ज्योति को छोड़ देने पर ये सब हमारे लिए और अधिक जीवित नहीं रह सकेंगे, मर जायँगे।

तुम अपनी आत्मा के ऊपर स्थिर रहो।

मृत शरीर के साथ चाहे जैसा व्यवहार क्यों न करो, उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। हमें अपने शरीर को इसी प्रकार मृतवत् रखना होगा। और उसके साथ हमारा जो अभिन्न भाव रहता है, उसे दूर कर देना होगा।

३ अगस्त, शनिवार

जो मनुष्य इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे एक ही जन्म में हज़ारों वर्ष का काम करना पड़ेगा। वह जिस युग में जन्मा है, उससे उसे बहुत आगे जाना पड़ेगा; किन्तु साधारण लोग केवल किसी तरह रेंगते रेंगते आगे बढ़ सकते हैं। अनेक ईसा और बुद्ध की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है।

* * *

एक हिन्दू रानी थी---उसकी बड़ी तीव्र इच्छा थी कि उसके पुत्र इसी जन्म में मुक्ति-लाभ कर लें। इसी उद्देश्य से उसने उन पुत्रों के लालन-पालन का सम्पूर्ण भार अपने ही ऊपर ले लिया। वह अति शैशवावस्था से उनको झुलाते झुलाते सुलाने के समय उनके समीप यह गाना गाती थी---**तत्त्वमसि, तत्त्वमसि**। उनके तीन पुत्र संन्यासी हो गये, किन्तु चतुर्थ पुत्र का, उसे राजा बनाने के उद्देश्य से, अन्यत्र पालन-पोषण हुआ। विदा देते समय माँ ने उसे काग़ज़ का एक टुकड़ा देकर कहा, "बड़े होने पर इसमें क्या लिखा है, पढ़ना।" उस काग़ज़ के टुकड़े में लिखा था---'ब्रह्म सत्य, और सब मिथ्या। आत्मा न कभी मरती है, न मारती है। निःसंग बनो, अथवा सत्संग करो।' बड़े होने पर जब राजपुत्र ने इसे पढ़ा, तो वह भी उसी समय संसार त्यागकर संन्यासी हो गया।

संसार का त्याग करो। अब हम लोग मानो कुत्तों के समान हैं---रसोईघर में घुस गये हैं, मांस का एक टुकड़ा खा रहे हैं, और भय के मारे इधर-उधर देख भी रहे हैं कि कोई पीछे से आकर मारना न शुरू कर दे। वैसा न होकर राजा के समान बनो---समझ रखो, समग्र जगत् तुम्हारा है। जब तक तुम संसार का त्याग नहीं करते, जब तक संसार ने तुम्हें बाँध रखा है, तब तक यह भाव तुम्हारे हृदय में कभी भी जाग्रत नहीं हो सकता। यदि बाहर से त्याग नहीं कर पाते हो, तो मन ही मन सब त्याग दो। आन्तरिक भाव से सब त्याग दो। वैराग्यसम्पन्न हो जाओ। यह है यथार्थ आत्म-त्याग---यदि यह नहीं हुआ, तो धर्म-लाभ असम्भव है। किसी प्रकार की वासना मत करो; क्योंकि जो वासना करोगे, वही पाओगे। और वही तुम्हारे भयानक बन्धन का कारण होगी। जैसा कि उस कहानी[1] में है। एक व्यक्ति ने तीन वर प्राप्त किये थे, एवं उनके फलस्वरूप उसके सम्पूर्ण शरीर में नाक ही नाक हो गयीं। वासना रहने पर ठीक इसी प्रकार होता है। जब तक हम आत्मरति और

---

१. कहानी यह है---एक ग़रीब मनुष्य ने एक देवता से वर प्राप्त किया था। देवता सन्तुष्ट होकर बोले---"तुम यह पासा लो। इस पासे को जिन किन्हीं तीन कामनाओं से तीन बार फेंकोगे, वे तीनों पूरी हो जायँगी।" वह आनन्दोल्लसित हो घर जाकर अपनी स्त्री के साथ परामर्श करने लगा---क्या वर माँगना चाहिए? स्त्री ने कहा---"धन-दौलत माँगो।" किन्तु पति ने कहा---"देखो, हम दोनों की नाक चपटी है, उसे देखकर लोग हमारी बड़ी हँसी करते हैं, अतएव प्रथम बार पासा फेंककर सुन्दर नाक की प्रार्थना करनी चाहिए।" किन्तु स्त्री का मत वैसा नहीं था। अन्त में दोनों में ख़ूब तर्क प्रारम्भ हुआ। आख़िर पति ने क्रोध में आकर यह कहकर पासा फेंक दिया---"हम लोगों को केवल सुन्दर नाक मिले, और कुछ नहीं चाहिए।" आश्चर्य, जैसे ही उसने पासा फेंका, वैसे ही उसके शरीर में ढेर की ढेर नाक उत्पन्न हो गयीं। तब उसने देखा---यह क्या विपत्ति हुई; फिर उसने दूसरी बार पासा फेंककर कहा---नाक चली जायँ। इस बार सभी नाक चली गयीं---साथ ही उनकी अपनी अपनी नाक भी चली गयीं। अब शेष रहा एक वर। तब उन्होंने सोचा---यदि इस बार पासा फेंककर चपटी नाक के बदले में अच्छी नाक प्राप्त करें, तो लोग अवश्य ही चपटी नाक के स्थान में अच्छी नाक देखकर उसके बारे में पूछ-ताछ करेंगे। फिर तो हमें सभी बातें बतानी पड़ेंगी। तब वे हमें मूर्ख समझकर और भी हमारी हँसी उड़ायेंगे; कहेंगे कि ये लोग ऐसे तीन वरों को प्राप्त करके भी अपनी अवस्था की उन्नति नहीं कर सके। यह सोचकर उन्होंने पासा फेंककर अपनी पुरानी चपटी नाक ही माँग ली। स०

आत्मतृप्त नहीं हुए हैं, तब तक मुक्ति-लाभ नहीं कर सकते। आत्मा ही आत्मा का मुक्तिदाता है, अन्य कोई नहीं।

यह अनुभव करना सीखो कि तुम अन्य सभी लोगों के शरीर में वर्तमान हो; यह समझने की चेष्टा करो कि हम सभी एक हैं। और सभी व्यर्थ की चीज़ों का त्याग कर दो। तुमने अच्छा-बुरा जो कुछ भी किया है, उसके सम्बन्ध में सोचना बिल्कुल बन्द कर दो—उन सबको थू थू करके उड़ा दो। जो कर चुके, सो कर चुके। कुसंस्कारों को दूर कर दो। मृत्यु सम्मुख उपस्थित होने पर भी दुर्बलता मत दिखलाओ। अनुताप मत करो—पहले जो कुछ काम तुमने किया है, उस सबको लेकर माथापच्ची मत करो, इतना ही नहीं, जो कुछ अच्छे काम भी किये हैं, उन्हें भी स्मृति-पथ से दूर हटा दो। 'आज़ाद' (मुक्त) बनो। दुर्बल, कापुरुष और अज्ञ व्यक्ति कभी भी आत्म-लाभ नहीं कर सकते। तुम किसी भी कर्म के फल को नष्ट नहीं कर सकते—फल अवश्यमेव प्राप्त होगा; अतएव साहसी होकर उसके सम्मुख डटे रहो, किन्तु सावधान, दुबारा फिर वैसा कार्य मत करना। सभी कर्मों का भार उस भगवान् के ऊपर डाल दो, अच्छा या बुरा—सभी डाल दो। स्वयं अच्छा रखकर केवल खराब उसके सिर पर मत डालना। जो स्वयं अपनी सहायता नहीं करता, भगवान् उसीकी सहायता करते हैं।

* * *

'वासना-मदिरा पान कर समस्त जगत् मत्त हुआ है।' 'जैसे दिन और रात कभी भी एक साथ नहीं रह सकते, वैसे ही वासना और भगवान्, दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते।' इसलिए वासना का त्याग करो।

* * *

केवल 'खाना खाना' चिल्लाना और वास्तव में अन्न खाना, अथवा केवल 'जल जल' चिल्लाना और वास्तव में जल पीना—इन दोनों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर है; अतएव केवल 'ईश्वर ईश्वर' कहकर चिल्लाने से ईश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि की आशा कभी भी नहीं की जा सकती। हमें ईश्वर-लाभ करने की चेष्टा तथा साधना करनी होगी।

तरंग समुद्र के साथ मिलकर एक हो जाने पर ही असीमत्व प्राप्त करती है, किन्तु वह तरंगावस्था में असीमत्व कभी भी नहीं प्राप्त कर सकती। समुद्रस्वरूप धारण करने के बाद वह फिर तरंग का आकार धारण कर सकती है और बड़ी से बड़ी तरंग हो सकती है। अपने को तरंग मत समझो; तुम यह सर्वदा ध्यान में रखो कि तुम मुक्त हो।

सच्चे दर्शनशास्त्र का अर्थ है---कुछ प्रत्यक्षानुभूतियों को प्रणालीबद्ध करना। जहाँ पर बुद्धि-विचार का अन्त होता है, वहीं से धर्म का आरम्भ होता है। अंतःस्फुरण (inspiration) बुद्धि की अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है, किन्तु उसे बुद्धि का विरोधी नहीं होना चाहिए। बुद्धि श्रमसाध्य कार्य करने के लिए एक स्थूल यंत्र है। किन्तु हमारे भीतर कुछ भी मनमाना करने की इच्छा या प्रेरणा को अंतःस्फुरण नहीं कहा जा सकता।

माया के भीतर प्रगति करने या अग्रसर होने को एक वृत्त कहा जा सकता है—जो तुम्हें प्रस्थान बिंदु पर पुनः वापस ले आता है। अन्तर केवल इतना ही है कि यात्रा करते समय तुम अज्ञानी थे और उस स्थान पर जब लौटकर आते हो, तब तुम पूर्ण ज्ञान उपलब्ध किये हुए होते हो। ईश्वरोपासना, साधु-महापुरुषों की पूजा, एकाग्रता, ध्यान और निष्काम कर्म---ये सब मायाजाल को काटकर निकलने के उपाय हैं; किन्तु हमारे भीतर पहले से तीव्र मुमुक्षुत्व रहना चाहिए। जो ज्योति प्रकाशित होकर हमारे हृदयान्धकार को दूर कर देगी, वह तो हमारे भीतर ही है---यह है वह ज्ञान, जो हमारा स्वभाव या स्वरूप है। (यह ज्ञान हमारा 'जन्मगत स्वत्व' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तव में हमारा जन्म तो है ही नहीं।) केवल जो मेघ इस ज्ञानसूर्य को आवृत किये हुए हैं, हमें उन्हींको दूर कर देना होगा।

ऐहिक अथवा स्वर्गीय सभी प्रकार की भोग-वासनाओं को त्याग दो (**इहामुत्रफलभोगविराग**)। इन्द्रिय और मन का संयम करो (दम और शम)। सभी प्रकार के दुःखों को इस प्रकार सहन करो, जिससे तुम्हारा मन जान ही न पाये कि तुम्हें कोई दुःख हुआ है (तितिक्षा)। मुक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी भावनाओं को दूर कर दो; गुरु में और उनके उपदेशों में विश्वास रखो, और यह भी विश्वास रखो कि तुम निश्चय ही मुक्त हो सकोगे (श्रद्धा)। कुछ भी क्यों न हो, सर्वदा यही कहो---**सोऽहं सोऽहं**। खाते, चलते, कष्टों से घिरे रहते, सर्वदा **सोऽहं सोऽहं** कहो, सर्वदा मन से कहो कि यह जो जगत्प्रपंच दृश्यमान है, इसका किसी भी काल में अस्तित्व नहीं है, हूँ केवल मैं ही (समाधान)। तुम देखोगे कि एक दिन ज्ञान-प्रकाश होगा ही और तुम्हें अनुभव होगा कि जगत् शून्य मात्र है, केवल ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। मुक्त होने के लिए प्रबल इच्छा-सम्पन्न होओ (मुमुक्षुत्व)।

आत्मीय और बन्धु-बान्धव पुराने अन्धकूप के समान हैं। हम इस अन्धकूप में पड़कर कर्तव्य, बन्धन प्रभृति नाना स्वप्न देखा करते हैं---इस स्वप्न का कभी भी अन्त नहीं है। किसीकी सहायता करने के लिए जाकर और अधिक

भ्रम की सृष्टि मत करो। यह मानो एक वटवृक्ष के समान है, जो बढ़ता ही जाता है। यदि तुम द्वैतवादी हो, तो ईश्वर की सहायता करने के लिए जाना ही तुम्हारी मूर्खता है। यदि तुम अद्वैतवादी हो, तो तुम स्वयमेव ब्रह्मस्वरूप हो--फिर तुम्हारा कर्तव्य क्या रहा? पति, स्वामी, लड़के-बच्चे, बन्धु-बान्धव--किसीके प्रति तुम्हारा कुछ भी कर्तव्य नहीं है। जो हो रहा है, होने दो, चुपचाप पड़े रहो। प्रवाह के साथ अपने शरीर को बहने दो--डूबने-उतराने दो। यदि शरीर मरे, तो मरने दो--हमारा शरीर है, यह तो एक पुरानी कल्पित कथा मात्र है। शान्त रहो, और **अहं ब्रह्मास्मि**, यह अनुभव करो।

केवल वर्तमान काल ही विद्यमान है। हम विचार द्वारा भी भूत और भविष्यत् की धारणा नहीं कर सकते; क्योंकि चिन्तन करने के लिए उद्यत होते ही भूत और भविष्यत् को वर्तमान में खड़ा करना पड़ता है। सब कुछ छोड़ दो, उसे जहाँ जाना है, जाने दो। यह समग्र जगत् एक भ्रम मात्र है, यह तुम्हें और फिर प्रतारित न कर पाये। तुम जगत् को जो वह नहीं है, वही समझते हो, अवस्तु में वस्तु-ज्ञान करते हो, अब वह वास्तव में जो है, केवल उसे ही जानो। यदि शरीर कहीं चला जाता है, तो जाने दो; शरीर कहीं भी क्यों न जाय, कुछ भी परवाह मत करो। कर्तव्य नामक कोई एक वस्तु है, और उसका पालन करना ही होगा--इस प्रकार की धारणा भयंकर कालकूटस्वरूप है, इसने जगत् को नष्ट कर डाला है।

स्वर्ग में जाकर एक वीणा पाऊँगा और उसे बजाकर यथासमय विश्राम-सुख का अनुभव करूँगा--इस बात की अपेक्षा मत करो। इसी जगह एक वीणा लेकर क्यों न बजाना आरम्भ कर दो? स्वर्ग के लिए राह देखने की क्या आवश्यकता है? इस लोक को ही स्वर्ग बना लो। स्वर्ग में विवाह नहीं होता--पाणिग्रहण नहीं होता। यदि ऐसा है, तो यहीं पर अभी से विवाह क्यों न बन्द कर दो? संन्यासियों का गैरिक वस्त्र मुक्त पुरुषों का चिह्न है। संसारी भिक्षुओं का वेष छोड़ दो; मुक्ति की पताका--गैरिक वस्त्र धारण करो।

४ अगस्त, रविवार, अपराह्न

मन आत्मा के निकट ठीक उसी तरह एक यंत्र है, जैसे शरीर मन का यंत्र है। जड़ है बाहर की गति, मन है भीतर की गति। समस्त परिवर्तन का आरम्भ और समाप्ति 'काल' में ही होती है। आत्मा यदि अपरिणामी है, तो वह निश्चय ही पूर्णस्वरूप है; और यदि पूर्णस्वरूप है, तो अनन्तस्वरूप है; और अनन्तस्वरूप होने से वह अवश्य ही द्वितीयरहित है; क्योंकि दो अनन्त तो हो नही सकते,

अतएव आत्मा एकमात्र है। यद्यपि आत्मा अनेक प्रतीत होती है, पर वास्तव में वह एक है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य की ओर चलता है, तो प्रति पदक्षेप में वह एक एक विभिन्न सूर्य को देखेगा, किन्तु वास्तव में सूर्य एक ही है।

'अस्ति' यानी 'है–पन' ही सभी प्रकार के एकत्व की भित्तिस्वरूप है, और इस आधार में पहुँचते ही पूर्णता प्राप्त होती है। यदि सभी रंगों को एक रंग में परिणत करना सम्भव होता, तो चित्रविद्या ही लुप्त हो जाती। सम्पूर्ण एकत्व है विश्राम या लय; सभी अभिव्यक्तियों को हम एक ईश्वर से ही निकली हुई कहते हैं। 'ताओ' वादी[1], कनफ़्यूशस (Confucius) मतवादी, बौद्ध, हिन्दू, यहूदी, मुसलमान, ईसाई, और ज़रथुष्ट्र के शिष्य (Zoroastrians), इन सबने प्रायः समान रूप से, 'तुम दूसरों से जिस प्रकार का व्यवहार चाहते हो, ठीक उसी तरह का व्यवहार दूसरों के प्रति भी करो', इस अपूर्व नीति का प्रचार किया है। किन्तु केवल हिन्दुओं ने इस नीति की व्याख्या दी है, क्योंकि वे ही इसका कारण समझ पाये थे। मनुष्य को अन्य सबके प्रति इसलिए प्रेम करना होगा कि अन्य सब स्वयं उसीके रूप हैं। केवल 'एक' की ही सत्ता है।

जगत् में जितने बड़े बड़े धर्माचार्य हुए हैं, उनमें केवल लाओत्से (Laotze) बुद्ध और ईसा ने ही उपर्युक्त स्वर्णिम नियम के भी परे जाकर शिक्षा दी है, 'तुम लोग अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो', 'जो तुमसे घृणा करते हैं, उनसे भी प्रेम करो।'

तत्त्वसमूह पहले से ही विद्यमान है; हम उसकी सृष्टि नहीं करते, केवल उसका आविष्कार करते हैं।...धर्म केवल सत्य का साक्षात्कार मात्र है। विभिन्न मतवाद विभिन्न पथ—प्रणाली मात्र हैं, वे धर्म नहीं हैं। जगत् के विविध धर्म विभिन्न जातियों की आवश्यकतानुसार समयोचित एक ही धर्म के प्रयोग हैं। मतवाद केवल विरोध का निर्माण करता है। देखो न, वास्तव में ईश्वर के नाम से लोगों को शान्ति मिलनी चाहिए, परन्तु ऐसा न होकर जगत् में जितना रक्तपात हुआ है, उसमें से आधा से अधिक ईश्वर के नाम पर ही हुआ है। बिल्कुल मूल तक पहुँचो; स्वयं ईश्वर से ही पूछो कि उसका स्वरूप कैसा है? यदि वह उत्तर नहीं देता है, तो समझना होगा कि वह नहीं है। किन्तु जगत् के सभी धर्म कहते हैं कि उसने उत्तर दिया है।

---

१. ईसा के पूर्व छठीं शताब्दी में लाओत्से द्वारा चीन देश में स्थापित धर्म-सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय का मत प्रायः वेदान्तसदृश है। 'ताओ' की धारणा अधिकांशतः वेदान्त के निर्गुण ब्रह्मसदृश है। स०

तुम्हारे पास कहने के लिए कुछ अपना भी होना चाहिए, अन्यथा दूसरों ने क्या कहा है, उसकी धारणा तुम कैसे कर सकोगे ? पुरातन कुसंस्कारों को लेकर मत पड़े रहो, सर्वदा नूतन सत्यों के लिए प्रस्तुत रहो। 'मूर्ख वे हैं, जो अपने पूर्व पुरुषों के खुदे हुए कुएँ का पानी खारा होने पर भी पीते रहेंगे, किन्तु दूसरों के कुएँ का विशुद्ध जल भी पीने से इन्कार करेंगे।' जब तक हम ईश्वर का साक्षात्कार नहीं करते, तब तक उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जान सकते। प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः पूर्णस्वरूप है। पैगम्बरों ने अपने इस पूर्ण स्वरूप को प्रकाशित किया है, और हमारे भीतर अभी भी वह अव्यक्त रूप में विद्यमान है। यदि हम भी ईश्वर को नहीं देख सकते, तो कैसे जान सकेंगे कि मूसा ने ईश्वर का दर्शन किया था ? यदि ईश्वर कभी किसीके समीप आया है, तो हमारे समीप भी आयेगा। मैं एकदम उसके पास जाऊँगा, वह मुझसे बातचीत करेगा। विश्वास को आधाररूप में मैं ग्रहण नहीं कर सकता—यह नास्तिकता और घोर ईश्वर-निन्दा मात्र है। यदि ईश्वर ने दो हज़ार वर्ष पहले अरब की मरुभूमि में किसी व्यक्ति के साथ वार्तालाप किया है, तो वह आज मेरे साथ भी वार्तालाप कर सकता है। यदि वह नहीं कर सकता, तो हम क्यों न कहें कि वह मर गया है ? जैसे भी हो, ईश्वर के निकट आओ—आना ही चाहिए। किन्तु आते समय किसीको ढकेलना मत।

ज्ञानी व्यक्ति अज्ञानियों के प्रति करुणा रखेंगे। जो ज्ञानी हैं, वे एक चींटी के लिए भी अपना शरीर त्याग करने को प्रस्तुत रहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं, देह कुछ नहीं है।

५ अगस्त, सोमवार

प्रश्न यह है कि सर्वोच्च अवस्था लाभ करने के लिए क्या सभी निम्नतर सोपानों से होकर जाना होगा, या एकदम छलाँग मारकर उस अवस्था में पहुँचा जा सकता है ? आधुनिक अमेरिका का बालक आज जिस विषय को पच्चीस वर्ष के भीतर सीख लेता है, उससे पूर्व पुरुषों को उस विषय के सीखने में सौ वर्ष लग जाते थे। एक आधुनिक हिन्दू अभी बीस वर्ष में उस अवस्था में पहुँच जाता है, जिसे पाने में उसके पूर्व पुरुषों को आठ हज़ार वर्ष लगे थे। जड़ दृष्टि द्वारा देखने पर पता चलता है कि गर्भ में भ्रूण उस प्राथमिक जीव—अमीबा (amoeba) की अवस्था से आरम्भ होकर अनेक अवस्थाओं में से गुज़रकर अन्त में मनुष्य-रूप धारण करता है। यह हुई आधुनिक विज्ञान की शिक्षा। वेदान्त और भी आगे बढ़कर कहता है—हमारे लिए समग्र मानव-जाति का केवल अतीत जीवन-यापन करना ही पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि समग्र मानव-जाति का भविष्य जीवन भी

यापन करना होगा। जो प्रथमोक्त बात कर पाते हैं, वे शिक्षित व्यक्ति हैं; जो दूसरी बात कर पाते हैं, वे जीवन्मुक्त हैं।

काल केवल हम लोगों के विचार का मापक मात्र है, और विचार की गति अकल्पनीय रूप से तीव्र होने के कारण हम कितनी जल्दी भावी जीवन-यापन कर सकते हैं, उसका कोई सीमा-निर्देश नहीं किया जा सकता। अतएव मानव-जाति के समग्र भविष्य जीवन को अपने जीवन में अनुभव करने में कितने दिन लगेंगे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किसी किसीको उस अवस्था का लाभ एक क्षण में भी हो सकता है, और किसीको पचास जन्म भी लग सकते हैं। यह इच्छा की तीव्रता के ऊपर निर्भर है। अतएव शिष्यों की आवश्यकतानुसार उपदेशों में संशोधन कर लेना आवश्यक है। जलती हुई आग सबके लिए है— वह केवल जल को ही नहीं, वरन् वर्फ़ के टुकड़ों को भी नष्ट कर डालती है। बन्दूक़ में से सैकड़ों छर्रे छोड़ो, कम से कम एक छर्रा तो लगेगा ही। लोगों के लिए सत्य का भण्डार खोल दो, उनमें से जितना उनके लिए उपयोगी है, उतना वे ले लेंगे। अनेकानेक अतीत जन्मों के फलस्वरूप जिसके हृदय में जैसा संस्कार गठित हुआ है, उसे तदनुसार उपदेश दो। ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म—इनमें से चाहे जिस भाव को मूल आधार बनाओ, किन्तु अन्यान्य भावों की भी साथ ही साथ शिक्षा दो। ज्ञान के साथ भक्ति का सामंजस्य करना होगा, योगप्रवण प्रकृति का युक्ति-विचार के साथ सामंजस्य करना होगा, और कर्म मानो सभी पंथों का अंगस्वरूप है। जो जहाँ पर है, उसे वहाँ से ठेलकर आगे बढ़ाओ। धर्म-शिक्षा विनष्टकारी न होकर सर्वदा सर्जनकारी ही होनी चाहिए।

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति उसकी अतीत कर्मसमष्टि की उस रेखा या अर्धव्यास की परिचायक है, जिस पर उस मनुष्य को चलते रहना चाहिए। सभी अर्धव्यास केन्द्र में ले जाते हैं। किसीकी प्रवृत्ति को पलट देने का नाम तक मत लो, उससे गुरु और शिष्य, दोनों को क्षति पहुँचती है। जब तुम ज्ञान की शिक्षा देते हो, तो तुम्हें ज्ञानी होना होगा, और जो अवस्था शिष्य की होती है, तुम्हें मन ही मन ठीक उसी अवस्था में पहुँचना होगा। अन्यान्य योगों में भी तुम्हें ठीक ऐसा ही करना होगा। प्रत्येक वृत्ति का विकास-साधन इस रूप में करना होगा कि जैसे उस वृत्ति को छोड़ अन्य कोई वृत्ति हमारे लिए है ही नहीं—यह है तथाकथित सामंजस्यपूर्ण उन्नति-साधन का यथार्थ रहस्य—अर्थात् गम्भीरता के साथ उदारता का अर्जन करो, किन्तु उसे खो मत दो। हम अनन्तस्वरूप हैं—हम सभी किसी भी प्रकार की सीमा के अतीत हैं। अतएव हम परम निष्ठावान मुसलमान के समान प्रखर और सर्वाधिक घोर नास्तिक के समान उदार भावापन्न हो सकते हैं।

ऐसा करने का उपाय है--मन का किसी विषयविशेष में प्रयोग न करके स्वयं मन का ही विकास करना और उसका संयम करना। ऐसा करने पर तुम उसे चाहे जिस ओर घुमा सकोगे। इससे तुम्हें तीव्रता और विस्तार, दोनों ही प्राप्त होंगे। ज्ञान की उपलब्धि इस भाव से करो कि ज्ञान छोड़कर मानो और कुछ है ही नहीं; उसके बाद भक्तियोग, राजयोग और कर्मयोग को भी लेकर इसी भाव से साधना करो। तरंग को छोड़कर समुद्र की ओर जाओ, तभी तुम स्वेच्छानुसार विभिन्न प्रकार की तरंगों का उत्पादन कर सकोगे। तुम अपने मनरूपी सरोवर को संयत रखो, ऐसा किये बिना तुम दूसरों के मनरूपी सरोवर का तत्त्व कभी न जान सकोगे।

वे ही सच्चे गुरु हैं, जो अपने शिष्य की प्रवृत्ति के अनुसार अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। सच्ची सहानुभूति के बिना हम कभी भी सम्यक् शिक्षा नहीं दे सकते। मनुष्य एक दायित्वपूर्ण प्राणी है, इस धारणा को छोड़ दो; केवल पूर्णताप्राप्त व्यक्ति को ही दायित्व-ज्ञान है। सब अज्ञानी मोह-मदिरा का प्याला पीकर मत्त हुए हैं, और वे स्वस्थ-प्रज्ञ नहीं हैं। तुम लोगों ने ज्ञान-लाभ किया है--तुम्हें उनके प्रति अनन्त धैर्यसम्पन्न होना होगा। उनके प्रति प्रेमभाव छोड़कर अन्य किसी प्रकार का भाव मत रखो; वे जिस रोग से ग्रसित होकर जगत् को भ्रान्त दृष्टि से देखते हैं, पहले उसी रोग का निदान करो; उसके बाद उनकी सहायता करो, जिससे उनका वह रोग मिट सके और वे ठीक ठीक देख सकें। सर्वदा स्मरण रखो कि मुक्त या स्वाधीन पुरुषों की ही केवल स्वाधीन इच्छा होती है--शेष सभी बन्धन के भीतर रहते हैं--अतएव वे जो कुछ करते हैं, उसके लिए वे उत्तर-दायी नहीं हैं। इच्छा जब इच्छारूप में रहती है, उस समय वह बद्ध है। जल जब हिमालय के शिखर पर पिघलता है, तब स्वाधीन या उन्मुक्त रहता है, किन्तु नदी-रूप धारण करते ही वह तटों द्वारा आबद्ध हो जाता है; तथापि उसका प्राथमिक वेग ही उसे अन्त में समुद्र में ले जाता है, और वहाँ यह जल फिर से उस पूर्वकालीन स्वाधीनता को प्राप्त करता है। प्रथम अवस्था अर्थात् नदी-रूप में आवद्ध होने को ही बाइबिल ने मानव का पतन (fall of man) और द्वितीय को पुनरुत्थान (resurrection) कहा है। मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेने तक परमाणु भी स्थिर होकर नहीं रह सकता।

कुछ कल्पनाएँ अन्य कल्पनाओं का बन्धन नष्ट करने में सहायता करती हैं। समग्र जगत् ही कल्पना है, किन्तु एक प्रकार की कल्पनासमष्टि अन्य सभी कल्पना-समष्टियों को नष्ट कर देती है। जो यह कहती हैं कि जगत् में पाप, दुःख और मृत्यु विद्यमान हैं, वे सभी अत्यन्त भयानक हैं; किन्तु दूसरे प्रकार की कल्पना-समष्टि है, जो सदा कहती है--'मैं पवित्रस्वरूप हूँ, ईश्वर है, जगत् में दुःख कुछ

नहीं है'—वे सब शुभ हैं, और उन्हींके द्वारा अन्यान्य कल्पनाओं का वन्धन छिन्न हो जाता है। वैयक्तिक ईश्वर ही मानव की वह सर्वोच्च कल्पना है, जिससे हमारी वन्धन-शृंखला की कड़ियाँ छिन्न हो सकती हैं।

ॐ तत्सत्, अर्थात् एकमात्र वह निर्गुण ब्रह्म ही मायातीत है; किन्तु सगुण ईश्वर भी नित्य है। जब तक नियाग्रा जलप्रपात है, तब तक इन्द्रधनुष भी रहेगा; किन्तु जलराशि सर्वदा प्रवाहित होती रहती है। यह जलप्रपात जगत्प्रपंच है और इन्द्रधनुष सगुण ईश्वर है, और ये दोनों ही नित्य हैं। जब तक जगत् रहता है, तव तक ईश्वर अवश्यमेव है। ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है, और जगत् ईश्वर की सृष्टि करता है—दोनों ही नित्य हैं। माया सत् नहीं है, असत् भी नहीं। नियाग्रा प्रपात और इन्द्रधनुष, दोनों ही अनन्त काल के लिए परिणामशील हैं—वे माया-च्छादित ब्रह्म हैं। पारसी और ईसाई लोग माया को दो भागों में विभक्त कर उत्तम अर्ध भाग को ईश्वर और बुरे अर्द्ध भाग को शैतान कहते हैं। वेदान्त माया को समष्टि या सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करता है और उस माया के पीछे ब्रह्मरूपी एक अखण्ड वस्तु की सत्ता स्वीकार करता है।

* * *

मुहम्मद ने देखा, ईसाई धर्म सेमेटिक भाव से दूर चला जा रहा है। इस सेमेटिक भाव के वीच रहते हुए ईसाई धर्म किस प्रकार का होना उचित है अर्थात् उसे एकमात्र ईश्वर में ही विश्वास करना चाहिए—यही उनके उपदेश का विषय है। 'मैं और मेरे पिता एक हैं', इस आर्य-विचार से वह घृणा करते थे और अत्यन्त संत्रस्त थे। वास्तव में मानव से नित्य पृथक् जिहोवा सम्वन्धी द्वैत धारणा की अपेक्षा त्रित्ववाद (Trinitarian) का मत अधिक उन्नत है। अवतारवाद का सिद्धान्त ईश्वर और मानव का एकत्व सिद्ध करानेवाली विचार-शृंखला की पहली कड़ी है। पहले एक मनुष्य में, तदुपरान्त विभिन्न समयों में अन्य मानव-शरीरों में आविर्भूत होनेवाले ईश्वर को अंततः हर मनुष्य में स्वीकार किया गया। अद्वैतवाद सर्वोच्च सोपान है—एकेश्वरवाद उसकी अपेक्षा निम्नतर सोपान है। बुद्धि की भी अपेक्षा कल्पना तुम्हें शीघ्र और सहज ही उस सर्वोच्च अवस्था में पहुँचा देगी।

कम से कम कुछ लोग केवल ईश्वर के लिए जीवन दें और समग्र जगत् के लिए धर्म की रक्षा करें। जब तक तुम भ्रान्तियों के 'जनक' हो, तब तक मैं 'राजा जनक के समान निर्लिप्त हूँ', इस प्रकार का ढोंग मत करो। निष्कपट होकर कहो—'मैं जानता हूँ कि आदर्श क्या है, किन्तु अभी मैं उसकी ओर अग्रसर नहीं हो पाता हूँ।' किन्तु सच्चा त्याग किये बिना त्याग करने का ढोंग मत करो। यदि सचमुच ही त्याग करो, तो फिर दृढ़ भाव से इस त्याग को पकड़े रहो। युद्ध में यदि सौ

मनुष्यों का पतन हो जाय, तो भी तुम ध्वजा उठा लो और आगे बढ़ते रहो। कोई भी क्यों न गिर पड़े, पर ईश्वर सत्य है। युद्ध में जिसका पतन हो जाय, वह उस ध्वजा को अन्य व्यक्ति के हाथ में समर्पित कर दे--फिर वह व्यक्ति उस ध्वजा का वहन करे। उसका पतन कभी नहीं हो सकता।

जब मैं स्नात और शुद्ध हूँ, तो अपवित्रता मुझे कैसे लगेगी? (बाइबिल में कहा है, पहले स्वर्गराज्य का अन्वेषण करो, फिर जो कुछ तुम्हें चाहिए, वह सब तुम्हें मिल जायगा।) मैं कहता हूँ, सर्वप्रथम स्वर्गराज्य का अन्वेषण करो और शेष जो कुछ है, सबको चला जाने दो। 'तुम्हें कुछ और प्राप्त हो', इसकी आकांक्षा न करो, वरन् उसके चले जाने पर खुशी मनाओ। त्याग करो और समझ लो कि तुम स्वयं भी न देख पाओ, तो भी सफलता मिलेगी। ईसा ने केवल बारह मछुए छोड़े थे, किन्तु इन थोड़े से व्यक्तियों ने प्रबल रोम साम्राज्य को उलट-पलट दिया था।

पृथिवी में पवित्रतम और सर्वोत्कृष्ट जो कुछ है, उसे ईश्वर की वेदी पर बलिरूप में अर्पण कर दो। जो त्याग की चेष्टा कभी भी नहीं करते, उनकी अपेक्षा जो चेष्टा करते हैं, वे बहुत अच्छे हैं। एक त्यागी मनुष्य को देखने से भी हृदय पवित्र होता है। ईश्वर को प्राप्त करूँगा--केवल उन्हींको चाहता हूँ--यह कहकर दृढ़ भाव से खड़े हो जाओ, संसार को उड़ जाने दो; ईश्वर और संसार, इन दोनों के बीच किसी प्रकार का समझौता मत करो। संसार का त्याग करो, केवल ऐसा करने से ही तुम देह-बन्धन से मुक्त हो सकोगे। और इस प्रकार देह से आसक्ति हट जाने के बाद देह-त्याग होते ही तुम आज़ाद या मुक्त हो जाओगे। मुक्त होओ, केवल देह की मृत्यु हमें कभी मुक्त नहीं कर सकती। जीवित रहते ही हमें अपनी चेष्टा द्वारा मुक्ति-लाभ करना होगा। तभी, देहपात हो जाने पर उस मुक्त पुरुष का फिर पुनर्जन्म नहीं होगा।

सत्य का निर्णय सत्य के द्वारा ही करना होगा, अन्य किसीके द्वारा नहीं। लोगों का हित करना ही सत्य की कसौटी नहीं है। सूर्य को देखने के लिए मशाल की आवश्यकता नहीं है। यदि सत्य समस्त जगत् का ध्वंस करता है, तो भी वह सत्य ही है; इस सत्य को पकड़े रहो।

धर्म के स्थूल रूपों का अनुसरण सहज है और इसीलिए वह साधारण मनुष्यों को आकृष्ट करता है, किन्तु वस्तुतः बाह्य अनुष्ठान में कुछ नहीं है।

'जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से ही जाल का विस्तार करती है, और फिर स्वयं उसे अपने भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार ईश्वर इस जगत्प्रपंच का विस्तार करता है, और फिर उसे अपने भीतर समेट लेता है।'

६ अगस्त, मंगलवार

'मैं' न रहने पर बाहर का 'तुम' नहीं रह सकता। इससे कुछ दार्शनिकों ने यह सिद्धान्त निकाला कि 'मैं' में ही बाह्य जगत् रहता है—'मैं' को छोड़कर इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। 'तुम' केवल 'मैं' में ही रहता है। दूसरों ने इसी प्रकार ठीक इसके विपरीत तर्क करके प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि 'तुम' न रहने पर 'मैं' का अस्तित्व प्रमाणित ही नहीं हो सकता। उनके पक्ष में भी युक्ति का बल समान है। ये दोनों ही मत आंशिक रूप से सत्य हैं—कुछ सत्य हैं, कुछ मिथ्या देह जिस प्रकार जड़ है और प्रकृति में अवस्थित है, उसी प्रकार विचार भी है। जड़ और मन, दोनों ही एक तृतीय में अवस्थित हैं—एक अखण्ड ने मानो अपने को दो भागों में विभक्त किया है। इसी अखण्ड का नाम आत्मा है।

वह मूल सत्ता मानो 'क' है, वही चेतन और जड़—इन दो रूपों में अपने को प्रकाशित करती है। इस परिदृश्यमान जगत् में इसकी गति कुछ निर्दिष्ट प्रणालियों के अनुसार होती रहती है, उन्हींको हम नियम कहते हैं। एक अखण्ड सत्ता की दृष्टि से यह मुक्तस्वभाव है, पर बहुत्व की दृष्टि से यह नियमाधीन है। तथापि इस बन्धन के रहने पर भी हमारे भीतर मुक्ति की एक धारणा सर्वदा वर्तमान रहती है, इसीका नाम है निवृत्ति अर्थात् आसक्ति का त्याग। और वासनावश जो जड़त्वविधायिनी शक्तियाँ हमें सांसारिक कार्य में विशेष रूप से प्रवृत्त करती हैं, उन्हींका नाम प्रवृत्ति है।

उसी कार्य को नीतिसंगत या सत्कर्म कहा जाता है, जो हमें जड़ के बन्धन से मुक्त करता है। तद्विपरीत जो कुछ है, वह असत्कर्म है। यह जगत्प्रपंच अनन्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें सभी वस्तुएँ चक्रगति में चलती रहती हैं—जहाँ से आती हैं, वहीं लौट जाती हैं। वृत्त की रेखा के दोनों सिरे बढ़ते बढ़ते फिर स्वयं में मिल जाते हैं, अतएव यहाँ—इस संसार में कहीं भी विश्राम या शान्ति नहीं है। इस संसाररूपी वृत्त के भीतर से हमें निकलना ही होगा। मुक्ति ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है—एकमात्र गति है।

*　　　*　　　*

अशुभ का केवल आकार बदलता है, किन्तु उसका गुणगत कोई परिवर्तन नहीं होता। प्राचीन काल में शक्ति का शासन था, आज चालाकी का। अमेरिका में दुःख-क्लेश जितना तीव्र है, भारत में उतना नहीं है; क्योंकि यहाँ (अमेरिका में) गरीब लोग अपनी दुरवस्था से दूसरों की सम्पन्न अवस्था की तुलना में अत्यधिक अन्तर पाते हैं।

शुभ और अशुभ, ये दोनों अच्छेद्य भाव से सम्बद्ध हैं—एक को लेने पर दूसरे को लेना ही होगा। इस जगत् की शक्तिसमष्टि मानो एक सरोवर के समान है—उसमें जैसी तरंग का उत्थान होता है, ठीक उसीके अनुसार पतन भी होता है। समष्टि पूर्णतया वही रहती है—अतएव एक व्यक्ति को सुखी करने का अर्थ है, एक दूसरे व्यक्ति को अ-सुखी करना। बाहर का सुख केवल जड़ सुख है, और उसका परिणाम निर्धारित है। अतएव सुख का एक कण भी दूसरे के पास से छीने बिना हमें प्राप्त नहीं हो सकता। केवल वही सुख, जो जड़ जगत् से अतीत है, बिना किसीको कुछ हानि पहुँचाये प्राप्त किया जा सकता है। भौतिक सुख केवल भौतिक दुःख का रूपान्तर मात्र है।

जो इस तरंग के उत्थानांश में उत्पन्न हुए हैं और वहीं रहते हैं, वे उसका पतनांश और उसमें क्या है, यह नहीं देख पाते। कभी भी यह मत सोचो कि तुम जगत् को अच्छा और सुखी बना सकते हो। कोल्हू का बैल अपने सामने बँधी हुई घास की पिंडी पाने की चेष्टा करता है अवश्य, किन्तु उस पिंडी तक किसी भी तरह पहुँच नहीं पाता, केवल कोल्हू घुमाता रहता है। हम लोग भी इसी प्रकार सर्वदा सुखरूपी मृगतृष्णा के पीछे पीछे घूमते रहते हैं, किन्तु वह सर्वदा ही हम लोगों के सामने से दूर होती जाती है—और हम केवल प्रकृति का कोल्हू घुमाते रहते हैं। इस प्रकार कोल्हू घुमाते घुमाते हमारी मृत्यु हो जाती है और उसके बाद फिर से नये सिरे से कोल्हू घुमाना आरम्भ होता है। यदि हम अशुभ को दूर करने में समर्थ होते, तो कभी भी किसी उच्चतर वस्तु का आभास तक न पाते; अशुभ के नष्ट हो जाने के बाद हम सन्तुष्ट होकर बैठे रहते, और कभी भी मुक्त होने की चेष्टा न करते। जब मनुष्य यह देख पाता है कि जड़ जगत् में सुख का अन्वेषण बिल्कुल व्यर्थ है, तभी धर्म का आरम्भ होता है। समस्त मानवीय ज्ञान केवल धर्म का एक अंश भर है।

मानव-देह में शुभ और अशुभ, ये दोनों आपस में इस प्रकार सन्तुलन बनाये रहते हैं कि इसी कारण मनुष्य में इन दोनों से मुक्त हो जाने की इच्छा की सम्भावना रहती है।

जो मुक्त हैं, वे किसी काल में भी बद्ध नहीं होते। मुक्त किस प्रकार बद्ध हुए, यह प्रश्न ही युक्तियुक्त नहीं है। जहाँ कोई बन्धन नहीं है, वहाँ कार्य-कारण भाव भी नहीं है। 'मैं स्वप्न में एक शृगाल हुआ था, और कुत्ते ने मेरा पीछा किया था।' अब हम यह प्रश्न कैसे कर सकते हैं कि कुत्ते ने मेरा पीछा क्यों किया था? शृगाल स्वप्न का ही एक अंश था, और कुत्ता भी। दोनों ही स्वप्न हैं, वास्तव में इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। विज्ञान और धर्म, दोनों ही हमारे इस बन्धन के अतिक्रमण में सहायक हैं। किन्तु विज्ञान की अपेक्षा धर्म प्राचीन है, और हमारा यह अंधविश्वास

है कि वह विज्ञान की अपेक्षा पवित्र है। एक दृष्टि से वह पवित्र है भी, क्योंकि धर्म नैतिकता को अपना अत्यावश्यक अंग समझता है, किन्तु विज्ञान वैसा नहीं समझता।

'पवित्रहृदय धन्य हैं, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।' जगत् के सभी शास्त्र और सभी अवतार यदि लुप्त हो जायँ, तो भी एकमात्र यह वाक्य समस्त मानव-जाति को बचा सकेगा। हृदय की इस पवित्रता से ही ईश्वर का दर्शन होगा। विश्वरूपी समग्र संगीत में यह पवित्रता ध्वनित होती है। पवित्रता में कोई बन्धन नहीं। पवित्रता के द्वारा अज्ञानरूपी आवरण को दूर कर दो, ऐसा करने पर हमारा यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होगा और हम जान सकेंगे कि हम किसी काल में बद्ध नहीं थे। नानात्व-दर्शन ही जगत् में सबसे बड़ा पाप है--सबको आत्मा-रूप में देखो तथा सबसे प्रेम करो। भेदभाव को पूर्ण रूप से मिटा दो।

* * *

पैशाचिक मानव एक घाव या जलने की तरह मेरे शरीर का ही एक अंश है। पैशाचिक मानव की परिचर्या निरन्तर तब तक करते रहो, जब तक वह पूर्ण नीरोग और पुनः सुखी एवं स्वस्थ न हो जाय।

हम जब तक सापेक्षिक स्तर पर विचार करते रहते हैं, तब तक हमें यह विश्वास करने का अधिकार है कि इस सापेक्षिक जगत् की वस्तुओं द्वारा शरीररूप में हमारा अनिष्ट हो सकता है और ठीक उसी प्रकार हमें उनसे सहायता भी मिल सकती है। सहायता का यह अमूर्त भाव ही ईश्वर है। सहायता संबंधी समस्त भावों का पूर्णयोग ईश्वर है।

जो कुछ भी हम लोगों के प्रति करुणासम्पन्न है, जो कुछ कल्याणप्रद है, या जो कुछ हमारा सहायक है, ईश्वर उस सबका समष्टिरूप है। यही एकमात्र धारणा उचित है। आत्मारूप में हमारा कोई शरीर नहीं होता; अतएव 'हम ब्रह्म हैं, विष भी हमें कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता', यह कथन ही एक स्वविरोधी वाक्य है। जब तक हमारा शरीर रहता है, और उस शरीर को हम देखते हैं, तब तक हमें ईश्वरोपलब्धि नहीं होती। नदी का ही जब लोप हो गया, तब क्या उसके भीतर का छोटा आवर्त रह सकता है? सहायता के लिए रुदन करो, ऐसा करने पर सहायता पाओगे---फिर अन्त में देखोगे, सहायता के लिए रोना भी चला गया, साथ साथ सहायता देनेवाले भी चले गये---खेल समाप्त हो गया है, शेष रह गयी है केवल आत्मा।

एक बार यह हो जाने पर फिर लौटकर यथेच्छ खेल कर सकते हो। तब फिर देह द्वारा कोई बुरा कार्य नहीं हो सकेगा; कारण, जब तक हमारे भीतर

की कुप्रवृत्तियाँ जलकर भस्मसात् नहीं हो जातीं, तब तक मुक्ति-लाभ नहीं होगा। जब यह अवस्था प्राप्त होती है, तब हमारा सभी पाप भस्म हो जाता है, और अवशिष्ट रह जाता है 'ताप और धूम के बिना ज्योति।'[१]

उस समय प्रारब्ध हमारे शरीर को संचालित करता है, किन्तु उसके द्वारा उस समय केवल शुभ ही कार्य हो सकता है, क्योंकि मुक्ति-लाभ होने के पहले सब अशुभ चला जाता है। चोर ने क्रूस पर विद्ध होकर मरने के समय अपने प्राक्तन कर्म का फल-लाभ किया था।[२] वह निश्चित ही पूर्व जन्म में योगी था, उसके बाद योगभ्रष्ट हो जाने के कारण उसे जन्म लेना पड़ा; उसका इस प्रकार पतन होने से उसे परजन्म में चोर होना पड़ा। किन्तु भूतकाल में उसने जो शुभ कर्म किया था, वह फलित हुआ। मुक्ति प्राप्त करने का उसका जब समय आया, तभी उसकी ईसा मसीह के साथ भेंट हुई, और वह उनके एक शब्द से ही मुक्त हो गया।

बुद्ध ने अपने प्रबलतम शत्रु को मुक्ति दी थी, क्योंकि वह व्यक्ति उनसे इतना द्वेष करता था कि इस द्वेष के कारण वह सर्वदा उनका चिन्तन करता रहता था। बुद्ध का लगातार चिन्तन करने से उसका चित्त शुद्ध हो गया था और वह मुक्ति-लाभ करने का अधिकारी हो गया। अतएव सर्वदा ईश्वर का चिन्तन करो, इस चिन्तन के द्वारा तुम पवित्र बन जाओगे।[३]

---

१. ज्योतिरिव अधूमकम् तथा दग्धेन्धनमिवानलम्।

२. बाइबिल में उल्लेख है कि ईसा मसीह को क्रूसित करने के समय एक चोर को भी क्रूस पर विद्ध कर दिया गया था। वह ईसा मसीह में विश्वास करके मुक्त हो गया। उसने अपने पूर्व कर्मफल से ही ईसा की कृपा प्राप्त की थी। स०

३. ये प्रवचन स्वामी जी की एक शिष्या, कुमारी एस० ई० वाल्डो द्वारा आलिखित हुए थे। स०

अभिनन्दन-पत्रों का उत्तर

धर्मभूमि भारत

[स्वामी जी के अमेरिका प्रवासकाल में उन्हें खेतड़ी (राजपूताना) के महाराज का (४ मार्च, १८९५ का) निम्नलिखित अभिनन्दन प्राप्त हुआ]

प्रिय स्वामी जी,

आज इसी विशेष उद्देश्य के निमित्त आयोजित इस दरबार के अध्यक्ष की हैसियत से, अमेरिका के शिकागो नगर में समायोजित धर्म-महासभा में आपके द्वारा किये गये हिन्दू धर्म के योग्यतापूर्ण प्रतिनिधित्व के उपलक्ष्य में अपनी प्रजा एवं अपनी ओर से, आपको इस राज्य का हार्दिक धन्यवाद प्रेषित करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है।

मैं नहीं समझता हूँ कि भाषा की स्वाभाविक त्रुटियों द्वारा प्रस्तुत बाधाओं के बावजूद हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से आपसे भी अधिक स्पष्टता एवं यथार्थता के साथ व्यक्त किया जा सकता था।

विदेश में आपकी वाणी एवं व्यवहार के फलस्वरूप विभिन्न देशों एवं धर्मों के लोगों में केवल आपके प्रति श्रद्धा का ही विस्तार नहीं हुआ, बल्कि उनसे घनिष्ठता प्राप्त करने में तथा आपके निःस्वार्थ उद्देश्य की प्रगति को भी सहायता मिली है। इस सबकी हमने अतीव एवं वर्णनातीत सराहना की है। आपने विदेशों में जाकर अमेरिकी धर्म-महासभा में हमारे प्राचीन धर्म के उन सत्यों को, जो सदा से हमारे प्रिय रहे हैं, प्रतिपादित करने में जो कष्ट उठाया है, उसके लिए यदि मैं अपनी सच्ची कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हुए आपको कुछ पंक्तियाँ औपचारिक रूप से न लिख पाता, तो इससे हमें अपनी कर्तव्य-च्युति का भान होता। निस्सन्देह यह भारत के गौरव के अनुकूल है कि आप जैसे योग्य प्रतिनिधि पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

वे भद्र महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने धर्म-महासभा आयोजित एवं आपका उत्साह के साथ स्वागत किया। उस महाद्वीप के लिए आप नितांत परदेशी थे, आपके अनेक गुणों के प्रति उनके अनुराग से ही आपके साथ उनका

सौहार्दपूर्ण व्यवहार संभव हुआ, और यह उनकी सहृदयता का ज्वलन्त प्रमाण है।

मैं इसके साथ इस अभिनन्दन की बीस मुद्रित प्रतियाँ भेज रहा हूँ और निवेदन है कि इसे आप अपने पास रखकर शेष को अपने मित्रों में वितरित कर दें।

सश्रद्ध

आपका सच्चा शुभाकांक्षी,

राजा अजितसिंह बहादुर,

खेतड़ी

स्वामी जी ने निम्नलिखित उत्तर भेजा :

'जब जब धर्म की अवनति होती है और अधर्म बढ़ता है, तब तब मैं पुनः धर्म की संस्थापना के लिए अवतीर्ण होता हूँ।'[1]

हे राजन्, ये शब्द पवित्र गीत में उन्हीं सनातन भगवान् के वाक्य हैं। ये वाक्य संसार में आध्यात्मिक शक्ति-प्रवाह के सनातन उत्थान और पतन के नियमों का मूल मन्त्रस्वरूप है।

ये परिवर्तन बारम्बार संसार में नये नये लयों में प्रकाशित हो रहे हैं और यद्यपि अन्यान्य महान् परिवर्तनों की तरह उनके कार्यक्षेत्र में प्रत्येक क्षुद्र वस्तु के ऊपर उनका प्रभाव पड़ता है, फिर भी अनुकूल स्थान में ही उनकी कार्यशक्ति का प्रकाश अधिक पाया जाता है।

समष्टि रूप से जिस प्रकार आदिम अवस्था त्रिगुणों का साम्य-भाव है,—इस साम्यावस्था के भंग होने और उसे पुनः प्राप्त करने के निमित्त होनेवाले समस्त संघर्षों को ही हम प्रकृति की अभिव्यक्ति—यह विश्व—कहते हैं, और आदि साम्यावस्था प्राप्त होने तक यह जगत् एवं वस्तुओं की गतिविधि इसी प्रकार चलती रहेगी—उसी प्रकार मालूम होता है कि इस पृथ्वी पर जब तक मनुष्य जाति वर्तमान रूप में रहेगी, तब तक विषमता और उसकी नित्य सहचरी—साम्य-लाभ की चेष्टा—दोनों ही साथ साथ चलती रहेंगी। इसके फलस्वरूप संसार में सर्वत्र भिन्न भिन्न जातियों, उपजातियों से लेकर व्यक्तियों तक में विशेषत्व सृष्ट होता रहेगा।

निष्पक्ष वितरण और तुलन के इस जगत् में प्रत्येक जाति मानो किसी विशेष प्रकार के शक्ति-संग्रह एवं उसके वितरण के निमित्त एक अद्भुत डाइनेमो है, और उस जाति के पास अन्यान्य अनेक वस्तुओं के रहने पर भी वही विशेष शक्ति उस जाति के विशेष लक्षण के रूप में उद्भासित होती है। मनुष्य प्रकृति के किसी विशेष

---

१. गीता ॥४।७॥

भाव के विशेष विकास तथा उद्दीपन होने पर उसका प्रभाव अल्पाधिक मात्रा में सभी पर होता है, परन्तु जिस जाति का वह भाव विशेष लक्षण है एवं साधारणतः जिसे केन्द्र बनाकर वह उत्पन्न हुआ है, उसी जाति के अन्तस्तल को वह सबसे अधिक आलोड़ित कर देता है। इसी कारण धर्म-जगत् में किसी आन्दोलन के उपस्थित होने पर, उसके फलस्वरूप, भारत में अवश्य ही अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रकटित होंगे––क्योंकि भारत को ही केन्द्र बनाकर बारम्बार धर्म की तरंगें उत्थित हुई हैं; क्योंकि सर्वोपरि भारत धर्म का देश है।

प्रत्येक व्यक्ति केवल उसी वस्तु को सत्य समझता है, जो उसे उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। सांसारिक भावापन्न व्यक्तियों के समक्ष वही वस्तु सत्य है, जिसके विनिमय में उन्हें अर्थ की प्राप्ति होती हो; और जिसके बदले में उन्हें धन-लाभ नहीं होता, वह उनके लिए असत्य है। जिस व्यक्ति की आकांक्षा दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने की है, उसके लिए तो सत्य वही है, जिसके द्वारा उसकी यह आकांक्षा पूर्ण होती है, और शेष सब उसके लिए निरर्थक है। इसी प्रकार जो वस्तु किसी व्यक्ति की आकांक्षा-पूर्ति में सहायक नहीं होती, उस वस्तु में वह व्यक्ति किसी प्रकार का सत्य या अर्थ नहीं देख पाता।

जिन व्यक्तियों का एकमात्र लक्ष्य अपने जीवन की समस्त शक्तियों के विनिमय में कांचन, नाम-यश या अन्य किसी प्रकार के भोग-विलास का अर्जन करना है, जिनके समक्ष रणभूमिगामी सुसज्जित सेनादल ही शक्ति के विकास का एकमात्र प्रतीक है, जिनके निकट इन्द्रिय-सुख ही जीवन का एकमात्र आनन्द है––ऐसे लोगों के लिए भारत सर्वदा ही एक बड़े मरुस्थल के समान प्रतीत होगा, जहाँ की आँधी का एक झोंका ही उनकी कल्पित जीवन-विकास की धारणा के लिए मानो मृत्युस्वरूप है।

किन्तु जिन व्यक्तियों की जीवन-तृष्णा इन्द्रिय-जगत् से सुदूर स्थित अमृत-सरिता के दिव्य सलिल-पान से सम्पूर्णतः बुझ चुकी है, जिनकी आत्मा ने––सर्प के केंचुल-त्याग की तरह––काम, कांचन और यश-स्पृहा के त्रिविध बन्धनों को दूर फेंक दिया है, जिनका मन शान्ति की अत्युच्च शिखा पर पहुँच गया है और जो वहाँ से इन्द्रिय-भोगों में आबद्ध तथा नीच जनोचित कलह, विषाद और द्वेष-हिंसा में रत व्यक्तियों को प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखते हैं, जिनके संचित पूर्व सत्कर्म के प्रभाव से आँखों के सामने से अज्ञान का आवरण लुप्त हो गया है, जिससे वे असार नाम-रूप को भेदकर प्रकृत सत्य का दर्शन करने में समर्थ हुए हैं,––ऐसे व्यक्ति कहीं भी क्यों न रहें, आध्यात्मिकता की जननी एवं अनन्त खानिस्वरूप भारत उनके समक्ष भिन्न रूप में, अधिक महिमान्वित और

उज्ज्वल भासित होगा। इस मायावी जगत् में जो एकमात्र प्रकृत सत्ता है, उसके अनुसन्धान में रत प्रत्येक व्यक्ति के लिए भारत आशा की एक प्रज्वलित शिखा है।

अधिकांश मनुष्य शक्ति को उसी समय शक्ति समझते हैं, जब वह उनके अनुभव के योग्य होकर स्थूलाकार में उनके सामने प्रकट हो जाती है। उनकी दृष्टि में समरांगण में तलवारों की झनझनाहट आदि ही परम स्पष्टतः प्रत्यक्ष शक्ति के विकास मालूम होते हैं, और जो आँधी की भाँति सामने से चीज़ों को तोड़-मोड़कर उथल-पुथल पैदा न कर देती हो, वह उनकी दृष्टि में जीवन की अभिव्यक्ति नहीं है--वरन् मृत्युस्वरूप है। इसीलिए शताब्दियों से विदेशियों द्वारा शासित एवं निश्चेष्ट, एकताहीन एवं देशभक्तिहीन भारत उनके निकट ऐसा प्रतीत होगा, मानो वह गलित अस्थि-चर्मों से ढकी हुई भूमि मात्र हो।

ऐसा कहा जाता है--योग्यतम ही जीवन-संग्राम में जीवित बचता है। तब फिर प्रश्न उठता है कि साधारण धारणानुसार यह जो जाति अन्य जातियों की अपेक्षा नितान्त अयोग्य है, दारुण जातीय दुर्भाग्यचक्र में फँस जाने पर भी उसके विनाश का कोई चिह्न दिखायी क्यों नहीं देता? तथाकथित वीर्यशाली और कर्मपरायण जातियों की प्रजनन शक्ति जिस प्रकार एक ओर प्रतिदिन कम होती जा रही है, उसी प्रकार दूसरी ओर नैतिकताविहीन (?) हिन्दुओं की वृद्धि सर्वापेक्षा अधिक हो रही है--यह किस प्रकार होता है? जो लोग एक पल में समस्त विश्व को रक्तरंजित कर सकते हैं, उनके लिए तारीफ़ की झड़ी लग सकती है; जो लोग कुछ लाख लोगों के सुख के लिए संसार के अधिकांश लोगों को भूखा मार सकते हैं, वे भी गौरवान्वित हो सकते हैं, किन्तु जो लोग अन्य लोगों का अन्न न छीनकर लाखों मनुष्यों को सुख और शान्ति प्रदान करते हैं, वे क्या किसी प्रकार का सम्मान प्राप्त करने योग्य नहीं हैं? शताब्दियों से दूसरों के ऊपर किसी भी प्रकार का अत्याचार न करके लाखों के भाग्य का संचालन करनेवालों के कार्य में क्या किसी प्रकार की शक्ति का विकास प्रकट नहीं होता?

सभी प्राचीन जातियों के पौराणिक ग्रंथों में, उनके वीरों की गाथाओं में यह देखा जाता है कि उनका जीवन उनके शरीर के किसी विशेष छोटे से अंश में केन्द्रित था; और जब तक उनका वह अंश अछूता रहा, तब तक वे अजेय रहे। इसी प्रकार प्रतीत होता है कि मानो प्रत्येक राष्ट्र के पास एक विचित्र जीवन-केन्द्र है; और जब तक वह केन्द्र अक्षुण्ण बना रहेगा, तब तक किसी प्रकार की दुःख या विपत्ति उस राष्ट्र का विनाश नहीं कर सकती।

धर्म ही है भारत की यह जीवनी-शक्ति; और जब तक हिन्दू जाति अपने पूर्वजों से प्राप्त इस महान् उत्तराधिकार को नहीं भूलेगी, तब तक संसार में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है, जो उसका ध्वंस कर सके।

जो लोग सदैव अपने अतीत की ही ओर दृष्टि लगाये रखते हैं, आजकल सभी लोग उनकी निन्दा किया करते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार निरन्तर अतीत की ओर देखते रहने के कारण ही हिन्दू जाति को नाना प्रकार के दुःख और आपत्तियाँ भोगनी पड़ी हैं। किन्तु मेरी तो यह धारणा है कि इसका विपरीत ही सत्य है। जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी, तब तक वह संज्ञाहीन अवस्था में पड़ी रही, और अतीत की ओर दृष्टि जाते ही चहुँ ओर पुनर्जीवन के लक्षण दिखायी दे रहे हैं। भविष्य को इसी अतीत के साँचे में ढालना होगा, अतीत ही भविष्य होगा।

अतएव हिन्दू लोग अतीत का जितना ही अध्ययन करेंगे, उनका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा; और जो कोई इस अतीत के बारे में प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करने की चेष्टा कर रहा है, वह स्वजाति का परम हितकारी है। भारत की अधोगति इसलिए नहीं हुई कि हमारे पूर्व पुरुषों के नियम एवं आचार-व्यवहार खराब थे, वरन् उसकी अधोगति का कारण यह था कि उन नियमों और आचार-व्यवहारों को उनके न्यायसंगत निष्कर्षों तक नहीं ले जाने दिया गया।

भारत का इतिहास पढ़नेवाला प्रत्येक विचारशील पाठक यह जानता है कि भारत के सामाजिक विधान प्रत्येक युग के साथ परिवर्तित हुए हैं। आरम्भ में ये नियम एक ऐसी विराट् योजना के पुंजीभूत रूप थे, जिसे क्रमशः भविष्य में फलीभूत होना था। प्राचीन भारत के ऋषिगण इतने दूरदर्शी थे कि उनकी ज्ञानराशि के महत्त्व को समझने में विश्व को अब भी सदियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; और उनके वंशधरों द्वारा इस महान् उद्देश्य को पूर्ण रूप से ग्रहण करने की यह अक्षमता ही भारत की अधोगति का एकमात्र कारण है।

प्राचीन भारत सदियों तक ब्राह्मण और क्षत्रिय, अपनी इन दो प्रधान जातियों की महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए एक युद्धक्षेत्र रहा था।

एक ओर पुरोहितवर्ग साधारण प्रजा पर क्षत्रियों के अन्यायपूर्ण सामाजिक अत्याचार के विरुद्ध थे,—उस प्रजा को क्षत्रियगण अपने धर्मसंगत खाद्य के रूप में देखा करते थे—और दूसरी ओर, भारत की शक्तिसम्पन्न क्षत्रिय जाति ने जनता को पुरोहितों के आध्यात्मिक अत्याचार से बचाने तथा निरन्तर बढ़ते हुए उनके कर्मकांडों की श्रृंखला से उसको छुड़ाने के लिए कमर कसी थी। इसमें क्षत्रियों को कुछ परिणाम में सफलता भी मिली थी।

यह रस्साकशी हमारी जाति के इतिहास के एकदम प्रारंभिक युगों में ही आरम्भ हुई थी, और समस्त श्रुतियों में वह स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। कुछ समय के लिए यह विरोध कम हो गया, जब क्षत्रियों तथा ज्ञानकाण्ड के नेता श्री कृष्ण ने समन्वय का मार्ग दिखला दिया। उसका परिणाम है गीता की शिक्षा, जो दर्शन, उदारता एवं धर्म का सारस्वरूप है। किन्तु संघर्ष का कारण तब भी विद्यमान था, अतः उसका परिणाम अनिवार्य था।

निर्धन एवं अशिक्षित जनता पर प्रभुत्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा इन दोनों जातियों में वर्तमान थी, अतः संघर्ष पुनः भयानक हो उठा। हमें उस समय का जो कुछ थोड़ा सा साहित्य उपलब्ध है, वह प्राचीन काल के उसी प्रबल संघर्ष की क्षीण प्रतिध्वनि मात्र है। किन्तु अन्त में क्षत्रियों की विजय हुई, ज्ञान की जीत हुई, स्वाधीनता की जीत हुई; कर्मकाण्ड को नीचे दब जाना पड़ा और उसका अधिकांश हमेशा के लिए विदा हो गया। यह वही क्रांति थी, जिसे हम बौद्ध सुधारवाद के नाम से अभिहित करते हैं। धर्म की दृष्टि से यह कर्मकाण्ड के हाथों से मुक्ति का सूचक है, और राजनीति के दृष्टिकोण से यह क्षत्रियों के द्वारा पुरोहितों का पराभव सूचित करता है।

यह एक विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन भारत ने जिन दो सर्वश्रेष्ठ पुरुषों को जन्म दिया था, वे दोनों ही क्षत्रिय हैं—वे थे कृष्ण और बुद्ध। और यह उससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात है कि इन दोनों देव-मानवों ने लिंग और जाति-भेद को न मानकर सबके लिए ज्ञान का द्वार उन्मुक्त कर दिया था।

बौद्ध धर्म में अद्भुत नैतिक बल विद्यमान रहने पर भी वह अतीव ध्वंसात्मक था, और उसकी अधिकांश शक्ति नकारात्मक प्रयासों में ही व्यय हो जाने के कारण उसे अपनी जन्मभूमि में ही अपना विनाश देखना पड़ा, एवं उसका जो कुछ शेष रहा, वह जिन कुसंस्कारों तथा कर्मकाण्डों के निवारण के लिए नियोजित किया गया था, उनसे शतशः अधिक भयानक कुसंस्कारों और कर्मकाण्डों में फँस गया। यद्यपि आंशिक रूप में वह वैदिक पशुबलि निवारण करने में सफल हुआ, पर उसने समस्त देश को मन्दिर, प्रतिमा, यन्त्र तथा साधुओं की अस्थियों से पूर्ण कर दिया।

विशेषतः, उसके द्वारा आर्य, मंगोल एवं आदिवासियों का जो एक विचित्र मिश्रण हुआ, उससे अज्ञात रूप से कितने ही बीभत्स वामाचार-सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। मुख्यतया इसीलिए श्री शंकराचार्य और उनके मतानुयायी संन्यासियों को उन महान् आचार्य बुद्ध के इस विकृत रूप में परिणत उपदेशों को भारत के बाहर निकाल देना पड़ा।

इस प्रकार मनुष्य-देह धारण करनेवालों में सर्वश्रेष्ठ आत्मा स्वयं भगवान् बुद्ध द्वारा परिचालित संजीवनी-शक्तिप्रवाह भी दुर्गन्धमय रोग-कीटाणुपूर्ण क्षुद्र गन्दे जलाशय में बदल गया, और भारत को भी अनेक शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, जब तक कि भगवान् शंकर और उनके कुछ ही समय बाद रामानुज एवं मध्वाचार्य आविर्भूत नहीं हुए।

इसी बीच में भारत के इतिहास का एक नितान्त नया अध्याय आरम्भ हो गया था। प्राचीन ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियाँ लुप्त हो गयी थीं। हिमालय तथा विन्ध्याचल की मध्यवर्ती वह आर्यभूमि, जिसने कृष्ण और बुद्ध को जन्म दिया था, जो महामना राजर्षियों तथा ब्रह्मर्षियों की क्रीड़ाभूमि रही थी, इस समय नीरव रही; और भारत प्रायद्वीप के सबसे आखिरी छोर से, भाषा तथा रूप में भिन्न जातियों की ओर से एवं प्राचीन ब्राह्मणों के वंशज कहकर गौरवानुभव करनेवालों पीढ़ियों से विकृत बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो गयी।

आर्यावर्त के उन ब्राह्मणों और क्षत्रियों का क्या हुआ? उनका नाम हमेशा के लिए मिट गया, इधर-उधर ब्राह्मणत्व एवं क्षत्रियत्व पर अभिमान करनेवाली केवल कुछ मिश्रित जातियाँ ही शेष रह गयीं, और इन जातियों के इस प्रकार अहंकार तथा आत्मप्रशंसापूर्ण वाक्यों के कहने पर भी कि 'इस देश (ब्रह्मावर्त या ब्रह्मर्षि देश) में पैदा हुए ब्राह्मणों से ही संसार के सभी मनुष्य चरित्र-निर्माण की शिक्षा प्राप्त करेंगे',[1] इन लोगों को दीन वेष में दाक्षिणात्यों के चरणों में बैठकर विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी। इसका परिणाम हुआ भारत में वेदों का पुनरभ्युदय,—वेदान्त का ऐसा प्रबल पुनरुत्थान जैसा भारत ने और कभी नहीं देखा था; यहाँ तक कि गृहस्थाश्रमी भी आरण्यकों के अध्ययन में संलग्न हो गये।

बौद्ध आंदोलन में क्षत्रिय ही वास्तव में नेता रहे थे तथा बड़ी संख्या में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। सुधार तथा धर्म-परिवर्तन के उत्साह में संस्कृत भाषा तो उपेक्षित हो गयी, और लोक-भाषाओं का एकांत विकास होने लगा। अधिकांश क्षत्रिय वैदिक साहित्य एवं संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र से अलग हो गये। अतएव दाक्षिणात्यों से यह जो सुधार-तरंग उत्थित हुई, उससे कुछ सीमा तक केवल पुरोहितों का ही उपकार हुआ, पर भारत की शेष कोटि कोटि जनता के पैरों में उसने पहले से भी अधिक शृंखलाएँ डाल दीं।

---

१. **एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥मनु०॥

क्षत्रिय सदा से ही भारत का मेरुदण्ड रहे हैं, अतएव वे ही विज्ञान और स्वतन्त्रता के सनातन रक्षक हैं। देश से अन्धविश्वासों को हटा देने के लिए चिरकाल से ही उनकी वाणी प्रतिध्वनित हुई है, और भारत के इतिहास के आदि से अन्त तक पुरोहितों के अत्याचार से साधारण जनता की रक्षा करने के लिए वे स्वयं एक अभेद्य दीवार की भाँति खड़े रहे हैं।

जब उनमें से अधिकांश घोर अज्ञानता में निमग्न हो गये, और शेष थोड़ों ने मध्य एशिया की जंगली जातियों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित कर भारत में पुरोहितों की शक्ति दृढ़ करने के लिए तलवार हाथ में ली, तब भारत के पाप का प्याला लबालब भर गया और भारत-भूमि एकदम नीचे डूब गयी,—और इससे इसका उद्धार उस समय तक नहीं होगा, जब तक कि क्षत्रिय स्वयं न जागेंगे तथा अपने को मुक्त कर शेष जाति के पैरों से जंज़ीरों को न खोल देंगे। पुरोहित-प्रपंच ही भारत की अधोगति का मूल कारण है। मनुष्य अपने भाई को पतित बनाकर क्या स्वयं पतित होने से बच सकता है?

राजन्, स्मरण रखिए, आपके पूर्वजों द्वारा आविष्कृत सत्यों में सर्वश्रेष्ठ सत्य है—इस ब्रह्माण्ड का एकत्व। क्या कोई व्यक्ति स्वयं का किसी प्रकार अनिष्ट किये बिना दूसरों को हानि पहुँचा सकता है? ब्राह्मण और क्षत्रियों के ये ही अत्याचार चक्रवृद्धि ब्याज के सहित अब स्वयं उन्हींके सिर पर पतित हुए हैं एवं यह हज़ारों वर्षों की पराधीनता और अधोगति निश्चय ही उन्हींके कर्मों के अनिवार्य फल का भोग है।

आपके एक पूर्वज ने, जिन्हें लोग ईश्वर का अवतार समझते हैं, कहा था, 'जिनका मन साम्य-भाव में अवस्थित है, उन्होंने जीवित दशा में ही संसार पर जय-लाभ कर लिया है।'[१] हम सभी का यही विश्वास है। तब क्या उनका यह वाक्य अर्थहीन प्रलाप के समान है? यदि नहीं है—और हम जानते हैं कि ऐसा नहीं है—तब तो समस्त सृष्ट जगत् के जन्म-लिंगविरहित, यहाँ तक कि गुणनिर्विशेष इस सम्पूर्ण साम्य के विरुद्ध कोई भी चेष्टा भयंकर भ्रमपूर्ण है; और जब तक मानव इस साम्य-ज्ञान को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह कभी मुक्त नहीं हो सकता।

अतएव, हे राजन्, आप वेदान्त के उपदेशों का पालन कीजिए—किसी अमुक-तमुक भाष्यकार अथवा टीकाकार के अनुसार नहीं, वरन् उसी प्रकार, जिस प्रकार आपके अन्तर्यामी प्रभु आपको समझाते हैं। सर्वोपरि, सर्वभूतों में, समस्त

---

१. **इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।।गीता ।।५।१९।।**

वस्तुओं में इस समज्ञान-रूप महान् उपदेश का पालन कीजिए---सर्वभूतों में उसी एक भगवान को देखिए।

यही मुक्ति का पथ है; वैषम्य ही बन्धन का मार्ग है। कोई व्यक्ति या कोई राष्ट्र भौतिक एकत्व-ज्ञान के बिना भौतिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकता, और मानसिक एकत्व-ज्ञान के बिना मानसिक स्वाधीनता का लाभ भी उसे नहीं हो सकता।

अज्ञान, भेदबुद्धि एवं वासना, ये तीनों ही मानव-जाति के दुःख के कारण हैं, और उनमें एक के साथ दूसरे का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अपने आपको अन्य मनुष्यों की अपेक्षा, यहाँ तक कि पशु से भी श्रेष्ठ समझने का किसीको क्या अधिकार है? वास्तव में तो सर्वत्र एक ही वस्तु विराजमान है। **त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी**---'तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो एवं तुम्हीं कुमारी हो।'

बहुत से लोग कहेंगे, 'इस प्रकार सोचना तो संन्यासी को ही शोभा देता है, उनके लिए ही यह ठीक है, किन्तु हम सब तो गृहस्थ हैं।' अवश्य ही, गृहस्थ को दूसरे अनेक कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है, अतः वह इस साम्य-भाव में इतना स्थित नहीं रह सकता; परन्तु उन लोगों का आदर्श यही होना उचित है, क्योंकि इस समत्व-भाव को प्राप्त करना ही सभी समाजों का, समस्त जीवों का एवं समस्त प्रकृति का आदर्श है। पर अफ़सोस ! लोग समझते हैं कि वैषम्य ही समता की प्राप्ति का मार्ग है, मानो अन्याय करते करते वे न्याय के रास्ते पर आ पहुँचेगे !

यह वैषम्य ही मनुष्य-प्रकृति की घोर दुर्बलता है, मनुष्य जाति पर अभिशाप है तथा समस्त दुःख-कष्टों का मूल है। यही भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सर्वविध बन्धनों का मूल है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

---'ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से अवस्थित देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते, अतएव परम गति प्राप्त करते हैं।'[1] केवल इसी एक कथन में, थोड़े से शब्दों में मुक्ति का सार्वभौमिक उपाय निहित है।

आप राजपूत लोग ही प्राचीन भारत के गौरव रहे हैं। आप लोगों की अधोगति के साथ ही राष्ट्रीय अधोगति आरम्भ हो गयी; और भारत का उत्थान

---

१. गीता ॥१३।२८॥

केवल तभी हो सकता है, जब क्षत्रियों के वंशज ब्राह्मणों के वंशजों के साथ समवेत प्रयत्न में कटिबद्ध होंगे--लूटे हुए वैभव और शक्ति का बटवारा करने के लिए नहीं, वरन् अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करने के लिए एवं पूर्वजों की पवित्र निवास-भूमि की खोयी हुई महिमा के पुनःस्थापन के लिए।

कौन कह सकता है कि यह शुभ मुहूर्त नहीं है? फिर से कालचक्र घूमकर आ रहा है, एक बार फिर भारत से वही शक्ति-प्रवाह निःसृत हो रहा है, जो शीघ्र ही समस्त जगत् को प्लावित कर देगा। एक वाणी मुखरित हुई है, जिसकी प्रतिध्वनि चारों ओर व्याप्त हो रही है एवं जो प्रतिदिन अधिकाधिक शक्ति संग्रह कर रही है, और यह वाणी अपने पहले की सभी वाणियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि यह अपनी पूर्ववर्ती उन सभी वाणियों का समष्टिस्वरूप है। जो वाणी एक समय कलकलनिनादिनी सरस्वती के तीर पर ऋषियों के अन्तस्तल में प्रस्फुटित हुई थी, जिस वाणी ने रजतशुभ्र हिमाच्छादित गिरिराज हिमालय के शिखर शिखर पर प्रतिध्वनित हो कृष्ण, बुद्ध और चैतन्य में से होते हुए समतल प्रदेशों में अवरोहण कर समस्त देश को प्लावित कर दिया था, वही एक बार पुनः मुखरित हुई है। एक बार फिर से द्वार खुल गये हैं। आइए, हम सब आलोक-राज्य में प्रवेश करें--द्वार एक बार पुनः उन्मुक्त हो गये हैं।

हे मेरे प्रिय राजन्, आप उसी जाति के वंशधर हैं, जो सनातन धर्म का जीवन्त आधार-स्तम्भस्वरूप है एवं जो उस सनातन धर्म का कर्तव्यबद्ध रक्षक और सहायक है; आप ही क्या इससे दूर रहेंगे? मैं जानता हूँ, यह कभी नहीं हो सकता। यह मेरी दृढ़ धारणा है कि आपका ही हाथ सर्वप्रथम फिर से धर्म की सहायता के लिए आगे बढ़ेगा। और जब भी, हे राजा अजितसिंह, मैं आपके बारे में सोचता हूँ, तब यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि आपमें आपकी वंशगत सर्वपरिचित वैज्ञानिक शिक्षा के साथ ही सब मानवों के प्रति असीम प्रेमयुक्त ऐसे पवित्र चरित्र का सम्मिलन हुआ है, जिससे एक साधु भी गौरवान्वित हो सकता है; और जब ऐसे व्यक्ति ही सनातन धर्म के पुनर्गठन के इच्छुक हैं, तब मैं उसके महा गौरवशाली पुनरुद्धार में विश्वास रखे बिना नहीं रह सकता।

सर्वदा ही आप तथा आपके स्वजनों पर श्री रामकृष्ण के आशीर्वाद की वर्षा हो, और दूसरों के उपकारार्थ एवं सत्य-प्रचार के लिए आप दीर्घ काल तक जीवित रहें, यही विवेकानन्द की सदैव प्रार्थना है।

हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए[1]

मद्रासनिवासी मित्रो, देशबंधुओ और सहधर्मियो !

मुझे यह जानकर परम सन्तोष है कि अपने धर्म के प्रति मेरी नगण्य सेवा तुम्हें मान्य हुई है। मुझे यह सन्तोष इसलिए नहीं कि तुमने मेरी व्यक्तिगत या दूर विदेश में मेरे किये हुए कार्य की प्रशंसा की है; वरन् सन्तोष मुझे इस कारण है कि हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में तुम्हारा यह आनंद यही स्पष्टतः सूचित करता है कि यद्यपि विदेशियों के आक्रमण की आँधी पर आँधी हतभाग्य भारत के भक्ति-विनम्र मस्तक पर आघात करती चली गयी है, यद्यपि कई शताब्दियों के हमारे उपेक्षा-भाव और हमारे विजेताओं के तिरस्कार-भाव ने हमारे पुरातन आर्यावर्त के वैभव के प्रकाश को धुँधला कर दिया है, यद्यपि उसके अनेक भव्य आधार-स्तम्भ, बहुतेरे सुन्दर मेहराब और बहुतेरे वैचित्र्यपूर्ण कोने कई सदियों तक देश को प्रलयमग्न करनेवाली बाढ़ों में बहकर नष्ट हो गये, तथापि उसका केन्द्र सशक्त है, उसकी आधारशिला सुदृढ़ है; वह आध्यात्मिक भित्ति---जिस पर हिन्दू जाति की ईश्वर-भक्ति और भूत-दया का अपूर्व कीर्तिस्तम्भ स्थापित हुआ है, वह किंचित् भी विचलित नहीं हुई, वरन् पूर्ववत् सुदृढ़ और सबल बनी है। जिस ईश्वर का संदेश, भारत तथा समस्त संसार को पहुँचाने का सम्मान मुझ जैसे उसके अत्यन्त तुच्छ और अयोग्य सेवक को मिला है, उस ईश्वर के प्रति तुम्हारा आदर-भाव सचमुच अपूर्व है। यह तुम्हारी जन्मजात धार्मिक प्रकृति है, जिसके कारण तुम उस ईश्वर में और उसके संदेश में धर्म की उस ज्वार-तरंग की प्रथम मर्मर का अनुभव कर रहे हो, जो निकट भविष्य में सारे भारत पर अपनी सम्पूर्ण अबाध शक्ति के साथ अवश्यमेव फूट पड़ेगी और अपनी अनन्त शक्तिसम्पन्न बाढ़ द्वारा, जो कुछ दुर्बल और सदोष है, उसको दूर बहा ले जायगी तथा हिन्दू जाति को उठाकर विधि-नियोजित उस उच्च आसन पर बिठा देगी, जहाँ

---

१. जब अमेरिका में स्वामी जी की सफलता का समाचार भारत में फैल गया, तब अनेक सभाएँ की गयीं और धन्यवाद तथा बधाई के अभिनन्दन-पत्र उन्हें भेजे गये। उन्होंने अपना यह पहला उत्तर मद्रास के हिन्दुओं के अभिनन्दन के प्रति लिखा। स०

उसका पहुँचना निश्चित और अनिवार्य है; वहाँ वह भूतकाल की अपेक्षा और भी अधिक वैभवशाली बनेगा, शताब्दियों की नीरव कष्ट-सहिष्णुता का उपयुक्त पुरस्कार पायेगा और संसार की समस्त जातियों के मध्य अपने उद्देश्य--- आध्यात्मिक मानव-जाति के विकास---को पूर्ण करेगा।

उत्तर भारतवासी तुम दाक्षिणात्यों के विशेष कृतज्ञ हैं, क्योंकि आज भारत में जो प्रेरणाएँ काम कर रही हैं, उनमे से अधिकांश का इसी दक्षिण प्रांत से उद्‌गम होना पाया जाता है। श्रेष्ठ भाष्यकार, युगप्रवर्तक आचार्य---शंकर, रामानुज और मध्व ने इसी दक्षिण भारत में जन्म लिया है। उन भगवान् शंकराचार्य के सामने संसार का प्रत्येक अद्वैतवादी ऋणी हो मस्तक झुकाता है; उन महात्मा रामानुजाचार्य के स्वर्गीय स्पर्श ने पददलित पैरिया[1] लोगों को अलवार[2] बना दिया; तथा उत्तर भारत के एकमात्र महापुरुष श्री कृष्ण चैतन्य, जिनका प्रभाव सारे भारत में है, उनके अनुयायियों ने भी उन महाविभूति मध्वाचार्य का नेतृत्व स्वीकार किया। ये सभी दक्षिण में ही उत्पन्न हुए। इस वर्तमान युग में भी काशीपुरी के वैभव में अग्रस्थान दाक्षिणात्यों का ही है; तुम्हारे त्याग का ही अधिकार हिमालय के सुदूरवर्ती शिखरों पर के पवित्र मंदिरों पर है; और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि तुम्हारी नसों में सन्त महापुरुषों का रक्त प्रवाहित होने के कारण, तथा ऐसे आचार्यों के आशीर्वाद से धन्य जीवन प्राप्त होने के कारण तुम लोग ही भगवान् श्री रामकृष्ण के संदेश के मर्म को समझने में और उसे आदरपूर्वक ग्रहण करने में सर्वप्रथम अग्रसर हो रहे हो।

दक्षिण ही वैदिक विद्या का भाण्डार रहा है, अतएव तुम लोग मेरा यह कहना समझ लोगे कि अज्ञ आक्रमणकारियों द्वारा पुनः पुनः प्रतिवाद होते रहने पर भी आज श्रुति[3] ही हिन्दू धर्म के सभी विभिन्न सम्प्रदायों का मेरुदण्ड है।

वेद के संहिता और ब्राह्मण[4] भागों की महिमा मानव-जाति के इतिहास की

---

१. दक्षिण भारत की चाण्डालतुल्य नीच जातिविशेष को पैरिया कहते हैं।

२. अलवार शब्द का अर्थ है विशिष्टाद्वैतवादी भक्त।

३. वेद को श्रुति माना जाता है।

४. चारों वेदों में से प्रत्येक के तीन भाग हैं। (क) संहिता---इसमें भिन्न भिन्न देवताओं के प्रति रचे हुए स्तोत्रात्मक मन्त्र हैं। (ख) ब्राह्मण---यह वेद का वह वर्णनात्मक भाग है, जिसमें यह दर्शाया गया है कि किस मन्त्र का किस यज्ञ में कैसे प्रयोग करना चाहिए। (ग) आरण्यक---इस भाग में अरण्य में ऋषियों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का वर्णन है। उपनिषद् इन्हीं आरण्यक के अन्तर्गत हैं।

खोज लगानेवालों के लिए और भाषाशास्त्रियों के लिए चाहे जितनी अधिक हो, **अग्निमीळे** या **इषेत्वोर्जेत्वा** या **शन्नो देवीरभीष्टये**[1] वेदमंत्रों से विभिन्न वेदियों में यज्ञों और आहुतियों के संयोग से प्राप्य फलसमूह चाहे जितना वांछनीय हो--पर यह सब तो भोग-मार्ग है, और किसीने भी इसके द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का दावा नहीं किया। इसी कारण ज्ञानकाण्ड, जो आरण्यक नामक श्रुति का श्रेष्ठ भाग है और जिसमें आध्यात्मिकता की, मोक्ष-मार्ग की शिक्षा दी गयी है, उसीका प्रभुत्व भारत में आज तक सदा रहा है तथा भविष्य में भी रहेगा।

वर्तमान युग का हिन्दू युवक, सनातन धर्म के अनेक पन्थों की भूलभुलैयों में भटका हुआ, उस एकमात्र हिन्दू धर्म को—जिसकी सार्वजनीन उपयोगिता तदुपदिष्ट **अणोरणीयान् महतो महीयान्** ईश्वर का यथार्थ प्रतिबिम्ब है, उस धर्म के मर्म को, अपनी भ्रमात्मक पूर्व धारणाओं और दुराग्रहों के कारण ग्रहण करने में असमर्थ होने से, जिन राष्ट्रों ने निरी भौतिकता के सिवाय कभी भी और कुछ नहीं जाना, उनसे आध्यात्मिक सत्य का पुराना पैमाना उधार लेकर अँधेरे में टटोलता हुआ, अपने पूर्वजों के धर्म को समझने का व्यर्थ का कष्ट उठाता हुआ अन्त में उस खोज को बिल्कुल त्याग देता है और या तो वह निपट अज्ञेयवादी बन जाता है या अपनी धार्मिक प्रकृति की प्रेरणाओं के कारण पशुजीवन बिताने में समर्थ नहीं हो पाता और पाश्चात्य भौतिकता के पौर्वात्य गंधधारी कषायों का असावधानी के साथ पान करके श्रुति की भविष्यवाणी **परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**[2] को चरितार्थ करता है!

केवल वे ही बच पाते हैं, जिनकी आध्यात्मिक प्रकृति सद्गुरु के संजीवनी-स्पर्श से जाग्रत हो चुकी है।

---

१. ये तीन यथाक्रम ऋक्, यजुः तथा अथर्ववेद के प्रथम श्लोक के अंश हैं :

(क) ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥
—ऋग्वेद॥१।१।१॥

(ख) ॐ इषेत्वोर्जेत्वा वायवः स्थोपायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे॥
—यजुर्वेद॥१।१।१॥

(ग) ॐ शन्नो देवीरभीष्टये आपो भवन्तु पीतये शन्नोरभिस्रवन्तु नः॥
—अथर्ववेद॥१।१।१॥

२. एक अन्धे के द्वारा पथ प्रदर्शित किये हुए दूसरे अन्धों की तरह मूढ़ इधर-उधर चक्कर लगाते फिरते हैं। —कठोपनिषद्॥१।२।४॥

भगवान् भाष्यकार[1] की कैसी सुन्दर उक्ति है :

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।।

—'ये तीन दुर्लभ हैं और ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त होते हैं--मनुष्य-जन्म, मोक्ष की इच्छा और महात्माओं की संगति।'[2]

चाहे वह वैशेषिकों[3] का सूक्ष्म विश्लेषण ही हो, जिसके परिणाम में परमाणु, द्व्यणु[4] और त्रसरेणु[5] के विचित्र सिद्धान्त निकाले गये हैं, चाहे वह नैयायिकों का उससे भी विचित्रतर विश्लेषण हो, जो जाति, द्रव्य, गुण, समवाय[6] की चर्चा में दीख पड़ता है, चाहे वह परिणामवाद के जन्मदाता सांख्यवादियों के गम्भीर विचारों की प्रगति ही हो, इन सब संशोधनों के परिणामस्वरूप 'व्याससूत्ररूपी' परिपक्व फल ही क्यों न हो,--मानवीय मन के इन विभिन्न विश्लेषणों और संश्लेषणों में वह 'श्रुति' ही एकमात्र आधार है। इतना ही नहीं, वरन् बौद्धों और जैनियों के दार्शनिक ग्रन्थों में भी श्रुति की सहायता का परित्याग नहीं किया गया है और बौद्ध मत के कुछ पन्थों में और जैनियों के अधिकांश ग्रन्थों में तो श्रुति का प्रामाण्य पूर्णतः स्वीकार किया गया है; इसके अपवाद के रूप में केवल

---

१. श्री शंकराचार्य।

२. विवेकचूड़ामणि ।।३।।

३. हिन्दुओं के छः मुख्य दर्शन हैं : (१) वैशेषिक—कणाद प्रणीत, (२) न्याय—गौतम प्रणीत, (३) सांख्य—कपिल प्रणीत, (४) योग—पतञ्जलि प्रणीत, (५) पूर्व मीमांसा (वैदिक क्रियाकाण्ड की मीमांसा)—जैमिनि प्रणीत, (६) वेदान्त या व्याससूत्र—व्यास प्रणीत।

४. द्व्यणु—दो अणुओं की सम्मिलित अवस्था।

५. त्रसरेणु—तीन अणुओं की सम्मिलित अवस्था।

६. द्रव्य—न्याय के मतानुसार नौ द्रव्य हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा और मन। जाति—वस्तुओं का साधारण धर्म जिसके आधार पर उनका श्रेणी-विभाग किया जा सकता है, जैसे पशुत्व, मनुष्यत्व आदि। गुण—न्याय मत में इन्हें गुण कहते हैं, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमिति, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द। समवाय—जैसे, घट और जिस मृत्तिका से उसका निर्माण होता है, दोनों के बीच समवाय सम्बन्ध है।

वे ही श्रुतियाँ हैं, जिन्हें वे लोग हिंसक श्रुतियाँ और ब्राह्मणों के द्वारा पीछे से जोड़े हुए (प्रक्षिप्त) मानते हैं। आधुनिक काल में स्वर्गीय महान् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यही मत प्रतिपादित किया है।

यदि कोई यह पूछे कि वह कौन सा विशिष्ट दर्शन है, जिसकी ओर केन्द्र की तरह प्राचीन और अर्वाचीन समस्त हिन्दू विचार-प्रणालियाँ झुकी हुई हैं, यदि कोई हिन्दू धर्म के विभिन्न स्वरूपों के असली मेरुदण्ड को देखना चाहे, तो निःसन्देह व्याससूत्र की ही ओर निर्देश किया जायगा।

चाहे हिमालय के अरण्यों के हृदयस्पन्दन को भी स्तब्ध कर देनेवाली गम्भीरता में अद्वैत-केसरी[1] को, स्वर्गनदी के गंभीर स्वर में मिले हुए मेघगर्जनध्वनि में 'अस्ति-भाति-प्रिय'[2] की घोषणा करते हुए सुनो, अथवा वृन्दावन के मनोहारी कुंजों में 'पिया-पीतम'[3] का कूजन सुनो, चाहे काशीपुरी के मठों में साधुओं के साथ गहरे ध्यान में मग्न हो जाओ, या नदिया के अवतार श्री गौरांग महाप्रभु के भक्तों के उन्मादपूर्ण नृत्यों में सम्मिलित हो, 'वड़केले और तेनकेले'[4] आदि अनेक आशायुक्त विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के आचार्य के चरणों का आश्रय लो या माध्व सम्प्रदाय के आचार्यों का उपदेश श्रद्धा के साथ श्रवण करो; सांसारिक सिखों का 'वाह गुरु की फतह'[5] समरनाद ही सुनो, या उदासी और निर्मला लोगों के ग्रन्थसाहब[6] के उपदेशों को ही सुनो; चाहे कबीरदास के संन्यासी

---

१. अद्वैतवाद रूप सिंह अर्थात् सर्वमतश्रेष्ठ अद्वैतवाद।

२. 'अस्ति, भाति, प्रिय'——सत्, चित्, आनन्द। ये तीन शब्द पंचदशी में आते हैं।

३. भावुक वैष्णव लोग वृन्दावन के कुंजों में पक्षियों के शब्द में यह ध्वनि सुनते हैं। इसका अर्थ है 'राधा-कृष्ण'।

४. बड़केले——ये लोग संस्कृत भाषा के प्राचीन शास्त्र अर्थात् वेद-वेदान्त आदि को और रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य आदि आधुनिक ग्रन्थों को अधिक प्रमाण-स्वरूप मानते हैं। तेनकेले——ये लोग 'दिव्यप्रबन्ध' नामक तमिल ग्रन्थ के विशेष पक्षपाती हैं। इन दोनों में और भी अनेकानेक विषयों पर मतभेद है।

५. गुरु की जय हो।

६. उदासी और निर्मला, दो नानकपन्थी सम्प्रदाय हैं। पहला, नानकपुत्र श्री चाँद द्वारा स्थापित किया हुआ है और दूसरा श्री गुरु गोविन्द द्वारा। 'ग्रन्थ-साहब' नानकपन्थियों का धर्मग्रन्थ है। इसमें नानक से लेकर गुरु गोविन्द तक दस गुरुओं का उपदेश संकलित है। सिक्ख इस ग्रन्थ को देवता मानकर इसकी पूजा करते हैं। 'साहब' शब्द का अर्थ है माननीय।

शिष्यों को सत् साहब[1] कहकर प्रणाम करो और साखी (भजन) के श्रवण का आनन्द उठाओ; चाहे राजपूताना के सुधारक दादू के अद्भुत ज्ञान-भाण्डार को पढ़ो या उनके राजशिष्य सुन्दरदास से लेकर उस 'विचारसागर' के प्रख्यात लेखक निश्चलदास के ग्रन्थों को ही पढ़ो—जिस (विचारसागर) का प्रभाव भारत में गत तीन शताब्दियों में किसी भी भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ से अधिक है; यदि उत्तर भारत के किसी भंगी मेहतर से अपने लालगुरु के उपदेशों का वर्णन करने को कहो—तो इन सभी उपदेशकों और विभिन्न पन्थों का मूल आधार वही मत दिखायी देगा, जिसका प्रमाण 'श्रुति' है, 'गीता' जिसकी दैवी टीका है, 'शारीरक सूत्र'[2] जिसका संगठित रूप है, और भारत के सभी विभिन्न मत-मतान्तर—परमहंस परिव्राजकाचार्यों से लेकर लालगुरु के बेचारे तिरस्कृत मेहतर शिष्यों तक के मत—जिसके भिन्न भिन्न रूप हैं।

तब तो यह प्रस्थानत्रय[3] ही, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत और अन्य कुछ अप्रसिद्ध व्याख्याओं के साथ, हिन्दू धर्म का 'प्रमाणग्रन्थ' है। वेद के संहिताभाग प्राचीन नाराशंसी के आधुनिक स्वरूप पुराण ही उसका 'उपाख्यान' विभाग है और वैदिक ब्राह्मणभाग का आधुनिक स्वरूप तंत्र ही उसका 'कर्मकाण्ड' है। इस प्रकार एकमात्र प्रस्थानत्रय ही सभी सम्प्रदायों का सर्वसाधारण प्रमाणग्रन्थ है, परन्तु प्रत्येक सम्प्रदाय ने पुराणों और तंत्रों में से अपने लिए एक एक को अलग अलग ग्रहण कर लिया है।

उपर्युक्त कथनानुसार तंत्र ही वैदिक कर्मकाण्ड के किंचित् परिवर्तित आधुनिक रूप हैं और किसी पाठक के उनके सम्बन्ध में किसी अत्यन्त असंगत सिद्धान्त में पहुँचने के पूर्व मेरा अनुरोध है कि वह तंत्रों को 'ब्राह्मण'—विशेषकर अध्वर्युभाग—के साथ पढ़ ले। तंत्रों में उपयोग किये हुए अधिकांश मंत्र तो 'ब्राह्मण' से ही शब्दशः उद्धृत हुए दिखायी देंगे। और उनके प्रभाव के सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त है कि श्रौत और स्मार्त कर्मों को छोड़कर हिमालय से कन्याकुमारी तक प्रचलित शेष सब कर्मकाण्ड तंत्रों से ही लिये गये हैं और उन्हींके अनुसार शाक्त, शैव, वैष्णव तथा अन्यान्य सम्प्रदायों में उपासना की जाती है।

---

१. पूजनीय साधु।

२. भगवान् व्यासदेवप्रणीत वेदान्त दर्शन।

३. उपनिषद्, गीता और शारीरक सूत्र। संन्यासियों के लिए इस प्रस्थानत्रय का अध्ययन अनिवार्य है।

हाँ, मैं ऐसा तो दावा नहीं कर सकता कि सभी हिन्दू अपने धर्म के इस मूल के सम्बन्ध में पूर्णतः परिचित हैं। बहुतेरे लोगों ने तो, विशेषकर दक्षिण बंगाल में इन सम्प्रदायों और इन महान् प्रणालियों के नाम तक नहीं सुने हैं, परन्तु जान-कर या अनजान में वे सब इसी प्रस्थानत्रय में निर्धारित योजना के अनुसार काम करते हैं।

दूसरी ओर देखो, तो जहाँ कहीं हिन्दी भाषा बोली जाती है, वहाँ अति नीच वर्गों में भी दक्षिण बंगाल के बहुतेरे उच्चतम वर्गों की अपेक्षा वेदान्त धर्म की अधिक जानकारी है।

ऐसा क्यों है?

बंगदेशीय न्याय, जो मिथिलाभूमि से नवद्वीप में स्थानान्तरित हुआ और शिरोमणि, गदाधर, जगदीश आदि मनीषियों की प्रतिभा द्वारा पोषित एवं संवर्धित हुआ, जिसमें किसी किसी विषय में तो सारे संसार की अन्य सभी प्रणा-लियों से श्रेष्ठ, अपूर्व तथा उपयुक्त भाषा-शिल्प में वर्णित तर्कप्रणाली के विश्लेषण का समावेश है, वह सारे भारत में आदर की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है; परन्तु खेद है कि बंगवासियों ने वेद के अध्ययन की अत्यन्त उपेक्षा की, यहाँ तक कि पिछले कुछ वर्षों के पहले बंगाल में पतंजलि के महाभाष्य[1] का शिक्षक प्रायः मिलता ही नहीं था। केवल एक ही बार वे एक महान् प्रतिभाशाली भगवान् श्री कृष्ण चैतन्य उस अनन्त 'अवच्छिन्न अवच्छेदक'[2] के जाल से ऊपर उठ सके। उसी समय एक बार बंगाल की आध्यात्मिक तन्द्रा भंग हुई और कुछ समय तक वह भी भारत के अन्य प्रदेशों के धर्म-जीवन में सहभागी हुआ।

आश्चर्य की बात है कि यद्यपि श्री चैतन्य ने संन्यास दीक्षा एक भारती से ग्रहण की और इस कारण वे स्वयं भारती[3] थे, पर माधवेन्द्र पुरी के शिष्य ईश्वर पुरी द्वारा ही उनकी आध्यात्मिक प्रतिभा की प्रथम जागृति हुई।

---

१. पाणिनि के व्याकरण का भाष्य। वेदों के अध्ययन के लिए पाणिनि की विशेष आवश्यकता होती है।

२. न्याय परिभाषा के दो शब्द। अवच्छिन्न का अर्थ है 'विशिष्ट', जिसके द्वारा सीमाबद्ध होता है; अवच्छेदक शब्द का अर्थ है—वह, जो 'विशिष्ट' करता है।

३. श्री शंकराचार्य के शिष्यों ने दस संन्यासी सम्प्रदाय स्थापित किये थे। उन्हें दशनामी कहते हैं, वे हैं—गिरि, पुरी, भारती, वन, अरण्य, पर्वत, सागर, तीर्थ, सरस्वती और आश्रम।

ऐसा प्रतीत होता है कि बंगदेश में धार्मिक जागृति करना मानो पुरी सम्प्रदाय का ही एक विधाता-निर्दिष्ट उद्देश्य था। भगवान् श्री रामकृष्ण को संन्यास-आश्रम तोता पुरी से प्राप्त हुआ।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने व्याससूत्र पर जो भाष्य लिखा, वह या तो लुप्त हो गया या अभी तक नहीं मिल सका। उनके शिष्यगण दक्षिण के माध्व सम्प्रदाय के साथ सम्मिलित हो गये और क्रमशः रूप, सनातन और जीव गोस्वामी जैसे विख्यात महापुरुषों द्वारा अंगीकृत कार्यभार बाबा जी लोगों के कंधे आ पड़ा और श्री चैतन्य महाप्रभु का महान् आंदोलन तीव्र गति से ध्वंस की ओर जाने लगा। केवल थोड़े ही वर्षों से उसके पुनरुज्जीवन का चिह्न दिखायी दे रहा है। आशा है कि वह अपना नष्ट वैभव पुनः प्राप्त करेगा।

श्री चैतन्य का प्रभाव सारे भारत में दिखायी देता है। जहाँ कहीं भक्तिमार्ग की जानकारी है, वहाँ उनकी पूजा-मान्यता तथा उनके सम्बन्ध में सादर चर्चा प्रचलित है। मैं कई कारणों से यही मानता हूँ कि वल्लभाचार्य का सम्पूर्ण सम्प्रदाय[1] श्री चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय की एक शाखा मात्र है। पर बंगाल में उनके शिष्य कहलानेवाले लोग यह नहीं जानते कि उनकी शक्ति सारे भारत में आज भी किस तरह काम कर रही है। और वे समझें भी कैसे? उनके शिष्य तो गद्दीवाले बन गये, पर वे स्वयं भारत में नंगे पैर द्वार द्वार पर जाकर चाण्डाल तक को उपदेश देते, भगवान् के प्रति प्रेमसम्पन्न होने की भीख माँगते फिरे।

जो विचित्र अशास्त्रीय पैतृक कुलगुरुओं की प्रथा बंगाल प्रान्त में—और अधिकतर केवल उसी प्रान्त में प्रचलित है, वही उस प्रान्त के भारत के अन्य भागों के आध्यात्मिक जीवन से अलग रहने का एक और कारण है। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि बंगदेशीय जीवन पर ऐसे महान् संन्यासी वर्ग का प्रभाव नहीं पड़ा, जो वर्ग आज भी अत्युच्च भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के प्रतिनिधि और भाण्डारस्वरूप है।

बंगाल के उच्च वर्ग में त्याग की रुचि कदापि नहीं है। उनकी प्रवृत्ति भोग की ओर है। वे आध्यात्मिक विषयों में गंभीर अन्तर्दृष्टि कैसे प्राप्त कर सकते हैं? त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः—'एकमात्र त्याग द्वारा ही अमृतत्व प्राप्त होता है।' इसका व्यतिक्रम कैसे हो सकता है?

१. यह एक विशिष्ट वैष्णव सम्प्रदाय है। वल्लभाचार्य जी विष्णु स्वामी के शिष्य थे। इस सम्प्रदाय का बम्बई प्रान्त में खूब प्रचार है।

दूसरी ओर देखो. तो हिन्दी भाषी संसार में बड़े प्रभावशाली प्रतिभावान त्यागी उपदेशकों की परम्परा ने द्वार द्वार तक वेदान्त के सिद्धान्तों को पहुँचा दिया है। विशेषकर पंजाबकेसरी रणजीतसिंह के शासन-काल में त्यागियों को जो प्रोत्साहन दिया गया था, उसके कारण नीचातिनीचों को भी वेदान्त दर्शन के उच्चतम उपदेशों को ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हो गया। सात्विक अभिमान के साथ पंजाबी कृषक पुत्री कहती है कि मेरा सूत कातने का चरखा भी **सोऽहम् सोऽहम्** पुकार रहा है और मैंने मेहतर त्यागियों को भी हृषीकेश के अरण्यों में संन्यासी का वेष धारण किये वेदान्त का अध्ययन करते देखा है। और वे ऐसे-वैसे नहीं हैं। अनेक अभिमानी उच्चवर्णीय पुरुष भी उनके चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त करने में प्रसन्न होंगे। और ऐसा क्यों न हो? **अन्त्यादपि परं धर्मम्**--नीचकुलोत्पन्न मनुष्य से भी परम धर्म--परमात्म-ज्ञान की शिक्षा ली जा सकती है।

इसी तरह उत्तर-पश्चिमी प्रान्त[1] और पंजाब में धार्मिक शिक्षा बंगाल, बम्बई या मद्रास की अपेक्षा अधिक है। भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के सदा काल-प्रवास करनेवाले त्यागी--दशनामी, बैरागी और पंथी[2] लोग--प्रत्येक के द्वार पर धर्म का उपदेश दिया करते हैं और उसके लिए खर्च क्या पड़ता है?--केवल एक टुकड़ा रोटी। और उनमें से अधिकांश कितने उदार और निःस्वार्थ होते हैं। एक कचू-पंथी या स्वतंत्र-पंथी संन्यासी[3] (जो अपने को किसी पंथ में शामिल नहीं करना चाहते), ऐसे हैं, जिनके द्वारा राजपूताना में सैकड़ों पाठशालाएँ और दातव्य आश्रम स्थापित हुए हैं। उन्होंने जंगलों में अस्पताल खोले हैं और हिमालय के दुर्गम गिरि-नदियों को पार करने के लिए लोहे के पुल बनवाये हैं। और वे ऐसे पुरुष हैं कि सिक्के को अपने हाथों से कभी छूते तक नहीं और एक कम्बल के सिवा कोई अन्य संसारी वस्तु अपने पास नहीं रखते। इसी कारण लोगों में उनका नाम 'कमलीवाले' बाबा या स्वामी पड़ गया है। वे अपना भोजन द्वार द्वार पर जाकर माँग लिया करते हैं। मैंने उनको एक ही घर से अपना पूरा भोजन लेते नहीं देखा है। वे इसी विचार या डर से ऐसा करते हैं कि कहीं किसी एक ही गृहस्थ को उनकी भिक्षा भाररूप न हो जाय। और ऐसे

---

१. वर्तमान उत्तर प्रदेश।

२. वैष्णव साधकों को बैरागी कहते हैं। पन्थी--जैसे कबीर-पन्थी, नानक-पंथी आदि।

३. ये उस समय जीवित थे।

वे ही एक नहीं हैं। उनके समान और कितने ही हैं। भारत में जब तक ऐसे भूदेव जीवित रहेंगे और अपने ऐसे दैवी आचरणरूप दुर्भेद्य परकोटे में 'सनातन धर्म' की रक्षा करते रहेंगे, तब तक वह पुराना धर्म क्या कभी मर सकता है ?

इस अमेरिका देश में वर्ष में केवल छः मास प्रत्येक रविवार को केवल दो घंटे ही धर्मोपदेश देने के लिए पादरी लोग ३०,००० रु०, ४०,००० रु०, ५०,००० रु० और कभी कभी तो ९०,००० रु० तक वार्षिक वेतन पाते हैं। देखो, अमेरिकन लोग अपने धर्म की रक्षा के लिए किस तरह करोड़ों रुपये बहा देते हैं और बंगदेशीय नवयुवकों को यह शिक्षा दी गयी है कि ये देवतुल्य परम निःस्वार्थ कमलीवाले बाबा सरीखे संत आलसी और आवारा लोग हैं। **मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः**[1]—'जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, उन्हें मैं अपना सबसे श्रेष्ठ भक्त मानता हूँ।'

अच्छा, अब एक दूसरे सिरे का उदाहरण लो—मान लो, एक अत्यन्त अज्ञानी बैरागी है। वह भी किसी गाँव में पहुँचेगा, तो तुलसीकृत रामायण, चैतन्य-चरितामृत और यदि दाक्षिणात्य हुआ, तो दक्षिण के आलवार ग्रन्थों में से जो कुछ भी वह जानता होगा, उसे ग्रामवासियों को सिखाने का भरसक प्रयत्न करेगा। क्या ऐसा करने से कोई उपकार नहीं होता ? और यह सब केवल रोटी के टुकड़े और लँगोटी के कपड़े के बदले में हो जाता है। इन लोगों की निर्दयतापूर्ण आलोचना करने से पूर्व, मेरे भाइयो, यह तो सोचो कि तुमने अपने ग़रीब देशभाइयों के लिए क्या किया है, जिनके ख़र्च से तुमने अपनी शिक्षा पायी, जिनका शोषण करके तुम अपने पदगौरव को क़ायम रखते हो और 'बाबा जी लोग केवल आवारा फिरनेवाले लोग होते हैं', यह सिखाने के लिए अपने शिक्षकों को वेतन देते हो !

हमारे कुछ बंगदेशीय भाई लोग हिन्दू धर्म के इस पुनरुत्थान की, हिन्दू धर्म का 'नया विकास' कहकर उसकी आलोचना करते हैं। वे इसे 'नया' भले ही कहें, क्योंकि हिन्दू धर्म केवल अभी ही बंगाल में प्रवेश कर रहा है। वहाँ अब तक तो धर्म की समग्र कल्पना केवल खान-पान और विवाह सम्बन्धी देशाचार (स्थानीय रीति-रिवाज़) के समुदाय तक ही परिमित थी।

श्री रामकृष्ण के शिष्यगण हिन्दू धर्म का जिस रूप में सारे भारत में प्रचार कर रहे हैं, वह सत् शास्त्रों के अनुकूल है या नहीं, ऐसे बड़े विषय का विचार करने

१. आदि पुराण में से एक श्लोक का अंश।

के लिए इस छोटे से पत्रक में पर्याप्त स्थान नहीं है। पर मैं यहाँ अपने समालोचकों के सामने कुछ संकेत अवश्य रखूंगा, जिनसे हमारी स्थिति को समझने में उन्हें कुछ सहायता मिल सके।

प्रथम तो मैंने ऐसी दलील कभी नहीं पेश की कि 'काशीदास' या 'कृत्तिवास'[1] के ग्रन्थों से हिन्दू धर्म का यथार्थ रूप जाना जा सकता है, यद्यपि उनकी वाणी 'अमृत समान' है और उनको श्रवण करनेवाले 'पुण्यवान' हैं। किंतु हिन्दू धर्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें वेद और दर्शन शास्त्र पढ़ना चाहिए और भारत भर के महान् आचार्यों और उनके शिष्यों से उपदेश ग्रहण करना चाहिए।

भाइयो! यदि तुम 'गौतमसूत्र' से प्रारम्भ करो और 'आप्त'[2] के सम्बन्ध के उसके सिद्धान्तों को वात्स्यायन भाष्य की दृष्टि से पढ़ो और शबर आदि अन्य भाष्यकारों की सहायता से मीमांसकों के मत तक पहुँच जायँ, तो तुमको पता चलेगा कि वे अलौकिकप्रत्यक्षम्[3] तथा 'आप्त' के विषय में क्या कहते हैं, क्या हर एक व्यक्ति आप्त हो सकता है अथवा नहीं, और ऐसे आप्तों के वाक्य होने के कारण ही वेदों का प्रामाण्य है। यदि तुमको यजुर्वेद की महीधरकृत प्रस्तावना पढ़ने का समय हो, तो उसमें तुमको इस बात का और अधिक स्पष्टीकरण मिलेगा कि वेद मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के नियम हैं। और इसी कारण उनका सिद्धान्त है कि वेद अनादि तथा अनन्त है।

सृष्टि के अनादित्व का सिद्धान्त, केवल हिन्दू धर्म का ही नहीं, वरन् बौद्ध तथा जैन धर्म का भी प्रधान आधारस्तम्भ है।

अब भारत के सभी सम्प्रदाय स्थूल रूप से—ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी—इन दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। यदि तुम श्री शंकराचार्यकृत 'शारीरक भाष्य' की भूमिका को देखो, तो उसमें तुमको ज्ञान की निरपेक्षता के सम्बन्ध में पूर्ण विवेचन मिलेगा और सिद्धान्त यह निकाला गया है कि ब्रह्म की अनुभूति और मोक्ष की प्राप्ति किसी अनुष्ठान, मत, वर्ण, जाति या सम्प्रदाय पर अवलंबित

---

१. प्रसिद्ध बंगाली कवि।

२. जिन्होंने पाया है—अर्थात् ऐसे पुरुष, जिन्होंने आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार किया है, जो मनुष्य स्वभावसुलभ दुर्बलता से मुक्त हुए हैं।

३. अतीन्द्रियानुभूति।

नहीं है। कोई भी साधन-चतुष्टय-सम्पन्न[1] साधक उसका अधिकारी बन सकता है। साधन-चतुष्टय सम्पूर्ण चित्तशुद्धि करनेवाले कुछ नैतिक व्यायाम हैं।

भक्तिमार्ग के विषय में तो बंगदेशीय समालोचक भी अच्छी तरह से जानते हैं कि भक्ति के कई आचार्यों ने यह घोषणा की है कि जाति, वंश, लिंग आदि—यहाँ तक कि मनुष्य योनि—की भी आवश्यकता मोक्ष के लिए नहीं है। केवल एक आवश्यक वस्तु है भक्ति।

ज्ञान और भक्ति, दोनों को निरपेक्ष बतलाकर ही सर्वत्र उपदेश दिया गया है। इसी कारण एक भी ऐसे आचार्य नहीं हैं, जिन्होंने विशेष पंथ, विशेष जाति या विशेष वंश की आवश्यकता मोक्ष के लिए बतायी हो। इस सम्बन्ध में अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः[2] इस व्याससूत्र का शंकर, रामानुज और मध्वकृत भाष्य पढ़ो।

समग्र उपनिषदों का अध्ययन करो और संहिताओं में भी देखो। कहीं भी मोक्ष के सम्बन्ध में अन्य धर्मों के समान मर्यादित या संकीर्ण विचार नहीं मिलेंगे। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता के विषय में सर्वत्र ही उल्लेख है, यहाँ तक कि अध्वर्यु वेद की संहिता के चालीसवें अध्याय के तृतीय या चतुर्थ श्लोक में (यदि मुझे ठीक स्मरण है तो) कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।[3]

यही भाव हिन्दू धर्म में सर्वत्र विद्यमान है।

---

१. नित्यानित्यवस्तुविवेक—ब्रह्म नित्य तथा जगत् अनित्य—इस तत्त्व का विचार (२) इहामुत्रफलभोगविराग—सांसारिक सुख तथा पारलौकिक स्वर्गादि भोग के सम्बन्ध में वितृष्णा (३) शमादि षट् सम्पत्ति—(क) शम—चित्तसंयम, (ख) दम—इन्द्रियसंयम, (ग) उपरति—संन्यास तथा चित्तवृत्ति का उपरम, (घ) तितिक्षा—प्रतिकार तथा चिन्ता-विलापशून्य होकर समस्त दुःखों को सहना, (ङ) श्रद्धा—गुरु-वेदान्त वाक्य में विश्वास, (च) समाधान—ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता, (४) मुमुक्षुत्व—मोक्षलाभ की प्रबल इच्छा।
—द्र० वेदान्तसूत्र का शारीरक भाष्य ॥१।१।१॥

२. वेदान्तसूत्र ॥३।४।३६॥ इसका अर्थ इसी शास्त्र में पाया जाता है कि अनेक व्यक्ति किसी आश्रमविशेष का अवलम्बन न करके भी ज्ञान के अधिकारी हुए हैं।

३. यह गीता में भी है, ३।२६; इसका अर्थ है—जो कर्म को ही श्रेष्ठ मानकर कर्म में आसक्त हैं, उन अज्ञ व्यक्तियों को ज्ञान का उपदेश देकर, ज्ञानी पुरुष को उनकी मति विचलित नहीं करनी चाहिए।

क्या भारत में कोई भी मनुष्य---जब तक वह समाजिक नियमों का पालन करता रहा---किसी भी विशिष्ट इष्टदेवता को मानने के कारण या नास्तिक या अज्ञेयवादी होने के कारण पीड़ित किया गया? समाज किसीको सामाजिक नियम भंग करने के अपराध में शासित करे, पर प्रत्येक मनुष्य के लिए, अति नीच पतित के लिए भी हिन्दू धर्म में मोक्षमार्ग कभी बंद नहीं किया गया। इन दोनों विषयों को एक में मत मिलाओ। उदाहरणार्थ---मलाबार में जिस सड़क से उच्च वर्ण का मनुष्य चलता है, उससे चाण्डाल को चलने की मनाही है, पर यदि वह मुसलमान या ईसाई हो जाय, तो वह कहीं भी चल सकता है---ऐसा नियम हिन्दू राजा के राज्य में सदियों से रहा है। यह अटपटा भले ही दिखे, पर अत्यन्त प्रतिकूल अवस्था में भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव तो इसमें स्पष्ट है।

एक भाव हिन्दू धर्म में संसार के अन्य धर्मों की अपेक्षा विशेष है। उसके प्रकट करने में ऋषियों ने संस्कृत भाषा के प्रायः समग्र शब्दसमूह को निःशेष कर डाला है। वह भाव यह है कि मनुष्य को इसी जीवन में ईश्वर की प्राप्ति करनी होगी और अद्वैतग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणयुक्त तर्क के साथ उसमें यह जोड़ देते हैं कि 'ईश्वर को जानना ही ईश्वर हो जाना है'---**ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति**।[1]

इसके आवश्यक फलस्वरूप यह उदार और अत्यन्त प्रभावशाली मत प्रकट होता है---जो कि न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा घोषित हुआ है, जिसे न केवल विदुर, धर्मव्याध[2] आदि ने ही कहा है, वरन् अभी कुछ समय पूर्व दादू-पंथी सम्प्रदाय के त्यागी संत निश्चलदास ने अपने 'विचारसागर' में स्पष्टतापूर्वक कहा है---

'जिसने ब्रह्म को जान लिया, वह ब्रह्म बन गया, उसकी वाणी वेद है, और उससे अज्ञान का अन्धकार दूर हट जायगा, चाहे वह वाणी संस्कृत में हो या किसी लोक-भाषा में हो।'[3]

इस प्रकार द्वैतवादियों के मत के अनुसार ब्रह्म की उपलब्धि करना, ईश्वर का साक्षात्कार करना या अद्वैतवादियों के कहने के अनुसार ब्रह्म हो जाना---यही वेदों के समस्त उपदेशों का एकमात्र लक्ष्य है, और उसके अन्य उपदेश हमारी, उस लक्ष्य की ओर प्रगति के लिए सोपानस्वरूप हैं। भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य की महिमा यही है कि उनकी प्रतिभा ने व्यास के भावों की ऐसी अपूर्व व्याख्या प्रकट की।

---

१. 'जानत तुमहिं तुमहि ह्वै जाई-'-तुलसी रामायण, अयोध्याकाण्ड।

२. द्र० महाभारत, वनपर्व।

३. जो ब्रह्मविद् वही ब्रह्म ताको वाणी वेद।
संस्कृत और भाषा में करत भरम का छेद॥

निरपेक्ष रूप से केवल ब्रह्म ही सत्य है। सापेक्ष सत्य की दृष्टि से भारत और अन्य देशों के सभी विभिन्न मत उसी ब्रह्म के भिन्न भिन्न रूपों के आधार पर बने हुए होने के कारण सत्य हैं। केवल कुछ मत दूसरे अन्य मतों से श्रेष्ठ हैं। मान लो, एक मनुष्य सीधा सूर्य की ओर चलता जा रहा है। अपनी यात्रा में प्रत्येक पद पर वह सूर्य के नवीन नवीन दृश्य--आकार, रूप और प्रकाश--हर क्षण नया नया देखता जायगा, जब तक कि वह प्रत्यक्ष सूर्य तक न पहुँच जाय। पहले सूर्य जैसा उसे एक बड़े गेंद सा दिखायी देता था, वैसा तो वह कभी नहीं था; न वह सूर्य कभी वैसा ही था, जैसा कि उसे वह अपनी यात्रा में भिन्न भिन्न रूपों में दिखा। फिर भी क्या यह सत्य नहीं है कि हमारे उस यात्री ने सदा सूर्य को ही देखा और उस सूर्य के सिवा किसी अन्य वस्तु को नहीं देखा! उसी तरह ये सभी भिन्न भिन्न मत सत्य हैं--कुछ सन्निकट हैं, तो कुछ यथार्थ सूर्य से अधिक दूर हैं--और वह सूर्य है हमारा **एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म** (एक अद्वितीय ब्रह्म)।

और जब वेद ही उस सत्य निर्विशेष ब्रह्म की शिक्षा देनेवाले एकमात्र शास्त्र हैं और ईश्वर सम्बन्धी अन्य सब मत केवल उसीके छोटे मर्यादित दर्शन मात्र हैं; जब कि **सर्वलोकहितैषिणी** श्रुति भगवती धीरे से भक्त का हाथ पकड़ लेती है और एक श्रेणी से दूसरी में, और क्रमशः अन्य सभी श्रेणियों में से, जहाँ जहाँ से पार होना आवश्यक है, वहाँ से ले जाकर, उस निर्विशेष ब्रह्म तक पहुँचा देती है; और जब अन्य सभी धर्म उन्हींमें से रुद्धगति तथा स्थितिशील रूप में किसी एक या दूसरी श्रेणी मात्र का ही निर्देश करते हैं, तब तो संसार के सभी धर्म उस नामरहित, सीमा-रहित, नित्य वैदिक धर्म के अन्तर्गत हैं।

सैकड़ों जीवन तक लगातार प्रयत्न करो, युगों अपने मन के अन्तस्तल में खोजो--तो भी तुमको एक भी ऐसा उदार धार्मिक विचार दिखायी नहीं देगा, जो कि आध्यात्मिकता की उस अनन्त खान में पूर्व से ही अन्तर्निहित न हो।

अब हिन्दुओं की मूर्तिपूजा कही जानेवाली तथाकथित प्रथा को ले लो--प्रथम तो तुम जाकर उस पूजा के विभिन्न प्रकारों को सीखो और यह निश्चय करो कि वे उपासक यथार्थ में पूजा कहाँ कर रहे हैं--मन्दिर में, प्रतिमा में या अपने देह-मन्दिर में। पहले यह तो निश्चय रूप से जान लो कि वे क्या कर रहे हैं (निन्दा करनेवालों में से ९० प्रतिशत से अधिक लोग इस बात को नहीं जानते) और तब वेदान्त दर्शन की दृष्टि से वह बात अपने आप ही समझ में आ जायगी।

फिर भी यह कर्म अनिवार्य नहीं है। वरन् 'मनु' को खोलकर देखो, जहाँ उसमें प्रत्येक वृद्ध मनुष्य के लिए चतुर्थ आश्रम ग्रहण करने की आज्ञा है, चाहे वह

वैसा करे या न करे, उसे सभी कर्मों का त्याग तो करना ही चाहिए। सर्वत्र यही पुनः पुनः कहा गया है कि ये सभी कर्म ज्ञान में जाकर समाप्त होते हैं—ज्ञाने परिसमाप्यते।[1]

यथार्थ में तो अन्य देशों के अनेक भद्र लोगों की अपेक्षा किसी भी हिन्दू किसान को धार्मिक शिक्षा अधिक प्राप्त है। अपने भाषणों में दर्शन और धर्मशास्त्र के यूरोपीय शब्दों के उपयोग करने के विषय में मुझे एक मित्र ने दोषी ठहराया। मैं संस्कृत शब्दों का सहर्ष उपयोग करता, मेरे लिए वैसा करना बहुत आसान होता, क्योंकि धर्म-भाव को प्रकट करने के लिए एकमात्र पूर्ण साधन संस्कृत भाषा ही है; पर वह मित्र यह भूल गया था कि मैं पाश्चात्य श्रोताओं के सामने भाषण दे रहा था। और यद्यपि एक भारतीय ईसाई पादरी ने यह कहा था कि हिन्दू लोग अपने धर्मग्रन्थों का अर्थ भूल गये हैं और पादरी लोगों ने ही उसका अर्थ खोज निकाला, पादरियों के उस बृहत् समुदाय में मुझे एक भी ऐसा नहीं मिला, जो संस्कृत का एक वाक्य भी समझ सकता—पर फिर भी उनमें से कई ऐसे थे, जिन्होंने वेदों तथा हिन्दू धर्म के अन्य पवित्र ग्रन्थों की निन्दात्मक समालोचना के विद्वत्तापूर्ण लेख पढ़कर सुनाये!

यह बात सच नहीं है कि मैं किसी धर्म का विरोधी हूँ। और मैं भारत के ईसाई पादरियों से शत्रुता रखता हूँ, यह भी उतना ही असत्य है। परन्तु अमेरिका में वे जिस तरीक़े से चंदा से धन एकत्र करते हैं, उसका मैं अवश्य ही प्रतिवाद करता हूँ। बच्चों की पाठ्य पुस्तकों में ऐसे चित्रों के छापने का क्या मतलब है, जिनमें हिन्दू माता अपने बच्चे को गंगा नदी में मगर के मुँह में झोंक रही है? चित्र में माता तो काले रंग की है, परन्तु बच्चे का रंग गौर रखा गया है, जिससे कि बच्चे के प्रति सहानुभूति अधिक बढ़े और धन अधिक प्राप्त हो। उन चित्रों का भी क्या अर्थ है, जिनमें एक मनुष्य अपनी पत्नी को अपने हाथों से एक स्तम्भ से बाँधकर इसलिए जीवित जला रहा है कि वह मरकर भूत हो जाय और उसके (अपने पति के) शत्रुओं को सताये! मनुष्यों के समूह को कुचलते हुए बड़े बड़े रथों के चित्र छापने का क्या मतलब है? उस दिन इस देश में (अमेरिका में) बच्चों के लिए एक पुस्तक प्रकाशित हुई। उसमें एक सज्जन अपनी कलकत्ता-यात्रा का वर्णन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि कलकत्ता की सड़कों पर कई धर्मोन्मत्त मनुष्यों पर से उनको कुचलते हुए एक बड़ा रथ चलाया जा रहा था, ऐसा मैंने देखा। मेम्फ़िस शहर में मैंने एक पादरी को यह प्रचार करते सुना कि भारत के प्रत्येक

---

१. गीता ॥४।३३॥

ग्राम में एक ऐसा तालाब रहता है, जो छोटे छोटे बच्चों की हड्डियों से भरा रहता है।

हिन्दुओं ने ईसा मसीह के उन शिष्यों को, जो प्रत्येक ईसाई बालक को यह सिखाते हैं कि हिन्दू दुष्ट हैं, अभागे हैं और पृथ्वी में अत्यन्त भयानक शैतान हैं, क्या किया है? यहाँ के बालकों की रविवार की पाठशालाओं की शिक्षा का एक अंश यही रहता है कि जो ईसाई नहीं हैं, उन लोगों से और विशेषकर हिन्दुओं से घृणा करो, ताकि बचपन से ही वे पादरी मिशन को अपने पैसे चंदे के रूप में देने लगें। यदि सत्य के लिए नहीं, तो कम से कम अपने ही बच्चों के सदाचार की रक्षा के निमित्त ईसाई पादरियों को चाहिए कि वे ऐसी बातें न होने दें। ऐसे बच्चे आगे बड़े होकर निर्दयी पुरुष और स्त्री बनते हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो प्रचारक अनन्त नरकों की यातनाओं, वहाँ की प्रज्वलित अग्निज्वाला, प्रज्वलित गंधक आदि का जितना ही अधिक भयंकर वर्णन कर सके, उसे उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा कट्टरपन्थियों में मिलती है। हमारे एक मित्र की नौकरानी लड़की को पुनरुत्थान सम्प्रदाय[1] (revivalist) के उपदेश सुनने के परिणामस्वरूप पागलखाने में रखना पड़ा। उसके लिए 'नरकाग्नि और प्रज्वलित गंधक' की मात्रा अत्यधिक हो गयी! पुनश्च, हिन्दू धर्म के विरुद्ध मद्रास में प्रकाशित पुस्तकों की ओर तो देखो। यदि इस प्रकार का एक वाक्य भी कोई हिन्दू ईसाई धर्म के विरुद्ध लिख दे, तो पादरी लोग बदला लेने के लिए आकाश-पाताल एक कर डालेंगे।

मेरे देशबंधुओ! मैं इस देश में एक वर्ष से अधिक रह चुका हूँ। मैंने इनके समाज का प्रायः कोना कोना छान डाला है; और दोनों का मिलान करके मैं तुम लोगों को बता रहा हूँ कि जैसा पादरी लोग संसार को बताया करते हैं, उस प्रकार न तो हम लोग 'शैतान' हैं और न वे लोग 'देवदूत' ही, जैसा कि उनका दावा है। पादरी लोग नैतिक पतन, शिशु-हत्या और हिन्दू विवाह-पद्धति के दोषों के सम्बन्ध में जितना ही कम बोलें, उतना ही उनके लिए बेहतर होगा। कई देशों के ऐसे यथार्थ चित्र हो सकते हैं, जिनके सामने पादरियों द्वारा खींचे हुए हिन्दू समाज के सभी काल्पनिक चित्र फीके पड़ जायँगे। परन्तु मेरे जीवन का उद्देश्य वैतनिक निन्दक बनने का नहीं है। हिन्दू समाज सम्पूर्ण निर्दोष है, ऐसा दावा और कोई करे तो करे, मैं तो कदापि न करूँगा। मेरे समाज की त्रुटियों की, या शताब्दियों के दुर्भाग्य के कारण जिन दोषों ने उसमें जड़ जमा ली है, उनकी जानकारी मुझे औरों

१. एक सम्प्रदाय, जो कुछ अनुदार मतों को ईसाई धर्म का प्राचीन भाव कहकर पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

की अपेक्षा अधिक है। विदेशी मित्रों! यदि तुम सच्ची सहानुभूति के साथ सहायता देने के लिए--न कि विनाश करने के लिए--आते हो, तो ईश्वर तुमको सफल बनाये। परन्तु यदि इस दलित और पतित राष्ट्र के मस्तक पर समय-कुसमय सतत गालियों की बौछार करके अपने निजी राष्ट्र की नैतिक श्रेष्ठता की विजयपूर्ण घोषणा करना ही तुम्हारा उद्देश्य है, तो मैं तुमको साफ़ साफ़ बतला देना चाहता हूँ कि यदि कुछ भी न्याय के साथ तुलना की जायगी, तो नैतिक आचार में हिन्दू लोग संसार की अन्य जातियों की अपेक्षा अत्यधिक उन्नत पाये जायँगे।

भारत में धर्म पर प्रतिबंध नहीं रखा गया था। किसी भी मनुष्य को अपने इष्टदेव या सम्प्रदाय या अपने गुरु के चुनने में कोई रोक-टोक नहीं की जाती थी। इसी कारण यहाँ धर्म की जैसी वृद्धि हुई, वैसी कहीं नहीं हुई। दूसरी ओर ऐसा हुआ कि धर्म के इन असंख्य विभेदों को रखने के लिए एक स्थिर बिन्दु की आवश्यकता हुई, और भारत में समाज ही ऐसा बिन्दु माना गया। परिणामस्वरूप समाज कड़ा और कठोर तथा प्रायः अचल बन गया। कारण यह है कि स्वाधीनता ही उन्नति का एकमात्र उपाय है।

इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में विभिन्न भावों के विकास का क्षेत्र समाज था और स्थिर बिन्दु था धर्म। मतैक्य ही यूरोपीय धर्म का मूलमंत्र बन गया और अभी भी है। और प्रत्येक नये परिवर्तन को अपने लिए थोड़ा भी स्थान प्राप्त करने के लिए रक्त की नदी में से तैरकर जाना पड़ता है। परिणामस्वरूप वहाँ सामाजिक संगठन तो अपूर्व है, परन्तु धर्म अत्यन्त स्थूल जड़वाद से आगे नहीं बढ़ सका।

आज पश्चिम तो अपनी आवश्यकताओं के विषय में जाग्रत हो रहा है और पाश्चात्य ईश्वरतत्त्वान्वेषियों का मूलमंत्र 'मनुष्य का सच्चा स्वरूप' और 'आत्मा' हो गया है। संस्कृत दर्शन का विद्यार्थी जानता है कि वायु किधर से बह रही है; शक्ति कहीं से भी आये, जब तक वह नवीन जीवन का संचार करती रहे, उस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

उसी समय भारत में नयी परिस्थितियों के कारण सामाजिक संगठन के पुनः संशोधन की आवश्यकता विशेष रूप से प्रतीत होने लगी। पिछले पौन सौ वर्षों से भारत में सुधार-सभाओं और सुधारकों की बहुत चहल-पहल रही है। पर शोक की बात है कि उनमें से प्रत्येक यत्न असफल रहा। उन लोगों को समाज-सुधार का यथार्थ रहस्य विदित नहीं था। उन्होंने यथार्थ में सीखने लायक़ बड़ी बात को नहीं सीखा। उतावली में उन लोगों ने हमारे समाज के सारे दोषों का उत्तरदायित्व धर्म के मत्थे मढ़ दिया और कथा में वर्णित अपने मित्र के कपाल पर बैठे हुए

मच्छर को मारने की इच्छा करनेवाले मनुष्य की तरह अपने मित्र और मच्छर, दोनों को शायद उन्होंने एक साथ ही मार डाला होता। परन्तु सौभाग्य से इस प्रसंग में तो स्वयं वे ही अचल चट्टानों पर जाकर टकराये और उस टकराने की चोट से अपना ही अस्तित्व खो बैठे। उन उदार निःस्वार्थ आत्माओं को धन्य है, जो अपने विपथगामी प्रयत्नों में श्रम उठाते हुए असफल रहे। उनके सुधार के प्रति उत्साह-रूपी वैद्युतिक आघातों की उस निद्रामग्न समाजरूपी कुंभकर्ण को अत्यन्त आवश्यकता थी। पर वे पूर्णतः विनाशात्मक थे, रचनात्मक नहीं; और इसी कारण मरणशील थे, अतः मर भी गये।

आओ, हम उन्हें आशीर्वाद दें और उनके अनुभव से लाभ उठायें। उन्होंने यह पाठ नहीं पढ़ा कि विकास का भीतर से आरम्भ होकर बाहर उसकी परिणति होती है और सभी क्रमविकास[1] पूर्ववर्ती किसी क्रमसंकोच का पुनर्विकास मात्र है। वे यह नहीं जान पाये कि बीज अपने चारों ओर के तत्वों से उपादान ग्रहण करता है, पर वृक्ष तो अपनी ही प्रकृति में उगेगा। जब तक सम्पूर्ण हिन्दू जाति निर्मूल न हो जाय और उसकी भूमि को नयी जाति अधिकृत न कर ले, तब तक समाज के ऐसे विप्लवकारी संस्कार सम्भव नहीं हैं। चाहे पूर्व प्रयत्न करे, चाहे पश्चिम, भारत कभी यूरोप नहीं बन सकता, जब तक कि वह मर-मिट न जाय।

और क्या वह कभी मर भी जायगा? वह भारत, जो प्राचीन काल से सभी उदात्तता, नैतिकता और आध्यात्मिकता का जन्मस्थान रहा है, वह देश, जिसमें ऋषिगण विचरण करते रहे हैं, जिस भूमि में देवतुल्य मनुष्य अभी भी जीवित और जाग्रत हैं, क्या मर जायगा? भाइयो! मैं उस एथेंसीय ऋषि[2] की लालटेन को उधार लेकर तुम्हारे पीछे पीछे इस विशाल संसार के शहरों, ग्रामों, मैदानों और जंगलों को चलूँगा—मुझे अगर तुम दिखा सकते हो, तो ऐसे पुरुष दूसरे देशों में भी दिखा दो। सत्य ही कहा है, 'वृक्ष की पहचान उसके फलों से होती है।' भारत में प्रत्येक आम्र वृक्ष के नीचे जाओ और ज़मीन पर गिरे हुए कच्चे कीड़े लगे हुए फलों के बोरे के बोरे भरकर ले आओ और उनमें से प्रत्येक फल पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण सैकड़ों पुस्तकें लिख डालो—परन्तु इतने पर भी तुम एक भी आम्र फल का यथार्थ वर्णन नहीं कर पाओगे। अच्छा, अब तुम एक रसीला मीठा

---

१. क्रमविकास—Evolution ; क्रमसंकोच—Involution

२. डायोजीनीज, सिनिक (Cynic) सम्प्रदाय के एक महात्मा, जिनका यह विश्वास था कि संसार में सच्चे साधु बहुत कम हैं। इसी भाव को प्रकट करने के लिए वे दिन में लालटेन जलाकर इधर-उधर घूमा करते थे।

पूरा पका आम उस पेड़ पर से तोड़ लो और अब तुम आम सचमुच क्या है, यह पूर्ण रूप से जान जाओगे।

उसी तरह ये देव-मानव हिन्दू धर्म के यथार्थ स्वरूप का परिचय दे रहे हैं। वे उस जातिरूप वृक्ष की प्रकृति, शक्ति और सम्भावनाओं को स्पष्ट रूप में प्रकाशित करते हैं। वह जाति वृक्ष ऐसा है कि उसने कई शताब्दियों की सभ्यता देखी है। उस वृक्ष ने सहस्रों वर्षों तक झंझावात के आघातों का सहन किया और फिर भी सनातन यौवन की अक्षुण्ण शक्तियों से भरा हुआ खड़ा है।

क्या भारत मर जायगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायगी, सारी भावुकता का भी लोप हो जायगा। और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासितारूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वंद्विता, ये ही उनकी पूजा-पद्धति होंगी और मानवात्मा उनकी बलिसामग्री हो जायगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती। क्रियाशक्ति की अपेक्षा सहनशक्ति कई गुना बड़ी होती है। प्रेम का बल घृणा के बल की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है। जो समझते हैं कि हिन्दू धर्म का वर्तमान पुनरुत्थान देशभक्ति की प्रवृत्ति का विकास मात्र है, वे भ्रान्त हैं।

आओ, सर्वप्रथम हम इस अद्‌भुत व्यापार को समझने का प्रयत्न करें।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जब कि वर्तमान वैज्ञानिक खोज के प्रबल आक्रमण के सामने पाश्चात्य स्वमतांध धर्मों के पुराने क़िले टूट टूटकर धूलि में मिल रहे हैं, जब कि आधुनिक विज्ञान के हथौड़ों की चोटें उन धार्मिक मतों को चीनी मिट्टी के बर्तनों की तरह चूर चूर कर रही हैं, जिनका आधार केवल विश्वास या चर्च-समिति की सभाओं का बहुमत है, जब कि पाश्चात्य धर्मसमूह अत्युग्र आधुनिक विचारों की बढ़ती हुई तरंग के साथ मेल मिलाने में अपनी बुद्धि का दिवाला निकाल चुका है, जब कि अन्य धर्मों के मूल ग्रन्थों के वाक्यों की, आधुनिक विचारों के नित्य बढ़नेवाले दबाव के कारण, जहाँ तक बन पड़ा, अत्यन्त खींचातानी की गयी—उनमें से अधिकांश तो इस खींचातानी में टूट गये और रद्दीख़ाने में डाल दिये गये, जब कि पश्चिम के अधिकांश विचारशील व्यक्ति चर्च के साथ अपना सम्बन्ध तोड़कर अशान्ति-सागर में इधर-उधर बह रहे हैं, उस समय भी वेदरूपी ज्ञान के झरने से जीवनामृत पीनेवाले, वेदों से उत्पन्न केवल हिन्दू और बौद्ध धर्म ही पुनरुज्जीवित हो रहे हैं?

पश्चिम के अशान्त हृदय नास्तिक और अज्ञेयवादी को गीता और धम्मपद[1] में ही ऐसा स्थान मिलता है, जहाँ उनका चित्त शान्ति पाता है।

अब पाँसे पलट गये। जो हिन्दू निराशा के आँसू बहाता हुआ अपने पुराने निवास-गृह को आततायियों द्वारा प्रज्वलित अग्नि से परिवेष्टित देख रहा था, आज जब कि आधुनिक विचार के शोधक प्रकाश ने धुएँ के अन्धकार को हटा दिया है, तब वही हिन्दू देख रहा है कि उसीका घर तो अपनी पूरी दृढ़ता के साथ खड़ा हुआ है और शेष सब लोग या तो मर मिटे या अपने अपने घर हिन्दू नमूने के अनुसार नये सिरे से बना रहे हैं। यह देखकर उस हिन्दू ने अपने आँसू पोंछ डाले और यह जान लिया कि **उर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थ**[2] को जड़ तक काटने की कोशिश करनेवाली वह कुल्हाड़ी चीर-फाड़ करनेवाले चिकित्सक सर्जन की हितकारक छुरी ही साबित हुई।

उसने यह देख लिया कि अपने धर्म की रक्षा के लिए न तो उसे शास्त्र-वाक्यों की तोड़-मरोड़ करनी है और न किसी अन्य प्रकार की बौद्धिक बेईमानी ही। इतना ही नहीं, वह तो अपने शास्त्रों में जो कुछ निम्न श्रेणी का है, उसे निम्न ही कहकर स्वीकार कर सकता है, क्योंकि शास्त्रकारों ने निम्न स्तर के अधिकारियों के लिए अरुन्धती-दर्शन न्याय[3] के अनुसार वैसा ही जान-बूझकर रखा है। धन्य हैं वे पुरातन ऋषि, जिन्होंने ऐसे सर्वव्यापी, सदा विस्तारशील धर्म-प्रणाली का आविष्कार किया है, जिसमें भौतिक क्षेत्र में आज तक जो आविष्कार हो चुके हैं और जो कुछ भी भविष्य में होनेवाले हैं, उन सबका सादर समावेश हो सकता है। अब तो हिन्दू अपने शास्त्रों का आदर पुनः नये भाव से करने लगा है और उसने यह नयी जानकारी प्राप्त की है कि जो वैज्ञानिक आविष्कार प्रत्येक मर्यादित छोटी छोटी धर्म-प्रणाली के लिए घातक सिद्ध हुए, वे सब उसके पूर्वजों के ध्यानलब्ध, तुरीय

---

१. बौद्धों का श्रेष्ठ नीतिशास्त्र।

२. गीता (१५।१) तथा कठोपनिषद् (२।३।१) से उद्धृत। इसका अर्थ है—'इस संसार-वृक्ष का मूल ऊर्ध्व (ब्रह्म) में, और शाखा-प्रशाखाएँ निम्न की ओर फैली हुई हैं।' यहाँ पर उसका अर्थ है हिन्दू धर्म।

३. अरुन्धती एक इतना छोटा तारा है, जो शीघ्र नहीं दिखायी देता। जब उसे किसी मनुष्य को दिखाना होता है, तो पहले उस मनुष्य की दृष्टि उस तारे के निकट के किसी दूसरे बड़े चमकीले तारे की ओर की जाती है, और इस प्रकार क्रमशः उस छोटे अरुन्धती तारे को दिखाया जाता है। इसी प्रकार धर्म का सूक्ष्म भाव समझने के लिए पहले स्थूल भाव की सहायता लेनी पड़ती है।

अवस्था में पाये हुए सत्यों के ही बुद्धि और इन्द्रियजन्य व्यावहारिक ज्ञानक्षेत्र में पुनराविष्कार मात्र हैं।

अतः उसे न तो किसी वस्तु का त्याग ही करना है और न किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकना ही है, वरन् उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में पाये हुए अनन्त कोष में से केवल थोड़ा सा निकालकर अपने उपयोग में लाये और उससे अपनी आवश्यकता की पूर्ति करे। और उसने ऐसा करना आरम्भ कर दिया है और भविष्य में वह और अधिकाधिक करेगा। क्या यही इस पुनरुत्थान का सच्चा कारण नहीं है?

बंगाल के नवयुवको! तुम लोगों से मेरा विशेष अनुरोध है। भाइयो! हमें यह जानकर लज्जा होती है कि जिन बहुतेरे वास्तविक दोषों के कारण विदेशी लोग हिन्दू जाति को बदनाम करते हैं, उन दोषों का कारण हमीं हैं। हमीं भारत की अन्य जातियों के सिर पर बरसनेवाली अनुचित गालियों के कारण हैं। पर ईश्वर को धन्यवाद है कि हम लोग इस बात को पूर्णतया जान गये हैं और उसी ईश्वर के आशीर्वाद से न केवल अपने को ही शुद्ध कर लेंगे, वरन् सारे भारत को सनातन धर्म द्वारा उपदिष्ट आदर्शों के प्राप्त करने में सहायता देंगे।

सर्वप्रथम तो हमें उस चिह्न—ईर्ष्यारूपी कलंक—को, जिसे गुलामों के ललाट में प्रकृति सदैव लगा दिया करती है, धो डालना चाहिए। किसीसे ईर्ष्या मत करो। भलाई के काम करनेवाले प्रत्येक को अपने हाथ का सहारा दो। तीनों लोकों के जीव मात्र के लिए शुभ कामना करो।

अपने धर्म के उसी एक केन्द्रवर्ती सत्य पर खड़े हो जाओ—जो हिन्दू, बौद्ध और जैनियों के लिए पैतृक सम्पत्ति है। वह सत्य है, मनुष्य की आत्मा—अज, अविनाशी, सर्वव्यापी, अनन्त, मानवात्मा, जिसकी महिमा वेद भी वर्णन नहीं कर सकते, जिसके वैभव के सामने सूर्य-चन्द्र, तारागण और नक्षत्र-समूहों के साथ सारा विश्व एक बिन्दुवत् है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष, यही नहीं, उच्चतम देवों से लेकर पदतलस्थ कीट पर्यन्त सभी वही आत्मा, विकसित या अविकसित है। अन्तर प्रकार में नहीं, केवल परिमाण में है।

आत्मा की इस अनन्त शक्ति का प्रयोग जड़ वस्तु पर होने से भौतिक उन्नति होती है, विचार पर होने से बुद्धि का विकास होता है और अपने ही पर होने से मनुष्य का ईश्वर बन जाता है।

पहले हमें ईश्वर बन लेने दो। तत्पश्चात् दूसरों को ईश्वर बनाने में सहायता देंगे। बनो और बनाओ, यही हमारा मूलमंत्र रहे।

ऐसा न कहो कि मनुष्य पापी है। उसे यह बताओ कि तू ब्रह्म है। यदि कोई शैतान हो, तो भी हमारा कर्तव्य यही है कि हम ब्रह्म का ही स्मरण करें, शैतान का नहीं।

यदि कोठरी में अन्धकार है, तो सदा अन्धकार का अनुभव करते रहने और अन्धकार अन्धकार चिल्लाते रहने से तो वह दूर नहीं होगा, बल्कि प्रकाश को भीतर ले आओ, तब वह दूर हो जायगा। यह तो हमें समझ लेना चाहिए कि जो कुछ भी अभावात्मक है, विनाशकारी है और केवल दोष देखनेवाला है, उसका अन्त अवश्यम्भावी है; और जो भावात्मक, सत्यात्मक और रचनात्मक है, वही अमर है और वही सदा रहेगा। हम यही कहें—'हम हैं', 'ईश्वर हैं और हम ईश्वर हैं।' **शिवोऽहम् शिवोऽहम्** कहते हुए आगे बढ़ते चलो। जड़ नहीं, वरन् चैतन्य हमारा लक्ष्य है। नाम और रूपवाले सभी नामरूपहीन सत्ता के अधीन हैं। इस सनातन सत्य की शिक्षा श्रुति दे रही है। प्रकाश को ले आओ, अन्धकार आप ही आप नष्ट हो जायगा। वेदान्त-केसरी गर्जना करे, सियार अपने अपने बिलों में छिप जायँगे। भावों को सब ओर बिखेर दो और फल अपने आप होता रहेगा। भिन्न भिन्न रासायनिक द्रव्यों को एक साथ डाल दो, उसकी सम्मिश्रण-क्रिया आप ही आप होती रहेगी। आत्मा की शक्ति का विकास करो, और सारे भारत के विस्तृत क्षेत्र में उसे ढाल दो और जिस स्थिति की आवश्यकता है, वह आप ही आप प्राप्त हो जायगी।

अपने आभ्यन्तरिक ब्रह्मभाव को प्रकट करो और उसके चारों ओर सब कुछ समन्वित होकर विन्यस्त हो जायगा। वेदों में बताये हुए इन्द्र और विरोचन[1] के उदाहरण को स्मरण रखो। दोनों को अपने ब्रह्मत्व का बोध कराया गया था, परन्तु असुर विरोचन अपनी देह को ही ब्रह्म मान बैठा। इन्द्र तो देवता थे, वे समझ गये कि वास्तव में आत्मा ही ब्रह्म है। तुम तो इन्द्र की सन्तान हो। तुम देवताओं के वंशज हो। जड़ पदार्थ तुम्हारा ईश्वर कदापि नहीं हो सकता; शरीर तुम्हारा ईश्वर कभी नही हो सकता।

भारत का पुनरुत्थान होगा, पर वह जड़ की शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा लेकर नहीं, वरन् शान्ति और प्रेम की ध्वजा से—संन्यासियों के वेश से—धन की शक्ति से नहीं, बल्कि भिक्षापात्र की शक्ति से सम्पादित होगा। ऐसा मत कहो कि हम दुर्बल हैं, कमज़ोर हैं। आत्मा सर्वशक्तिमान है। श्री रामकृष्ण के चरणों के दैवी स्पर्श से जिनका अभ्युदय हुआ है, उन मुट्ठी भर नवयुवकों की ओर देखो। उन्होंने उनके उपदेशों का प्रचार आसाम

---

१. द्र० छान्दोग्योपनिषद् का शेष भाग।

से सिंध तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक कर डाला। वे लोग हिमालय पर्वत को बीस हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर से पैदल ही बर्फ़ पर से लाँघकर तिब्बत के रहस्यमय प्रदेश में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने अपनी रोटी भिक्षा द्वारा प्राप्त की और अपने अंग चिथड़ों से ढाँके। उन पर कितने अत्याचार किये गये, पुलिस ने उनका पीछा किया, वे जेल में डाले गये, पर अन्त में जब सरकार को उनकी निर्दोषिता का निश्चय हो गया, तब वे मुक्त कर दिये गये।

उनकी संख्या अभी बीस है। कल उनकी संख्या दो हज़ार बना दो। बंगदेश के युवको! तुम्हारे देश को इसकी आवश्यकता है। सारे संसार को इसकी आवश्यकता है। अपने अन्तःस्थित ब्रह्म को जगाओ, जो तुम्हें क्षुधा-तृष्णा, शीत-उष्ण सहन करने में समर्थ बना देगा। विलासपूर्ण भवनों में बैठे बैठे जीवन की सभी सुख-सामग्री से घिरे हुए रहना और धर्म की थोड़ी सी चर्चा कर लेना अन्य देशों में भले ही शोभा दे, पर भारत को तो स्वभावतः सत्य की इससे कहीं अधिक पहचान है। वह तो प्रकृति से ही अधिक सत्य-प्रेमी है। वह कपटवेश को अपना अन्तःशक्ति से ही ताड़ जाता है। तुम लोग त्याग करो, महान् बनो। कोई भी बड़ा कार्य बिना त्याग के नहीं किया जा सकता। स्वयं 'पुरुष' ने भी सृष्टि की रचना करने के लिए स्वार्थ त्याग किया, अपने को बलिदान किया। अपने आरामों का, अपने सुखों का, अपने नाम, यश और पदों का—इतना ही नहीं, अपने जीवन तक का—त्याग करो और मनुष्यरूपी श्रृंखला से ऐसा पुल बनाओ, जिस पुल पर से करोड़ों लोग इस संसार-सागर को पार कर जायँ। समस्त मंगलकारी शक्तियों को एकत्र करो। किस ध्वजा के नीचे तुम अग्रसर हो रहे हो, इसकी परवाह मत करो। तुम्हारी ध्वजा का रंग हरा, नीला या लाल कुछ भी हो, उसकी चिंता मत करो, बल्कि सभी रंगों को एक में मिला दो और उससे उस अत्युज्ज्वल श्वेत रंग का निर्माण करो, जो कि प्रेम का रंग है? हमें तो कर्म ही करना है, फल अपने आप होता रहेगा। यदि कोई सामाजिक बन्धन तुम्हारे ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में बाधक है, तो आत्मशक्ति के सामने अपने आप ही वह टूट जायगा। भविष्य मुझे दीखता नहीं और मैं उसे देखने की चिंता भी नहीं करता। परन्तु मैं अपने सामने यह एक सजीव दृश्य तो अवश्य देख रहा हूँ कि हमारी यह प्राचीन माता पुनः एक बार जाग्रत होकर अपने सिंहासन पर नवयौवनपूर्ण और पूर्व की अपेक्षा अधिक महा महिमान्वित होकर विराजी है। शान्ति और आशीर्वाद के वचनों के साथ सारे संसार में उसके नाम की घोषणा कर दो।

सेवा और प्रेम में सदा तुम्हारा,
विवेकानन्द

वार्ता एवं संलाप

१[1]

[श्री रामकृष्ण के भक्तों को बुलाकर स्वामी जी के द्वारा कलकत्ते में रामकृष्ण मिशन समिति का संगठन—श्री रामकृष्ण के उदार भावों के प्रचार के विषय में सबकी सम्मति पूछना—श्री रामकृष्ण को स्वामी जी किस भाव से देखते थे—अपने ईश्वरावतारत्व के विषय में श्री रामकृष्ण की उक्ति—अवतारत्व में विश्वास करने की कठिनाई; कृपा का स्वरूप और कौन लोग उस कृपा को प्राप्त करते हैं—स्वामी जी और गिरीश बाबू का वार्तालाप]

[स्थान : बाग़बाज़ार, कलकत्ता। वर्ष : १८९७ ई०]

स्वामी जी कुछ दिनों से बाग़बाज़ार में स्व० बलराम बसु के भवन में अवस्थान कर रहे हैं। स्वामी जी ने श्री रामकृष्ण के सब गृहस्थ भक्तों को यहाँ एकत्र होने के लिए समाचार भेजा था। इसीसे दिन के तीन बजे श्री रामकृष्ण के भक्त जन एकत्र हुए हैं। स्वामी योगानन्द भी वहाँ उपस्थित हैं। स्वामी जी ने एक समिति संगठित करने के उद्देश्य से सबको निमन्त्रित किया है। सब महानुभावों के बैठ जाने पर स्वामी जी ने कहा, "अनेक देशों में भ्रमण करने पर मैंने यह सिद्धांत स्थिर किया है कि बिना संघ के कोई भी बड़ा कार्य सिद्ध नहीं होता। परन्तु हमारे देश में इसका निर्माण यदि शुरू से ही जनतांत्रिक ढंग से (मतदान द्वारा) किया जाय, तो मुझे ऐसा नहीं लगता है कि वह अधिक कार्य करेगा। पाश्चात्य देशों के लिए यह नियम अच्छा है, क्योंकि वहाँ सब नर-नारी अधिक शिक्षित हैं और हमारे समान द्वेषपरायण नहीं हैं। वे गुण का सम्मान करना जानते हैं। वहाँ मैं मात्र एक साधारण जन था, परन्तु उन्होंने मेरा कितना सत्कार किया। इस देश में शिक्षा-विस्तार के साथ जब साधारण लोग और भी सहृदय बनेंगे और मतों की संकीर्ण सीमा से हटकर उदारता से विचार करेंगे, तब जनतांत्रिक ढंग से काम चलाया जा सकता है। इन सब बातों का विचार करके मैं देखता हूँ कि हमारे इस संघ के लिए एक

१. परिच्छेद १ से ५ तक स्वामी जी के शिष्य श्री शरत् चन्द्र चक्रवर्ती द्वारा आलिखित। स०

प्रधान संचालक (dictator) होना आवश्यक है, सब लोग उसीके आदेश को मानेंगे। कालान्तर में आम मतदान के सिद्धान्त पर कार्य करना होगा।"

"यह संघ उन श्री रामकृष्ण के नाम पर स्थापित होगा, जिनके नाम पर हम संन्यासी हुए और आप सब महानुभाव जिनको अपना जीवन-आदर्श मान संसार आश्रमरूप कार्यक्षेत्र में स्थित हैं; ऊपर से जिनके देहावसान के बाद २० वर्ष ही में प्राच्य तथा पाश्चात्य जगत् में उनके पवित्र नाम और अद्भुत जीवनी का आश्चर्य-जनक प्रसार हुआ है। हम सब प्रभु के दास हैं, आप लोग इस कार्य में सहायता दीजिए।"

श्रीयुत गिरीशचन्द्र तथा अन्य समस्त गृहस्थों के इस प्रस्ताव पर सहमत होने पर रामकृष्ण संघ की भावी कार्य-प्रणाली पर विचार-विमर्श होने लगा। संघ का नाम 'रामकृष्ण संघ' अथवा 'रामकृष्ण मिशन' रखा गया। उसके उद्देश्य आदि नीचे उद्धृत किये जाते हैं:

उद्देश्य—मनुष्यों के हितार्थ श्री रामकृष्ण ने जिन तत्त्वों की व्याख्या की और स्वयं अपने जीवन में प्रत्यक्ष किया है, उन सबका प्रचार तथा मनुष्यों की दैहिक, मानसिक और पारमार्थिक उन्नति के निमित्त वे सब तत्त्व जिस प्रकार से प्रयुक्त हो सकें, उसमें सहायता करना ही इस संघ (मिशन) का उद्देश्य है।

व्रत—जगत् के सब धर्ममतों को एक अक्षय सनातन धर्म का रूपान्तर मात्र जानकर, समस्त धर्मावलम्बियों में मैत्री स्थापित करने के लिए श्री रामकृष्ण ने जिस कार्य की उद्भावना की थी, उसीका परिचालन इस संघ का व्रत है।

कार्य-प्रणाली—मनुष्यों की सांसारिक और आध्यात्मिक उन्नति हेतु विद्यादान करने के लिए उपयुक्त लोगों को शिक्षित करना। शिल्पियों तथा श्रमजीवियों का उत्साह बढ़ाना और वेदान्त तथा अन्यान्य धर्मभावों का, जैसी कि उनकी रामकृष्ण-जीवन में व्याख्या हुई थी, मनुष्य समाज में प्रचार करना।

भारत में कार्य—भारत के नगर नगर में आचार्य-व्रत ग्रहण के अभिलाषी गृहस्थ या संन्यासियों की शिक्षा के निमित्त आश्रम स्थापित करना और उन उपायों का अवलम्बन करना, जिनसे वे दूर दूर जाकर जनसाधारण को शिक्षा दे सकें।

विदेशों में कार्य-विभाग—भारत से बाहर अन्य देशों में व्रतधारियों को भेजना और उन देशों में स्थापित सब आश्रमों की भारत के आश्रमों से घनिष्ठता और सहानुभूति बढ़ाना तथा नये नये आश्रमों की स्थापना करना।

स्वामी जी स्वयं उस समिति के कार्याध्यक्ष बने। स्वामी ब्रह्मानन्द कलकत्ता केन्द्र के अध्यक्ष और स्वामी योगानन्द सहकारी बने। एटर्नी बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र इसके मंत्री, डॉक्टर शशिभूषण घोष और शरच्चन्द्र सरकार सहायक मंत्री

और शिष्य शास्त्रपाठक निर्वाचित हुए। स्व० बलराम बसु के मकान पर प्रत्येक रविवार को चार बजे के उपरान्त समिति की बैठक हुआ करेगी, यह नियम भी बना। इस सभा के पश्चात् तीन वर्ष तक 'रामकृष्ण मिशन' समिति का अधिवेशन प्रति रविवार को बलराम बसु के मकान पर हुआ। स्वामी जी जब तक फिर विदेश नहीं गये, तब तक सुविधानुसार समिति की बैठकों में उपस्थित होकर कभी उपदेश आदि देकर या कभी अपने सुन्दर कंठ से गान सुनाकर सबको मोहित करते थे।

आज सभा की समाप्ति पर सदस्यों के चले जाने के पश्चात् योगानन्द स्वामी को लक्ष्य करके स्वामी जी कहने लगे, "इस प्रकार कार्य तो आरम्भ किया गया, अब देखना चाहिए कि श्री गुरुदेव की इच्छा से कहाँ तक इसका निर्वाह होता है।"

स्वामी योगानन्द——तुम्हारा यह सब कार्य विदेशी ढंग पर हो रहा है। श्री रामकृष्ण का उपदेश क्या ऐसा ही था?

स्वामी जी——तुमने कैसे यह जाना कि यह सब श्री रामकृष्ण के भावानुसार नहीं है? तुम क्या अनन्त भावमय गुरुदेव को अपनी संकीर्ण परिधि में आबद्ध करना चाहते हो? मैं इस सीमा को तोड़कर उनके भाव जगत् भर में फैलाऊँगा। श्री रामकृष्ण ने अपने पूजा-पाठ का प्रचार करने का उपदेश मुझे कभी नहीं दिया। वे साधन-भजन, ध्यान-धारणा तथा अन्य ऊँचे धर्मभावों के सम्बन्ध में जो सब उपदेश दे गये हैं, उन्हें पहले अपने में अनुभव कर फिर सर्वसाधारण को उन्हें सिखलाना होगा। मत अनन्त हैं; पथ भी अनन्त हैं। सम्प्रदायों से भरे हुए जगत् में और एक नवीन सम्प्रदाय पैदा कर देने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ। प्रभु के चरणों में आश्रय पाकर हम कृतार्थ हुए हैं। त्रिजगत् के लोगों को उनकी भाव-राशि देने के निमित्त ही हमारा जन्म हुआ है।

स्वामी योगानन्द के प्रतिवाद न करने पर स्वामी जी फिर कहने लगे, "प्रभु की कृपा का परिचय इस जीवन में बहुत पाया। वे ही तो पीछे खड़े होकर इन सब कार्यों को करा रहे हैं। जब भूख से कातर होकर वृक्ष के नीचे पड़ा रहता था, जब कौपीन बाँधने को वस्त्र तक न था, जब कौड़ीहीन होकर भी पृथ्वी का भ्रमण करने को कृतसंकल्प था, तब श्री गुरुदेव की कृपा से सदा मैंने सहायता पायी। फिर जब इसी विवेकानन्द के दर्शन करने के निमित्त शिकागो के रास्तों पर भीड़ में धक्कमधक्का हुआ था; जिस सम्मान का शतांश भी प्राप्त करने पर साधारण मनुष्य उन्मत्त हो जाते हैं; श्री गुरुदेव की कृपा से उस सम्मान को भी सहज में पचा गया। प्रभु की इच्छा से सर्वत्र विजय है। अब इस देश में कुछ कार्य कर जाऊँगा। तुम सन्देह छोड़कर मेरे कार्य में सहायता करो, देखोगे उनकी इच्छा से सब पूर्ण हो जायगा।"

स्वामी योगानन्द—तुम जैसा आदेश दोगे, हम वैसा ही करेंगे। हम तो सदा से तुम्हारे आज्ञाकारी हैं। मैं तो कभी कभी स्पष्ट ही देखता हूँ कि श्री गुरुदेव स्वयं तुमसे यह सब कार्य करा रहे हैं। पर बीच बीच में मन में न जाने क्यों ऐसा सन्देह आ जाता है। मैंने श्री गुरुदेव के कार्य करने की रीति कुछ और ही प्रकार की देखी थी, इसीलिए सन्देह होता है कि कहीं हम उनकी शिक्षा छोड़कर दूसरे पथ पर तो नहीं चल रहे हैं? इसी कारण तुमसे ऐसा कहता हूँ और सावधान कर देता हूँ।

स्वामी जी—जानते हो, साधारण भक्तों ने श्री गुरुदेव को जितना समझा है, वास्तव में हमारे प्रभु उतने ही नहीं हैं। वे तो अनन्त भावमय हैं। भले ही ब्रह्मज्ञान की मर्यादा हो, पर प्रभु के अगम्य भावों की कोई भी मर्यादा नहीं। उनके कृपा-कटाक्ष से एक क्यों, लाखों विवेकानन्द अभी उत्पन्न हो सकते हैं। पर ऐसा न करके वे अपनी ही इच्छा से मेरे द्वारा अर्थात् मुझे यन्त्रवत् बनाकर, यहाँ सब कार्य करा रहे हैं। तुम्हीं कहो, इसमें मेरा क्या हाथ है?

यह कहकर स्वामी जी दूसरे किसी कार्य के लिए कहीं चले गये! स्वामी योगानन्द शिष्य से कहने लगे, "वाह! नरेन्द्र का कैसा विश्वास है! इस विषय पर भी क्या तूने ध्यान दिया? कहता है, श्री गुरुदेव की कृपा-कटाक्ष से लाखों विवेकानन्द बन सकते हैं! धन्य है उनकी गुरु-भक्ति! यदि ऐसी भक्ति का शतांश भी हम प्राप्त कर सकते, तो कृतार्थ हो जाते।"

शिष्य—महाराज, श्री रामकृष्ण स्वामी जी के विषय में क्या कहा करते थे?

योगानन्द—वे कहा करते थे, "इस युग में ऐसा आधार जगत् में और कभी नहीं आया।" कभी कहते थे, "नरेन्द्र पुरुष है और मैं प्रकृति हूँ, नरेन्द्र मेरी ससुराल है।" कभी कहा करते थे, "अखण्ड की कोटि का है," कभी कहते थे, "अखण्ड के घर में जहाँ देव-देवियाँ भी सब अपना प्रकाश ब्रह्म से स्वतन्त्र रखने में असमर्थ होकर उनमें लीन हो गये हैं, वहाँ मैंने केवल सात ऋषियों को अपना प्रकाश स्वतन्त्र रखकर ध्यान में निमग्न रहते देखा था, नरेन्द्र उन्हींमें से एक का अंशावतार है।" कभी कहा करते थे, "जगत्-पालक नारायण ने नर और नारायण नामक जिन दो ऋषियों की मूर्ति धारण कर जगत् के कल्याण के लिए तपस्या की थी, नरेन्द्र उसी नर ऋषि का अवतार है।" कभी कहते थे, "शुकदेव के समान इसको भी माया ने स्पर्श नहीं किया है।"

शिष्य—क्या वे सब बातें सत्य हैं या श्री रामकृष्ण भावावस्था में समय समय पर एक एक प्रकार का उनको बतलाया करते थे?

योगानन्द—उनकी सब बातें सत्य हैं! उनके श्रीमुख से भूल से भी मिथ्या बात नहीं निकली।

शिष्य—तब फिर क्यों कभी कुछ और कभी कुछ कहा करते थे ?

योगानन्द—तुमने समझा नहीं। वे नरेन्द्र को सबका समष्टि प्रकाश कहा करते थे। क्या तुझे नहीं दीख पड़ता कि नरेन्द्र में ऋषि का वेद-ज्ञान, शंकर का त्याग, बुद्ध का हृदय, शुकदेव का मायारहित भाव और ब्रह्मज्ञान का पूर्ण विकास एक ही साथ वर्तमान हैं ? इसीसे बीच बीच में श्री रामकृष्ण नरेन्द्र के विषय में ऐसी नाना प्रकार की बातें कहा करते थे। जो वे कहते थे, वे सब सत्य हैं।

शिष्य सुनकर निर्वाक् हो गया। इतने में स्वामी जी लौटे और शिष्य से पूछा, "क्या तेरे देश में सब लोग श्री रामकृष्ण के नाम से अच्छी तरह परिचित हैं ?"

शिष्य—मेरे देश से तो केवल नाग महाशय ही श्री रामकृष्ण के पास आये थे। उनसे समाचार पाकर अनेक लोग श्री रामकृष्ण के विषय में जानने को उत्सुक हुए हैं; परन्तु वहाँ के लोग श्री रामकृष्ण को ईश्वरावतार अभी तक नहीं समझ सके हैं। कोई कोई तो यह बात सुनकर भी विश्वास नहीं करते।

स्वामी जी—इस बात पर विश्वास करना क्या तूने ऐसा सुगम समझ रखा है ? हमने उनको सब प्रकार से जाँचा, उनके मुँह से यह बात बारम्बार सुनी, चौबीस घण्टे उनके साथ रहे, तब भी बीच बीच में हमको सन्देह होता है, तो फिर औरों को क्या कहें ?

शिष्य—महाराज, श्री रामकृष्ण पूर्ण ब्रह्म भगवान् थे, क्या यह बात उन्होंने कभी अपने मुँह से कही थी ?

स्वामी जी—कितनी बार कही थी। हम सब लोगों से कही थी। जब वे काशीपुर के बाग़ में थे और उनका शरीर बिल्कुल छूटने ही वाला था, तब मैंने उनकी शय्या के निकट बैठकर एक दिन मन में सोचा कि यदि वे अब कह सकें कि मैं भगवान् हूँ, तब मेरा विश्वास होगा कि वे सचमुच ही भगवान् हैं। चोला छूटने के दो दिन बाक़ी थे। उक्त बात को सोचते ही श्री गुरुदेव ने एकाएक मेरी ओर देखकर कहा, "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही अब इस शरीर में रामकृष्ण हैं—केवल तेरे वेदान्त के मत से नहीं।" मैं तो सुनकर भौचक्का हो गया। प्रभु के श्रीमुख से बारम्बार सुनने पर भी हमें ही अभी तक पूर्ण विश्वास नहीं हुआ—सन्देह और निराशा में मन कभी कभी आन्दोलित हो जाता है—तो औरों की बात ही क्या ? अपने ही समान देहधारी एक मनुष्य को ईश्वर कहकर निर्दिष्ट करना और उस पर विश्वास रखना बड़ा ही कठिन है। सिद्ध पुरुष या ब्रह्मज्ञ तक अनुमान करना सम्भव है। उनको चाहे जो कुछ कहो, चाहे जो कुछ समझो, महापुरुष मानो या ब्रह्मज्ञ—इसमें क्या धरा है ? परन्तु श्री गुरुदेव जैसे पुरुषोत्तम ने इससे पहले जगत् में और कभी जन्म नहीं लिया। संसार के घोर अन्धकार

में अब यही महापुरुष ज्योतिस्तम्भस्वरूप हैं। इनकी ही ज्योति से मनुष्य संसार समुद्र के पार चले जायँगे।

शिष्य—मैं समझता हूँ, जब तक कुछ देख-सुन न लें, तब तक यथार्थ विश्वास नहीं होता। सुना है, मथुर बाबू ने श्री रामकृष्ण के विषय में कितनी ही अद्‌भुत घटनाएँ प्रत्यक्ष की थीं और उन्हींसे उनका विश्वास उन पर जमा था।

स्वामी जी—जिसे विश्वास नहीं है, उसके देखने पर भी कुछ नहीं होता। देखने पर सोचता है कि यह कहीं अपने मस्तिष्क का विकार या स्वप्नादि तो नहीं है? दुर्योधन ने भी विश्वरूप देखा था, अर्जुन ने भी देखा था। अर्जुन को विश्वास हुआ, किन्तु दुर्योधन ने उसे जादू समझा! यदि वे ही न समझायें, तो और किसी प्रकार से समझने का उपाय नहीं है। किसी किसीको बिना कुछ देखे सुने ही पूर्ण विश्वास हो जाता है और किसीको बारह वर्ष तक प्रत्यक्ष सामने रहकर नाना प्रकार की विभूतियाँ देखकर भी सन्देह में पड़ा रहना होता है। सारांश यह है कि उनकी कृपा चाहिए, परन्तु लगे रहने से ही उनकी कृपा होगी।

शिष्य—महाराज, कृपा का क्या कोई नियम है?

स्वामी जी—है भी और नहीं भी।

शिष्य—यह कैसे?

स्वामी जी—जो तन, मन, वचन से सर्वदा पवित्र रहते हैं, जिनका अनुराग प्रबल है, जो सत्-असत् का विचार करनेवाले हैं और ध्यान तथा धारणा में संलग्न रहते हैं, उन्हीं पर भगवान् की कृपा होती है। परन्तु भगवान् प्रकृति के सब निसर्ग नियमों के परे हैं अर्थात् किसी नियम के वश में नहीं हैं। श्री गुरुदेव जैसा कहा करते थे, 'उनका स्वभाव बच्चों के समान है।' इस कारण यह देखने में आता है कि किसी किसीने करोड़ों जन्मों से उन्हें पुकारा, किन्तु उनसे कोई उत्तर न पा सका। फिर जिसको हम पापी, तापी और नास्तिक समझते हैं, उसमें एकाएक चैतन्य का प्रकाश हो गया। उसके न माँगने पर भी भगवान् ने उस पर कृपा कर दी। तुम यह कह सकते हो कि उसके पूर्व जन्म का संस्कार था, परन्तु इस रहस्य को समझना बड़ा कठिन है। श्री गुरुदेव कभी ऐसा भी कहते थे, "पूरी तरह उनके ही सहारे रहो, आँधी के जूठे पत्तल बन जाओ।" कभी कहते, थे "कृपारूपी हवा तो चल ही रही है, तुम अपनी पाल उठा दो।"

शिष्य—महाराज, यह तो बड़ी कठिन बात है। कोई युक्ति ही यहाँ नहीं ठहर सकती।

स्वामी जी—तर्क-विचार की दौड़ तो माया से अधिकृत इसी जगत् में है, देश, काल, निमित्त की सीमा के अन्तर्गत है; और वे इन सबसे अतीत हैं। उनके नियम

भी हैं, और वे नियम के बाहर भी हैं। प्रकृति के जो कुछ नियम हैं, उनको उन्होंने ही बनाया या यों कहें कि वे ही स्वयं ये नियम बने और इन सबके परे भी रहे। जिन्होंने उनकी कृपा प्राप्त की, वे उसी क्षण सब नियमों के परे पहुँच जाते हैं। इसीलिए कृपा का कोई विशेष नियम नहीं है। कृपा है उनकी मौज । यह सारा जगत्-सर्जन ही उनकी मौज है—**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**। जो इस जगत् को अपनी इच्छा मात्र से तोड़ और बना सकता है, वह क्या अपनी कृपा से किसी महापापी को मुक्ति नहीं दे सकता ? तब जो किसी किसीसे कुछ साधन-भजन करा लेते हैं और किसीसे नहीं कराते, यह भी उन्हींकी लीला है, उनकी मौज है।

शिष्य—महाराज, यह बात ठीक समझ में नहीं आयी ?

स्वामी जी—और अधिक समझकर क्या होगा? जहाँ तक हो, उनसे ही मन को लगाये रखो। इसीसे जगत् की माया स्वयं छूट जायगी; परन्तु लगा रहना पड़ेगा। कामिनी और कांचन से मन को पृथक् रखना पड़ेगा। सर्वदा सत् और असत् का विचार करना होगा। मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसे विदेह भाव से अवस्थान करना पड़ेगा। मैं सर्वव्यापी आत्मा ही हूँ, इसीकी अनुभूति होनी चाहिए। इसी प्रकार लगे रहने का ही नाम पुरुषकार है। इस पुरुषकार की सहायता से ही उन पर निर्भरता आती है, और इसे ही परम पुरुषार्थ कहते हैं।

स्वामी जी फिर कहने लगे, "यदि तुम पर उनकी कृपा न होती, तो तुम यहाँ क्यों आते? श्री गुरुदेव कहा करते थे, 'जिन पर भगवान् की कृपा हुई है, उनको यहाँ अवश्य ही आना होगा। वे कहीं भी क्यों न रहें, कुछ भी क्यों न करें, यहाँ की बातों से और यहाँ के भावों से उन्हें अवश्य अभिभूत होना होगा।' अपने को ही देखो न, जो नाग महाशय भगवान् की कृपा से सिद्ध हुए थे और उनकी कृपा को ठीक ठीक समझते थे, उनका सत्संग भी क्या बिना ईश्वर की कृपा के कभी हो सकता है ? **अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**। जन्म-जन्मान्तर की सुकृति से ही महापुरुषों के दर्शन होते हैं। शास्त्र में उत्तमा भक्ति के जो लक्षण दिये हैं, वे सभी नाग महाशय में प्रकट हुए थे। लोग जो **तृणादपि सुनीचेन** कहते हैं, वह एकमात्र नाग महाशय में ही मैंने देखा है। तुम्हारा पूर्व बंग धन्य है ! नाग महाशय के चरण-रेणु से वह पवित्र हो गया है।"

बातचीत करते हुए स्वामी जी महाकवि गिरीशचन्द्र घोष के भवन की ओर घूमते हुए निकले। स्वामी योगानन्द और शिष्य भी साथ चले। गिरीश बाबू के भवन में उपस्थित होकर स्वामी जी ने आसन ग्रहण किया और कहा, "जी० सी० (गिरीशचन्द्र को स्वामी जी जी० सी० कहकर पुकारा करते थे), आज-कल मन में केवल यही हो रहा है कि यह करूँ, वह करूँ, उनके वचनों को संसार में

फैला दूं इत्यादि। फिर यह भी शंका होती है कि इससे भारत में कहीं एक नया सम्प्रदाय खड़ा न हो जाय। इसलिए बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। कभी ऐसा भी विचार हो आता है कि यदि कोई सम्प्रदाय बन जाय, तो बन जाने दो। फिर सोचता हूँ कि नहीं, उन्होंने तो किसीके भाव को कभी ठेस नहीं पहुँचायी। समदर्शन ही उनका भाव था। ऐसा विचारकर अपनी इच्छा को समय समय पर दबाकर चलता हूँ। इस बारे में तुम क्या कहते हो ?"

गिरीश बाबू—मेरा विचार और क्या हो सकता है ? तुम तो उनके हाथ के यन्त्र हो, जो करायेंगे, वही करना होगा। अधिक मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो देखता हूँ कि प्रभु की शक्ति ही तुमसे कार्य करा रही है। मुझे यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है।

स्वामी जी—और मैं देखता हूँ कि हम अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं। परन्तु आपद, विपद में, अभाव-दारिद्रय में भी वे प्रत्यक्ष होकर ठीक मार्ग पर मुझे चलाते हैं, यह भी मैंने देखा है। परन्तु प्रभु की शक्ति पूरी तरह नहीं समझ सका।

गिरीश बाबू—उन्होंने तुम्हारे विषय में कहा था कि सब समझ जाने से तो सब शून्य हो जायगा; फिर कौन करेगा और किससे करायेगा ?

ऐसे वार्तालाप के पश्चात् अमेरिका के प्रसंग पर बातें होने लगीं। गिरीश बाबू ने स्वामी जी का ध्यान प्रस्तुत प्रसंग से हटा लेने के लिए ही जान-बूझकर यह प्रसंग छेड़ा, यही मेरा अनुमान है। ऐसा करने का कारण पूछने पर गिरीश बाबू ने दूसरे मौक़े पर मुझसे कहा था, 'गुरुदेव के श्रीमुख से सुना था कि इस प्रकार के विषय का वार्तालाप करते करते यदि स्वामी जी को संसार-वैराग्य या ईश्वरोद्दीपन होकर अपने स्वरूप का एक बार दर्शन हो जाय (अर्थात् वे अपने स्वरूप को पहचान जायँ), तो एक क्षण भी उसका शरीर नहीं रहेगा।" इसीलिए मैंने देखा कि स्वामी जी के संन्यासी गुरुभाइयों ने जब जब उनको चौबीसों घण्टे श्री गुरुदेव की बातें करते हुए पाया, तब तब अन्यान्य प्रसंगों में उनका मन लगा दिया। अब अमेरिका के प्रसंग में स्वामी जी तल्लीन हो गये। वहाँ की समृद्धि तथा स्त्री-पुरुषों का गुणावगुण और उनके भोग-विलास इत्यादि की नाना कथाओं का वर्णन करने लगे।

२

[भारत की आवश्यकता कर्म, भाषण नहीं––दारिद्रय ही भारत की बड़ी समस्या––लौकिक और पारमार्थिक शिक्षकों के रूप में युवा संन्यासियों का प्रशिक्षण—दूसरों के लिए कर्म के निमित्त युवकों के प्रति प्रबोधन]

[स्थान : बेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९८ ई०]

शिष्य––स्वामी जी, आप इस देश में व्याख्यान क्यों नहीं देते ? अपनी वक्तृता के प्रभाव से यूरोप-अमेरिका को मतवाला बना आये; परन्तु भारत में लौट-कर आपका उस विषय में यत्न और अनुराग क्यों घट गया, इसका कारण समझ में नहीं आता। हमारी समझ में तो पाश्चात्य देशों के बजाय यहीं पर उस प्रकार की चेष्टा की अधिक आवश्यकता है।

स्वामी जी –– इस देश में पहले ज़मीन तैयार करनी होगी। तब बीज बोने से वृक्ष उगेगा। पाश्चात्य की भूमि ही इस समय बीज बोने के योग्य है, बहुत उर्वरा है। वहाँ के लोग अब भोग की अन्तिम सीमा तक पहुँच चुके हैं। भोग से अघाकर अब उनका मन उसमें और अधिक शान्ति नहीं पा रहा है। वे एक ओर अभाव का अनुभव कर रहे हैं। पर तुम्हारे देश में न तो भोग है और न योग ही। भोग की इच्छा कुछ तृप्त हो जाने पर ही, लोग योग की बात सुनते या समझते हैं। अन्न के अभाव से क्षीण देह, क्षीण मन, रोग-शोक-परिताप की जन्मभूमि भारत में भाषण देने से क्या होगा ?

शिष्य––क्यों, आपने ही तो कभी कभी कहा है, यह देश धर्मभूमि है। इस देश में लोग जैसे धर्म की बात समझते हैं और कार्यरूप में धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वैसा दूसरे देशों में नहीं। तो फिर आपके ओजस्वी भाषणों से क्यों न देश मतवाला हो उठेगा––क्यों न फल होगा ?

स्वामी जी––अरे, धर्म-कर्म करने के लिए पहले कूर्म अवतार की पूजा करनी चाहिए। पेट है वह कूर्म। इसे पहले ठण्डा किये बिना तेरी धर्म-कर्म की बात कोई ग्रहण नहीं करेगा। देखता नहीं, पेट की चिन्ता से भारत बेचैन है। विदेशियों के साथ मुक़ाबला करना, वाणिज्य में अबाध निर्यात, और सबसे बढ़कर तुम लोगों की आपस की घृणित दास-सुलभ ईर्ष्या ने ही तुम्हारे देश की अस्थि-मज्जा को खा डाला है। धर्म की बात सुनाना हो, तो पहले इस देश के लोगों के पेट की चिन्ता को दूर करना होगा। नहीं तो केवल व्याख्यान देने से ही विशेष लाभ न होगा।

शिष्य––तो हमें अब क्या करना चाहिए ?

स्वामी जी––पहले कुछ त्यागी पुरुषों की आवश्यकता है, जो अपने परिवार के लिए न सोचकर दूसरों के लिए जीवन का उत्सर्ग करने को तैयार हों। इसीलिए मैं मठ की स्थापना करके कुछ बाल-संन्यासियों को उसी रूप में तैयार कर रहा हूँ। शिक्षा समाप्त होने पर, ये लोग द्वार द्वार पर जाकर सभी को उनकी वर्तमान शोच-नीय स्थिति समझायेंगे; उस स्थिति से उन्नति किस प्रकार हो सकती है, इस विषय

में उपदेश देंगे और साथ ही साथ धर्म के महान् तत्त्वों को सरल भाषा में उन्हें साफ़ साफ़ समझा देंगे। तुम्हारे देश का जनसाधारण मानो एक सोया हुआ तिमिंगल (एक विशालकाय समुद्री जीव) है। इस देश की यह जो विश्वविद्यालय की शिक्षा है, उससे देश के अधिक से अधिक एक या दो प्रतिशत व्यक्ति लाभ उठा रहे हैं। जो लोग शिक्षा पा रहे हैं, वे भी देश के कल्याण के लिए कुछ नहीं कर सक रहे हैं। बेचारे करें भी तो कैसे? कॉलेज से निकलकर ही देखते हैं कि वे सात बच्चों के बाप बन गये हैं, उस समय जैसे-तैसे किसी क्लर्की या डिप्टी मजिस्ट्रेट की नौकरी स्वीकार कर लेते हैं—बस, यही हुआ शिक्षा का परिणाम! उसके बाद गृहस्थी के भार से उच्च कर्म और चिन्तन करने का उसको फिर समय कहाँ? जब अपना स्वार्थ ही सिद्ध नहीं होता, तब वह दूसरों के लिए क्या करेगा?

शिष्य—तो क्या इसका कोई उपाय नहीं है?

स्वामी जी—अवश्य है! यह सनातन धर्म का देश है। यह देश गिर अवश्य गया है, परन्तु निश्चय फिर उठेगा। और ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दंग रह जायगी। देखा नहीं है, नदी या समुद्र में लहरें जितनी नीची उतरती हैं, उसके बाद उतनी ही ज़ोर से ऊपर उठती हैं। यहाँ पर भी उसी प्रकार होगा। देखता नहीं है, पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है, सूर्य उदित होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। तुम लोग इसी समय कमर कसकर तैयार हो जाओ। गृहस्थी करके क्या होगा? तुम लोगों का अब काम है प्रान्त प्रान्त में, गाँव गाँव में जाकर देश के लोगों को समझा देना कि अब आलस्य से बैठे रहने से काम न चलेगा। शिक्षा-विहीन, धर्म-विहीन वर्तमान अधोगति की बात उन्हें समझाकर कहो—'भाई, सब उठो, जागो, और कितने दिन सोओगे?' और शास्त्र के महान् सत्यों को सरल करके उन्हें जाकर समझा दो। इतने दिन इस देश का ब्राह्मण धर्म पर एकाधिकार किये बैठा था। काल के स्रोत में वह जब और अधिक टिक नहीं सका, तो तू अब जाकर ऐसी व्यवस्था कर कि देश के सभी लोग उस धर्म को प्राप्त कर सकें। सभी को जाकर समझा दो कि ब्राह्मणों की तरह तुम्हारा भी धर्म में एक सा अधिकार है। चाण्डाल तक को इस अग्नि-मंत्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थ-जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो। नहीं तो तुम्हारे लिखने पढ़ने को धिक्कार—और तुम्हारे वेद-वेदान्त पढ़ने को भी धिक्कार!

शिष्य—महाराज, हममें वह शक्ति कहाँ? यदि आपकी शतांश शक्ति भी हममें होती, तो हम स्वयं धन्य हो जाते और दूसरों को भी धन्य कर सकते!

स्वामी जी—धत् मूर्ख! शक्ति क्या कोई दूसरा देता है? वह तेरे भीतर ही मौजूद है। समय आने पर वह स्वयं ही प्रकट होगी। तू काम में लग जा; फिर

देखेगा, इतनी शक्ति आयेगी कि तू उसे सँभाल न सकेगा। दूसरों के लिए रत्ती भर काम करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। दूसरों के लिए रत्ती भर सोचने से धीरे धीरे हृदय में सिंह का सा बल आ जाता है। तुम लोगों से मैं इतना स्नेह करता हूँ, परन्तु यदि तुम लोग दूसरों के लिए परिश्रम करते करते मर भी जाओ, तो भी यह देखकर मुझे प्रसन्नता ही होगी।

शिष्य—परन्तु महाराज, जो लोग मुझ पर निर्भर हैं, उनका क्या होगा ?

स्वामी जी—यदि तू दूसरों के लिए प्राण देने को तैयार हो जाता है, तो भगवान् उनका कोई न कोई उपाय करेंगे ही। **न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति**—(हे तात, कल्याण करनेवाला व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होता), गीता में पढ़ा है न ?

शिष्य—जी हाँ।

स्वामी जी—त्याग ही असली बात है। त्यागी हुए बिना कोई दूसरों के लिए सोलह आना प्राण देकर काम नहीं कर सकता। त्यागी सभी को समभाव से देखता है; सभी की सेवा में लगा रहता है। वेदान्त में भी तो पढ़ा है कि समभाव से देखो, तो फिर एक स्त्री और कुछ बच्चों को अधिक अपना समझकर क्यों मानेगा ? तेरे दरवाज़े पर स्वयं नारायण दरिद्र के भेष में आकर अनाहार से मृतप्राय होकर पड़े हैं। उन्हें कुछ न देकर केवल अपना और अपने स्त्री-पुत्रों का पेट भाँति भाँति के व्यंजनों से भरना तो पशुओं का काम है।

शिष्य—महाराज, दूसरों के लिए काम करने के लिए समय समय पर बहुधा धन की भी आवश्यकता होती है। वह कहाँ से आयेगा ?

स्वामी जी—मैं कहता हूँ, जितनी शक्ति है, पहले उतना ही कार्य कर। धन के अभाव से यदि कुछ नहीं दे सकता, तो न सही, पर एक मीठी बात या एक-दो सदुपदेश तो उन्हें दे सकता है। क्या इसमें भी धन लगता है ?

शिष्य—जी हाँ, यह तो कर सकता हूँ।

स्वामी जी—'जी, कर सकता हूँ'—केवल मुँह से कहने से काम नहीं बनेगा। जो कर सकता है, वह मुझे करके दिखा, तब जानूँगा कि तेरा मेरे पास आना सफल हुआ। काम में लग जा। कितने दिनों के लिए है यह जीवन ? संसार में जब आया है, तब एक स्मृति छोड़कर जा। वरना पेड़-पत्थर भी तो पैदा तथा नष्ट होते रहते हैं। उसी प्रकार जन्म लेने और मरने की इच्छा क्या मनुष्य की भी कभी होती है ? मुझे करके दिखा दे कि तेरा वेदान्त पढ़ना सार्थक हुआ है। जाकर सभी को यह बात सुना—'तुम्हारे भीतर अनन्त शक्ति मौजूद है, उसी शक्ति को जाग्रत करो।'

केवल अपनी मुक्ति से क्या होगा ? मुक्ति की कामना भी तो महा स्वार्थपरता है। छोड़ दे ध्यान, छोड़ दे मुक्ति की आकांक्षा। मैं जिस काम में लगा हूँ, उसी काम में लग जा।

शिष्य विस्मित होकर सुनने लगा। स्वामी जी फिर कहने लगे—

"तुम लोग जाकर इसी प्रकार ज़मीन तैयार करो। बाद में मेरे जैसे हज़ार हज़ार विवेकानन्द भाषण देने के लिए नरलोक में शरीर धारण करेंगे ; उसकी चिन्ता नहीं है। यह देख न, हममें (श्री रामकृष्ण के शिष्यों में) जो पहले सोचा करते थे कि उनमें कोई शक्ति नहीं, वे ही अब अनाथाश्रम, दुर्भिक्ष-कोष आदि कितनी ही संस्थाएँ खोल रहे हैं। देखता नहीं, निवेदिता ने, अंग्रेज़ की लड़की होकर भी, तुम लोगों की सेवा करना सीखा है ? और तुम लोग अपने ही देशवासियों के लिए ऐसा नहीं कर सकोगे ? जहाँ पर महामारी हुई हो, जहाँ पर जीवों को दुःख ही दुःख हो, जहाँ दुर्भिक्ष पड़ा हो, चला जा उस ओर। अधिक से अधिक क्या होगा, मर ही तो जायगा। मेरे-तेरे जैसे न जाने कितने कीड़े पैदा होते रहते हैं और मरते रहते हैं। इससे दुनिया को क्या हानि लाभ ? एक महान् उद्देश्य लेकर मर जा। मरना तो है ही; पर अच्छा उद्देश्य लेकर मरना ठीक है ! इस भाव का घर घर में प्रचार कर, अपना और देश का कल्याण होगा। तुम्हीं लोग देश की आशा हो। तुम्हें कर्मविहीन देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है। लग जा, काम में लग जा ; विलम्ब न कर, मृत्यु तो दिनोंदिन निकट आ रही है ! 'बाद में करूँगा' कहकर अधिक बैठा न रह—यदि बैठा रहेगा, तो फिर तुझसे कुछ भी न हो सकेगा।

३

[अहिंसा का सिद्धान्त और मांसाहार——मनुष्य में सत्त्व, रज और तम——खाद्याखाद्य का विचार और आध्यात्मिकता——'आहार'——खाद्य में तीन दोष——छुआछूत और जातिगत संस्कार——प्राचीन वर्णाश्रम धर्म और ऋषियों के विधान की पुनः प्रतिष्ठा की योजना]

[स्थान : बेलूड़ मठ (निर्माण के समय)। वर्ष : १८९८ ई०]

शिष्य—स्वामी जी, क्या खाद्य-अखाद्य के साथ धर्माचरण का कुछ सम्बन्ध है ?

स्वामी जी—थोड़ा-बहुत अवश्य है।

शिष्य—मछली तथा मांस खाना क्या उचित तथा आवश्यक है ?

स्वामी जी—खूब खाओ भाई। इससे जो पाप होगा, वह मेरा।[1] तुम अपने देश के लोगों की ओर एक बार ध्यान से देखो तो, मुँह पर मलिनता की छाया; कलेजे में न साहस, न उल्लास; पेट बड़ा, हाथ-पैरों में शक्ति नहीं; डरपोक और कायर!

शिष्य—मछली और मांस खाने से यदि उपकार ही होता, तो बौद्ध तथा वैष्णव धर्म में अहिंसा को 'परमो धर्मः' क्यों कहा गया है?

स्वामी जी—बौद्ध तथा वैष्णव धर्म अलग नहीं। बौद्ध धर्म के उच्छेद के समय हिन्दू धर्म ने उनके कुछ नियमों को अपना लिया था। वही इस समय भारत में वैष्णव धर्म के नाम से विख्यात है।

'अहिंसा परमो धर्मः'—बौद्ध धर्म का एक बहुत अच्छा सिद्धान्त है, परन्तु अधिकारी का विचार न करके जबर्दस्ती राज-शक्ति के बल पर उस मत को सर्वसाधारण पर लादकर बौद्ध धर्म ने देश का सर्वनाश किया है। परिणाम यही हुआ कि लोग चीटियों को चीनी देते हैं, पर धन के लिए भाई का भी सर्वनाश कर डालते हैं। इस प्रकार अनेक बकः परमधार्मिकः के अनुसार जीवन व्यतीत करते देखे जाते हैं। दूसरी ओर देख, वैदिक तथा मनु के धर्म में मछली और मांस खाने का विधान है और साथ ही अहिंसा की बात भी। अधिकारी भेद से हिंसा और अहिंसा धर्मों के पालन करने की व्यवस्था है। श्रुति ने कहा है—मा हिंस्यात् सर्वभूतानि, मनु ने भी कहा है—निवृत्तिस्तु महाफला।

---

१. स्वामी जी के इस प्रकार के उत्तर से कोई ऐसा न सोचे कि वे मांस खाने में अधिकारी का विचार न करते थे। उनके योग सम्बन्धी दूसरे ग्रन्थों में उन्होंने भोजन के सम्बन्ध में यही साधारण नियम बताया है कि दुष्पाच्य होने के कारण जिससे अजीर्ण आदि रोगों की उत्पत्ति होती है अथवा वैसा न होने पर भी जिससे शरीर की उष्णता में अकारण वृद्धि होकर इन्द्रिय तथा मन में चंचलता उत्पन्न होती है, उसे सब प्रकार से त्यागना चाहिए। अतः जो लोग आध्यात्मिक उन्नति चाहते हैं, उनमें से जिनकी मांस खाने की प्रवृत्ति है, उन्हें स्वामी जी ने पूर्वोक्त दो बातों पर ध्यान रखते हुए मांस खाने का उपदेश किया है। नहीं तो मांस एकदम त्याग देने को कहते थे। अथवा 'मांस खाऊँ या नहीं'—इस प्रश्न का समाधान वे प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक पवित्रता आदि की रक्षा करके स्वयं ही कर लेने के लिए कहते थे। परन्तु भारत के साधारण गृहस्थों के बारे में स्वामी जी मांसाहार के पक्षपाती थे। वे कहा करते थे कि वर्तमान युग में पाश्चात्य मांसाहारी जातियों के साथ उन्हें जीवन संग्राम में सब प्रकार से प्रतिद्वन्द्विता करनी होगी, इसलिए मांस खाना उनके लिए इस समय विशेष आवश्यक है। सं०

शिष्य—लेकिन आजकल तो देखा है महाराज, कि धर्म की ओर ज़रा आकर्षण होने के पहले ही लोग मछली और मांस त्याग देते हैं। कई लोगों की दृष्टि में तो व्यभिचार आदि गम्भीर पाप से भी मानो मछली और मांस खाना अधिक पाप है! यह भाव कहाँ से आया?

स्वामी जी—कहाँ से आया, यह जानने से तुम्हें क्या लाभ? परन्तु यह मत तुम्हारे समाज तथा देश में प्रविष्ट होकर जो सर्वनाश कर रहा है, यह तो देख रहा है न? देखो न—तुम्हारे पूर्व बंग के लोग बहुत मछली और मांस खाते हैं, कछुआ खाते हैं, इसीलिए पश्चिम बंग के लोगों की तुलना में अधिक स्वस्थ हैं। पूर्व बंग में तो धनवानों ने भी अभी तक रात को पूड़ी या रोटी खाना नहीं सीखा। इसीलिए तो वे इस ओर के लोगों की तरह अम्ल रोग के शिकार नहीं बने। सुना है, पूर्व बंग के देहातों में लोग अम्ल रोग जानते ही नहीं।

शिष्य—जी हाँ। हमारे देश में अम्ल रोग नाम का कोई रोग नहीं। इस देश में आकर उस रोग का नाम सुना। देश में हम दोनों समय मछली-भात खाते हैं।

स्वामी जी—खूब खाया कर। घास-पात खाकर पेट-रोगी बाबा जी लोगों के दल से देश भर गया है। यह सत्त्व गुण का लक्षण नहीं। महा तमोगुण की छाया है—मृत्यु की छाया है। सत्त्वगुण के लक्षण हैं—मुखमण्डल पर चमक—हृदय में अदम्य उत्साह, अतुल चपलता; और तमोगुण के लक्षण हैं आलस्य, जड़ता, मोह तथा निद्रा आदि।

शिष्य—परन्तु महाराज, मांस-मछली से तो रजोगुण की वृद्धि होती है।

स्वामी जी—मैं तो यही चाहता हूँ। इस समय रजोगुण की ही तो आवश्यकता है। देश के जिन सब लोगों को तू आज सत्त्वगुणी समझ रहा है, उनमें से पन्द्रह आने लोग तो घोर तमोगुणी हैं। एक आना सतोगुणी मनुष्य मिलें, तो बहुत है। अब चाहिए प्रबल रजोगुण की ताण्डव उद्दीपना। देश जो घोर तमसाच्छन्न है, देख नहीं रहा है? अब देश के लोगों को मछली-मांस खिलाकर उद्यमशील बना डालना होगा, जगाना होगा, कार्य-तत्पर बनाना होगा; नहीं तो धीरे धीरे देश के सभी लोग जड़ बन जायँगे—पेड़-पत्थरों की तरह जड़ बन जायँगे। इसीलिए कह रहा था, मछली और मांस खूब खाना।

शिष्य—परन्तु महाराज, मन में जब सत्त्व गुण की अत्यन्त स्फूर्ति होती है, तब क्या मछली और मांस खाने की इच्छा रहती है?

स्वामी जी—नहीं, फिर इच्छा नहीं होती। सत्त्व गुण का जब बहुत विकास होता है, तब मछली, मांस में रुचि नहीं रहती। परन्तु सत्त्व गुण के प्रकट होने के

ये सब लक्षण समझो : दूसरों के हित में सब प्रकार से यत्न करना, कामिनी-कांचन में सम्पूर्ण अनासक्ति, अभिमानशून्यता, अहंबुद्धिशून्यता आदि सब लक्षण जिसके होते हैं, उसकी फिर मांस खाने की इच्छा नहीं होती। और जहाँ पर देखेगा कि मन में उन सब गुणों का विकास नहीं है, परन्तु अहिंसा के दल में केवल नाम लिखा लिया है, वहाँ पर या तो बगुला भक्ति है या धर्म का ढोंग। तेरी जिस समय वास्तव में सत्त्व गुण में स्थिति होगी, उस समय तू मांसाहार छोड़ देगा।

शिष्य—परन्तु महाराज, 'छान्दोग्योपनिषद्' में तो कहा है, **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**—शुद्ध वस्तु खाने से सत्त्व गुण की वृद्धि होती है, इत्यादि। अतः सत्त्वगुणी बनने के लिए पहले से ही रजस् और तमोगुण को उद्दीपित करनेवाले पदार्थों को छोड़ देना ही क्या यहाँ पर श्रुति का अभिप्राय नहीं है ?

स्वामी जी—उस श्रुति का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—'आहार' यानी इन्द्रिय-विषय; और रामानुज ने 'आहार' का अर्थ खाद्य माना है। मेरा मत है कि उन दोनों के मतों में सामजस्य कर लेना होगा। केवल दिन-रात खाद्य और अखाद्य पर वाद-विवाद करके ही जीवन व्यतीत करना उचित है या वास्तव में इन्द्रिय-संयम करना आवश्यक है ? अतएव हमें इन्द्रिय-संयम को ही मुख्य उद्देश्य मान लेना होगा; और उस इन्द्रिय-संयम के लिए ही भले-बुरे खाद्य-अखाद्य का थोड़ा-बहुत विचार करना होगा। शास्त्रो ने कहा है, खाद्य तीन प्रकार के दोषों से अपवित्र तथा त्याज्य होता है। (१) जाति दोष—जैसे प्याज़, लहसुन आदि। (२) निमित्त दोष—जैसे हलवाई की दूकान की मिठाई, जिसमें कितनी ही मरी मक्खियाँ तथा रास्ते की धूल उड़कर पड़ी रहती है, आदि। (३) आश्रय दोष—जैसे बुरे व्यक्ति द्वारा छुआ हुआ अन्न आदि। जाति दोष अथवा निमित्त दोष से खाद्य युक्त है या नहीं, इस पर सभी समय विशेष दृष्टि रखनी चाहिए; परन्तु इस देश में इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया जाता। केवल शेषोक्त दोष को ही लेकर—जो योगियों के अतिरिक्त शायद दूसरा कोई समझ ही नहीं सकता—देश में व्यर्थ के संघर्ष हो रहे हैं। 'छुओ मत', 'छुओ मत' कह कहकर छूतपन्थियों ने देश को तंग कर डाला है। भले-बुरे का विचार नहीं—गले में केवल यज्ञोपवीत धारण कर लेने से ही किसीके हाथ का अन्न खाने में छूतधर्मियों को आपत्ति नहीं रहती। खाद्य के आश्रय दोष पर ठीक ध्यान देते एकमात्र श्री रामकृष्ण को ही देखा है। ऐसी अनेक घटनाएँ हुईं, जब वे किसी किसी व्यक्ति का छुआ नहीं खा सके। कभी विशेष खोज करने पर जब पता लगाया गया, तो वास्तव में उस व्यक्ति में कोई न कोई बडा दोष अवश्य निकला। तुम लोगों का सब धर्म अब भात की हाँड़ियों में ही रह गया है। दूसरी जाति का छुआ हुआ भात न खाने से ही मानो भगवान् की प्राप्ति हो गयी।

शास्त्र के सब महान् सत्यों को छोड़कर केवल ऊपरी छिलका लेकर ही आजकल संघर्ष चल रहा है।

शिष्य—महाराज, तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि किसीका भी छुआ अन्न हमें खा लेना चाहिए ?

स्वामी जी—ऐसा क्यों कहूँगा ? मेरा कहना है—तू ब्राह्मण है, दूसरी जाति का अन्न चाहे न भी खा, पर तू सभी ब्राह्मणों के हाथ का अन्न क्यों नहीं खाता ? मान लो, तुम लोग राढ़ी श्रेणी के ब्राह्मण हो, तो वारेन्द्र श्रेणी के ब्राह्मणों का अन्न खाने में तुम्हें क्यों आपत्ति होनी चाहिए ? दूसरी ओर वारेन्द्र ब्राह्मण तुम्हारा अन्न क्यों नहीं खायेंगे ? महाराष्ट्री, तेलंगी और कन्नौजी ब्राह्मण भी तुम्हारे हाथ का अन्न क्यों नहीं खायेंगे ? कलकत्ते में जाति-विचार और भी मज़े का है। देखा जाता है, अनेक ब्राह्मण तथा कायस्थ होटलों में भात खा रहे हैं, परन्तु वे ही होटल से बाहर निकलकर समाज के नेता बन रहे हैं, वे ही दूसरों के लिए जाति-विचार तथा अन्न-विचार के नियम बनाते हैं ! मैं कहता हूँ, क्या समाज को उन सब पाखंडियों के बनाये नियमों के अनुसार चलना चाहिए ? असल में उनकी बातों को छोड़कर सनातन ऋषियों का शासन चलाना होगा, तभी देश का कल्याण सम्भव है।

शिष्य—तो क्या महाराज, कलकत्ते के आधुनिक समाज में ऋषियों का शासन नहीं चल रहा है ?

स्वामी जी—केवल कलकत्ते में ही क्यों ? मैंने भारत में अच्छी तरह से छानबीन करके देखा है, कहीं भी ऋषि-शासन ठीक ठीक नहीं चल रहा है। केवल लोकाचार, देशाचार और स्त्री-आचार, इन्हींसे सभी स्थानों में समाज का शासन चल रहा है। न शास्त्रों का कोई अध्ययन करता है, और न पढ़कर उसके अनुसार समाज को चलाना ही चाहता है।

शिष्य—तो महाराज, अब हमें क्या करना होगा ?

स्वामी जी—ऋषियों का मत चलाना होगा; मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के मंत्र से देश को दीक्षित करना होगा। समय के अनुसार कुछ कुछ परिवर्तन करना होगा। यह देख न, भारत में कहीं भी अब चातुर्वर्ण्य विभाग दृष्टिगोचर नहीं होता। पहले तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों में देश के लोगों को विभाजित करना होगा। सब ब्राह्मणों को एक करके ब्राह्मणों की एक जाति संगठित करनी होगी। इसी प्रकार सब क्षत्रिय, सब वैश्य तथा सब शूद्रों को लेकर अपर तीन जातियाँ बनाकर सभी जातियों को वैदिक प्रणाली में लाना होगा। नहीं तो केवल 'तुम्हें छुऊँगा नहीं' कहने से ही क्या देश का कल्याण होगा ? कभी नहीं।

४

[ब्रह्म, ईश्वर, माया और जीव के स्वरूप—'अहं ब्रह्म' इस प्रकार ज्ञान न होने पर मुक्ति नहीं होती—अन्तर्बहिः संन्यास द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति—संशय-भाव का त्याग करना—किस प्रकार के चिन्तन से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है—मन का स्वरूप तथा मन का संयम किस प्रकार करना होता है—ज्ञानपथ का पथिक ध्यान के विषय के रूप में अपने यथार्थ स्वरूप का ही अवलम्बन करेगा—अद्वैत लाभ का अनुभव—ज्ञान-भक्ति-योगरूपी सभी पथों का लक्ष्य—अवतार-तत्त्व—आत्मज्ञान प्राप्त करने में उत्साह देना—आत्मज्ञ पुरुष का कर्म जगत् के हित के लिए होता है।]

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १८९९ ई०]

इस समय स्वामी जी काफ़ी स्वस्थ हैं। शिष्य रविवार को प्रातःकाल मठ में आया है। स्वामी जी के चरण-कमलों का दर्शन करने के बाद दुमंज़िले से उतर वह स्वामी निर्मलानन्द के साथ वेदान्त शास्त्र की चर्चा कर रहा है। इसी समय स्वामी जी नीचे उतर आये और शिष्य को देखकर कहने लगे, "अरे, तुलसी के साथ क्या विचार-विमर्श हो रहा था?"

शिष्य—महाराज, तुलसी महाराज कह रहे थे, 'वेदान्त का ब्रह्मवाद केवल तू और तेरे स्वामी जी जानते हैं। हम तो जानते हैं—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

स्वामी जी—तूने क्या कहा?

शिष्य—मैंने कहा, 'एक आत्मा ही सत्य है। कृष्ण केवल एक ब्रह्मज्ञ पुरुष थे।' तुलसी महाराज भीतर से वेदान्तवादी हैं, परन्तु बाहर द्वैतवादी का पक्ष लेकर तर्क करते हैं, ईश्वर को व्यक्तिविशेष बताकर बात का प्रारम्भ करके धीरे धीरे वेदान्तवाद की नींव को सुदृढ़ प्रमाणित करना ही उनका उद्देश्य ज्ञात होता है। परन्तु जब वे मुझे 'वैष्णव' कहते हैं, तो मैं उनके सच्चे इरादे को भूल जाता हूँ और उनके साथ वाद-विवाद करने लग जाता हूँ।

स्वामी जी—तुलसी तुझसे प्रेम करता है न, इसीलिए वैसा कहकर तुझे चिढ़ाता है। तू बिगड़ता क्यों है? तू भी कहता, 'आप शून्यवादी नास्तिक हैं।'

शिष्य—महाराज, उपनिषद्, दर्शन आदि में क्या यह बात है कि ईश्वर कोई शक्तिमान व्यक्तिविशेष है? लोग किन्तु वैसे ही ईश्वर में विश्वास रखते हैं।

स्वामी जी—सर्वेश्वर कभी भी व्यक्तिविशेष नहीं बन सकता। जीव है

व्यष्टि; और समस्त जीवों की समष्टि है ईश्वर। जीव में अविद्या प्रबल है; ईश्वर विद्या और अविद्या की समष्टिरूपी माया को वशीभूत करके विराजमान है और स्वाधीन भाव से उस स्थावर-जंगमात्मक जगत् को अपने भीतर से बाहर निकाल रहा है। परन्तु ब्रह्म उस व्यष्टि-समष्टि से अथवा जीव और ईश्वर से परे है। ब्रह्म का अंशांश भाग नहीं होता। समझाने के लिए उनके त्रिपाद, चतुष्पाद आदि की कल्पना मात्र की गयी है। जिस पाद में सृष्टि-स्थिति-लय का अध्यास हो रहा है, उसीको शास्त्र में 'ईश्वर' कहकर निर्देश किया गया है। अपर त्रिपाद कूटस्थ है, जिसमें द्वैत कल्पना का आभास नहीं, वही ब्रह्म है। इससे तू कहीं ऐसा न मान लेना कि ब्रह्म जीव-जगत् से कोई अलग वस्तु है। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, 'ब्रह्म ही जीव-जगत् के रूप में परिणत हुआ है।' अद्वैतवादी कहते हैं, 'ऐसा नहीं, ब्रह्म में जीव-जगत् अध्यस्त मात्र हुआ है।, परन्तु वास्तव में उसमें ब्रह्म की किसी प्रकार की परिणति नहीं हुई।' अद्वैतवादी का कहना है कि जगत् केवल नाम-रूप ही है। जब तक नाम-रूप है, तभी तक जगत् है। ध्यान-धारणा द्वारा जब नाम-रूप लुप्त हो जाता है, उस समय एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है। उस समय तेरी, मेरी अथवा जीव-जगत् की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं होता। उस समय ऐसा लगता है, मैं ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध प्रत्यक् चैतन्य अथवा ब्रह्म हूँ---जीव का स्वरूप ही ब्रह्म है। ध्यान-धारणा द्वारा नाम-रूप आवरण हटकर यह भाव प्रत्यक्ष होता है, बस, इतना ही। यही है शुद्धाद्वैतवाद का असल सार। वेद-वेदान्त, शास्त्र आदि इसी बात को नाना प्रकार से बार बार समझा रहे हैं।

शिष्य---तो फिर ईश्वर सर्वशक्तिमान व्यक्तिविशेष है। यह बात कैसे सत्य हो सकती है?

स्वामी जी---मनरूपी उपाधि को लेकर ही मनुष्य है। मन के ही द्वारा मनुष्य को सभी विषय समझना पड़ रहा है। परन्तु मन जो कुछ सोचता है, वह सीमित होगा ही। इसीलिए अपने व्यक्तित्व से ईश्वर के व्यक्तित्व की कल्पना करना जीव का स्वतःसिद्ध स्वभाव है, मनुष्य अपने आदर्श को मनुष्य के रूप में ही सोचने में समर्थ है। इस जरा-मृत्युपूर्ण जगत् में आकर मनुष्य दुःख की ताड़ना से 'हा हतोऽस्मि' करता है और किसी ऐसे व्यक्ति का आश्रय लेना चाहता है, जिस पर निर्भर रहकर वह चिन्ता से मुक्त हो सके। परन्तु ऐसा आश्रय है कहाँ! निराधार सर्वज्ञ आत्मा ही एकमात्र आश्रयस्थल है। पहले पहले मनुष्य यह बात जान नहीं सकता। विवेक-वैराग्य आने पर ध्यान-धारणा करते करते धीरे धीरे यह जाना जाता है। परन्तु कोई किसी भी भाव से साधना क्यों न करे, सभी अनजान में अपने भीतर स्थित ब्रह्मभाव को जगा रहे हैं। हाँ, आलम्बन अलग अलग हो सकते

हैं। जिसका ईश्वर के सगुण होने में विश्वास है, उसे उसी भाव को पकड़कर साधन-भजन आदि करना चाहिए। ऐकान्तिक भाव आने पर उसीसे समय पाकर ब्रह्म-रूपी सिंह उसके भीतर से जाग उठता है। ब्रह्मज्ञान ही जीव का एकमात्र प्राप्य है। परन्तु अनेक पन्थ---अनेक मत हैं। जीव का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म होने पर भी मनरूपी उपाधि में अभिमान रहने के कारण, वह तरह तरह के सन्देह, संशय, सुख, दुःख आदि भोगता है, परन्तु अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए आब्रह्मस्तम्ब सभी गतिशील हैं। जब तक 'अहं ब्रह्म' यह तत्त्व प्रत्यक्ष न होगा, तब तक इस जन्म-मृत्यु की गति के पंजे से किसीका छुटकारा नहीं है। मनुष्य-जन्म प्राप्त करके मुक्ति की इच्छा प्रबल होने तथा महापुरुष की कृपा प्राप्त होने पर ही मनुष्य की आत्मज्ञान की आकांक्षा बलवती होती है; नहीं तो काम-कांचन में लिप्त व्यक्तियों के मन की उधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिसके मन में स्त्री, पुत्र, धन, मान प्राप्त करने का संकल्प है, उनके मन में ब्रह्म को जानने की इच्छा कैसे हो? जो सर्वस्व त्यागने को तैयार है, जो सुख-दुःख, भले-बुरे के चंचल प्रवाह में धीर-स्थिर, शान्त तथा दृढ़चित्त रहता है, वही आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए सचेष्ट होता है। वही, **निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केसरी**---महाबल से जगद्रूपी जाल को तोड़कर माया की सीमा को लाँघ सिंह की तरह बाहर निकल जाता है।

शिष्य---क्या महाराज, संन्यास के बिना ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकता?

स्वामी जी---क्या यह बात एक बार कहने की है? अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार से संन्यास का अवलम्बन करना चाहिए। आचार्य शंकर ने भी उपनिषद् के **तपसो वाप्यलिंगात्**---इस अंश की व्याख्या के प्रसंग में कहा है, 'लिंगहीन अर्थात् संन्यास के बाह्य चिह्नों के रूप में गेरुआ वस्त्र, दण्ड, कमण्डलु आदि धारण न करके तपस्या करने पर कष्ट से प्राप्त करने योग्य ब्रह्म-तत्त्व प्रत्यक्ष नहीं होता।'[1] वैराग्य न आने पर, त्याग न होने पर, भोग-स्पृहा का त्याग न होने पर क्या कुछ होना सम्भव है?---वह बच्चे के हाथ का लड्डू तो है नहीं, जिसे भुलावा देकर छीनकर खा सकते हो।

शिष्य---परन्तु साधना करते करते धीरे धीरे त्याग आ सकता है न?

स्वामी जी---जिसे धीरे धीरे आता है, उसे आये। परन्तु तुझे क्यों बैठे रहना चाहिए? अभी से नाला काटकर जल लाने में लग जा। श्री रामकृष्ण कहा करते थे, "हो रहा है, होगा, यह सब टालने का ढंग है।" प्यास लगने पर क्या कोई बैठा रह सकता है? या जल के लिए दौड़-धूप करता है? प्यास नहीं लगी, इसलिए बैठा है। ज्ञान की इच्छा प्रबल नहीं हुई, इसीलिए स्त्री-पुत्र लेकर गृहस्थी कर रहा है!

१. मुंडपकोनिषद् ॥३।२।४॥

शिष्य—वास्तव में मैं यह समझ नहीं सका कि अभी तक मुझमें उस प्रकार की सर्वस्व त्यागने की बुद्धि क्यों नहीं आ सकी। आप इसका कोई उपाय कर दीजिए।

स्वामी जी—उद्देश्य और उपाय सभी तेरे हाथ में हैं। मैं केवल उस विषय की इच्छा को मन में उत्तेजित कर दे सकता हूँ। तू इन सब सत् शास्त्रों का अध्ययन कर रहा है—बड़े बड़े ब्रह्मज्ञ साधुओं की सेवा और सत्संग कर रहा है—इतने पर भी यदि त्याग का भाव नहीं आता, तो तेरा जीवन ही व्यर्थ है। परन्तु बिल्कुल व्यर्थ नहीं होगा—समय पर इसका परिणाम निकलेगा ही।

शिष्य सर झुकाये विषण्ण भाव से कुछ समय तक अपने भविष्य की चिन्ता करके फिर स्वामी जी से कहने लगा, "महाराज, मैं आपकी शरण में आया हूँ, मेरी मुक्ति का रास्ता खोल दीजिए—मैं इसी जन्म में तत्त्वज्ञ बनना चाहता हूँ।"

स्वामी जी शिष्य को खिन्न देखकर कहने लगे, "भय क्या है? सदा विचार किया कर—यह शरीर, घर, जीव-जगत् सभी सम्पूर्ण मिथ्या है—स्वप्न की तरह है, सदा सोचा कर कि यह शरीर एक जड़-यंत्र मात्र है। इसमें जो आत्माराम पुरुष है, वही तेरा वास्तविक स्वरूप है। मनरूपी उपाधि ही उसका प्रथम और सूक्ष्म आवरण है। उसके बाद देह उसका स्थूल आवरण बना हुआ है। निष्कल, निर्विकार, स्वयंज्योति वह पुरुष इन सब मायिक आवरणों से ढका हुआ है, इसलिए तू अपने स्वरूप को जान नहीं पाता। रूप-रस की ओर दौड़नेवाले इस मन की गति को अन्दर की ओर लौटा देना होगा। मन को मरना होगा। देह तो स्थूल है। यह मरकर पंचभूतों में मिल जाती है, परन्तु संस्कारों की गठरी मन शीघ्र नहीं मरता। बीज की भाँति कुछ दिन रहकर फिर वृक्षरूप में परिणत होता है, फिर स्थूल शरीर धारण करके जन्म-मृत्यु के पथ में आया-जाया करता है। जब तक आत्म-ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यही क्रम चलता रहता है। इसीलिए कहता हूँ—ध्यान, धारणा और विचार के बल पर मन को सच्चिदानन्द-समुद्र में डुबो दे। मन के मरते ही सभी गया समझ। बस, फिर तू ब्रह्मसंस्थ हो जायगा।

शिष्य—महाराज, इस उद्दाम उन्मत्त मन को ब्रह्म में डुबो देना बहुत ही कठिन है।

स्वामी जी—वीर के सामने कठिन नाम की कोई भी चीज़ है क्या? कापुरुष ही ऐसी बातें कहा करते हैं! **वीराणामेव करतलगता मुक्तिः, न पुनः कापुरुषाणाम्।** अभ्यास और वैराग्य के बल से मन को संयत कर। गीता में कहा है, **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।** चित्त मानो एक निर्मल तालाब है। रूप-रस आदि के आघात से उसमें जो तरंग उठ रही है, उसीका नाम है मन। इसीलिए मन का स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक है। उस संकल्प-विकल्प से ही वासना उठती है। उसके

बाद वह मन ही क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होकर स्थूल देहरूपी यंत्र के द्वारा कार्य करता है। फिर कर्म भी जिस प्रकार अनन्त है, कर्म का फल भी वैसा ही अनन्त है। अतः अनन्त असंख्य कर्मफलरूपी तरंग में मन सदा झूला करता है। उस मन को वृत्तिशून्य बना देना होगा। उसे स्वच्छ तालाब में परिणत करना होगा, जिससे उसमें फिर वृत्तरूपी एक भी तरंग न उठ सके। तभी ब्रह्म-तत्त्व प्रकट होगा। शास्त्रकार उसी स्थिति का आभास इस रूप में दे रहे हैं—**भिद्यते हृदयग्रन्थिः** आदि—समझा ?

शिष्य—जी हाँ, परन्तु ध्यान तो विषयावलम्बी होना चाहिए न ?

स्वामी जी—तू स्वयं ही अपना विषय बनेगा। तू सर्वव्यापी आत्मा है, इसी बात का मनन और ध्यान किया कर। मैं देह नहीं—मन नहीं—बुद्धि नहीं—स्थूल नहीं—सूक्ष्म नहीं—इस प्रकार 'नेति नेति' करके प्रत्यक् चैतन्यरूपी अपने स्वरूप में मन को डुबो दे। इस प्रकार मन को बार बार डुबो डुबोकर मार डाल। तभी ज्ञानस्वरूप का बोध या स्व स्वरूप में स्थिति होगी। उस समय ध्याता-ध्येय-ध्यान एक बन जायँगे—ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान एक हो जायँगे। सभी अध्यासों की निवृत्ति हो जायगी। इसीको शास्त्र में 'त्रिपुटि भेद' कहा है। इस स्थिति में जानने, न जानने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। आत्मा ही जब एकमात्र विज्ञाता है, तब उसे फिर जानेगा कैसे ? आत्मा ही ज्ञान—आत्मा ही चैतन्य—आत्मा ही सच्चिदानन्द है। जिसे सत् या असत् कुछ भी कहकर निर्देश नहीं किया जा सकता, उसी अनिर्वचनीय मायाशक्ति के प्रभाव से जीवरूपी ब्रह्म के भीतर ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भाव आ गया है। इसे ही साधारण मनुष्य चेतन स्थिति कहते हैं। यहाँ यह द्वैतसंघात शुद्ध ब्रह्म-तत्त्व एक बन जाता है, उसे ही शास्त्र में समाधि या दिव्य चेतन स्थिति कहकर इस प्रकार वर्णन किया गया है—**स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम्** !

इन बातों को स्वामी जी मानो ब्रह्मानुभव के गंभीर सलिल में मग्न होकर ही कहने लगे—इस ज्ञाता-ज्ञेयरूप सापेक्ष भूमिका से ही दर्शन, शास्त्र-विज्ञान आदि निकले हैं; परन्तु मानव मन का कोई भी भाव या भाषा जानने या न जानने के परे की वस्तु को सम्पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सकती। दर्शन, विज्ञान आदि आंशिक रूप से सत्य हैं; इसलिए वे किसी भी तरह परमार्थ तत्त्व के सम्पूर्ण प्रकाशक नहीं बन सकते। अतएव परमार्थ की दृष्टि से देखने पर सभी मिथ्या ज्ञात होता है—धर्म मिथ्या, कर्म मिथ्या, मैं मिथ्या हूँ, तू मिथ्या है, जगत् मिथ्या है। उसी समय देखता है कि मैं ही सब कुछ हूँ; मैं ही सर्वगत आत्मा हूँ; मेरा प्रमाण मैं ही हूँ। मेरे अस्तित्व के प्रमाण के लिए फिर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता कहाँ ? मैं—जैसा कि शास्त्रों ने कहा है—**नित्यमस्मत्प्रसिद्धम्** हूँ। मैंने वास्तव में ऐसी स्थिति

को प्रत्यक्ष किया है—उसका अनुभव किया है। तुम लोग भी देखो—अनुभव करो—और जाकर जीव को यह ब्रह्म-तत्त्व सुनाओ। तब तो शान्ति पायेगा।"

ऐसा कहते कहते स्वामी जी का मुख गम्भीर बन गया और उनका मन मानो किसी एक अज्ञात राज्य में जाकर थोड़ी देर के लिए स्थिर हो गया। कुछ समय के बाद वे फिर कहने लगे —"इस सर्वमतग्रासिनी, सर्वमतसमंजसा ब्रह्मविद्या का स्वयं अनुभव कर—और जगत् में प्रचार कर, उससे अपना कल्याण होगा, जीव का भी कल्याण होगा। तुझे आज सारी बात बता दी। इससे बढ़कर बात और दूसरी कोई नहीं।"

शिष्य—महाराज, आप इस समय ज्ञान की बात कर रहे हैं; कभी भक्ति की, कभी कर्म की तथा कभी योग की प्रधानता की बात कहते हैं। इससे मेरी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

स्वामी जी—असल बात यही है कि ब्रह्मज्ञ बनना ही चरम लक्ष्य है—परम पुरुषार्थ है। परन्तु मनुष्य तो हर समय ब्रह्म में स्थित नहीं रह सकता? व्युत्थान के समय कुछ लेकर तो रहना होगा? उस समय ऐसा कर्म करना चाहिए, जिससे लोगों का कल्याण हो। इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ, अभेदबुद्धि से जीव की सेवा के भाव से कर्म करो। परन्तु भैया, कर्म के ऐसे दाँव-घात हैं कि बड़े बड़े साधु भी इसमें आबद्ध हो जाते हैं! इसीलिए फल की आकांक्षा से शून्य होकर कर्म करना चाहिए। गीता में यही बात कही गयी है। परन्तु यह समझ ले कि ब्रह्मज्ञान में कर्म का अनुप्रवेश भी नहीं है। सत्कर्म के द्वारा बहुत हुआ, तो चित्त-शुद्धि होती है। इसीलिए भाष्यकार ने ज्ञान-कर्म-समुच्चय के प्रति इतना तीव्र कटाक्ष—इतना दोषारोपण किया है। निष्काम कर्म से किसी किसीको ब्रह्मज्ञान हो सकता है। यह भी एक उपाय अवश्य है, परन्तु उद्देश्य है ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति। इस बात को भली भाँति जान ले—विचार-मार्ग तथा अन्य सभी प्रकार की साधना का फल है, ब्रह्मज्ञता प्राप्त करना।

शिष्य—महाराज, अब भक्ति और राजयोग की उपयोगिता बताकर मेरी जिज्ञासा शांत कीजिए।

स्वामी जी—उन सब पथों में साधना करते करते भी किसी किसीको ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। भक्तिमार्ग के द्वारा धीरे धीरे उन्नति होकर फल देर में प्राप्त होता है—परन्तु मार्ग है सरल। योग में अनेक विघ्न हैं। सम्भव है कि मन सिद्धियों में चला जाय और असली स्वरूप में पहुँच न सके। एकमात्र ज्ञान-मार्ग ही आशुफलदायक है और सभी मतों का संस्थापक होने के कारण सर्वकाल में सभी देशों में समान रूप से सम्मानित है। परन्तु विचार-पथ में चलते चलते भी मन ऐसे

तर्क-जाल में बद्ध हो सकता है, जिससे निकलना कठिन हो। इसीलिए साथ ही साथ ध्यान भी करते जाना चाहिए। विचार और ध्यान के बल पर उद्देश्य तक अथवा ब्रह्म-तत्त्व में पहुँचना होगा। इस प्रकार साधना करने से गन्तव्य स्थल पर ठीक ठीक पहुँचा जा सकता है। यही मेरी सम्मति में सरल तथा शीघ्र फलदायक मार्ग है।

शिष्य—अब मुझे अवतारवाद के सम्बन्ध में कुछ बताइए।

स्वामी जी—जान पड़ता है, तू एक दिन में सभी कुछ मार लेना चाहता है!

शिष्य—महाराज, मन का सन्देह एक ही दिन में मिट जाय, तो बार बार फिर आपको तंग न करना पड़ेगा।

स्वामी जी—जिस आत्मा की इतनी महिमा शास्त्रों से जानी जाती है, उस आत्मा का ज्ञान जिनकी कृपा से एक मुहूर्त में प्राप्त होता है, वे ही हैं सचल तीर्थ—अवतार पुरुष। वे जन्म से ही ब्रह्मज्ञ हैं और ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञ में कुछ भी अन्तर नहीं—**'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'**[1] (ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है)। आत्मा को तो फिर जाना नहीं जाता, क्योंकि यह आत्मा ही ज्ञाता और मननशील बनी हुई है—यह बात पहले ही मैंने कही है। अतः मनुष्य का जानना उसी अवतार तक है—जो आत्मसंस्थ है। मानव-बुद्धि ईश्वर के सम्बन्ध में जो सबसे उच्च भाव ग्रहण कर सकती है, वह वहीं तक है। उसके बाद और जानने का प्रश्न नहीं रहता। उस प्रकार के ब्रह्मज्ञ कभी कभी ही जगत् में पैदा होते हैं। उन्हें कम लोग ही समझ पाते हैं। वे ही शास्त्र- वचनों के प्रमाण-स्थल हैं—भवसागर के आलोकस्तम्भ हैं! इन अवतारों के सत्संग तथा कृपादृष्टि से एक क्षण में ही हृदय का अन्धकार दूर हो जाता है—एकाएक ब्रह्मज्ञान का स्फुरण हो जाता है। क्यों होता है अथवा किस उपाय से होता है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता, परन्तु होता अवश्य है। मैंने होते देखा है। श्री कृष्ण ने आत्मसंस्थ होकर गीता कही थी। गीता में जिन जिन स्थानों में 'अहम्' शब्द का उल्लेख है—वह है 'आत्मपर' जानना। मामेकं शरणं व्रज अर्थात् 'आत्मसंस्थ बनो।' यह आत्मज्ञान ही गीता का अन्तिम लक्ष्य है। योग आदि का उल्लेख उसी आत्म-तत्व की प्राप्ति की आनुषंगिक अवतारणा है। जिन्हें यह आत्मज्ञान नहीं होता, वे आत्मघाती हैं—विनिहन्त्यसद्ग्रहात्। रूप-रस आदि की फाँसी लगकर उनके प्राण निकल जाते हैं। तू भी तो मनुष्य है—दो दिनों के तुच्छ भोग की उपेक्षा नहीं कर सकता? **जायस्व म्रियस्व** के दल में जायगा? 'श्रेय' को ग्रहण कर—'प्रेय' का त्याग कर! यह आत्म-तत्त्व चाण्डाल आदि सभी

---

१. **मुंडकोपनिषद्** ॥३।२।९॥

को सुना। सुनाते सुनाते तेरी बुद्धि भी निर्मल हो जायगी। तत्त्वमसि, सोऽहमस्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आदि महामंत्र का सदा उच्चारण कर और हृदय में सिंह की तरह बल रख। भय क्या है? भय ही मृत्यु है—भय ही महापातक है। नररूपी अर्जुन को भय हुआ था—इसलिए आत्मसंस्थ होकर भगवान् श्री कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया; फिर भी क्या उसका भय चला गया था? अर्जुन जब विश्वरूप का दर्शन कर आत्मसंस्थ हुए, तभी वे ज्ञानाग्नि-दग्धकर्मा बने और उन्होंने युद्ध किया।

शिष्य—महाराज, आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर भी क्या कर्म रह जाता है?

स्वामी जी—ज्ञान-प्राप्ति के बाद साधारण लोग जिसे कर्म कहते हैं, वैसा कर्म नहीं रहता। उस समय कर्म 'जगद्धिताय' हो जाता है। आत्मज्ञानी की सभी बातें जीव के कल्याण के लिए होती हैं। श्री रामकृष्ण को देखा है—**देहस्थोऽपि न देहस्थः** (देह में रहते हुए भी देह में न रहना) यह भाव! वैसे पुरुषों के कर्म के उद्देश्य के सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है—**लोकवत्तु लीला कैवल्यम्** (जो कुछ वे करते हैं, वह केवल लोक में लीलारूप में है)।

५

[स्वामी जी का मनःसंयम—स्त्री-मठ की स्थापना के संकल्प के सम्बन्ध में शिष्य से बातचीत—एक ही चित्सत्ता स्त्री और पुरुष, दोनों में समभाव से विद्यमान—प्राचीन युग में स्त्रियों का शास्त्र में कहाँ तक अधिकार था—स्त्री-जाति का सम्मान किये बिना किसी देश या जाति की उन्नति असम्भव—भावी स्त्रीमठ की नियमावली—उस मठ में शिक्षाप्राप्त ब्रह्मचारिणियों के द्वारा समाज का किस प्रकार व्यापक कल्याण होगा—परब्रह्म में लिंगभेद नहीं—वर्तमान प्रचलित शिक्षा में अनेक त्रुटियाँ रहने पर भी वह निन्दनीय नहीं—धर्म को शिक्षा की नींव बनाना होगा। मानव के भीतर ब्रह्म के विकास के सहायक कार्य ही सत्कार्य हैं—कर्म और ब्रह्मज्ञान]

[स्थान : बेलूड़ मठ। वर्ष : १९०१ ई०]

शनिवार सायंकाल शिष्य मठ में आया है। स्वामी जी का शरीर पूर्ण स्वस्थ नहीं है। वे शिलङ पहाड़ से अस्वस्थ होकर थोड़े दिन हुए लौटे हैं। उनके पैरों में सूजन आ गयी है, और समस्त शरीर में मानो जल भर आया है; इसलिए स्वामी

जी के गुरुभाई बहुत ही चिन्तित हैं। बहूबाज़ार के श्री महानन्द वैद्य स्वामी जी का इलाज कर रहे हैं। स्वामी निरंजनानन्द के अनुरोध से स्वामी जी ने वैद्य की दवा लेना स्वीकार किया है। आगामी मंगलवार से नमक और जल लेना बन्द करके नियमित दवा लेनी है—आज रविवार है।

शिष्य ने पूछा—महाराज, यह विकट गर्मी का मौसम है। इस पर आप प्रति घंटे ४-५ बार जल पीते हैं; जल पीना बन्द करके दवा लेना आपके लिए कठिन तो न होगा ?

स्वामी जी—तू क्या कह रहा है ? दवा लेने के दिन प्रातःकाल जल न पीने का दृढ़ संकल्प करूँगा; उसके बाद क्या मजाल है कि जल फिर कण्ठ से नीचे उतरे। मेरे संकल्प के कारण इक्कीस दिन जल फिर नीचे नहीं उतर सकेगा। शरीर तो मन का ही आवरण है। मन जो कहेगा, उसीके अनुसार तो उसे चलना होगा। फिर बात क्या है ? निरंजन के अनुरोध से मुझे ऐसा करना पड़ा। उन लोगों का (गुरुभाइयों का) अनुरोध तो मैं टाल नहीं सकता।

दिन के लगभग दस बजे का समय है। स्वामी जी ऊपर ही बैठे हैं। स्त्रियों के लिए जो भविष्य में मठ तैयार करेंगे, उसके सम्बन्ध में शिष्य के साथ बातचीत कर रहे हैं। कह रहे हैं, "माता जी को केन्द्र मानकर गंगा के पूर्व तट पर स्त्रियों के मठ की स्थापना करनी होगी। इस मठ में जिस प्रकार ब्रह्मचारी साधु तैयार होंगे, उसी प्रकार उस पार के स्त्री-मठ में भी ब्रह्मचारिणी और साध्वी स्त्रियाँ तैयार होंगी।"

शिष्य—महाराज, भारत के इतिहास में बहुत प्राचीन काल से भी स्त्रियों के लिए तो किसी मठ की बात नहीं मिलती। बौद्ध युग में ही स्त्री-मठों की बात सुनी जाती है। परन्तु उसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के व्यभिचार होने लगे थे। घोर वामाचार से देश भर गया था।

स्वामी जी—इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त शास्त्र में तो कहा है, एक ही चित् सत्ता सर्वभूत में विद्यमान है। तुम लोग स्त्रियों की निन्दा ही करते हो। उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया, बोलो तो ? स्मृति आदि लिखकर, नियम-नीति में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को एकदम बच्चा पैदा करने की मशीन बना डाला है। महामाया की साक्षात् मूर्ति—इन स्त्रियों का उत्थान न होने से क्या तुम लोगों की उन्नति सम्भव है ?

शिष्य—महाराज, स्त्री-जाति साक्षात् माया की मूर्ति है। मनुष्य के अधःपतन के लिए ही मानो उनकी सृष्टि हुई है। स्त्री-जाति ही माया के द्वारा मनुष्य के ज्ञान-

वैराग्य को आवृत कर देती है। सम्भव है, इसलिए शास्त्रों ने कहा कि उन्हें ज्ञान-भक्ति का कभी लाभ न होगा।

स्वामी जी—किस शास्त्र में ऐसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं होंगी ? भारत का अधःपतन उसी समय से हुआ, जब ब्राह्मण पण्डितों ने ब्राह्मणेतर जातियों को वेदपाठ का अनधिकारी घोषित किया, और साथ ही, स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिये। नहीं तो, वैदिक युग में, उपनिषद् युग में, तू देख कि मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रातःस्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्मविचार में ऋषितुल्य हो गयी हैं। हज़ार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान के शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। इन सब आदर्श विदुषी स्त्रियों को जब उस समय अध्यात्म ज्ञान का अधिकार था, तब फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा ? एक बार जो हुआ है, वह फिर अवश्य ही हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है। स्त्रियों की पूजा करके सभी जातियाँ बड़ी बनी हैं। जिस देश में, जिस जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं, वह देश, वह जाति न कभी बड़ी बन सकी और न कभी बन ही सकेगी। तुम्हारी जाति का जो इतना अधःपतन हुआ, उसका प्रधान कारण है, इन सब शक्ति-मूर्तियों का अपमान। मनु ने (३।५६) कहा है, **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥** (जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न होते है और जहाँ उनका सम्मान नहीं होता है, वहाँ समस्त कार्य और प्रयत्न असफल हो जाते हैं)। जहाँ पर स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, वे दुःखी रहती हैं, उस परिवार की, उस देश की उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए इन्हें पहले उठाना होगा। इनके लिए आदर्श मठ की स्थापना करनी होगी।

शिष्य—महाराज, प्रथम बार देश से लौटकर आपने स्टार थियेटर में भाषण देते हुए तंत्र की कितनी निन्दा की थी। अब फिर तन्त्रों द्वारा प्रतिपादित स्त्री-पूजा का समर्थन कर आप अपनी ही बात बदल रहे हैं।

स्वामी जी—तंत्र का वामाचार मत बदलकर इस समय उसका जो रूप हो गया है, उसीकी मैंने निन्दा की थी। तंत्रोक्त मातृभाव की अथवा यथार्थ वामाचार की मैंने निन्दा नहीं की। भगवती मानकर स्त्रियों की पूजा करना ही तंत्र का उद्देश्य है। बौद्ध धर्म के अधःपतन के समय वामाचार घोर दूषित हो गया था। वही दूषित भाव आजकल के वामाचार में विद्यमान है। अब भी भारत के तंत्रशास्त्र उसी भाव से प्रभावित हैं। उन सब बीभत्स प्रथाओं की ही मैंने निन्दा की थी, अब भी करता हूँ। जिस महामाया का रूप-रसात्मक बाह्य विकास मनुष्य को पागल बनाये रखता है, जिस माया का ज्ञान-भक्ति-विवेक-वैराग्यात्मक अन्तर्विकास मनुष्य

को सर्वज्ञ, सिद्धसंकल्प, ब्रह्मज्ञ बना देता है—उन प्रत्यक्ष मातृरूपा स्त्रियों की पूजा करने का निषेध मैंने कभी नहीं किया। सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये—(प्रसन्न होने पर वह वर देनेवाली तथा मनुष्यों की मुक्ति का कारण होती है)—इस महामाया को पूजा, प्रणाम द्वारा प्रसन्न न कर सकने पर क्या मजाल है कि ब्रह्मा-विष्णु तक उनके पंजे से छूटकर मुक्त हो जायँ ? गृहलक्ष्मियों की पूजा के उद्देश्य से, उनमें ब्रह्मविद्या के विकास के निमित्त उनके लिए मठ बनवाकर जाऊँगा।

शिष्य—हो सकता है कि आपका यह संकल्प अच्छा है, परन्तु स्त्रियाँ कहाँ से मिलेंगी ? समाज के बड़े बन्धन के रहते कौन कुलवधुओं को स्त्री-मठ में जाने की अनुमति देगा ?

स्वामी जी—क्यों रे ? अभी भी श्री रामकृष्ण की कितनी ही भक्तिमती लड़कियाँ हैं। उनसे स्त्री-मठ का प्रारम्भ करके जाऊँगा। श्री माता जी उनका केन्द्र बनेंगी। श्री रामकृष्ण देव के भक्तों की स्त्री-कन्याएँ आदि उसमें पहले-पहल निवास करेंगी, क्योंकि वे उस प्रकार के स्त्री-मठ की उपकारिता आसानी से समझ सकगी। उसके बाद उन्हें देखकर अन्य गृहस्थ लोग भी इस महत्कार्य के सहायक बनेंगे।

शिष्य—श्री रामकृष्ण के भक्तगण इस कार्य में अवश्य ही सम्मिलित होंगे; परन्तु साधारण लोग इस कार्य में सहायक बनेंगे, ऐसा सरल प्रतीत नहीं होता।

स्वामी जी—जगत् का कोई भी महान् कार्य त्याग के बिना नहीं हुआ। वट वृक्ष का अंकुर देखकर कौन समझ सकता है कि समय आने पर वह एक विराट् वृक्ष बनेगा ? अब तो इसी रूप में मठ की स्थापना करूँगा। फिर देखना, एकाध पीढ़ी के बाद दूसरे सभी देशवासी इस मठ की क़द्र करने लगेंगे। ये जो विदेशी स्त्रियाँ मेरी शिष्या बनी हैं, ये ही इस कार्य में जीवन उत्सर्ग करेंगी। तुम लोग भय और कापुरुषता छोड़कर इस कार्य में लग जाओ और इस उच्च आदर्श को सभीके सामने रख दो। देखना, समय पर इसकी प्रभा से देश उज्ज्वल हो उठेगा।

शिष्य—महाराज, स्त्रियों के लिए किस प्रकार मठ बनाना चाहते हैं, कृपया विस्तार के साथ मुझे बतलाइए। मैं सुनने के लिए विशेष उत्कंठित हूँ।

स्वामी जी—गंगा जी के उस पार एक विस्तृत भूमिखण्ड लिया जायगा। उसमें अविवाहित कुमारियाँ रहेंगी। तथा विधवा ब्रह्मचारिणी भी रहेंगी। साथ ही गृहस्थ घर की भक्तिमती स्त्रियाँ भी बीच बीच में आकर ठहर सकेंगी। इस मठ से पुरुषों का किसी प्रकार सम्बन्ध न रहेगा। पुरुष-मठ के वृद्ध साधुगण दूर से स्त्री-मठ का काम चलायेंगे। स्त्री-मठ में लड़कियों का एक स्कूल रहेगा। उसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण और साथ ही थोड़ी-बहुत अंग्रेजी भी सिखायी

जायगी। सिलाई का काम, रसोई बनाना, घर-गृहस्थी के सभी नियम तथा शिशु-पालन के मोटे मोटे विषयों की शिक्षा भी दी जायगी। साथ ही जप, ध्यान, पूजा, ये सब तो शिक्षा के अंग रहेंगे ही। जो स्त्रियाँ घर छोड़कर हमेशा के लिए यहीं रह सकेंगी, उनके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जायगा। जो ऐसा नहीं कर सकेंगी, वे इस मठ में दैनिक छात्राओं के रूप में आकर अध्ययन कर सकेंगी। यदि सम्भव होगा, तो मठ के अध्यक्ष की अनुमति से वे यहाँ पर रहेंगी और जितने दिन रहेंगी, भोजन भी पा सकेंगी। स्त्रियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने के लिए वृद्धा ब्रह्मचारिणी छात्राओं की शिक्षा का भार लेंगी। इस मठ में ५-७ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त लड़कियों का विवाह उनके अभिभावक कर सकेंगे। यदि कोई अधिकारिणी समझी जायगी, तो अपने अभिभावकों की सम्मति लेकर वह वहाँ पर चिर कौमार्य व्रत का पालन करती हुई ठहर सकेगी। जो स्त्रियाँ चिर कौमार्य व्रत का अवलम्बन करेंगी, वे ही समय पर मठ की शिक्षिकाएँ तथा प्रचारिकाएँ बन जायँगी और गाँव गाँव, नगर नगर में शिक्षा-केन्द्र खोलकर स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार की चेष्टा करेंगी। चरित्रशीला एवं धर्मभावापन्न प्रचारिकाओं द्वारा देश में यथार्थ स्त्री-शिक्षा का प्रसार होगा। वे स्त्री-मठ के सम्पर्क में जितने दिन रहेंगी, उतने दिन तक ब्रह्मचर्य की रक्षा करना इस मठ का अनिवार्य नियम होगा। धर्मपरायणता, त्याग और संयम यहाँ की छात्राओं के अलंकार होंगे और सेवा-धर्म उनके जीवन का व्रत होगा। इस प्रकार आदर्श जीवन को देखकर कौन उनका सम्मान न करेगा ? और कौन उन पर अविश्वास करेगा ? देश की स्त्रियों का जीवन इस प्रकार गठित हो जाने पर ही तो तुम्हारे देश में सीता, सावित्री, गार्गी का फिर से आविर्भाव हो सकेगा ? देशाचार के घोर बन्धन से प्राणहीन, स्पन्दनहीन बनकर तुम्हारी लड़कियाँ कितनी दयनीय बन गयी हैं, यह तुम एक बार पाश्चात्य देशों की यात्रा करने पर ही समझ सकोगे। स्त्रियों की इस दुर्दशा के लिए तुम्हीं लोग जिम्मेदार हो। देश की स्त्रियों को फिर से जाग्रत करने का भार भी तुम्हीं पर है। इसलिए तो मैं कह रहा हूँ कि बस, काम में लग जा; क्या होगा व्यर्थ में केवल कुल वेद-वेदान्त को रटकर ?

शिष्य—महाराज, यहाँ पर शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी यदि लड़कियाँ विवाह कर लेंगी, तो फिर उनमें लोग आदर्श जीवन कैसे देख सकेंगे ? क्या यह नियम अच्छा न होगा कि जो छात्राएँ इस मठ में शिक्षा प्राप्त करेंगी, वे फिर विवाह न कर सकेंगी ?

स्वामी जी—ऐसा क्या एकदम ही होता है रे ? शिक्षा देकर छोड़ देना होगा। उसके पश्चात् वे स्वयं ही सोच-समझकर जो उचित होगा, करेंगी। विवाह करके

गृहस्थी में लग जाने पर भी वैसी लड़कियाँ अपने पतियों को उच्च भाव की प्रेरणा देंगी और वीर पुत्रों की जननी बनेंगी। परन्तु यह नियम रखना होगा कि स्त्री-मठ की छात्राओं के अभिभावक १५ वर्ष की अवस्था के पूर्व उनके विवाह का नाम नहीं लेंगे।

शिष्य---महाराज, फिर तो समाज उन सबलड़कियों की निन्दा करने लगेगा। उनसे कोई भी विवाह करना न चाहेगा।

स्वामी जी—क्यों नहीं ? तू समाज की गति को अभी तक समझ नहीं सका। इन सब विदुषी और कुशल लड़कियों को वरों की कमी न होगी। दशमे कन्यका-प्राप्ति---इन सब वचनों पर आजकल समाज नहीं चल रहा है---चलेगा भी नहीं। आज भी देख नहीं रहा है ?

शिष्य—आप चाहे जो कहें, परन्तु पहले-पहल इनके विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन अवश्य होगा।

स्वामी जी—आन्दोलन का क्या भय ? सात्विक साहस से किये गये सत्कर्म में बाधा आने पर कार्य करनेवालों की शक्ति और भी जाग उठेगी। जिसमें बाधा नहीं, विरोध नहीं, वह मनुष्य को मृत्यु-पथ पर ले जाता है। संघर्ष ही जीवन का चिह्न है, समझा ?

शिष्य---जी हाँ।

स्वामी जी—परब्रह्म तत्त्व में लिंगभेद नहीं। हमें 'मैं-तुम' की भूमि में लिंगभेद दिखायी देता है। फिर मन जितना ही अन्तर्मुख होता जाता है, उतना ही वह भेद-ज्ञान लुप्त होता जाता है। अन्त में, जब मन एकरस ब्रह्म-तत्त्व में डूब जाता है, तब फिर यह स्त्री, वह पुरुष—आदि का ज्ञान बिल्कुल नहीं रह जाता। हमने श्री राम-कृष्ण में यह भाव प्रत्यक्ष देखा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि स्त्री-पुरुषों में बाह्य भेद रहने पर भी स्वरूप में कोई भेद नहीं। अतः यदि पुरुष ब्रह्मज्ञ बन सके, तो स्त्रियाँ क्यों न ब्रह्मज्ञ बन सकेंगी ? इसलिए कह रहा था, स्त्रियों में समय आने पर यदि एक भी ब्रह्मज्ञ बन सकी, तो उसकी प्रतिभा से हज़ारों स्त्रियाँ जाग उठेंगी और देश तथा समाज का कल्याण होगा, समझा ?

शिष्य---महाराज, आपके उपदेश से आज मेरी आँखें खुल गयीं हैं।

स्वामी जी—अभी क्या खुली हैं ! जब सब कुछ उद्भासित करनेवाले आत्म-तत्त्व को प्रत्यक्ष करेगा, तब देखेगा, यह स्त्री-पुरुष-भेद-ज्ञान एकदम लुप्त हो गया है। तभी स्त्रियाँ ब्रह्मरूपिणी ज्ञात होंगी। श्री रामकृष्ण को देखा है—सभी स्त्रियों के प्रति मातृभाव, फिर वह किसी भी जाति की कैसी भी स्त्री क्यों न हों। मैंने देखा है न, इसीलिए इतना समझाकर तुम लोगों को वैसा ही बनने को कहता हूँ और

लड़कियों के लिए गाँव गाँव में पाठशालाएँ खोलकर उन्हें शिक्षित बनाने के लिए कहता हूँ। स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी, तभी तो उनकी सन्तानों द्वारा देश का मुख उज्ज्वल होगा और देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, भक्ति जाग उठेगी।

शिष्य—परन्तु महाराज, मैं जहाँ तक समझता हूँ, आधुनिक शिक्षा का ही विपरीत फल हो रहा है। लड़कियाँ थोड़ा-बहुत पढ़ लेती हैं और बस, कमीज, गाउन पहनना सीख जाती हैं। त्याग, संयम, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि ब्रह्मविद्या प्राप्त करने योग्य विषयों में क्या उन्नति हो रही है, यह समझ में नहीं आता।

स्वामी जी—पहले-पहल ऐसा ही हुआ करता है। देश में नये भाव का पहले-पहल प्रचार करते समय कुछ लोग उस भाव को ठीक ग्रहण नहीं कर सकते। इससे विराट् समाज का कुछ नहीं बिगड़ता; परन्तु जिन लोगों ने आधुनिक साधारण स्त्री-शिक्षा के लिए भी प्रारम्भ में प्रयत्न किया था, उनकी महानता में क्या सन्देह! असल बात है, शिक्षा हो अथवा दीक्षा, धर्महीन होने पर उसमें त्रुटि रह ही जाती है। अब धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा। धर्म के अतिरिक्त दूसरी शिक्षाएँ गौण होंगी। धर्मशिक्षा, चरित्र-गठन तथा ब्रह्मचर्य पालन इन्हींके लिए तो शिक्षा की आवश्यकता है। वर्तमान काल में आज तक भारत में स्त्री-शिक्षा का जो प्रचार हुआ है, उसमें धर्म को ही गौण बनाकर रखा गया है। तूने जिन सब दोषों का उल्लेख किया, वे इसी कारण उत्पन्न हुए। परन्तु इसमें स्त्रियों का क्या दोष है, बोल? सुधारक स्वयं ब्रह्मज्ञ न बनकर स्त्री-शिक्षा देने के लिए अग्रसर हुए थे, इसीलिए उसमें इस प्रकार की त्रुटियाँ रह गयीं। सभी सत्कार्यों के प्रवर्तकों को अभीप्सित कार्य के अनुष्ठान के पूर्व कठोर तपस्या की सहायता से आत्मज्ञ हो जाना चाहिए, नहीं तो उनके काम में गलतियाँ निकलेंगी ही। समझा?

शिष्य—जी हाँ। देखा जाता है, अनेक शिक्षित लड़कियाँ केवल नाटक, उपन्यास पढ़कर ही समय बिताया करती हैं; परन्तु पूर्व बंग में लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त करके भी नाना व्रतों का अनुष्ठान करती हैं। इस भाग में भी क्या वैसा ही करती हैं?

स्वामी जी—भले-बुरे लोग तो सभी देशों तथा सभी जातियों में हैं। हमारा काम है, अपने जीवन में अच्छे काम करके लोगों के सामने उदाहरण रखना। निन्दा करके कोई काम सफल नहीं होता। केवल लोग बहक जाते हैं। लोग जो चाहे कहें, विरुद्ध तर्क करके किसीको हराने की चेष्टा न करना। इस माया के जगत् में जो कुछ करेगा, उसमें दोष रहेगा ही—**सर्वारम्भा हि दोषेन धूमेनाग्निरिवावृताः** (धुआँ से आवृत अग्नि के समान सभी कार्य दोषयुक्त होते हैं)—आग रहने से ही धुआँ उठेगा। परन्तु क्या इसीलिए निश्चेष्ट होकर बैठे रहना चाहिए? नहीं शक्ति भर सत्यकार्य करते ही रहना होगा।

शिष्य—महाराज, अच्छा काम क्या है ?

स्वामी जी—जिससे ब्रह्म के विकास में सहायता मिलती है, वही अच्छा काम है। प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष न हो, परोक्ष रूप में आत्म-तत्त्व के विकास के सहायक रूप में किया जा सकता है। परन्तु ऋषियों द्वारा चलाये हुए पथ पर चलने से वह आत्म-ज्ञान शीघ्र ही प्रकट हो जाता है और जिन कार्यों को शास्त्रों ने अन्याय कहा है, उन्हें करने से आत्मा के लिए बन्धन होता है, जिससे कभी कभी तो जन्म-जन्मातर में भी वह मोह-बन्धन नहीं कटता। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जीव की मुक्ति सभी देशों तथा कालों में अवश्यम्भावी है, क्योंकि आत्मा ही जीव का वास्तविक स्वरूप है। अपना स्वरूप क्या कोई स्वयं छोड़ सकता है ? अपनी छाया के साथ तू हज़ार वर्ष लड़कर भी क्या उसको भगा सकता है ? वह तेरे साथ रहेगी ही।

शिष्य—परन्तु महाराज, आचार्य शंकर के मतानुसार कर्म भी ज्ञान का विरोधी है—उन्होंने ज्ञान-कर्म-समुच्चय का बार बार खण्डन किया है। अतः कर्म ज्ञान का प्रकाशक कैसे बन सकता है ?

स्वामी जी—आचार्य शंकर ने वैसा कहकर फिर ज्ञान के विकास के लिए कर्म को आपेक्षिक सहायक तथा चित्तशुद्धि का उपाय बताया है; परन्तु विशुद्ध ज्ञान में कर्म का प्रवेश नहीं है। मैं भाष्यकार के इस सिद्धान्त का प्रतिवाद नहीं कर रहा हूँ। जितने दिन मनुष्य को क्रिया, कर्ता और कर्म का ज्ञान रहेगा, उतने दिन क्या मजा़ल कि वह काम न करते हुए बैठा रहे ? अतः जब कर्म ही जीव का सहायक सिद्ध हो रहा है, तो जो सब कर्म इस आत्मज्ञान के विकास के लिए सहायक हैं, उन्हें क्यों नहीं करता रहे ? कर्म मात्र ही भ्रमात्मक है—यह बात पारमार्थिक रूप से यथार्थ होने पर भी व्यावहारिक रूप में कर्म की विशेष उपयोगिता रही है। तू जब आत्म-तत्त्व को प्रत्यक्ष कर लेगा, तब कर्म करना या न करना तेरी इच्छा के अधीन बन जायगा। उस स्थिति में तू जो कुछ करेगा, वही सत्कर्म बन जायगा। इससे जीव और जगत्, दोनों का कल्याण होगा। ब्रह्म का विकास होने पर तेरे श्वास-प्रश्वास की तरंगें तक जीव की सहायक हो जायँगी। उस समय फिर किसी विशेष योजनापूर्वक कर्म करना नहीं पड़ेगा, समझा ?

शिष्य—अहा ! यह तो वेदान्त के कर्म और ज्ञान का समन्वय करनेवाली बड़ी सुन्दर मीमांसा है।

इसके पश्चात् नीचे प्रसाद पाने की घण्टी बजो और स्वामी जी ने शिष्य प्रसाद पाने के लिए जाने को कहा। शिष्य ने भी स्वामी जी के चरण-कमलों में प्र करके जाने के पूर्व हाथ जोड़कर कहा, "महाराज, आपके स्नेहाशीर्वाद से इसी जन्म में मुझे ब्रह्मज्ञान हो जाय।" स्वामी जी ने शिष्य के मस्तक पर हाथ रखकर कहा,

"भय क्या बेटे ? तुम लोग क्या अब भी इस जगत् के रह गये हो ?—न गृहस्थ, न संन्यासी—यह एक नया ही रूप हो ?"

६[1]

[गुरुगृहवास की प्रथा—आधुनिक विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली—श्रद्धा का अभाव—हमारा भी राष्ट्रीय इतिहास है—पाश्चात्य विज्ञानयुक्त वेदान्त—तथाकथित उच्च शिक्षा—यांत्रिक शिक्षा की आवश्यकता—सत्यकाम की कथा—मात्र पुस्तकीय ज्ञान और त्यागियों के निरीक्षण में शिक्षाभ्यास—श्री रामकृष्ण और पंडित-समुदाय—ऐसे मठ की स्थापना, जिसमें साधु अध्यापन कार्य करें—बच्चों के लिए पाठ्य पुस्तकें—बाल-विवाह बंद करो—अविवाहित ग्रेजुएटों को जापान भेजने का विचार—जापान की उन्नति का रहस्य—यूरोप और एशिया की कला—कला और उपयोगिता—वेषभूषा की प्रणालियाँ—अन्न का प्रश्न और ग़रीबी]

बेलूड़ मठ के निर्माण के दो वर्ष बाद की बात है। सभी स्वामी जी लोग अब वहीं रहने लगे थे। इन्हीं दिनों मैं एक दिन सवेरे अपने गुरुदेव के दर्शन करने वहाँ गया हुआ था। मुझे देखकर स्वामी जी मुस्कराये और बोले—"आज तो यहीं रहोगे न ?"

"अवश्य", मैंने कहा और इधर-उधर की कुछ बातें करने के बाद मैंने पूछा—"महाराज, बच्चों की शिक्षा-पद्धति कैसी होनी चाहिए ?"

स्वामी जी—गुरुगृहवास—गुरु के साथ रहना।

प्रश्न—कैसे ?

स्वामी जी—जैसे प्राचीन काल में होता था। किन्तु आज की शिक्षा में पाश्चात्य विज्ञान का भी समावेश होना चाहिए। दोनों ही आवश्यक हैं।

प्रश्न—पर आज की विश्वविद्यालय की शिक्षा में क्या दोष है ?

स्वामी जी—इसमें दोष ही दोष भरे हैं। यह 'बाबू' पैदा करने की मशीन के सिवाय कुछ नहीं है। अगर इतना ही होता, तब भी ठीक था, पर नहीं—इस शिक्षा से लोग किस प्रकार श्रद्धा और विश्वासरहित होते जा रहे हैं। वे कहते हैं कि गीता तो एक प्रक्षिप्त अंश है और वेद देहाती गीत मात्र हैं। वे भारत के बाहर के देशों तथा विषयों के सम्बन्ध में तो हर बात जानना चाहते हैं, पर यदि उनसे

---

१. श्री प्रियनाथ सिन्हा द्वारा आलिखित।

कोई अपने पूर्वजों के नाम पूछे, तो चौदह पीढ़ी तो दूर रही, सात पीढ़ी तक भी नहीं बता सकते ।

प्रश्न—पर इससे क्या हुआ ? वे अपने पूर्वजों के नाम नहीं जानते, तो क्या हानि है ?

स्वामी जी—नहीं, ऐसा मत सोचो। जिस राष्ट्र का कोई अपना इतिहास नहीं है, वह इस संसार में अत्यन्त ही हीन और नगण्य है। क्या तुम सोचते हो कि कोई व्यक्ति, जिसे सदैव इस बात का विश्वास और अभिमान है कि वह उच्च कुल में उत्पन्न हुआ है, कभी दुश्चरित्र हो सकेगा ? ऐसा क्यों होता है ? उसमें जो आत्मविश्वास और स्वाभिमान का भाव है, वह सदैव उसके विचार और कार्य को इतना नियंत्रित रखता है कि ऐसा व्यक्ति सन्मार्ग से च्युत होने की अपेक्षा हँसते हँसते मृत्यु का आलिगन कर लेगा । इसी तरह राष्ट्र का गौरवमय अतीत राष्ट्र को नियंत्रण में रखता है, और उसका अधःपतन नहीं होने देता। पर मैं जानता हूँ, तुम कहोगे कि हमारा ऐसा कोई अतीत—कोई इतिहास ही नहीं है; जो तुम्हारी तरह सोचते हैं, उन्हींके लिए हमारे राष्ट्र का कोई इतिहास नहीं है; और तुम्हारे विश्वविद्यालयों के उन तथाकथित विद्वानों के लिए नहीं है—और उन लोगों के लिए नहीं है, जो कि पाश्चात्य देशों का एक चक्कर मारकर, यूरोपीय वेशभूषा से सुसज्जित हो भारत लौट आते हैं और बड़बड़ाने लगते हैं—हमारे पास कुछ नहीं है—हम तो बस, जंगली हैं। हाँ, यह सच है कि दूसरे देशों का जैसा इतिहास है, वैसा हमारा नहीं है, पर इसका यह अर्थ नहीं होता कि हमारा कोई इतिहास ही नहीं है । जैसे हम भात खाते हैं और अंग्रेज़ लोग भात नहीं खाते— तो इससे क्या तुम यह निर्णय कर लोगे कि अंग्रेज़ भूखे मरते हैं और कुछ दिनों में नष्ट हो जायँगे। अपने देश में, अपनी जलवायु के अनुकूल जो सरलता से वे उत्पन्न या प्राप्त कर लेते हैं, वही खाकर वे पनपते और पुष्ट होते हैं। इसी तरह हमारे लिए जैसा आवश्यक है, वैसा हमारा भी अपना इतिहास है। और अपनी आँखें बन्द कर लेने और चिल्लाने से कि हमारा कोई इतिहास ही नहीं है, वह क्या नष्ट हो जायगा ? जिनके पास देखने के लिए आँखें हैं, वे जानते हैं कि हमारा इतिहास कितना उज्ज्वल है, और वह देश को किस प्रकार जीवित रख रहा है। किन्तु आज उस इतिहास को फिर से लिखने की आवश्यकता है। पाश्चात्य शिक्षा से हमारे युवकों की बदली हुई विचारधारा और बुद्धि को सामने रखकर, आज उस गौरवमय इतिहास को फिर से लिखना होगा, जिससे पाश्चात्य सभ्यता से चकित और चकाचौंध में भ्रमित हमारे युवक उसे समझ सकें ।

प्रश्न—यह किस प्रकार करना होगा ?

स्वामी जी—यह एक बहुत बड़ा विषय है। इस पर कभी और चर्चा करेंगे। उसके लिए, पहले हमें गुरुगृहवास और उस जैसी अन्य शिक्षा-प्रणालियों को पुनर्जीवित करना होगा। आज हमें आवश्यकता है, वेदान्तयुक्त पाश्चात्य विज्ञान की, ब्रह्मचर्य के आदर्श, और श्रद्धा तथा आत्मविश्वास की। दूसरी बात, जिसकी आवश्यकता है, वह उस शिक्षा-पद्धति का निर्मूलन, जो मार मारकर गधों को घोड़ा बनाना चाहती है।

प्रश्न—इससे आपका क्या मतलब है?

स्वामी जी—देखो, कोई भी किसीको कुछ नहीं सिखा सकता। जो शिक्षक यह समझता है कि वह कुछ सिखा रहा है, सारा गुड़ गोबर कर देता है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि मनुष्य के भीतर ज्ञान का समस्त भण्डार निहित है—एक अबोध शिशु में भी—केवल उसको जाग्रत कर देने की आवश्यकता है, और यही आचार्य का काम है। हमें बच्चों के लिए बस, इतना ही करना है कि वे अपने हाथ-पैर, आँख-कान का समुचित उपयोग करना भर सीख लें और फिर सब आसान है। पर इस सबका मूल है धर्म—वही मुख्य है। धर्म तो भात के समान है, शेष सब वस्तुएँ कढ़ी और चटनी जैसी है। केवल कढ़ी और चटनी खाने से अपथ्य हो जाता है, और केवल भात खाने से भी। हमारे शिक्षा-शास्त्री हमारे बच्चों को केवल तोता बना रहे हैं, और रटा रटाकर उनके मस्तिष्क में कई विषय ठूंसते जा रहे हैं। यदि एक दृष्टि से देखा जाय, तो तुम्हें वाइसराय[1] का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा में सुधार करने का प्रस्ताव किया है। इससे उच्च शिक्षा क़रीब क़रीब बंद ही हो जायगी, और देश को कम से कम कुछ साँस लेने और विचार करने का समय तो मिलेगा। वाह! ग्रेजुएट बनने के लिए क्या दौड़-धूप, क्या अहमहमिका लगी है, और कुछ दिन बाद फिर ठंडी पड़ जाती है। और आख़िर में वे सीखते क्या हैं—बस, यही कि हमारा धर्म, आचार-विचार और रीति-रिवाज़ सब ख़राब हैं, और पाश्चात्यों की सब बातें अच्छी हैं! इस तरह हम महानाश को निमंत्रित कर रहे हैं। आखिर इस उच्च शिक्षा के रहने या न रहने से क्या बनता-बिगड़ता है? यह कहीं ज़्यादा अच्छा होगा कि यह उच्च शिक्षा प्राप्त कर नौकरी के लिए दफ्तरों की ख़ाक छानने के बजाय लोग थोड़ी सी तकनीकी शिक्षा प्राप्त करें, जिससे काम-धंधे से लगकर अपना पेट तो पाल सकेंगे।

---

१. भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालय की शिक्षा के स्तर को उच्च करने के उद्देश्य से उसे इतना महँगा बना देना चाहा था कि वह मध्यम वर्ग के लड़कों की पहुँच के लगभग बाहर हो जाती। स०

प्रश्न—हाँ, मारवाड़ी इस बात में होशियार हैं। वे नौकरी नहीं करते, और कोई न कोई व्यापार में लग जाते हैं।

स्वामी जी—बकवास है! वे देश को रसातल में पहुँचा रहे हैं। वे अपने स्वार्थ को भी नहीं समझते। उनसे तुम लोग कहीं ज़्यादा अच्छे हो, क्योंकि तुम्हारा ध्यान कल-कारखानों से वस्तुओं के निर्माण की ओर है। मारवाड़ी लोग अपने व्यापार में जो पैसा लगाते हैं और जिससे उन्हें थोड़ा-बहुत मुनाफ़ा होता है, उससे तो ज़्यादातर विदेशियों की ही जेब भरते हैं। यही पैसा अगर वे कुछ कल-कारखानों को खोलने में लगायें, तो देश की भी भलाई होगी और उनका भी मुनाफ़ा बढ़ेगा। केवल क़ाबुली लोग ही नौकरी की परवाह नहीं करते। उनकी नस नस में स्वतन्त्रता की भावना भरी है। उनसे ज़रा नौकरी कर लेने की बात तो कह दो, फिर देखो क्या होता है।

प्रश्न—पर, महाराज, यदि उच्च शिक्षा बन्द हो गयी, तो लोग फिर पहले जैसे ही मूर्ख बने रहेंगे?

स्वामी जी—क्या मूर्खताभरी बात कहते हो? क्या कभी सिंह भी सियार बन सकता है? तुम्हारे कहने का क्या मतलब है? क्या कभी यह सम्भव है कि सृष्टि के आदि काल से जिस देश की सन्तान अखिल विश्व को शिक्षा देती आ रही है, केवल इसलिए मूर्ख बन जायगी कि लॉर्ड कर्ज़न उच्च शिक्षा बन्द कर रहे हैं?

प्रश्न—पर ज़रा सोचिये तो कि हमारे देशवासी अंग्रेज़ों के आगमन के पूर्व क्या थे और अब क्या हो गये हैं?

स्वामी जी—भौतिक शास्त्रों का अध्ययन, और दैनिक उपयोग की वस्तुओं का मशीनों द्वारा उत्पादन—क्या यही उच्च शिक्षा का अर्थ है? उच्च शिक्षा का उद्देश्य है—जीवन की समस्याओं को सुलझाना—और आज का सभ्य संसार आज भी इन्हीं समस्याओं पर गहन चिन्तन कर रहा है, किन्तु हमारे देश में सहस्रों वर्ष पूर्व ही यह गुत्थियाँ सुलझा ली गयीं।

प्रश्न—पर आपका वेदान्त भी तो लुप्तप्राय हो रहा था?

स्वामी जी—संभव है। काल के प्रवाह में, कभी कभी ऐसा भास होता है कि वेदान्त का महान् प्रकाश अब बुझा, अब बुझा, और जब ऐसी स्थिति आती है, तब भगवान् मानव देह धारण कर पृथ्वी पर आते हैं और फिर धर्म में पुनः एक ऐसी शक्ति, ऐसे जीवन का संचार हो जाता है कि वह फिर एकाध युग तक अदम्य उत्साह से आगे बढ़ता जाता है। आज वही शक्ति और जीवन उसमें फिर आ गया है।

प्रश्न—पर, महाराज, इसका क्या प्रमाण है कि भारत ने ही शेष संसार को शिक्षित किया है ?

स्वामी जी—संसार का इतिहास ही इसका साक्षी है। उचित शोध करने पर यही पाया जाता है कि विश्व में ज्ञान की जो विविध शाखाएँ हैं, जो शास्त्र और उदात्त आत्मोन्नतिमूलक विचार हैं—उनका उद्गम भारत से ही हुआ।

स्वामी जी का मुख एक अलौकिक आभा से दीप्त हो गया और वे बड़े उत्साह से इस विषय पर बड़ी देर तक बोलते रहे। उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, और बहुत ज़्यादा गर्मी से उनका गला सूख रहा था, उन्हें बार बार प्यास लग रही थी और वे पानी पीते जाते थे। अन्त में उन्होंने कहा, "सिंगी, कृपया मेरे लिए बरफ़ के पानी का एक गिलास मँगाओ। मैं फिर तुमको सब अच्छी तरह समझा दूंगा।" पानी पीकर वे फिर बोलने लगे।

स्वामी जी—समझे न, आज आवश्यकता है—विदेशी नियंत्रण हटाकर, हमारे विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो, और साथ साथ अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान भी सीखा जाय। हमें उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए तकनीकी शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी, जिससे देश के युवक नौकरी ढूँढ़ने के बजाय अपनी जीविका के लिए समुचित धनोपार्जन भी कर सकें, और दुर्दिन के लिए कुछ बचा भी सकें।

प्रश्न—टोल (संस्कृत पाठशालाओं) के बारे में आपका क्या कहना है ?

स्वामी जी—क्या तुमने उपनिषदों की कथाएँ नहीं पढ़ी हैं ? मैं अभी एक कथा सुनाता हूँ। ब्रह्मचारी सत्यकाम गुरु के पास अध्ययन के लिए गया। गुरु ने उसे गायें चराने जंगल में भेज दिया। गायें चराते चराते कई मास व्यतीत हो गये। गायों की संख्या भी दुगनी हो गयी। तब सत्यकाम ने आश्रम लौट चलने का विचार किया। मार्ग में एक वृषभ, अग्नि तथा कुछ अन्य प्राणियों ने सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। जब शिष्य आश्रम में गुरु को प्रणाम करने पहुँचा, तो गुरु ने उसे देखते ही जान लिया कि उसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस कथा का सार यही है कि सच्ची शिक्षा सर्वदा प्रकृति के सम्पर्क में रहने से ही प्राप्त होती है। ज्ञान इसी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। पंडितों के टोल और पाठशालाओं में पढ़कर तो तुम जीवन भर मानवीय बन्दर बने रहते हो। बाल्यावस्था से ही जाज्वल्यमान, उज्ज्वल चरित्रयुक्त किसी तपस्वी महापुरुष के सहवास में रहना चाहिए, जिससे कि उच्चतम ज्ञान का जीवित आदर्श सदा दृष्टि के समक्ष रहे। केवल पढ़ लेने भर से कि मिथ्या भाषण पाप है—कोई लाभ नहीं। हर एक को पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने का व्रत लेना चाहिए, तभी हृदय में श्रद्धा

और भक्ति का उदय होगा। नहीं तो, जिसमें श्रद्धा और भक्ति नहीं, वह मिथ्या क्यों नहीं बोलेगा ? हमारे देश में अध्यापन का महान् कार्य सदैव निःस्पृह और त्यागी पुरुषों ने ही किया है। कालान्तर में पंडितों ने, ज्ञान और विद्याओं पर एकाधिपत्य कर, उन्हें पाठशालाओं की चहारदीवारी में बन्द कर दिया और इस तरह देश का अधःपतन होना शुरू हुआ। जब तक अध्यापन कार्य त्यागी पुरुषों ने किया, तब तक भारत समृद्ध बना रहा।

प्रश्न—महाराज, आपका क्या अर्थ है ? दूसरे देशों में तो संन्यासी नहीं हैं, पर देखिए, उनकी ज्ञान-गरिमा से आज भारत उनके चरण चूम रहा है ?

स्वामी जी—मेरे मित्र, व्यर्थ की बातें मत करो। मैं जो कहता हूँ, उस पर ध्यान दो। जब तक इस देश में अध्यापन और शिक्षा का भार, त्यागी और निःस्पृह पुरुष वहन नहीं करेंगे, तब तक भारत को दूसरे देशों के तलवे चाटने पड़ेंगे। तुम नहीं जानते, किस तरह एक निरक्षर युवक ने अपनी निःस्पृहता और त्याग के प्रभाव से तुम्हारे बड़े बड़े दिग्गज पंडितों के छक्के छुड़ा दिये ? एक बार दक्षिणेश्वर के मंदिर में पुजारी से विष्णु-प्रतिमा का पैर टूट गया। पंडितों की एक सभा हुई और उन्होंने अपने पुराने पोथे और ग्रंथ देखकर निर्णय दिया कि खंडित मूर्ति का पूजन शास्त्र-विरुद्ध है, और नयी मूर्ति की प्रस्थापना की जाय। इस पर काफ़ी वाद-विवाद और शोर-गुल मचा। अन्त में श्री रामकृष्ण बुलाये गये। उन्होंने सब कुछ सुनकर पूछा—"क्या पति पंगु हो जाय, तो पत्नी उसे त्याग देगी ?" फिर क्या हुआ ? पंडितों ने यह तर्क सुना, तो मुँह से शब्द नहीं निकला, मूक हो गये और इस सरल कथन के सामने उनके शास्त्र और भाष्य एक ओर धरे के धरे रह गये। यदि पंडितों की शिक्षा-प्रणाली ठीक थी, तो श्री रामकृष्ण क्यों अवतार धारण करते और क्यों पुस्तकीय ज्ञान का उपहास करते ? उनके साथ जिस नूतन जीवन-शक्ति का आविर्भाव हुआ, उससे जब हमारी शिक्षा ओतप्रोत हो जायगी, तभी सफलता प्राप्त होगी।

प्रश्न—पर यह कहना सरल है, करना कठिन।

स्वामी जी—यदि यह कार्य सरल होता, तो श्री रामकृष्ण को अवतार धारण करने की आवश्यकता न पड़ती। अब जो करना है, वह यह कि नगर नगर और ग्राम ग्राम में एक मठ की स्थापना की जाय। क्या तुम यह कर सकते हो ? अधिक नहीं तो, कुछ तो करो ही। कलकत्ते के बीच में एक बड़ा मठ स्थापित करो। एक सुशिक्षित साधु उसका अध्यक्ष रहे और उसके निरीक्षण में दो संन्यासी विज्ञान एवं अन्य विषयों का अध्यापन करें।

प्रश्न—आपको ऐसे संन्यासी कहाँ मिलेंगे ?

स्वामी जी—हमें ऐसे संन्यासियों का निर्माण करना होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि कुछ ऐसे युवकों की आवश्यकता है, जिनके हृदय में देशभक्ति और त्याग की भावना प्रज्वलित हो। एक त्यागी पुरुष जितना शीघ्र किसी विषय पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, उतना अन्य कोई नहीं कर सकता।

कुछ समय बाद स्वामी जी बोले—"सिंगी, हमारे इस देश में इतना अधिक काम करना है कि मेरे और तुम्हारे जैसे सहस्र सहस्र लोगों की आवश्यकता है। केवल बात करने से क्या हो सकता है? देखो, देश कितनी विपन्न और दयनीय स्थिति को प्राप्त हो गया है। इस समय कुछ करो! बच्चों के लिए उपयोगी एक पुस्तक तक तो इस देश में नहीं है!"

प्रश्न—क्यों, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की इतनी सारी किताबें तो हैं?

मेरे ऐसा कहते ही स्वामी जी खिलखिलाकर हँस पड़े और कहने लगे—हाँ, उनमें यही पढ़ते हो न—'ईश्वर निराकार चैतन्य स्वरूप', 'सुबल अति सुबोध बालक' (सुबल बहुत बुद्धिमान बालक है) आदि आदि, पर इससे काम नहीं चलने का। हमें बंगाली और साथ साथ अंग्रेज़ी में कुछ ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन करना चाहिए, जिनमें बहुत ही सरल और सीधी भाषा में रामायण, महाभारत और उपनिषदों की कथाओं का संग्रह हो, और फिर ये पुस्तकें बालकों को पढ़ने के लिए दी जायँ।

ग्यारह बज रहे थे। आकाश में बादल घिर आये थे और ठंडी हवा चलने लगी थी। वर्षा होने की संभावना से स्वामी जी प्रसन्न हो उठे। उन्होंने उठकर कहा, "सिंगी, चलो गंगा तट पर चलें।" हम दोनों चल पड़े। मार्ग में स्वामी जी ने कालिदास के मेघदूत के कई श्लोक सुनाये। पर उनकी विचारधारा का अंतरप्रवाह एक ही था—भारत का हित। वे बोल उठे—"सिंगी, देखो, तुम एक काम कर सकते हो? क्या कुछ दिनों तक हमारे लड़कों के विवाह बन्द नहीं कर सकते?"

मैंने कहा—"महाराज, यह कैसे होगा, जब बाबू लोग विवाहों को सस्ता बनाने के सारे प्रयत्न कर रहे हैं?"

स्वामी जी—तुम इसकी चिन्ता न करो; काल का प्रवाह कौन बदल सकता है! इस प्रकार के सब आन्दोलन व्यर्थ हैं। कुछ दिन शोर-गुल रहेगा, फिर सब शान्त हो जायंगे। विवाह-शादियाँ जितनी ज़्यादा खर्चीली होती जायँगी, उतना ही देश का भला होगा। परीक्षाएँ पास करने और फिर विवाह करने के लिए कितनी भगदड़, कितनी दौड़-धूप हो रही है! ऐसा लगता है, कोई कुँआरा नहीं बचेगा; पर अगले वर्ष फिर वही हाल होता है।

कुछ क्षण स्वामी जी शान्त रहे। फिर बोले, "यदि मुझे कुछ अविवाहित ग्रेजुएट मिल जायँ, तो मैं उन्हें जापान भेजकर तकनीकी शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध

कर दूँगा, जिससे कि जब वे स्वदेश लौटें, तो अपने ज्ञान से भारत का कुछ हित कर सकें ! कितना अच्छा होगा !"

प्रश्न—महाराज, इंग्लैण्ड की अपेक्षा जापान जाना क्या हमारे लिए ज़्यादा लाभदायक होगा ?

स्वामी जी—अवश्य ! मेरे मत में हमारे शिक्षित और धनी व्यक्ति यदि जापान जायँ और वहाँ का हालचाल देखें, तो उनकी आँखें खुल जायँगी।

प्रश्न—वह कैसे ?

स्वामी जी—जापान में तुम पाओगे कि उन्होंने दूसरे से जो सीखा है, उसे आत्मसात कर अपना बना लिया है, पचा लिया है। हमने जो विदेशियों से सीखा, उसे हम पचा नहीं पाये। उन्होंने यूरोपवासियों की हर चीज़ ग्रहण की, पर वे जापानी ही बने रहे, यूरोपीय नहीं बने; पर हमारे यहाँ तो पाश्चात्य ढंग से रहने का एक संक्रामक रोग पैदा हो गया है।

मैंने कहा—महाराज, मैंने कुछ जापानी चित्रकला के नमूने देखे हैं, उनकी कला की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। और उनकी प्रेरणा का स्रोत उनकी अपनी संस्कृति है (वे अनुकरण के परे हैं)।

स्वामी जी—बिल्कुल ठीक है। आज जापान एक महान् राष्ट्र है, और इसका कारण है, उनकी कला। देखते नहीं, हमारे समान वे भी एशियावासी हैं और यद्यपि आज हम अपना सर्वस्व खो बैठे हैं, फिर भी जो कुछ हमारे पास अवशेष है, वही विश्व को चकित कर देने के लिए काफ़ी हैं। एशिया की आत्मा ही कलात्मक है—एशिया का हृदय चिरकाल से कला की क्रीड़ास्थली रहा है। एशियावासी कला-शून्य वस्तु का कभी उपयोग ही नहीं करता—उसके उपयोग की हर वस्तु कला से शोभित है। तुम नहीं जानते, हमारे यहाँ कला हमारे धार्मिक जीवन का एक अंग बन गयी है ? हमारे देश में कोई युवती तीज-त्यौहार, पर्व-उत्सव के दिन यदि घर के आँगन और भीत पर चावल के पीठा से सुन्दर चित्र बनाना जानती है, तो उसकी कितनी प्रशंसा होती है ! श्री रामकृष्ण स्वयं कितने महान् कलाकार थे !

प्रश्न—अंग्रेज़ों की कला भी अच्छी है; क्या नहीं है ?

स्वामी जी—तुम कितने जड़ मूर्ख हो ! पर तुम्हें दोष देने से क्या लाभ, जब कि सर्वसाधारण की यही धारणा है ! अफ़सोस ! आज देश की यह दशा हो गयी है ! आज हम अपने सोने को तो पीतल समझ बैठे हैं, और दूसरों का पीतल हमारे लिए सोना बन गया है ! यह हमारी आधुनिक शिक्षा का जादू है ! देखो, यूरोपीय जब से एशिया के सम्पर्क में आये हैं, तब से कहीं उन्होंने अपने जीवन को कलामय बनाने का प्रयत्न शुरू किया !

मैं—महाराज, यदि कोई आपकी बात सुनेगा, तो कहेगा कि आप निराशावादी हो रहे हैं!

स्वामी जी—स्वाभाविक है! जो जड़ हो गये हैं, वे और क्या सोच सकेंगे? उफ़! कोई मेरी आँखों से देखे; उनकी इमारतें देखो, वे कितनी साधारण, कितनी अर्थशून्य हैं! इन विशाल सरकारी इमारतों को देखो, क्या इनका बाह्य स्वरूप देखकर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है कि ये किस भाव, किस आदर्श की प्रतीक हैं?—नहीं, क्योंकि यह सब प्रतीकशून्य हैं। पाश्चात्यों का पहनाव ही लो—उनके तंग कोट, सीधे पैन्ट शरीर पर इतने तंग और चिपके होते हैं कि बिल्कुल भद्दे मालम देते हैं; नहीं? पर हम लोग, पता नहीं, उसमें क्या सुन्दरता देखते हैं? जिसे देखो, कोट-पतलून डाटे है। इस देश का भ्रमण तो करो, और यदि देखने के लिए आँखें हैं और समझने के लिए बुद्धि है, तो देखो—इस देश के प्राचीन भग्नावशेषों को देखो—उनके देखने भर से ही मालूम होता है, उनमें कितने भाव भरे हैं, कितनी कला भरी है। उनका जलपात्र है—काँच का गिलास, पर हमारा है धातु-निर्मित लोटा—दोनों में कौन कलापूर्ण है? तुमने देहातों में किसानों के घर देखे हैं?

मैं—जी हाँ, अवश्य।

स्वामी जी—उनमें क्या देखा?

मेरी समझ में नहीं आया, क्या कहूँ। फिर भी मैंने उत्तर दिया—"महाराज, वे अत्यन्त साफ़-सुथरे होते हैं और रोज़ उनका आँगन लीपा-पोता जाता है।"

स्वामी जी—क्या तुमने उनके अन्न-भाण्डार देखे? उनमें कितनी कला है! उनकी मिट्टी की दीवारों पर भी कितने प्रकार के चित्र बने होते हैं! और ज़रा पाश्चात्य देशों में जाकर देखो, निम्न वर्ग के लोग किस तरह रहते हैं। तब तुम्हें मालूम होगा कि दोनों में कितना महान् अन्तर है। उनका आदर्श है उपयोगिता; हमारा है कला। पश्चिम का निवासी हर एक वस्तु में उपयोगिता ढूंढ़ता है, और हम कला। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त कर हमने कलापूर्ण लोटा तो फेंक दिया और उसके स्थान में, हमारे घरों में विदेशी तामचीनी के गिलास विराजमान हो गये हैं। हमने इस उपयोगितावाद के आदर्श को इस सीमा तक अपना लिया है कि अब वह हास्यास्पद लगने लगा है! अब हमें उपयोगिता और कला के समन्वय की आवश्यकता है। जापान यह समन्वय लाने में जल्दी सफल हो गया और उसने अभूतपूर्व प्रगति कर ली। अब जापान पाश्चात्य देशों को भी सिखाने की क्षमता रखता है।

प्रश्न—विश्व में किस राष्ट्र की वेशभूषा सर्वोत्तम है?

स्वामी जी—आर्यों की। यूरोपवासी भी इसे स्वीकार करते हैं। आर्यों के परिधान की पटलियाँ किस कलापूर्ण ढंग से लटकती हैं। अधिकांश देशों के राजवस्त्र, आर्यों की वेशभूषा की ही नक़ल है, उनमें भी आर्यों के समान ही पटलियाँ बनाकर लटकाने का यत्न किया जाता है; और इन राजवस्त्रों में तथा उन देशों की सर्वसाधारण की वेशभूषा में बहुत अन्तर है। सिंगी, तुम भी ये भद्दे यूरोपीय कमीज़ पहनना छोड़ दो।

प्रश्न—क्यों महाराज ?

स्वामी जी—इसलिए कि पाश्चात्य लोग इनका केवल अंतर्परिधान के रूप में ही उपयोग करते हैं। वे उसे सदैव कोट और जैकेट के नीचे ही पहनते हैं, केवल कमीज़ कभी नहीं पहनते। पर हम बंगाली कितनी भूल कर रहे हैं। जिसे देखो, कोट, पतलून, कमीज़ धारण करने में गर्व का अनुभव करता है—जैसे हमारा कोई राष्ट्रीय, प्राचीन वेश ही न हो, जैसे वेशभूषा के सम्बन्ध में कोई नियम ही न हो, कोई विधि-परिपाटी या प्रणाली ही न हो और जिसकी जो मर्ज़ी आये और जो दिखे, वही कपड़े पहन ले ! हमारे यहाँ, नीच जाति का छुआ हुआ अन्न यदि कोई खा लेता है, तो उसे जात बाहर कर देते हैं; यदि यही नियम परकीय वेशभूषा धारण करने को लगाया जाय, तो कितना अच्छा होगा ! अपनी प्राचीन भारतीय वेशभूषा क्यों नहीं धारण की जाती ? इस यूरोपीय कोट-कमीज़ के पहनने में कौन सी शान है ? क्या अर्थ है ?

अब वर्षा होने लगी, और भोजन-वेलासूचक घंटी भी बज गयी थी। इसलिए सबके साथ हम भी प्रसाद ग्रहण करने गये। भोजन करते करते स्वामी जी बोले—"भोजन ऐसा रहे कि परिमाण में कम, पर पुष्टिकारक हो। पेट को ढेर सारे भात से ठूंस देना ही आलस्य का मूल है।" कुछ देर बाद वे फिर बोले—"जापानियों को देखो, वे दिन में दो तीन बार दाल के साथ भात खाते हैं। वे कई बार भोजन करते हैं, पर हर समय खाते थोड़ा थोड़ा ही हैं। शरीर से तगड़े लोग भी एक बार में खाते कम ही हैं; अधिक बार भले ही खा लें। उनमें जो घर के अच्छे होते हैं, वे प्रतिदिन मांस भी खाते हैं। पर हम दिन में दो बार, गले तक पेट को भात से भर लेते हैं और हमारी सारी शक्ति उस भात को पचाने में ही समाप्त हो जाती है।

प्रश्न—क्या हम ग़रीब बंगालियों के लिए मांस खाना संभव है ?

स्वामी जी—क्यों नहीं ? थोड़ा थोड़ा तो खा ही सकते हैं। एक दिन में पाव भर काफ़ी है। हमारा सबसे बड़ा दोष है—आलस्य, और यही हमारी ग़ुलामी का कारण है। मान लो, किसीकी नौकरी छूट गयी, या घर में जो दो-तीन आदमी

कमानेवाले थे, उनमें से कोई मर गया, तो लोग क्या करते हैं? वे या तो बच्चों का दूध बन्द कर देते हैं या दिन में एक बार खाते हैं और कभी शाम को भात ही खाकर सो जाते हैं।

प्रश्न—पर ऐसी परिस्थिति में और कर ही क्या सकते हैं?

स्वामी जी—पर वे ज़्यादा मेहनत कर, थोड़ा सा और कमा लेने का प्रयत्न क्यों नहीं करते, जिससे कम से कम दो बार भोजन तो मिल जाय? पर नहीं—मेहनत कौन करे, उन्हें अड्डों पर जाकर गप्पें लगाने तथा समय नष्ट करने की आदत जो पड़ गयी है! यदि लोग केवल कभी इतना ही जान पायें कि वे समय का कितना नाश और दुरुपयोग कर रहे हैं, तो इस देश की कायापलट हो जाय!

७[1]

सोमवार, २४ जनवरी, १८९८ ई०

[एक वर्ण की उपजातियों में अन्तर्विवाह—बालविवाह के विरोध में—भारत को कैसी शिक्षा की आवश्यकता है—ब्रह्मचर्य]

गत शनिवार के दिन जिन महाशय ने स्वामी जी से प्रश्न किये थे, वे आज फिर आये। उन्होंने अन्तर्विवाह का विषय छेड़ा और पूछा—"भिन्न भिन्न जातियों में अन्तर्विवाह कैसे प्रारम्भ किया जाय?"

स्वामी जी—मैं भिन्न धर्मावलम्वी जातियों में अन्तर्विवाह करने के पक्ष में नहीं हूँ। कम से कम आज तो उससे समाज के वंधन बहुत ढीले पड़ जायँगे और कई अनिष्ट होने की आशंका है। मैं तो अभी केवल सम धर्मानुयायियों के ही परस्पर अन्तर्विवाह का समर्थन करता हूँ।

प्रश्न—तो भी, इससे कई जटिलताएँ उत्पन्न होंगी, जैसे कि,—मेरी पुत्री बंगाल में जन्मी और वहीं उसका लालन-पालन हुआ और मैं उसकी किसी मराठी या मद्रासी से शादी कर दूँ, तो न वह अपने पति की भाषा समझेगी और न उसका पति उसकी भाषा समझेगा। और फिर उनके रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज में भी बहुत अन्तर है। इस तरह की कई अड़चनें हैं, और फिर समाज तो एक तूफ़ान खड़ा कर देगा।

स्वामी जी—अभी वह समय बहुत दूर है, जब इस प्रकार के विवाह सम्भव हो सकेंगे। और आज तो ऐसे विवाहों को एकदम प्रारम्भ कर देने का कोई औचित्य

---

१. श्री सुरेन्द्रनाथ सेन द्वारा आलिखित।

भी नहीं प्रतीत होता। काम करने का एक गुप्त रहस्य यह है कि न्यूनतम प्रतिरोध की दिशा में चलो। इसलिए प्रारम्भ में अपनी ही जाति की उपजातियों में अन्तर्विवाह शुरू होने चाहिए। बंगाल के कायस्थों का ही उदारहण लो। उनमें कई उपजातियाँ हैं—जैसे उत्तरराढ़ी, दक्षिणराढ़ी, बंगज आदि, और उनमें परस्पर विवाह नहीं होते। अब, 'दक्षिणराढ़ी' और 'उत्तरराढ़ियों' में परस्पर विवाह-सम्बन्ध शुरू करने चाहिए, और यदि यह अभी सम्भव नहीं है, तो बंगजों और दक्षिणराढ़ियों के विवाह ही शुरू हों। इस तरह आज जो चीज़ विद्यमान है, उसीमें यथासाध्य सुधार करें। आखिर सुधार सब कुछ उखाड़ फेंकने में ही तो नहीं है न!

प्रश्न—अच्छा, यही सही, पर इससे लाभ क्या होगा?

स्वामी जी—क्या तुम नहीं देखते कि शादियों से, एक ही उपजाति तक विवाह-सम्बन्ध सीमित होने से, हमारे समाज में एक ऐसी स्थिति आ गयी है कि प्रकारान्तर से निकट के कुटुम्बियों और भ्रातृव्यों में ही विवाह हो रहे हैं, और इससे हमारे समाज की शरीर-सम्पदा का ह्रास हो रहा है, तथा परिणामस्वरूप सभी तरह की बीमारियाँ और बुराइयाँ उसमें घुस रहीं हैं? एक सीमित संख्या के व्यक्तियों में परिभ्रमण करते करते रक्त दूषित हो गया है और जन्म से ही नवजात शिशुओं को वंशगत रोग प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार की निर्बल संतति रोग के कीटाणुओं के आक्रमण का प्रतिरोध करने में नितान्त असमर्थ होती है। विवाहों की परिधि विस्तृत करने पर ही हम अपनी संतति में नये और ताज़े खून का संचार कर पायेंगे, जिससे उसकी आजकल के विविध रोगों और तज्जन्य अन्य व्याधियों से रक्षा हो सके।

प्रश्न—महाराज, आपका बाल-विवाह के सम्बन्ध में क्या मत है?

स्वामी जी—बंगाल के शिक्षित वर्ग में बालविवाह की प्रथा धीरे धीरे नष्ट हो रही है। लड़कियों का विवाह भी पहले की अपेक्षा एक-दो वर्ष अधिक उम्र होने पर ही होने लगा है। किन्तु इसका कारण समाज-सुधार की भावना नहीं, अर्थाभाव है। किसी भी कारण से क्यों न हो, विवाह की उम्र और भी अधिक हो जानी चाहिए। पर बेचारा बाप करे क्या? ज्यों ही लड़की ज़रा बड़ी होती है, माँ से लेकर अन्य सभी स्त्रियाँ और पड़ोसिनें यही एक रट लगाने लगती हैं कि वर की खोज की जाय, और जब तक वर नहीं मिल जाता, तब तक बेचारे बाप को चैन नहीं लेने देतीं। और तुम्हारे पाखंडी पण्डों-पुरोहितों के विषय में तो जो कहा जाय, वही थोड़ा है। आजकल कोई उनकी सुनता नहीं, फिर भी वे अपने आप नेता बन बैठते हैं। सरकार ने क़ानून बनाकर, १२ वर्ष की कन्या से विवाह दण्डनीय कर दिया, तो ये सब धर्मगुरु चिल्लाने लगे कि धर्म नष्ट हो गया, मानो

बारह-तेरह वर्ष की कन्या के माँ बनने में ही धर्म रह गया हो! इसीलिए सरकार भी यही सोचेगी की वाह! क्या धर्म है इन लोगों का! और ये आन्दोलन कर राजनीतिक अधिकारों की माँग करते हैं!

प्रश्न—तो आपके मत से, लड़के-लड़कियों का विवाह ज़्यादा उम्र पर ही होना चाहिए?

स्वामी जी—अवश्य। पर साथ साथ उन्हें अच्छी शिक्षा भी दी जाय, नहीं तो भ्रष्टाचार और व्यभिचार बढ़ने की आशंका है। शिक्षा से मेरा तात्पर्य आधुनिक प्रणाली की शिक्षा से नहीं, वरन् ऐसी शिक्षा से है, जो भावात्मक हो तथा जिससे स्वाभिमान और श्रद्धा के भाव जागें। केवल किताबें पढ़ा देने से कोई लाभ नहीं। हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति बढ़े, बुद्धि विकसित हो, और देश के युवक अपने पैरों पर खड़े होना सीखें।

प्रश्न—हमारे नारी-समाज में भी कई सुधारों की आवश्यकता है।

स्वामी जी—इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होने पर स्त्रियाँ अपनी समस्याएँ स्वयं ही हल कर लेंगी। अब तक तो उन्होंने केवल असहाय अवस्था में दूसरों पर आश्रित हो जीवन यापन करना, और थोड़ी सी भी अनिष्ट या संकट की आशंका होने पर आँसू बहाना ही सीखा है। पर अब दूसरी बातों के साथ साथ उन्हें बहादुर भी बनना चाहिए। आज के ज़माने में उनके लिए आत्मरक्षा करना सीखना भी बहुत ज़रूरी हो गया है। देखो, झाँसी की रानी कैसी महान् थी!

प्रश्न—आप जैसा बता रहे हैं, यह एक नयी बात है, और मुझे मालूम पड़ता है कि वैसी शिक्षा की व्यवस्था होने में काफ़ी समय लगेगा।

स्वामी जी—फिर भी, हमें यथाशक्ति प्रयत्न तो करना होगा। हमें सिर्फ़ स्त्रियों को ही यह शिक्षा नहीं देनी है, वरन् अपने को भी शिक्षित करना है। केवल पुत्र-जन्म से ही पितृत्व प्राप्त नहीं हो जाता, साथ साथ गुरु कर्तव्य-भार भी अपने कंधों पर वहन करना पड़ता है। अब स्त्री-शिक्षा कैसी हो: प्रथम तो—हिन्दू स्त्री के लिए सतीत्व का अर्थ समझना सरल ही है, क्योंकि यह उसकी विरासत है, परंपरागत सम्पत्ति है। इसलिए सर्वप्रथम, यह ज्वलन्त आदर्श भारतीय नारी के हृदय में सर्वोपरि रहे, जिससे वे इतनी दृढ़चरित्र बन जायँ कि चाहे विवाहित हों या कुमारी, जीवन की हर अवस्था में, अपने सतीत्व से तिल भर भी डिगने की अपेक्षा, जीवन की निडर होकर आहुति दे दें। अपने आदर्श की रक्षा के लिए अपने जीवन की भी बलि दे देना—यह क्या कम वीरता है? आज के युग की आवश्यकताएँ देखते हुए, मुझे तो यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ महिलाएँ संन्यस्त जीवन के आदर्शों का पालन करने के लिए शिक्षित की जायँ,

जिससे कि वे आजन्म कौमार्य व्रत धारण करें। आदि काल से जिनकी नस नस में सतीव्रत भरा है, उन भारतीय महिलाओं के लिए इसमें कोई कठिनता नहीं है। साथ साथ, महिलाओं को विज्ञान एवं अन्य विषय, जिनसे केवल उनका ही नहीं, अन्य लोगों का भी हित हो, सिखाये जायँ। यह जानकर कि परोपकार के लिए यह करना है, भारतीय नारी प्रसन्नता से और सरलतापूर्वक कोई भी विषय सीख लेगी। हमारी मातृभूमि के उत्थान के लिए आज उसे ऐसे ही पुण्यसंकल्प, पवित्रात्मा ब्रह्मचारियों तथा ब्रह्मचारिणियों की आवश्यकता है।

प्रश्न--इससे देश का किस तरह भला होगा ?

स्वामी जी--उनके आचरण तथा सर्वसाधारण के लिए राष्ट्रीय आदर्श उपस्थित करने के उनके प्रयत्नों से, लोगों के विचारों और आशा-आकांक्षाओं में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। आज क्या स्थिति है ? माँ-बाप, येन केन प्रकारेण, अपनी कन्या का विवाह निपटा देना चाहते हैं--चाहे वह ९ वर्ष की हो या १० वर्ष की ! और यदि तेरह वर्ष की अवस्था में ही उसको सन्तान हो जाती है, तो समूचे परिवार के लिए महोत्सव हो जाता है ! यदि इन विचारों का प्रवाह बदल दिया जाय, तो पुरातन श्रद्धा के पुनरागमन की कुछ आशा हो सकती है। और जो ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन यापन करेंगी, उनका तो कहना ही क्या--उनकी स्वयं में कितनी महान् श्रद्धा और कितना विश्वास होगा ! और उनसे कितना हित और कल्याण होगा !

अब प्रश्नकर्ता ने प्रणाम कर स्वामी जी से जाने की आज्ञा माँगी ! स्वामी जी ने उन्हें कभी कभी आते रहने के लिए कहा। उन्होंने कहा, "अवश्य महाराज, अवश्य आऊँगा ! मैंने आपसे ऐसी ऐसी बातें सुनी हैं, जो और कोई नहीं कह सकता। मेरा बहुत कल्याण हुआ है।" रात हो चली थी, इसलिए मैं भी घर चला आया।

रचनानुवाद : गद्य

अपने देशवासियों के प्रति[1]

एक ओर नया भारत कहता है कि हमको पति-पत्नी चुनने में पूरी स्वतन्त्रता चाहिए, क्योंकि जिस विवाह पर हमारे भविष्य जीवन का सारा सुख-दुःख निर्भर है, उसका हम अपनी इच्छा से चुनाव करेंगे। दूसरी ओर प्राचीन भारत की आज्ञा होती है कि विवाह इन्द्रिय-सुख के लिए नहीं, वरन् सन्तानोत्पत्ति के लिए है। इस देश की यही धारणा है। सन्तान उत्पन्न करके समाज के भावी हानि-लाभ के तुम कारण हो, इसलिए जिस प्रणाली से विवाह करने में समाज का सबसे अधिक कल्याण होना सम्भव है, वही प्रणाली समाज में प्रचलित है। तुम समाज के सुख के लिए अपने सुख-भोग की इच्छा त्यागो।

एक ओर नया भारत कहता है कि पाश्चात्य भाव, भाषा, खान-पान और वेश-भूषा का अवलम्बन करने से ही हम लोग पाश्चात्य जातियों की भाँति शक्तिमान हो सकेंगे। दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है कि मूर्ख ! नक़ल करने से भी कहीं दूसरों का भाव अपना हुआ है ? बिना उपार्जन किये कोई वस्तु अपनी नहीं होती। क्या सिंह की खाल पहनकर गधा कहीं सिंह हुआ है ?

एक ओर नवीन भारत कहता है कि पाश्चात्य जातियाँ जो कुछ कर रही हैं, वही अच्छा है। अच्छा नहीं है, तो वे ऐसे बलवान कैसे हुए ? दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है कि बिजली की चमक तो खूब होती है, पर क्षणिक होती है। बालक ! तुम्हारी आँखें चौंधियाँ रही हैं, सावधान !

तो क्या हमें पाश्चात्य जगत् से कुछ भी सीखने को नहीं है ? क्या हमें चेष्टा या प्रयत्न करने की जरूरत नहीं है ? क्या हम सब प्रकार पूरे हैं ? क्या हमारा समाज पूर्णतया निश्छिद्र है ? नहीं, सीखने को बहुत कुछ है। प्रयत्न तो हमें जीवन भर करना चाहिए। प्रयत्न ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे, 'जब तक जिऊँ, तब तक सीखूं।' जिस व्यक्ति ग

---

१. मूल बंगला में लिखित। विवेकानन्द साहित्य, नवम खंड, वर्तमान भारत पृष्ठ २२५ से संगृहीत।

समाज को कुछ सीखना नहीं है, वह मृत्यु के मुँह में जा चुका। सीखने को तो है, परन्तु भय भी है।

एक कम बुद्धिवाला लड़का श्री रामकृष्ण देव के सामने सदा शास्त्रों की निन्दा किया करता था। उसने एक बार गीता की बड़ी प्रशंसा की। इस पर श्री रामकृष्ण देव ने कहा, "किसी अंग्रेज़ विद्वान् ने गीता की प्रशंसा की होगी। इसीलिए यह भी उसकी प्रशंसा कर रहा है।"

ऐ भारत ! यही विकट भय का कारण है। हम लोगों में पाश्चात्य जातियों की नक़ल करने की इच्छा ऐसी प्रबल होती जाती है कि भले-बुरे का निश्चय अब विचार-बुद्धि, शास्त्र या हिताहित ज्ञान से नहीं किया जाता। गोरे लोग जिस भाव और आचार की प्रशंसा करें, वही अच्छा है और वे जिसकी निन्दा करें, वही बुरा ! अफ़सोस ! इससे बढ़कर मूर्खता का परिचय और क्या होगा ?

पाश्चात्य स्त्रियाँ स्वाधीन भाव से फिरती हैं, इसलिए वही चाल अच्छी है; वे अपने लिए वर आप चुन लेती हैं, इसलिए वही उन्नति का उच्चतम सोपान है; पाश्चात्य पुरुष हम लोगों की वेश-भूषा, खान-पान को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए हमारी ये चीज़ें बहुत बुरी हैं, पाश्चात्य लोग मूर्ति-पूजा को ख़राब कहते हैं, तो वह भी बड़ी ही ख़राब होगी, क्यों न हो ?

पाश्चात्य लोग एक ही देवता की पूजा को कल्याणप्रद बताते हैं, इसलिए अपने देव-देवियों को गंगा में फेंक दो। पाश्चात्य लोग जाति-भेद को घृणित समझते हैं, इसलिए सब वर्णों को मिलाकर एक कर दो। पाश्चात्य लोग बाल्य विवाह को सब अनर्थों का कारण कहते हैं, इसलिए वह भी अवश्य ही बहुत ख़राब होगा।

यहाँ पर हम इस बात का विचार नहीं करते कि ये प्रथाएँ चलनी चाहिए अथवा रुकनी चाहिए। परन्तु यदि पाश्चात्य लोगों की घृणा-दृष्टि के कारण ही हमारे रीति-रिवाज़ बुरे साबित होते हों, तो उसका प्रतिवाद अवश्य होना चाहिए।

वर्तमान लेखक को पाश्चात्य समाज का कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसीसे उसका विश्वास है कि पाश्चात्य समाज और भारत-समाज की मूल गति और उद्देश्य में इतना अन्तर है कि पाश्चात्यों के अनुकरण पर गठित समाज इस देश में किसी काम का न होगा। जो लोग पाश्चात्य समाज में नहीं रहे हैं, और वहाँ की स्त्रियों की पवित्रता की रक्षा के लिए स्त्रियों और पुरुषों के आपस में मिलने के जो नियम और बाधाएँ प्रचलित हैं, उन्हें बिना जाने जो अपनी स्त्रियों को पुरुषों से बिना रोक-टोक के मिलने देते हैं, उन लोगों से हमारी रत्ती भर भी सहानुभूति नहीं है।

पाश्चात्य देशों में भी मैंने देखा है कि दुर्बल जातियों की सन्तान जब इंग्लैण्ड में जन्म लेती है, तो अपने को वह स्पेनिश, पोर्तुगीज़, यूनानी आदि—जो वह हो—न बताकर अंग्रेज़ ही बताती हैं। बलवान की ओर सब कोई दौड़ता है। दुर्बल मात्र की यह इच्छा रहती है कि बड़े लोगों के गौरव की छटा उसके शरीर में कुछ लग जाय। भारतवासियों को जब मैं अंग्रेज़ी वेश-भूषा में देखता हूँ, तब समझता हूँ कि ये लोग शायद पददलित, विद्याहीन, दरिद्र भारतवासियों के साथ अपनी सजातीयता स्वीकार करने में लज्जित होते हैं। चौदह सौ वर्ष तक हिन्दुओं के रक्त से पलकर भी पारसी लोग अब 'नेटिव' नहीं हैं! जातिहीन और अपने को ब्राह्मण बतानेवाली जातियों के जात्यभिमान के निकट बड़े बड़े कुलीन ब्राह्मणों तक का जात्यभिमान कपूर की तरह उड़कर लुप्त हो जाता है। फिर पाश्चात्यों ने अब हमें यह भी सिखलाया है कि यह जो कमर में ही कपड़ा लपेटनेवाली मूर्ख नीच जाति है, वह अनार्य है; इसलिए वे लोग हमारे अपने नहीं हैं!!

ऐ भारत! क्या दूसरों की ही हाँ में हाँ मिलाकर, दूसरों की ही नक़ल कर, परमुखापेक्षी होकर इन दासों की सी दुर्बलता, इस घृणित, जघन्य निष्ठुरता से ही तुम बड़े बड़े अधिकार प्राप्त करोगे? क्या इसी लज्जास्पद कापुरुषता से तुम वीरभोग्या स्वाधीनता प्राप्त करोगे? ऐ भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए—अपने व्यक्तिगत सुख के लिए—नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलिस्वरूप रखे गये हो; मत भूलना कि तुम्हारा समाज उस विराट् महामाया की छाया मात्र है; तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, बोलो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सब मेरे भाई हैं; तुम भी कटिमात्र वस्त्रावृत्त होकर गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरी शिशु-सज्जा, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्द्धक्य की वाराणसी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है; और रात-दिन कहते रहो—'हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो; माँ, मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ।'

हिन्दू धर्म और श्री रामकृष्ण[1]

शास्त्र शब्द से अनादि अनन्त 'वेद' का तात्पर्य है। धार्मिक व्यवस्थाओं में मतभेद होने पर एकमात्र वेद ही सर्वमान्य प्रमाण है।

पुराणादि अन्य धर्मग्रन्थों को स्मृति कहते हैं। ये भी प्रमाण में ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु तभी तक, जब तक वे श्रुति के अनुकूल कहें, अन्यथा नहीं।

'सत्य' के दो भेद हैं: पहला, जो मनुष्य की पंचेन्द्रियों से एवं तदाश्रित अनुमान से ग्रहण किया जाय, और दूसरा, जो अतीन्द्रिय सूक्ष्म योगज शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाय।

प्रथम उपाय से संकलित ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं और दूसरे प्रकार से संकलित ज्ञान को 'वेद' कहते हैं।

अनादि अनन्त अलौकिक वेद-नामधारी ज्ञानराशि सदा विद्यमान है। सृष्टिकर्ता स्वयं इसीकी सहायता से इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और उसका नाश करता है।

यह अतीन्द्रिय शक्ति, जिनमें आविर्भूत अथवा प्रकाशित होती है, उनका नाम ऋषि है, और उस शक्ति के द्वारा वे जिस अलौकिक सत्य की उपलब्धि करते हैं, उसका नाम 'वेद' है।

यह ऋषित्व और वेद-दृष्टि का लाभ करना ही यथार्थ धर्मानुभूति है। जब तक यह प्राप्त न हो, तब तक 'धर्म' केवल बात की बात है, और यही मानना पड़ेगा कि धर्मराज्य की प्रथम सीढ़ी पर भी हमने पैर नहीं रखा।

समस्त देश, काल और पात्र में व्याप्त होने के कारण वेद का शासन अर्थात् वेद का प्रभाव देशविशेष, कालविशेष अथवा पात्रविशेष तक सीमित नहीं।

सार्वजनीन धर्म की व्याख्या करनेवाला एकमात्र वेद ही है।

अलौकिक ज्ञान-प्राप्ति का साधन यद्यपि हमारे देश के इतिहास-पुराणादि और म्लेच्छादि देशों की धर्म-पुस्तकों में थोड़ा-बहुत अवश्य वर्तमान है, फिर भी अलौकिक ज्ञानराशि का सर्वप्रथम पूर्ण और अविकृत संग्रह होने के कारण,

---

१. इसका मूल बंगला है। विवेकानन्द साहित्य, दशम खण्ड, पृष्ठ १३९ से संगृहीत।

जाति में प्रसिद्ध वेद-नामधारी, चार भागों में विभक्त अक्षर-समूह ही सब प्रकार से सर्वोच्च स्थान का अधिकारी है, समस्त जगत् का पूजार्ह है तथा आर्य एवं म्लेच्छ सबके धर्मग्रन्थों की प्रमाणभूमि है।

आर्य जाति द्वारा आविष्कृत उक्त वेद नामक शब्दराशि के सम्बन्ध में यह भी जान लेना होगा कि उसका जो अंश लौकिक, अर्थवाद अथवा इतिहास सम्बन्धी बातों की विवेचना नहीं करता, वही अंश वेद है।

ये वेद ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड, दो भागों में विभक्त हैं। कर्मकाण्ड में वर्णित क्रिया और उसके फल मायाधिकृत जगत् में ही सीमित होने के कारण देश, काल और पात्र के अधीन होकर परिवर्तित हुए हैं, होते हैं, तथा होते रहेंगे। सामाजिक रीति-नीति भी इसी कर्मकाण्ड के ऊपर प्रतिष्ठित है; इसलिए समय समय पर इसका भी परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा। लोकाचार यदि सत्शास्त्र और सदाचार के प्रतिकूल न हो, तो वह भी मान्य है। सत्शास्त्रनिन्दित और सदाचार-विरोधी लोकाचार के अधीन हो जाना ही आर्य जाति के अधःपतन का एक प्रधान कारण है।

निष्काम कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान की सहायता से मुक्ति दिलानेवाला होने के कारण, तथा मायारूपी समुद्र को पार कराने में नेता के पद पर प्रतिष्ठित और देश-काल-पात्र आदि के द्वारा अप्रतिहत होने के कारण, ज्ञानकाण्ड अथवा वेदान्त भाग ही सार्वलौकिक, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक धर्म का एकमात्र उपदेष्टा है।

मन्वादि शास्त्रों ने कर्मकाण्ड का आश्रय ग्रहण कर देश-काल-पात्र-भेद से मुख्यतः समाज का कल्याण करनेवाले कर्मों की शिक्षा दी है। पुराणों ने वेदान्त के छिपे हुए तत्त्वों को प्रकाश में लाकर, अवतारादि महान् चरित्रों का वर्णन करते हुए इन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की है, और उनमें से प्रत्येक ने अनन्त भावमय भगवान् के किसी एक भाव को प्रधान मानकर उसीका उपदेश दिया है।

किन्तु जब कालवश सदाचारभ्रष्ट, वैराग्यहीन, एकमात्र लोकाचारनिष्ठ और क्षीणबुद्धि आर्य सन्तान इन सब भावविशेषों की विशेष शिक्षा के लिए अवस्थित आपातविरोधी दिखनेवाले एवं अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिए विस्तृत भाषा में स्थूल रूप से वैदान्तिक सूक्ष्म तत्त्वों का प्रचार करनेवाले इन पुराणादि तन्त्रों में वर्णित मर्मों को भी ग्रहण करने में असमर्थ हो गयी—और, इसके फलस्वरूप, जिस समय उसने अनन्त भावसमष्टि अखण्ड सनातन धर्म को शत शत खण्डों में विभक्त कर, साम्प्रदायिक ईर्ष्या और क्रोध की ज्वाला को प्रज्वलित कर उसमें परस्पर की आहुति देने की सतत चेष्टा करते हुए इस धर्मभूमि भारत को प्रायः नरक-भूमि में परिणत कर दिया,—उस समय, आर्य जाति का प्रकृत धर्म क्या है और

सतत विवदमान, आपातप्रतीयमान अनेकशः विभक्त, सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी आचार-युक्त सम्प्रदायों से घिरे, स्वदेशियों का भ्रान्ति-स्थान एवं विदेशियों का घृणास्पद हिन्दू धर्म नामक युग-युगान्तरव्यापी विखण्डित एवं देश-काल के योग से इधर-उधर बिखरे हुए धर्मखण्डसमष्टि के बीच यथार्थ एकता कहाँ है, यह दिखलाने के लिए—तथा कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में निहित कर, संसार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरणस्वरूप अपने को प्रदर्शित करते हुए लोक-कल्याण के लिए श्री भगवान् रामकृष्ण अवतीर्ण हुए।

सृष्टि, स्थिति और लयकर्ता के अनादि-वर्तमान सहयोगी शास्त्र संस्कार-रहित ऋषि-हृदय में किस प्रकार प्रकाशित होते हैं, यह दिखलाने के लिए और इसलिए कि इस प्रकार से शास्त्रों के प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुनः-स्थापना और पुनःप्रचार होगा, वेदमूर्ति भगवान् ने अपने इस नूतन रूप में बाह्य शिक्षा की प्रायः सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।

वेद अर्थात् प्रकृत धर्म की और ब्राह्मणत्व अर्थात् धर्मशिक्षा के तत्त्व की रक्षा के लिए भगवान् बारम्बार शरीर धारण करते हैं, यह तो स्मृति आदि में प्रसिद्ध ही है।

ऊपर से गिरनेवाली नदी की जलराशि अधिक वेगवती होती है; पुनरुत्थित तरंग अधिक ऊँची होती है। उसी प्रकार प्रत्येक पतन के बाद आर्य समाज भी श्री भगवान् के करुणापूर्ण नियन्त्रण में नीरोग होकर पूर्वापेक्षा अधिक यशस्वी और वीर्यवान हुआ है—इतिहास इस बात का साक्षी है।

प्रत्येक पतन के बाद पुनरुत्थित समाज अन्तर्निहित सनातन पूर्णत्व को और भी अधिक प्रकाशित करता है; और सर्वभूतों में अवस्थित अन्तर्यामी प्रभु भी अपने स्वरूप को प्रत्येक अवतार में अधिकाधिक अभिव्यक्त करते हैं।

बार बार यह भारतभूमि मूर्च्छापन्न अर्थात् धर्मलुप्त हुई है और बारम्बार भारत के भगवान् ने अपने आविर्भाव द्वारा इसे पुनरुज्जीवित किया है।

किन्तु प्रस्तुत दो घड़ी में ही बीत जानेवाली वर्तमान गम्भीर विषाद-रात्रि के समान और किसी भी अमानिशा ने अब तक इस पुण्यभूमि को आच्छन्न नहीं किया था। इस पतन की गहराई के सामने पहले के सब पतन गोष्पद के समान जान पड़ते हैं।

इसीलिए इस प्रबोधन की समुज्ज्वलता के सम्मुख पूर्व युग के समस्त उत्थान उसी प्रकार महिमाविहीन हो जायँगे, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सामने तारा-गण। और इस पुनरुत्थान के महावीर्य की तुलना में प्राचीन काल के समस्त उत्थान बालकेलि से जान पड़ेंगे।

सनातन धर्म के समस्त भाव-समूह अपनी इस पतनावस्था में, अधिकारी के अभाव से, अब तक इधर-उधर छिन्न-भिन्न होकर पड़े रहे हैं--कुछ तो छोटे छोटे सम्प्रदायों के रूप में और शेष सब लुप्तावस्था में।

किन्तु आज, इस नव उत्थान में नवीन बल से वली मानव-सन्तान विखण्डित और बिखरी हुई अध्यात्म विद्या को एकत्र कर उसकी धारणा और अभ्यास करने में समर्थ होगी तथा लुप्त विद्या के भी पुनः आविष्कार में सक्षम होगी। इसके प्रथम निदर्शनस्वरूप परम कारुणिक श्री भगवान् पूर्व सभी युगों की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्रदर्शित करते हुए, सर्वभाव-समन्वित एवं सर्वविद्यायुक्त होकर युगावतार के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

इसीलिए इस महायुग के उषाकाल में सभी भावों का मिलन प्रचारित हो रहा है, और यही असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित होते हुए भी अब तक छिपा हुआ था, पुनः आविष्कृत होकर उच्च स्वर से जन-समाज में उद्घोषित हो रहा है।

यह नव युगधर्म समस्त जगत् के लिए, विशेषतः भारत के लिए, महा कल्याण-कारी है; और इस युगधर्म के प्रवर्तक श्री भगवान् रामकृष्ण पहले के समस्त युगधर्म-प्रवर्तकों के पुनः संस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव, इस पर विश्वास करो और इसे हृदय में धारण करो।

मृत व्यक्ति फिर से नहीं जीता। बीती हुई रात फिर से नहीं आती। विगत उच्छ्वास फिर नहीं लौटता। जीव दो बार एक ही देह धारण नहीं करता। हे मानव, मुर्दे की पूजा करने के बदले हम जीवित की पूजा के लिए तुम्हारा आह्वान करते हैं; बीती हुई बातों पर माथापच्ची करने के बदले हम तुम्हें प्रस्तुत प्रयत्न के लिए बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में व्यर्थ शक्ति-क्षय करने के बदले अभी बनाये हुए प्रशस्त और सन्निकट पथ पर चलने के लिए आह्वान करते हैं। बुद्धिमान, समझ लो!

जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्तव्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत हुई है, उसकी पूर्णावस्था को कल्पना से अनुभव करो; और व्यर्थ सन्देह, दुर्बलता और दास जाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुग-चक्र-परिवर्तन में सहायक बनो।

हम प्रभु के दास हैं, प्रभु के पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक हैं--यही विश्वास दृढ़ कर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो।

भारत की उच्च जाति के प्रति[1]

आर्य बाबा का दम भरते हुए चाहे प्राचीन भारत का गौरव-गान दिन-रात करते रहो और कितना भी 'डम्‌डम्' कहकर गाल बजाओ, तुम ऊँची जातवाले क्या जीवित हो ? तुम लोग हो दस हज़ार वर्ष पीछे के ममी ! ! जिन्हें 'सचैल श्मशान' कहकर तुम्हारे पूर्व-पुरुषों ने घृणा की है, भारत में जो कुछ वर्तमान जीवन है, वह उन्हींमें है और 'सचल श्मशान' हो तुम लोग। तुम्हारे घर-द्वार म्यूज़ियम हैं, तुम्हारे आचार-व्यवहार, चाल-चलन देखने से जान पड़ता है, बड़ी दीदी के मुँह से कहानियाँ सुन रहा हूँ ! तुम्हारे साथ प्रत्यक्ष वार्तालाप करके भी घर लौटता हूँ, तो जान पड़ता है, चित्रशाला में तस्वीरें देख आया। इस माया के संसार की असली प्रहेलिका, असली मरु-मरीचिका तुम लोग हो भारत के उच्च वर्णवाले। तुम लोग भूतकाल हो, लङ्, लुङ्, लिट्, सब एक साथ। वर्तमान काल में तुम्हें देख रहा हूँ, इससे जो अनुभव हो रहा है, वह अजीर्णता-जनित दुःस्वप्न है। भविष्य के तुम लोग शून्य हो, इत्, लोप, लुप्। स्वप्न-राज्य के आदमी हो तुम लोग, अब देर क्यों कर रहे हो ? भूत-भारत-शरीर के रक्त-मांसहीन कंकालकुल, तुम लोग क्यों नहीं जल्दी से जल्दी धूलि में परिणत हो वायु में मिल जाते ? तुम लोगों की अस्थिमय अँगुलियों में पूर्वपुरुषों की संचित कुछ अमूल्य रत्नांगुलीय हैं, तुम्हारे दुर्गन्धित शरीरों को भेंटती हुई पूर्व काल की बहुत सी रत्नपेटिकाएँ सुरक्षित हैं। इतने दिनों तक उन्हें दे देने की सुविधा नहीं मिली। अब अंग्रेज़ी राज्य में, अबाध विद्या-चर्चा के दिनों में, उन्हें उत्तराधिकारियों को दो, जितने शीघ्र दे सको, दे दो। तुम लोग शून्य में विलीन हो जाओ और फिर एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, जाली, माली, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से। निकल पड़े बनियों की दूकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकले झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों, पर्वतों से। इन लोगों ने सहस्र सहस्र वर्षों तक नीरव अत्याचार सहन किया है,—उससे पायी है अपूर्व सहिष्णुता। सनातन दुःख उठाया, जिससे पायी है अटल जीवनी-शक्ति।

---

१. मूल बंगला में लिखित। विवेकानन्द साहित्य, अष्टम खण्ड, 'यूरोप यात्रा के संस्मरण', पृष्ठ १६७ से संगृहीत।

ये लोग मुट्ठी भर सत्तू खाकर दुनिया उलट दे सकेंगे। आधी रोटी मिली, तो तीनों लोक में इतना तेज न अटेगा। ये रक्तबीज के प्राणों से युक्त हैं। और पाया है सदाचार-बल, जो तीनों लोक में नहीं है। इतनी शान्ति, इतनी प्रीति, इतना प्यार, बेज़बान रहकर दिन-रात इतना खटना और काम के वक़्त सिंह का विक्रम ! ! अतीत के कंकाल-समूह !——यही है तुम्हारे सामने तुम्हारा उत्तराधिकारी भावी भारत। वे तुम्हारी रत्नपेटिकाएँ, तुम्हारी मणि की अँगूठियाँ——फेंक दो इनके बीच; जितना शीघ्र फेंक सको, फेंक दो; और तुम हवा में विलीन हो जाओ, अदृश्य हो जाओ, सिर्फ़ कान खड़े रखो। तुम ज्यो हीं विलीन होगे, उसी वक़्त सुनोगे, कोटिजीमूतस्यन्दिनी, त्रैलोक्यकंपनकारिणी भावी भारत की उद्बोधन-ध्वनि 'वाह गुरु की फ़तह !'

फ्रांस और उसकी राजधानी[1]

यह यूरोप क्या है ? क्यों एशिया, अफ़्रीका और अमेरिका के काले, भूरे, पीले और लाल निवासी यूरोपनिवासियों के पैरों पर गिरते हैं? क्यों कलियुग में यूरोपनिवासी ही एकमात्र शासनकर्ता हैं? इस यूरोप को समझने के लिए हमें पाश्चात्य महानता तथा गौरव के केन्द्र फ्रांस की ओर जाना होगा। इस समय पृथ्वी का आधिपत्य यूरोप के हाथ में है और यूरोप का महाकेन्द्र पेरिस है। पाश्चात्य सभ्यता, रीति-नीति, प्रकाश-अंधकार, अच्छा-बुरा सबकी अन्तिम पराकाष्ठा का भाव इसी पेरिस नगरी से प्रादुर्भूत होता है।

यह पेरिस नगरी एक महासमुद्र है! मणि, मोती, मूँगा आदि भी यहाँ यथेष्ट हैं और साथ ही मगर, घड़ियाल भी यहाँ बहुत हैं। यह फ्रांस ही यूरोप का कर्मक्षेत्र है। चीन के कुछ अंशों को छोड़कर इतना सुन्दर स्थान और कहीं नहीं है। न तो बहुत गरम और न तो बहुत ठंडा, बहुत उपजाऊ, न यहाँ अधिक पानी बरसता है और न कम पानी बरसने की ही शिकायत है। वह निर्मल आकाश, मीठी धूप, वनस्थली की शोभा, छोटे छोटे पहाड़, एल्म और ओक प्रभृति पेड़ों का बाहुल्य, छोटी छोटी नदियाँ, छोटे छोटे झरने, पृथ्वीतल पर और कहाँ हैं? जल का वह रूप, स्थल की वह मोहकता, वायु की वह उन्मत्तता, आकाश का वह आनन्द और कहाँ मिलेगा ? प्रकृति सुन्दर है, मनुष्य भी सौन्दर्यप्रिय है। बूढ़े-बच्चे, स्त्री-पुरुष, धनी-दरिद्र, उनका घर-द्वार, खेत-मैदान आदि सभी साफ़-सुथरे और बना-चुनाकर सुन्दर किये हुए रहते हैं। सिर्फ़ जापान को छोड़कर यह भाव और कहीं नहीं है। वे इन्द्रपुरी के गृह, अट्टालिकाओं का समूह, नन्दन वन के सदृश उद्यान, उपवन, झाड़ियाँ और कृषकों के खेत, सभी में एक रूप, एक सुन्दर छटा देखने का प्रयत्न है—और वे अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए हैं। यह फ़्रांस प्राचीन समय से गौल (Gaulois), रोमन (Roman), फ़्रांक (Frank) आदि जातियों की संघर्ष-भूमि रहा है। इसी फ़्रांक जाति ने रोमन साम्राज्य का नाश करने के बाद यूरोप में आधिपत्य जमाया। इनके बादशाह

---

१. मूल बंगला में लिखित। विवेकानन्द साहित्य, दशम खण्ड, प्राच्य और पाश्चात्य, पृष्ठ ९१ से संगृहीत।

शार्लेमॅग्ने (Charlemagne) ने यूरोप में ईसाई धर्म का तलवार के बल पर प्रचार किया। इसी फ्रांक जाति के द्वारा ही एशिया को यूरोप का परिचय हुआ—इसीलिए आज भी हम यूरोपवासियों को फ़्रांकी, फिरंगी, प्लांकी, फ़िलिंग आदि नामों से सम्बोधित करते हैं।

पाश्चात्य सभ्यता का आदि केन्द्र प्राचीन यूनान डूब गया, रोम के चक्रवर्ती राजा बर्बरों के आक्रमण-तरंग में बह गये, यूरोप का प्रकाश बुझ गया। इधर एशिया में भी एक बर्बर जाति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे अरब कहते हैं। वह अरब-तरंग बड़े वेग से पृथ्वी को आच्छादित करने लगी। महाबली पारसी जाति अरबों के पैरों के नीचे दब गयी। उसे मुसलमान धर्म ग्रहण करना पड़ा। किन्तु उसके प्रभाव से मुसलमान धर्म ने एक दूसरा ही रूप धारण किया। वह अरबी धर्म पारसी सभ्यता में सम्मिलित हो गया।

अरबों की तलवार के साथ पारसी सभ्यता धीरे धीरे फैलने लगी। वह पारसी सभ्यता प्राचीन यूनान और भारत से ही ली हुई थी। पूर्व और पश्चिम, दोनों ओर से बड़े वेग के साथ मुसलमान-तरंग ने यूरोप के ऊपर आघात किया, साथ ही साथ अंधकारपूर्ण यूरोप में ज्ञानरूपी प्रकाश फैलने लगा। प्राचीन यूनानियों की विद्या, बुद्धि, शिल्प आदि ने बर्बराक्रान्त इटली में प्रवेश किया। धरा-राजधानी रोम के मृत शरीर में प्राण-स्पंदन होने लगा—उस स्पंदन ने फ्लोरेन्स (Florence) नगरी में प्रबल रूप धारण किया, प्राचीन इटली ने नवजीवन धारण करना आरम्भ किया—इसीको नवजन्म अर्थात् रेनेसाँ (renaissance) कहते हैं। किन्तु वह नवजन्म इटली का था। यूरोप के दूसरे अंशों का उस समय प्रथम जन्म हुआ। ईसा की सोलहवीं शताब्दी में जब भारत में अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ प्रभृति मुग़ल सम्राट् बड़े बड़े साम्राज्यों की सृष्टि कर रहे थे, उसी समय यूरोप का नवजन्म हुआ।

इटलीवाले प्राचीन जाति के थे, एक बार जँभाई लेकर फिर करवट बदलकर सो गये। उस समय कई कारणों से भारतवर्ष भी कुछ कुछ जाग रहा था। अकबर से लेकर तीन पीढ़ी तक के मुग़ल राज्य में विद्या, बुद्धि, शिल्प आदि का यथेष्ट आदर हुआ था। किन्तु अत्यन्त वृद्ध जाति होने के कारण वह फिर करवट बदलकर सो गयी।

यूरोप में, इटली के पुनर्जन्म ने बलवान, अभिनव फ़्रांक जाति को व्याप्त कर लिया। चारों ओर से सभ्यता की सब धाराओं ने आकर फ्लोरेन्स नगरी में एकत्र हो नवीन रूप धारण किया। किन्तु इटलीनिवासियों में उस वीर्य को धारण करने की शक्ति नहीं थी। भारत की तरह वह उन्मेष उसी स्थान पर समाप्त

हो जाता, किन्तु यूरोप के सौभाग्य से इस नवीन फ़्रांक जाति ने आदरपूर्वक उस तेज को ग्रहण किया। नवीन जाति ने उस तरंग में बड़े साहस के साथ अपनी नौका छोड़ दी। उस स्रोत का वेग क्रमशः बढ़ने लगा। वहाँ एक धारा सैकड़ों धाराओं में विभक्त होकर बढ़ने लगी। यूरोप की अन्यान्य जातियाँ लोलुप हो मेंड़ काटकर उस जल को अपने अपने देश में ले गयीं और उसमें अपनी जीवन-शक्ति सम्मिलित कर उसके वेग और विस्तार को और भी अधिक बढ़ा दिया। वह तरंग फिर भारत में आकर टकरायी। वह तरंगलहरी जापान के किनारों पर जा पहुँची और जापान उस जल को पान कर मत्त हो गया। एशिया में जापान ही नवीन जाति है।

यह पेरिस नगरी यूरोपीय सभ्यता की गंगोत्री है। यह विराट् नगरी मृत्यु-लोक की अमरावती—सदानन्द नगरी है। पेरिस का भोग-विलास और आनन्द न लन्दन में है, न बर्लिन में और न यूरोप के किसी दूसरे शहर में। लन्दन, न्यूयार्क में धन है; बर्लिन में विद्या, बुद्धि यथेष्ट है, किन्तु न तो वहाँ फ़्रांस की मिट्टी है और न हैं फ़्रांस के वे निवासी! धन हो, विद्या-बुद्धि हो, प्राकृतिक सौन्दर्य भी हो—किन्तु वे मनुष्य कहाँ हैं? प्राचीन यूनानियों की मृत्यु के बाद इस अद्भुत फ़्रांसीसी चरित्र का जन्म हुआ है। सदा आनन्द और उत्साह से भरे हुए, पर बड़े हल्के और फिर भी बहुत गम्भीर, सब कामों में उत्तेजित, किन्तु बाधा पड़ते ही निरुत्साहित। किन्तु वह नैराश्य फ़्रांसनिवासी के मुँह पर बहुत देर तक नहीं ठहरता, फिर नवीन उत्साह और विश्वास से वह चमक उठता है।

पेरिस विश्वविद्यालय ही यूरोप का आदर्श विश्वविद्यालय है। दुनिया की जितनी वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं, वे सब फ़्रांस की वैज्ञानिक संस्थाओं की नक़ल हैं। फ़्रांस ही ने दुनिया को औपनिवेशिक साम्राज्य-स्थापना की शिक्षा दी। सभी भाषाओं में अभी उस फ़्रांसीसी भाषा के ही युद्ध सम्बन्धी शब्दों का व्यवहार होता है। फ़्रांसीसियों की रचनाओं की नक़ल सभी यूरोपीय भाषाओं में हुई है। यह पेरिस नगरी ही दर्शन, विज्ञान और शिल्प की खान है। सभी स्थानों में इन्हींकी नक़ल हुई है।

पेरिस के रहनेवाले मानो नागरिक हैं और उनकी तुलना में अन्य दूसरी जातियाँ ग्रामीण हैं। ये लोग जो करते हैं, उसीकी पचीस-पचास वर्ष पीछे जर्मन और अंग्रेज़ नक़ल करते हैं, चाहे वह विद्या सम्बन्धी हो, चाहे शिल्प सम्बन्धी हो, अथवा सामाजिक नीति सम्बन्धी ही क्यों न हो। यह फ़्रांसीसी सभ्यता स्कॉटलैण्ड पहुँची, वहाँ के राजा इंग्लैण्ड के भी शासक हुए, तब इस फ़्रांसीसी सभ्यता ने इंग्लैण्ड को जगाकर छोड़ा। स्कॉटलैण्ड के स्टुअर्ट खानदान के शासन के समय में ही इंग्लैण्ड में रायल सोसाइटी आदि संस्थाएँ स्थापित हुईं।

पुनः फ़ांस ही स्वाधीनता का उद्‌गम-स्थान है। इस पेरिस महानगरी से ही प्रजा-शक्ति ने बड़े वेग से उठकर यूरोप की जड़ को हिला दिया। उसी दिन से यूरोप का नया आकार सामने आया। वह 'Liberte' Egalite', Fraternite' (स्वाधीनता, समानता, बंधुत्व) की ध्वनि अब फ़ांस में नहीं सुनायी पड़ती। फ़ांस अब दूसरे भावों, दूसरे उद्देश्यों का अनुसरण कर रहा है, किन्तु यूरोप की अन्यान्य जातियाँ अभी भी उसी फ़ांसीसी विप्लव का अभ्यास कर रही हैं।

स्कॉटलैण्ड के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने उस दिन मुझसे कहा था कि पेरिस पृथ्वी का केन्द्र है। जो देश जिस अंश में पेरिस के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा, वह उसी परिमाण में उन्नत होगा। अवश्य ही इस बात में कुछ अतिरंजित सत्य है, किन्तु यह बात भी सत्य है कि यदि किसीको किसी नवीन भाव का संसार में प्रचार करना हो, तो उसके लिए पेरिस ही उपयुक्त स्थान है। इस पेरिस नगरी से उठी हुई ध्वनि को यूरोप अवश्य ही प्रतिध्वनित करेगा। शिल्पकार, चित्रकार, गवैया, नर्तकी यदि पेरिस में प्रतिष्ठा पा जायँ, तो उन्हें अन्य दूसरे देशों में प्रतिष्ठा पाने में देर न लगेगी।

हमारे देश में इस पेरिस नगरी की बदनामी ही सुनी जाती है। हम सुनते हैं—पेरिस नगरी महाभयंकर, वेश्यापूर्ण और नरककुंड है। अवश्य ही अंग्रेज़ ये सब बातें कहते हैं। दूसरे देश के धनी लोग, जिनकी दृष्टि में विषय-वासना-तृप्ति के सिवाय दूसरा कुछ सुख है ही नहीं, स्वभावतः पेरिस में व्यभिचार और विषय-वासना-तृप्ति का केन्द्र देखते हैं! किन्तु लन्दन, बर्लिन, वियना, न्यूयार्क आदि भी तो वार-वनिताओं और भोग-विलास से पूर्ण हैं। किन्तु अन्तर है कि दूसरे देशों की इन्द्रिय-चर्चा पशुवत् है, पर सभ्य पेरिस की मिट्टी भी सोने के पत्तों से ढकी है। अन्यान्य शहरों के पैशाचिक भोग के साथ पेरिस की विलासप्रियता की तुलना करना, मानो कीचड़ में लोटते हुए सूअर की उपमा नाचते हुए मोर से देना है।

कहो तो सही, भोग-विलास की इच्छा किस जाति में नहीं है? यदि ऐसा नहीं है, तो दुनिया में जिसके पास दो पैसा है, वह क्यों पेरिस की ही ओर दौड़ता है? राजा, बादशाह अपना नाम बदलकर उस विलासकुण्ड में स्नान कर पवित्र होने क्यों जाते हैं? इच्छा सभी देशों में है; उद्योग की त्रुटि भी किसी देश में कम नहीं देखी जाती। किन्तु भेद केवल इतना ही है कि पेरिसवाले सिद्धहस्त हो गये हैं, भोग करना जानते हैं, विलासप्रियता की सप्तम श्रेणी में पहुँच चुके हैं।

विश्व को भारत का सन्देश[1]

मेरे प्रिय देशवासियो, पाश्चात्य लोगों के लिए मेरा सन्देश ओजस्वी रहा है; तुम्हारे लिए मेरा सन्देश उससे भी अधिक ओजस्वी है। मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है कि नवीन पश्चिमी राष्ट्रों के लिए पुरातन भारत का सन्देश मुखरित करूँ—भविष्य निश्चित रूप से बतायेगा कि मैंने यह कार्य सम्यक् रूप से सम्पन्न किया या नहीं; पर उस अनागत भविष्य के सशक्त-सबल स्वरों का कोमल, पर स्पष्ट मर्मर अभी से सुनायी देने लगा है—भावी भारत का सन्देश वर्तमान भारत के लिए; और जैसे जैसे दिन बीतते हैं, यह मर्मर ध्वनि सबलतर स्पष्टतर होती जाती है।

जिन विविध जातियों के देखने-समझने का सौभाग्य मुझे मिला, उनके बीच मैंने अनेक आश्चर्यजनक संस्थाओं, प्रथाओं, रीति-रिवाज़ों और शक्ति तथा बल की अद्भत अभिव्यक्तियों का अध्ययन किया है; पर इन सबमें सर्वाधिक विस्मयकारी यह उपलब्धि थी कि रहन-सहन, प्रथाओं, संस्कृति और शक्ति की इन बाह्य विभिन्नताओं—इन ऊपरी विभेदों के अंतराल में, एक ही प्रकार के दुःख-सुख से, एक ही प्रकार की शक्ति और दुर्बलता से अनुप्रेरित वही महौजस मानव हृदय स्पंदित है।

शुभ और अशुभ सर्वत्र है, और दोनों के पलड़े अद्भुत रूप से बराबर हैं। पर सर्वत्र सर्वोपरि है मनुष्य की महिमामयी आत्मा, जो उसकी ही भाषा में बोलनेवाले किसी भी व्यक्ति को समझने में कभी नहीं चूकती। हर जगह ऐसे नर-नारी हैं, जिनका जीवन मानव-जाति के लिए वरदान है और जो दिव्य सम्राट् अशोक के इन शब्दों को सत्य सिद्ध करते हैं: 'प्रत्येक देश में ब्राह्मणों और श्रमणों का निवास है।'

केवल शुद्ध और निष्काम आत्मा द्वारा ही सम्भव प्रेम के साथ मेरा स्वागत-सत्कार करनेवाले उन अनेक सहृदय पुरुषों के लिए मैं पाश्चात्य देशों का आभारी हूँ। पर मेरे जीवन की निष्ठा तो मेरी इस मातृभूमि के प्रति अर्पित है। और यदि

---

१. मूल अंग्रेज़ी से अनूदित। द्र० विवेकानन्द साहित्य, नवम खण्ड, पृष्ठ २९७। स०

मुझे हज़ार जीवन भी प्राप्त हों, तो प्रत्येक जीवन का प्रत्येक क्षण, मेरे देशवासियो, मेरे मित्रो, तुम्हारी सेवा में अर्पित रहेगा।

क्योंकि मेरा जो कुछ भी है--शारीरिक, मानसिक और आत्मिक---सबका सब इसी देश की देन है; और यदि मुझे किसी अनुष्ठान में सफलता मिली है, तो कीर्ति तुम्हारी है, मेरी नहीं। मेरी अपनी तो केवल दुर्बलताएँ और असफलताएँ हैं; क्योंकि जन्म से ही जो महान् शिक्षाएँ इस देश में व्यक्ति को अपने चतुर्दिक् बिखरी और छायी मिलती हैं, उनसे लाभ उठाने की मेरी असमर्थता से ही इन दुर्बलताओं और असफलताओं की उत्पत्ति हुई है।

और कैसा है यह देश! जिस किसीके भी पैर इस पावन धरती पर पड़ते हैं, वही, चाहे वह विदेशी हो, चाहे इसी धरती का पुत्र, यदि उसकी आत्मा जड़-पशुत्व की कोटि तक पतित नहीं हो गयी तो, अपने आपको पृथ्वी के उन सर्वोत्कृष्ट और पावनतम पुत्रों के जीवन्त विचारों से घिरा हुआ अनुभव करता है, जो शताब्दियों से पशुत्व को देवत्व तक पहुँचाने के लिए श्रम करते रहे हैं और जिनके प्रार्दुभाव की खोज करने में इतिहास असमर्थ है। यहाँ की वायु भी आध्यात्मिक स्पंदनों से पूर्ण है। यह धरती दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र और आध्यात्मिकता के लिए, उन सबके लिए जो पशु को बनाये रखने के हेतु चलनेवाले अविरत संघर्ष से मनुष्य को विश्राम देता है, उस समस्त शिक्षा-दीक्षा के लिए जिससे मनुष्य पशुता का जामा उतार फेंकता और जन्म-मरणहीन सदानन्द अमर आत्मा के रूप में आविर्भूत होता है,—पवित्र है। यह वह धरती है, जिसमें सुख का प्याला परिपूर्ण हो गया था और दुःख का प्याला और भी अधिक भर गया था; अंततः यहीं सर्वप्रथम मनुष्य को यह ज्ञान हुआ कि यह तो सब निस्सार हैं; यहीं सर्वप्रथम यौवन के मध्याह्न में, वैभव-विलास की गोद मे, ऐश्वर्य के शिखर पर और शक्ति के प्राचुर्य में मनुष्य ने माया की शृंखलाओं को तोड़ दिया। यहीं, मानवता के इस महासागर में, सुख और दुःख, शक्ति और दुर्बलता, वैभव और दैन्य, हर्ष और विषाद, स्मित और आँसू तथा जीवन और मृत्यु के प्रबल तरंगाघातों के बीच, चिरंतन शान्ति और अनुद्विग्नता की घुलनशील लय में, त्याग का राजसिंहासन आविर्भूत हुआ! यहीं इसी देश में जीवन और मृत्यु की, जीवन की तृष्णा की, और जीवन के संरक्षण के निमित्त किये गये मिथ्या और विक्षिप्त संघर्षों की—महान् समस्याओं से सर्वप्रथम जूझा गया और उनका समाधान किया गया—ऐसा समाधान जो न भूतो न भविष्यति—क्योंकि यहाँ पर, और केवल यहीं पर इस तथ्य की उपलब्धि हुई कि जीवन भी स्वतः एक अशुभ है, किसी एकमात्र सत् तत्त्व की छाया मात्र। यही वह देश है, जहाँ, और

केवल जहाँ पर धर्म व्यावहारिक और यथार्थ था; और केवल यहीं पर नर-नारी लक्ष्य-सिद्धि के लिए—परम पुरुषार्थ के लिए साहसपूर्वक कर्मक्षेत्र में कूदे, जैसे अन्य देशों में लोग अपने से दुर्बल अपने ही बंधुओं को लूटकर जीवन के भोगों को प्राप्त करने के लिए विक्षिप्त होकर झपटते हैं। यहाँ, और केवल यहीं पर मानव-हृदय इतना विस्तीर्ण हुआ कि उसने केवल मनुष्य-जाति को ही नहीं, वरन् पशु, पक्षी और वनस्पति तक को भी अपने में समेट लिया—सर्वोच्च देवताओं से लेकर बालू के कण तक, महानतम और लघुतम सभी को मनुष्य के विशाल और अनन्त बर्द्धित हृदय में स्थान मिला। और केवल यहीं पर मानवात्मा ने इस विश्व का अध्ययन एक अविच्छिन्न एकता के रूप में किया, जिसका हर स्पंदन उसका अपना स्पंदन है।

हम सभी भारत के पतन के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुनते हैं। एक समय था, जब मैं भी इसमें विश्वास करता था। पर आज अनुभव की अग्रभूमि पर खड़े होकर, बाधात्मक पूर्व प्ररिकल्पनाओं से दृष्टि को मुक्त करके, और सर्वोपरि, अन्य देशों के अतिरंजित चित्रों को प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा उचित प्रकाश और छायाओं में देखकर मैं, अत्यन्त विनम्रता के साथ, स्वीकार करता हूँ कि मैं ग़लत था। आर्यों के ऐ पावन देश! तू कभी पतित नहीं हुआ। राजदण्ड टूटते रहे और फेंक दिये जाते रहे हैं, शक्ति का कन्दुक एक हाथ से दूसरे हाथ में उछलता रहा है, पर भारत में राजदरबारों और राजाओं का प्रभाव सर्वदा थोड़े से लोगों को छू सका है—उच्चतम से निम्नतम तक जनता की विशाल राशि अपनी अनिवार्य जीवनधारा का अनुगमन करने के लिए मुक्त रही है, और राष्ट्रीय जीवनधारा कभी मन्द और अर्द्ध चेतन गति से और कभी प्रबल और प्रबुद्ध गति से प्रवाहित होती रही है। उन बीसों ज्योतिर्मय शताब्दियों की अटूट शृंखला के सम्मुख मैं तो विस्मयाकुल खड़ा हूँ, जिनके बीच यहाँ-वहाँ एकाध धूमिल कडी है, जो अगली कड़ी को और भी अधिक ज्योतिर्मय बना देती है और इनके बीच इनकी गति में अपने सहज महिमामय पदक्षेप के साथ प्रगतिशील है मेरी यह जन्मभूमि—अपने यशोपूरित लक्ष्य की सिद्धि के लिए—जिसे धरती या आकाश की कोई शक्ति रोक नहीं सकती—पशु-मानव को देव-मानव में रूपांतरित करने के लिए।

हाँ, मेरे बन्धुओ, यही गौरवमय भाग्य (हमारे देश का है), क्योंकि उपनिषद्-युगीन सुदूर अतीत में, हमने इस संसार को एक चुनौती दी थी: **न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**—'न तो संतति द्वारा और न सम्पत्ति द्वारा, वरन् केवल त्याग द्वारा ही अमृतत्व की उपलब्धि होती है।' एक के बाद दूसरी जाति ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपनी शक्ति भर संसार की इस पहेली को

कामनाओं के स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया। वे सबकी सब अतीत में तो असफल रही हैं---पुरानी जातियाँ तो शक्ति और स्वर्ण की लोलुपता से उद्भूत पापाचार और दैन्य के बोझ से दबकर पिस-मिट गयीं, और नयी जातियाँ गर्त में गिरने को डगमगा रही हैं। इस प्रश्न का तो हल करने के लिए अभी शेष ही है कि शान्ति की जय होगी या युद्ध की, सहिष्णुता की विजय होगी या असहिष्णुता की, शुभ की विजय होगी या अशुभ की, शरीर की विजय होगी या बुद्धि की, सांसारिकता की विजय होगी या आध्यात्मिकता की। हमने तो युगों पहले इस प्रश्न का अपना हल ढूँढ़ लिया था और सौभाग्य या दुर्भाग्य के मध्य हम अपने इस समाधान पर दृढ़ारूढ़ हैं और कालान्त तक उस पर दृढ़ रहने का संकल्प किये हुए हैं। हमारा समाधान है : असांसारिकता---त्याग।

भारतीय जीवन-रचना का यही प्रतिपाद्य विषय है, उसके अनन्त संगीत का यही दायित्व है, उसके अस्तित्व का यही मेरुदण्ड है, उसके जीवन की यही आधार-शिला है, उसके अस्तित्व का एकमात्र हेतु---मानव-जाति का आध्यात्मीकरण। अपने इस लम्बे जीवन-प्रवाह में भारत अपने इस मार्ग से कभी भी विचलित नहीं हुआ, चाहे तातारों का शासन रहा हो और चाहे तुर्कों का, चाहे मुग़लों ने राज्य किया हो और चाहे अंग्रेजों ने।

और मैं चुनौती देता हूँ कि कोई भी व्यक्ति भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई भी ऐसा काल मुझे दिखा दे, जिसमें यहाँ समस्त संसार को हिला देने की क्षमता रखनेवाले आध्यात्मिक महापुरुषों का अभाव रहा हो। पर भारत का कार्य आध्यात्मिक है; और यह कार्य रण-भेरी के निदान से या सैन्यदलों के अभियानों से तो पूरा नहीं किया जा सकता। भारत का प्रभाव धरती पर सर्वदा मृदुल ओस-कणों की भाँति बरसा है, नीरव और अव्यक्त, पर सर्वदा धरती के सुन्दरतम सुमनों को विकसित करनेवाला। प्रकृत्या मृदुल होने के कारण विदेशों में जाने---प्रभविष्णु होने के लिए इसे परिस्थितियों के एक सुयोगपूर्ण संघटन की प्रतीक्षा करनी होगी; यद्यपि अपने देश की सीमा के भीतर इसकी सक्रियता कभी बन्द नहीं हुई। इसीलिए प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति जानता है कि जब कभी साम्राज्य-निर्माता तातार या ईरानी, या यूनानी अथवा अरब लोग इस देश को बाह्य संसार के सम्पर्क में लाये, तभी व्यापक आध्यात्मिक प्रभाव की एक लहर यहाँ से समूचे संसार पर फैल गयी। ठीक वही परिस्थितियाँ एक बार फिर आकर हमारे सम्मुख खड़ी हो गयी हैं। धरती और सागर पर अंग्रेज़ों के यातायात, मार्ग और उस छोटे से द्वीप के निवासियों द्वारा प्रदर्शित अद्भुत शक्ति ने एक बार फिर भारत को शेष संसार के सम्पर्क में ला दिया है, और वही काम फिर से प्रारम्भ हो चुका

है। मेरे शब्दों पर ध्यान दो—यह तो केवल अल्प प्रारम्भ मात्र है; महान् सिद्धियाँ बाद में उपलब्ध होंगी; यह तो मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि भारत के बाहर हमारे वर्तमान कार्य का परिणाम क्या होगा, पर इतना तो मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि प्रत्येक सभ्य देश में लाखों—मैं जान-बूझकर कहता हूँ—लाखों व्यक्ति उस सन्देश की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जो उन्हें भौतिकता के उस घृणित गर्त में गिरने से बचा लेगा, जिसकी ओर आधुनिक अर्थोपासना उन्हें आँख मूंदकर ढकेल रही है; और नवीन सामाजिक आन्दोलनों के अनेक अग्रणी पहले ही से समझ चुके हैं कि केवल वेदान्त ही अपने सर्वोच्च रूप में उनकी सामाजिक आकांक्षाओं को आध्यात्मिकता प्रदान कर सकता है। अन्त में मुझे इस विषय की ओर लौटना होगा। इसलिए मैं दूसरा महान् विषय उठाता हूँ—देश के भीतर कर्तव्य कर्म।

समस्या के दो पहलू हैं : जिन विविध तत्त्वों से राष्ट्र निर्मित है, उनका न केवल आध्यात्मीकरण, बल्कि उनको आत्मसात करना भी। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में विभिन्न जातियों का आत्मसात किया जाना—समन्वय—एक सामान्य समस्या रही है।

रचनानुवाद : पद्य

संन्यासी का गीत[1]

छेड़ो हे वह गान, अनंतोद्भव अवन्ध वह गान,
विश्व-ताप से शून्य गह्वरों में गिरि के अम्लान
निभृत अरण्य प्रदेशों में जिसका शुचि जन्मस्थान,
जिनकी शांति न कनक काम-यश-लिप्सा का निःश्वास
भंग कर सका, जहाँ प्रवाहित सत् चित् की अविलास
स्रोतस्विनी, उमड़ता जिसमें वह आनन्द अयास,
गाओ, बढ़ वह गान, वीर संन्यासी, गूँजे व्योम,
ओम् तत्सत् ओम् !

तोड़ो सब शृंखला, उन्हें निज जीवन-बन्धन जान,
हों उज्ज्वल कांचन के अथवा क्षुद्र धातु के म्लान,
प्रेम-घृणा, सद्-असद्, सभी ये द्वंद्वों के संधान !
दास सदा ही दास, समादृत वा ताड़ित—परतंत्र,
स्वर्ण निगड होने से क्या वे सुदृढ़ न बंधन-यंत्र ?
अतः उन्हें संन्यासी तोड़ो, छिन्न करो, गा यह मंत्र,
ओम् तत्सत् ओम् !

अंधकार हो दूर, ज्योति-छल जल-बुझ बारंबार,
दृष्टि भ्रमित करता, तह पर तह मोह तमस् विस्तार !
मिटे अजस्र तृषा जीवन की, जो आवागम द्वार,
जन्म-मृत्यु के बीच खींचती आत्मा को अनजान,
विश्वजयी वह आत्मजयी जो, मानो इसे प्रमाण,
अविचल अतः रहो संन्यासी, गाओ निर्भय गान,
ओम् तत्सत् ओम् !

---

१. थाउजेंड आइलैंड पार्क, न्यूयार्क में, जुलाई, १८९५ में अंग्रेजी में रचित।

'बोओगे पाओगे', निश्चित कारण-कार्य-विधान !
कहते, 'शुभ का शुभ औ' अशुभ अशुभ का फल,' धीमान
दुर्निवार यह नियम, जीव के नाम-रूप परिधान
बंधन है, सच है, पर दोनों नाम-रूप के पार
नित्य मुक्त आत्मा करती है बंधनहीन विहार !
तुम वह आत्मा हो संन्यासी, बोलो वीर उदार,
ओम् तत्सत् ओम् !

ज्ञानशून्य वे, जिन्हें सूझते स्वप्न सदा निःसार—
माता, पिता, पुत्र औ' भार्या, बांधव-जन, परिवार !
लिंगमुक्त है आत्मा ! किसका पिता, पुत्र या दार ?
किसका शत्रु, मित्र वह, जो है एक अभिन्न अनन्य,
उसी सर्वगत आत्मा का अस्तित्व, नहीं है अन्य !
कहो 'तत्त्वमसि' संन्यासी, गाओ हे, जग हो धन्य,
ओम् तत्सत् ओम् !

एकमात्र है केवल आत्मा, ज्ञाता, चिर निर्मुक्त,
नामहीन वह रूपहीन, वह है रे चिह्न अयुक्त,
उसके आश्रित माया, रचती स्वप्नों का भवपाश,
साक्षी वह, जो पुरुष प्रकृति में पाता नित्य प्रकाश !
तुम वह हो, बोलो संन्यासी, छिन्न करो तम-तोम,
ओम् तत्सत् ओम् !

कहाँ खोजते उसे सखे, इस ओर कि या उस पार ?
मुक्ति नहीं है यहाँ, वृथा सब शास्त्र, देव-गृहद्वार !
व्यर्थ यत्न सब, तुम्हीं हाथ में पकड़े हो वह पाश
खींच रहा जो साथ तुम्हें ! तो उठो, बनो न हताश,
छोड़ो कर से दाम, कहो, संन्यासी, विहँस रोम,
ओम् तत्सत् ओम् !

कहो, 'शांत हों सर्व, शांत हों सचराचर अविराम,
क्षति न उन्हें हो मुझसे, मैं ही सब भूतों का ग्राम,
ऊँच-नीच द्यौ-मर्त्यविहारी, सबका आत्माराम !

त्याज्य लोक-परलोक मुझे, जीवन-तृष्णा, भवबंध,
स्वर्ग-मही-पाताल—सभी आशा-भय, सुख-दुःख-द्वन्द्व !'
इस प्रकार काटो बंधन, संन्यासी, रहो अबन्ध,
ओम् तत्सत् ओम् !

देह रहे, जाये, मत सोचो, तन का चिन्ता-भार,
उसका कार्य समाप्त, ले चले उसे कर्मगति धार,
हार उसे पहनावे कोई, करे कि पाद-प्रहार,
मौन रहो, क्या रहा, कहो, निन्दा या स्तुति अभिषेक ?
स्तावक, स्तुत्य, निन्द्य औ' निन्दक जब कि सभी हैं एक !
अतः रहो तुम शांत, वीर संन्यासी, तजो न टेक,
ओम् तत्सत् ओम् !

सत्य न आता पास, जहाँ यश-लोभ-काम का वास,
पूर्ण नहीं वह, स्त्री में जिसको होती पत्नी भास,
अथवा वह जो किंचित् भी संचित रखता निज पास !
वह भी पार नहीं कर पाता है माया का द्वार
क्रोधग्रस्त जो, अतः छोड़कर निखिल वासना-भार
गाओ धीर-वीर संन्यासी, गूंजे मन्त्रोच्चार,
ओम् तत्सत् ओम् !

मत जोड़ो गृह-द्वार, समा तुम सको, कहाँ आवास ?
दूर्वादल हो तल्प तुम्हारा, गृह-वितान आकाश,
खाद्य स्वतः जो प्राप्त, पक्व वा इतर, न दो तुम ध्यान,
खान-पान से कलुषित होती आत्मा वह न महान्,
जो प्रबुद्ध हो, तुम प्रवाहिनी स्रोतस्विनी समान
रहो मुक्त निर्द्वन्द्व, वीर संन्यासी, छेड़ो तान
ओम् तत्सत् ओम् !

विरले ही तत्वज्ञ ! करेंगे शेष अखिल उपहास,
निन्दा भी नरश्रेष्ठ, ध्यान मत दो, निर्बन्ध, अयास
यत्र-तत्र निर्भय विचरो तुम, खोलो मायापाश
अंधकारपीड़ित जीवों के ! दुःख से बनो न भीत,

सुख की भी मत चाह करो, जाओ हे, रहो अतीत
द्वन्द्वों से सब, रटो वीर संन्यासी, मंत्र पुनीत,
ओम् तत्सत् ओम् !

इस प्रकार दिन-प्रतिदिन जब तक कर्मशक्ति हो क्षीण,
बंधनमुक्त करो आत्मा को, जन्म-मरण हों लीन !
फिर न रह गये मैं, तुम, ईश्वर, जीव या कि भवबंध,
'मैं' सबमें, सब मुझमें---केवल मात्र परम आनन्द !
कहो 'तत्त्वमसि' संन्यासी, फिर गाओ गीत अमन्द,
ओम् तत्सत् ओम् !

मेरा खेल खत्म हुआ[1]

समय की लहरों के साथ,
निरन्तर उठते और गिरते
मैं चला जा रहा हूँ।
जिन्दगी के ज्वार-भाटे के साथ साथ
ये क्षणिक दृश्य एक पर एक आते-जाते हैं।

आह, इस अप्रतिहत प्रवाह से
कितनी थकान हो आयी है मुझे,
ये दृश्य बिल्कुल नहीं भाते,
यह अनवरत बहाव और पहुँचना कभी नहीं,
यहाँ तक कि तट की दूर की झलक भी नहीं मिलती !
जन्म-जन्मान्तरों में, उन द्वारों पर व्याकुल प्रतीक्षा की,
किन्तु, हाय, वे नहीं खुले।
प्रकाश की एक किरण भी पाने में असफल ये आँखें
पथरा गयीं।
जीवन के ऊँचे और संकरे पुल पर खड़े हो
नीचे झाँकता हूँ और देखता हूँ---
संघर्षरत, क्रन्दन करते और अट्टहास करते लोगों को।

---

१. न्यूयार्क में १८९५ के वसन्त में अंग्रेजी में लिखित।

किसलिए ?
कोई नहीं जानता।
वह सामने देखो—
अन्धकार त्योरी चढ़ाये अड़ा है, और कहता है—
'आगे क़दम न रखो, यही सीमा है,
भाग्य को ललचाओ मत, सहन करो, जितना कर सको।

जाओ, उन्हींमें मिल जाओ
और यह जीवन का प्याला पीकर
उन जैसे ही पागल बन जाओ।
जो जानने का साहस करता है,
दुःख भोगता है;
तब रुको और उन्हींके साथ ठहरो;
आह, मुझे विश्राम भी नहीं।
यह बुलबुले सी भटकती धरती—
इसका खोखला रूप, खोखला नाम,
इसके खोखले जन्म-मरण,
ये निरर्थक हैं मेरे लिए।
पता नहीं, नाम-रूप की पर्तों के पार
कब पहुँचूंगा।
खोलो, द्वार खोलो, मेरे लिए उन्हें खुलना ही होगा।
ओ माँ! प्रकाश के द्वार खोलो,
माँ! तुम्हारा थका हुआ बालक हूँ मैं ।
मैं घर आना चाहता हूँ माँ! घर आना चाहता हूँ!
अब मेरा खेल समाप्त हो चुका।

तुमने मुझे अँधियारे में खेलने को भेज दिया,
और भयानक आवरण ओढ़ लिया,
तभी आशा ने संग छोड़ दिया,
भय ने आतंकित किया
और यह खेल एक कठिन कर्म बन गया;
इधर से उधर, लहरों के थपेड़े झेलना,

उद्दाम लालसाओं और गहन पीड़ाओं के उफनते हुए,
उत्ताल तरंगों से पूर्ण महासमुद्र में—
सुखों की आशा में—
जहाँ जीवन मृत्यु सा भयानक है और जहाँ
मृत्यु फिर नया जीवन देकर उसी समुद्र की लहरों में
सुख-दुःख के थपेड़े सहने को ढकेल देती है।
जहाँ बच्चे सुन्दर, सुनहले, चमकीले स्वप्न देखते हैं
और जो धूल में ही मिलते हैं,
ज़रा पीछे मुड़कर देखो—
खोया हुआ जीवन, जैसे जंग की ढेरी।
बहुत देर से उम्र को ज्ञान मिलता है
जब पहिया हमे दूर पटक देता है,
नये स्फूर्त जीवन अपनी शक्तियाँ इस चक्र को पिला देते हैं,
जो चलता रहता है अनवरत, दिन पर दिन, वर्ष पर वर्ष।
यह केवल है माया का एक खिलौना!
झूठी आशाओं, इच्छाओं और सुख-दुःख के अरों से बना
यह पहिया!

मैं भटका हूँ, पता नहीं, किधर चला जाऊँ,
मुझे इस आग से बचाओ!
रक्षा करो दयामयी माँ! इन इच्छाओं में बहने से बचाओ।
अपना भयावना रौद्र मुख न दिखाओ माँ!
यह मेरे लिए असह्य है,
मुझ पर कृपा करो, दया करो,
माँ, मेरे अपराधों को सहन करो!

माँ मुझे उस तट तक पहुँचाओ
जहाँ ये संघर्ष न हों,
इन पीड़ाओं, इन आँसुओं और भौतिक सुखों के परे,
जिस तट की महिमा को
ये रवि, शशि, उडुगन और विद्युत् भी अभिव्यक्ति न देते
महज़ उसके प्रकाश का प्रतिबिंब लिये फिरते हैं।

ओ माँ ! ये मृग-पिपासभरे स्वप्नों के आवरण
तुम्हें देखने से मुझे न रोक सकें,
मेरा खेल खत्म हो रहा है माँ !
ये शृंखला की कड़ियाँ तोड़ो,
मुक्त करो मुझे !

नाचे उस पर श्यामा[1]

फूले फूल सुरभि-व्याकुल, अलि गूँज रहे हैं चारों ओर।
जगतीतल में सकल देवता भरते शशि-मृदु हँसी-हिलोर॥
गन्ध-मन्द-गति मलय-पवन है खोल रही स्मृतियों के द्वार।
ललित-तरंग नदी-नद-सरसी, चल-शतदल पर भ्रमर-विहार॥
दूर गुहा में निर्झरिणी की तान-तरंगों का गुंजार।
स्वरमय किसलय-निलय[2] विहंगों के बजते सुहाग के तार॥
तरुण चितेरा अरुण बढ़ाकर स्वर्ण-तूलिका-कर सुकुमार।
पट-पृथिवी पर रखता है जब, कितने वर्णों का संचार॥
हो जाता है जगतीतल पर, खिलते कितने राग अपार।
देख देख भावुक-जन-मन में जगते कितने भाव उदार॥
गरज रहे हैं मेघ अशनि का गूँजा घोर निनाद-प्रमाद।
स्वर्ग-धरा-व्यापी संगर का छाया विकट-कटक-उन्माद॥
अन्धकार उद्गीरण करता अन्धकार घन घोर अपार।
महाप्रलय की वायु सुनाती साँसों में अगणित हुंकार॥

---

१. इस कविता में यथाक्रम कोमल और कठोर भावों के चित्र दिखलाये गये हैं। कोमलता सभी चाहते हैं, परन्तु कोई कठोर भाव नहीं चाहता; सब उससे दूर रहना चाहते हैं। परन्तु यदि कोमलप्राणता दारिद्र्य, दुःख-रोग, व्याधि-आधि देखकर भयविह्वल होती हो, तो वह कोमलता वास्तव में दुर्बलता और कापुरुषता है। उसे दूर कर सदा मृत्यु को भर बाँह भेंटने के लिए तैयार रहना ही वीरत्व और मनुष्यत्व है। इसी तरह के कठोर भाव के उपासकों के हृदय में श्यामा का नृत्य होता है। स्वामी जी ने बड़ी ही प्रांजल भाषा और गम्भीर भावों में इसका वर्णन किया है। मूल कविता बंगला में लिखित है।

२. पक्षियों का जैसे कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वे जैसे कुछ स्वरों के समष्टिस्वरूप हैं।

तिस पर चमक रही है रक्तिम विद्युज्ज्वाला बारम्बार।
फेनिल लहरें गरज चाहतीं करना गिरि-शिखरों को पार॥
भीम-घोष-गम्भीर, अतल धँस, टलमल करती धरा अधीर।
अनल निकलता छेद भूमितल, चूर हो रहे अचल शरीर॥

हैं सुहावने मन्दिर कितने, नील-सलिल-सर-वीचि-विलास।
वलयित कुवलय, खेल, खिलाती मलय वनज-वन-यौवन-हास॥
बढ़ा रहा है अंगूरों का हृदय-रुधिर प्याले का प्यार[1]।
फेनशुभ्र-सिर उठे बुलबुले मन्द मन्द करते गुंजार॥
बजती है श्रुतिपथ में वीणा, तारों की कोमल झनकार।
ताल ताल पर चली बढ़ाती ललित वासना का संसार॥
भावों में क्या जाने कितना व्रज का प्रकट प्रेम-उच्छ्वास।
आँसू बहते, विरह ताप से तप्त गोपिकाओं के श्वास॥
नीरज-नील नयन, बिम्बाधर जिस युवती के अति सुकुमार।
उमड़ रहा जिसकी आँखों पर मृदु भावों का पारावार॥
बढ़ा हाथ दोनों मिलने को बढ़तीं, प्रकट प्रेम-अभिसार।
प्राण-पखेरू, प्रेम-पींजरा; बन्द! बन्द है उसका द्वार॥
भेरी झररर झरर दमामें, घोर नकारों की है चोप।
कड़क कड़क सन्सन् बन्दूकें, अररर अररर अररर तोप॥
धूम धूम है भीम रणस्थल, शत शत ज्वालामुखियाँ घोर।
आग उगलतीं दहक दहक दह कँपा रहीं भू-नभ के छोर॥
फटने लगते हैं छाती पर घाती गोले सौ सौ बार।
उड़ जाते हैं कितने हाथी, कितने घोड़े और सवार॥
थर थर पृथ्वी थर्राती है, लाखों घोड़े कस तैयार।
करते चढ़ते, बढ़ते अड़ते, झुक पड़ते हैं वीर जुझार॥
भेद धूमतल — अनल, प्रबल दल, चीर गोलियों की बौछार।
धँस गोलों-ओलों में, लाते छीन तोप कर वेड़ी मार॥

---

१. द्राक्षाफल के रस (हृदय-रुधिर) से मदिरा बनायी जाती है, उसे गिलास में डालने से उसके ऊपर का भाग सफ़ेद फेनयुक्त हो जाता है और वह मन्द मन्द ध्वनि करती है।

आगे फहराती जाती है ध्वजा, वीरता की पहचान।
झरती धारा-रुधिर दण्ड में, अड़े पड़े पर वीर जवान।।
साथ साथ पैदल-दल चलता, रण-मद-मतवाले सब वीर।
छुटी पताका, गिरा वीर जब, लेता पकड़ अपर रणधीर।।
पटे खेत अगणित लाशों से कटे हज़ारों वीर जवान।
डटे लाश पर पैर जमाये हटे न वीर छोड़ मैदान।।

देह चाहती है सुख-संगम, चित्त-विहंगम स्वर-मधु-धार।
हँसी-हिंडोले झूल चाहता मन जाना दुःख-सागर पार।।
हिम-शशांक का किरण-अंक-सुख कहो कौन जो देगा छोड़—
तपन-तप्त-मध्याह्न-प्रखरता से नाता जो लेगा जोड़?
चण्ड दिवाकर ही तो भरता शशधर[1] में कर-कोमल प्राण।
किन्तु कलाधर ही को देता सारा विश्व प्रेम-सम्मान।।
सुख के हेतु सभी हैं पागल, दुःख पर किस पामर का प्यार।
सुख में है दुःख, गरल अमृत में, देखो बता रहा संसार।।
सुख-दुःख का यह निरा हलाहल भरा कण्ठ तक, सदा अधीर।
रोते मानव, पर आशा का नहीं छोड़ते चंचल चीर।।
रुद्ररूप से सब डरते हैं, देख देख भरते हैं आह।
मृत्युरूपिणी मुक्तकुन्तला माँ की नहीं किसीको चाह।।
उष्ण धार उद्‌गार रुधिर का करती है जो बारंबार।
भीम भुजा की, बीन छीनती वह जंगी नंगी तलवार।।

मृत्यु-स्वरूपे माँ! है तू ही सत्यस्वरूपा सत्याधार।
काली! सुख-वनमाली तेरी माया-छाया का संसार[2]।।

---

१. चन्द्र का प्राण सूर्य है। लेकिन सूर्य को छोड़कर चन्द्र ही सबको अच्छा लगता है! सबको कोमल भाव इतना प्रिय है!

२. प्रचण्ड सूर्य-किरण ही जैसे सत्य है, स्निग्ध चन्द्र-किरण जैसे उसीकी छाया मात्र है, रुद्र भाव भी वैसे ही यथार्थ सत्यस्वरूप, प्राणस्वरूप है और कोमल भाव (सुख-वनमाली) उस रुद्र भाव की छाया मात्र है। सुख-वनमाली—दूसरे किसी भाव के न रहने से विलास के भाव की उद्दीपना करता है। ये सब भाव आपातमधुर होने पर भी प्राणदायी, बलदायी नहीं हैं।

अये कालिके! माँ करालिके! शीघ्र मर्म का कर उच्छेद।
इस शरीर पर प्रेम भाव, यह सुख-सपना, माया कर भेद॥
तुझे मुण्डमाला पहनाते, फिर भय खाते तकते लोग।
'दयामयी' कह कह चिल्लाते, माँ दुनियां का देखा ढोंग॥
प्राण काँपते अट्टहास सुन, दिगम्बरा का लख उल्लास।
अरे भयातुर, 'असुर विजयिनी'[१] कह रह जाता, खाता त्रास॥
मुँह से कहता है, देखेगा, पर माँ, जब आता है काल।
कहाँ भाग जाता भय खाकर तेरा देख वदन विकराल॥
माँ! तू मृत्यु, घूमती रहती, उत्कट व्याधि रोग बलवान।
भर-विष-घड़े, पिलाती है तू घूंट ज़हर के, लेती प्राण॥
रे उन्मत्त! भुलाता है तू अपने को, न फिराता दृष्टि।
पीछे भय से, कहीं देख तू—भीमा महाप्रलय की सृष्टि॥
दुःख चाहता, बता उसमें क्या भरी नहीं है सुख की प्यास।
तेरी भक्ति और पूजा में चलती स्वार्थ-सिद्धि की साँस॥
छागकण्ठ की रुधिर-धार से सहम रहा तू भ्रम-संचार।
अरे कापुरुष! बना दया का तू आधार—धन्य व्यवहार![२]
फोड़ो वीणा, प्रेमसुधा का पीना छोड़ो, तोड़ो वीर।
दृढ़ आकर्षण है जिसमें उस नारी-माया की जंज़ीर,
बढ़ जाओ तुम उदधि-ऊर्मि से गरज गरज गाओ निज गान।
आँसू पीकर जीना, जाये देह, हथेली पर लो जान॥

---

१. सिर्फ़ 'सुखमय' भाव से कितनी कायरता आ सकती है, यह दिखाया गया है। श्यामा माँ की साधना आरम्भ करने पर, माँ की मुण्डमाला देखकर, 'भय खानेवाले लोग' बाद में 'दयामयी' कह कह चिल्लाते हैं। और भी, भय से, माँ को 'असुर-विजयिनी' कहते हैं। यहाँ साधक का, श्यामा माँ के ऊपर प्रेम, प्रीति नहीं है—उसके बदले भय और कापुरुषता है। श्यामा तब 'माँ' नहीं हैं, परन्तु 'दयामयी' और 'असुर-विजयिनी' हैं।

२. बलि देते समय रक्त देखकर भय से देह काँप उठती है। भय, अवसाद इत्यादि दुर्बलता के लक्षण हैं। प्रेम मनुष्य को निडर बनाता है। इधर स्वार्थसिद्धि की आशा में, ऐसे तो किसीका सर्वनाश करने के लिए ही पूजा का आयोजन किया गया है; परन्तु रक्त देखकर ही भय से अस्थिर हो जाता है!!

जागो वीर! सदा ही सिर पर काट रहा है चक्कर काल।
छोड़ो अपने सपने, भय क्यों? काटो---काटो यह भ्रमजाल॥
दुःखभार इस भव के ईश्वर जिनके मन्दिर का दृढ़ द्वार।
जलती हुई चिताओं में है, प्रेत-पिशाचों का आगार॥
सदा घोर संग्राम छेड़ना उनकी पूजा के उपचार।
वीर! डराये कभी न, आये अगर पराजय सौ सौ बार॥
चूर चूर हो स्वार्थ, साध, सब मान, हृदय हो महाश्मशान।
नाचे उस पर श्यामा, लेकर घन रण में निज भीम कृपाण॥

समाधि[1]

सूर्य भी नहीं है, ज्योति---सुन्दर शशांक नहीं,
छाया सा व्योम में यह विश्व नज़र आता है।
मनोआकाश अस्फुट, भासमान विश्व वहाँ
अहंकार-स्रोत ही में तिरता डूब जाता है।
धीरे धीरे छायादल लय में समाया जब
धारा निज अहंकार मन्दगति बहाता है।
बन्द वह धारा हुई, शून्य में मिला है शून्य,
'अवांङ मनसगोचरम्' वह जाने जो ज्ञाता है।

जाग्रत देवता[2]

वह, जो तुममें है और तुमसे परे भी,
जो सबके हाथों में बैठकर काम करता है,
जो सबके पैरों में समाया हुआ चलता है,
जो तुम सबके घट में व्याप्त है,
उसीकी आराधना करो और
अन्य प्रतिमाओं को तोड़ दो!

जो एक साथ ही ऊँचे पर और नीचे भी हैं;
पापी और महात्मा, ईश्वर और निकृष्ट कीट

---

१. मूल कविता बंगला में लिखित।
२. अल्मोड़े से एक अमेरिकन मित्र को लिखित, जुलाई ९, १८९७ ई०।

एक साथ ही है,
उसीका पूजन करो—
जो दृश्यमान है,
ज्ञेय है,
सत्य है,
सर्वव्यापी है,
अन्य सभी प्रतिमाओं को तोड़ दो !

जो अतीत जीवन से मुक्त,
भविष्य के जन्म-मरणों से परे है,
जिसमें हमारी स्थिति है
और जिसमें हम सदा स्थित रहेंगे,
उसीकी आराधना करो,
अन्य सभी प्रतिमाओं को तोड़ दो !

ओ विमूढ़ ! जाग्रत देवता की उपेक्षा मत करो,
उसके अनन्त प्रतिबिम्बों से ही यह विश्व पूर्ण है।

काल्पनिक छायाओं के पीछे मत भागो,
जो तुम्हें विग्रहों में डालती है;
उस परम प्रभु की उपासना करो,
जिसे सामने देख रहे हो;
अन्य सभी प्रतिमाएँ तोड़ दो !

प्याला[1]

यही तुम्हारा प्याला है,
जो तुम्हें शुरू से मिला है,
नहीं, मेरे वत्स ! मुझे ज्ञात है—
यह पेय घोर कालकूट,
यह तुम्हारी मंथित सुरा—निर्मित हुई है,

---

१. मूल कविता अंग्रेजी में लिखित।

तुम्हारे अपराध, तुम्हारी वासनाओं से,
युग-कल्पों-मन्वन्तरों से।

यही तुम्हारा पथ है—कष्टकर, बीहड़ और निर्जन,
मैंने ही वे पत्थर लगाये, जिन्होंने तुम्हें कभी बैठने नहीं दिया,
तुम्हारे मीत के पथ सुहावने और साफ़-सुथरे हैं
और वह भी तुम्हारी ही तरह मेरे अंक में आ जायगा।
किन्तु, मेरे वत्स, तुम्हें तो मुझ तक यह यात्रा करनी ही है।

यही तुम्हारा काम है, जिसमें न सुख है, न गौरव ही मिलता है,
किन्तु, यह किसी और के लिए नहीं, केवल तुम्हारे लिए है,
और मेरे विश्व में इसका सीमित स्थान है, ले लो इसे।
मैं कैसे कहूँ कि तुम यह समझो,
मेरा तो कहना है कि मुझे देखने के लिए नेत्र बन्द कर लो।

शान्ति[१]

देखो जो बलात् आती है,
वह शक्ति, शक्ति नहीं है!
वह प्रकाश, प्रकाश नहीं है,
जो अँधेरे के भीतर है,
और न वह छाया, छाया ही है,
जो चकाचौंध करनेवाले
प्रकाश के साथ है।

वह आनंद है, जो कभी व्यक्त नहीं हुआ,
और अनभोगा, गहन दुःख है
अमर जीवन, जो जिया नहीं गया
और अनन्त मृत्यु, जिस पर—
किसीको शोक नहीं हुआ।

---

१. न्यूयार्क के रिजले मॅनर में अंग्रेजी में लिखित, १८९९ ई०।

न दुःख है, न सुख,
सत्य वह है,
जो इन्हें मिलाता है।
न रात है, न प्रात,
सत्य वह है,
जो इन्हें जोड़ता है।

वह संगीत में मधुर विराम,
पावन छंद के मध्य यति है,
मुखरता के मध्य मौन,
वासनाओं के विस्फोट के बीच
वह हृदय की शान्ति है।

सुन्दरता वह है, जो देखी न जा सके।
प्रेम वह है, जो अकेला रहे।
गीत वह है, जो जिये, बिना गाये,
ज्ञान वह है, जो कभी जाना न जाय।

जो दो प्राणों के बीच मृत्यु है,
और दो तूफ़ानों के बीच एक स्तब्धता है,
वह शून्य, जहाँ से सृष्टि आती है
और जहाँ वह लौट जाती है।

वहीं अश्रुविन्दु का अवसान होता है,
प्रसन्न रूप को प्रस्फुटित करने को
वही जीवन का चरम लक्ष्य है,
और शांति ही एकमात्र शरण है।

मुक्ति[1]

(४ जुलाई के प्रति)

वह देखो, वे घने बादल छँट रहे हैं,

---

१. यह तो ज्ञात ही है कि स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु (अथवा जैसा हममें से कुछ कहना अधिक पसन्द करेंगे—उनका पुनरुज्जीवन) ४ जुलाई, १९०२ को

जिन्होंने रात को, धरती को अशुभ छाया से
ढक लिया था !
किन्तु तुम्हारा चमत्कारपूर्ण स्पर्श पाते ही
विश्व जाग रहा है।
पक्षियों ने सहगान गाये हैं,
फूलों ने, तारों की भाँति चमकते ओसकणों का मुकुट पहनकर
झुक-झूमकर तुम्हारा सुन्दर स्वागत किया है।
झीलों ने प्यारभरा हृदय तुम्हारे लिए खोला है
और अपने सहस्र सहस्र कमल-नेत्रों के द्वारा
मन की गहराई से
निहारा है तुम्हें।
हे प्रकाश के देवता !
सभी तुम्हारे स्वागत में संलग्न हैं।
आज तुम्हारा नव स्वागत है।
हे सूर्य, तुम आज मुक्ति-ज्योति फैलाते हो।

तुम्हीं सोचो, संसार ने तुम्हारी कितनी प्रतीक्षा की,
कितना खोजा तुम्हें,
युग युग तक, देश देश घूमकर कितना खोजा गया।
कुछ ने घर छोड़े, मित्रों का प्यार खोया,
स्वयं को निर्वासित किया,
निर्जन महासागरों, सुनसान जंगलों में कितना भटके,
एक एक कदम पर मौत और जिन्दगी का सवाल आ गया,
लेकिन, वह दिन भी आया, जब संघर्ष फले,
पूजा, श्रद्धा और बलिदान पूर्ण हुए,
अंगीकृत हुए--तुमने अनुग्रह किया
और समस्त मानवता पर स्वातन्त्र्य-प्रकाश विकीर्ण किया।

हुई। ४ जुलाई, १८९८ के दिन वे कुछ अमेरिकन शिष्यों के साथ काश्मीर का पर्यटन कर रहे थे और उस शुभ दिवस--अमेरिकन स्वातन्त्र्य घोषणा-दिवस--की जयन्ती मनाने के निमित्त एक पारिवारिक षड़यन्त्र के अंगस्वरूप सबेरे जलपान के समय पढ़े जाने के निमित्त उन्होंने अँग्रेज़ी में इस कविता की रचना की। कविता स्थिरा माता के पास सुरक्षित रही। स०

ओ देवता, निर्बाध बढ़ो, अपने पथ पर,
तब तक,
जब तक कि यह सूर्य आकाश के मध्य में न आ जाय--
जब तक तुम्हारा आलोक विश्व में प्रत्येक देश में प्रतिफलित न हो;
जब तक नारी और पुरुष सभी उन्नत मस्तक होकर यह नहीं देखें
कि उनकी जंज़ीरें टूट गयीं
और नवीन सुखों के वसन्त में (उन्हें) नवजीवन मिला !

पत्रावली

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

शिकागो,
२९ जनवरी, १८९४

प्रिय दीवान जी साहब,

आपका पिछला पत्र मुझे कुछ दिन पहले मिला। आप मेरी दुःखिनी माँ एवं भाइयों से मिलने गये थे, यह सुनकर मैं प्रसन्न हुआ। किन्तु आपने मेरे हृदय के एकमात्र कोमल स्थान को स्पर्श किया है। दीवान जी, आपको यह जानना चाहिए कि मैं कोई पाषाणहृदय पशु नहीं हूँ। यदि सारे संसार में मैं किसीसे प्रेम करता हूँ, तो वह हैं मेरी माता। फिर भी मेरा विश्वास था और अब भी है कि यदि मैं संसार त्याग न देता, तो जिस महान् आदर्श का, मेरे गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस उपदेश करने आये थे, उसका प्रकाश न होता; और वे नवयुवक कहाँ होते, जो आजकल के भौतिकवाद और भोग-विलास की उत्ताल तरंगों को परकोटे की तरह रोक रहे हैं? उन्होंने भारत का बहुत कल्याण किया है, विशेषतः बंगाल का, और अभी तो काम आरम्भ ही हुआ है। परमात्मा की कृपा से ये लोग ऐसा काम करेंगे, जिसके लिए सारा संसार युग युग तक इन्हें आशीर्वाद देगा। इसीलिए मेरे सामने एक ओर तो थे भारत एवं सारे संसार के धर्मों के विषय में मेरे कल्पित स्वप्न, और उन लाखों नर-नारियों के प्रति मेरा प्रेम, जो युगों से डूबते जा रहे हैं, और कोई उनकी सहायता करनेवाला नहीं है—यही नहीं, उनकी ओर तो कोई ध्यान भी नहीं देता—और दूसरी ओर था अपने निकटस्थ और प्रियजनों को दुःखी करना। मैंने पहला पक्ष चुना, 'शेष सब प्रभु करेगा।' यदि मुझे किसी बात का विश्वास है, तो वह यह कि प्रभु मेरे साथ है। जब तक मैं निष्कपट हूँ, तब तक मेरा विरोध कोई नहीं कर सकता, क्योंकि प्रभु ही मेरा सहायक है। भारत में अनेकानेक ऐसे व्यक्ति थे, जो मुझे समझ न सके, और वे बेचारे समझते भी कैसे, क्योंकि खाने-पीने की दैनिक क्रिया को छोड़कर उनका ध्यान कभी आगे बढ़ा ही नहीं। आप जैसे कोई कोई उदार हृदयवाले मनुष्य मेरे गुणग्राही हैं, यह मैं जानता हूँ। भगवान् आपका भला करे। परन्तु क़दर हो या अपमान,

मैंने तो इन नवयुवकों का संगठन करने के लिए जन्म लिया है। यही क्या, प्रत्येक नगर में सैकड़ों और मेरे साथ सम्मिलित होने को तैयार हैं, और मैं चाहता हूँ कि इन्हें अप्रतिहत गतिशील तरंगों की भाँति भारत में सब ओर भेजूँ, जो दीन-हीनों एवं पददलितों के द्वार पर सुख, नैतिकता, धर्म एवं शिक्षा उड़ेल दें। और इसे मैं करूँगा या मरूँगा।

हमारे देश के लोगों में न विचार है, न गुणग्राहकता। इसके विपरीत एक सहस्र वर्ष के दासत्व के स्वाभाविक परिणामस्वरूप उनमें भीषण ईर्ष्या है और उनकी सन्देहशील प्रकृति है, जिसके कारण वे प्रत्येक नये विचार का वैरभाव से विरोध करते हैं। फिर भी ईश्वर महान् है।

आरती तथा अन्य विषय, जिनका आपने उल्लेख किया है--भारत के मठों में सब जगह प्रचलित है, और वेदों में पहले धर्मगुरु की पूजा मानी गयी है। इसमें गुण और दोष, दोनों ही पक्ष देखने में आते हैं, परन्तु आपको याद रखना चाहिए कि हम एक अनुपम संघ हैं, और हममें से किसीको भी यह अधिकार नहीं है कि वह अपने धार्मिक भाव का दूसरों पर बलपूर्वक आरोप करे। हममें से बहुत से लोग किसी प्रकार की मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखते, परन्तु उन्हें दूसरों की मूर्ति-पूजा का खण्डन करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि ऐसा करने से हमारे धर्म का पहला ही सिद्धान्त टूटता है। फिर ईश्वर भी मनुष्य रूप में, और मनुष्य के द्वारा ही जाना जा सकता है। प्रकाश का स्फुरण सब स्थानों में होता है--अँधेरे से अँधेरे कोने में भी--परन्तु वह दीपक के रूप में ही मनुष्य के सामने प्रत्यक्ष दिखायी देता है। इसी तरह यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है, परन्तु हम एक विराट् मनुष्य के रूप में ही उसकी कल्पना कर सकते हैं। ईश्वर के लिए जितने विचार हैं--जैसे कि दयालु, पालक, सहायक, रक्षक--ये सब मानवीय भावात्मक विचार हैं और साथ ही ये सब विचार किसी मनुष्य में गुँथे रहेंगे, चाहे उसे गुरु मानिए, चाहे ईश्वरीय दूत या अवतार। मनुष्य अपनी प्रकृति से बाहर नहीं जा सकता, जैसे आप शरीर में से बाहर नहीं कूद सकते। यदि कुछ लोग अपने गुरु की उपासना करें, तो इसमें क्या हानि है, विशेषत: जब कि वह गुरु सब ऐतिहासिक पैग़म्बरों को सम्मिलित करने पर भी उनसे सौगुना अधिक पवित्र हो? यदि ईसा मसीह, कृष्ण और बुद्ध की पूजा करने में कोई हानि नहीं है, तो इस मनुष्य को पूजने में क्या हानि हो सकती है, जिसके विचार या कर्म में अपवित्रता कभी छू तक नहीं गयी, जिसकी बुद्धि अन्तर्ज्ञान द्वारा सब पैग़म्बरों से--जो कि एकपक्षीय हैं--कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है? दर्शन, विज्ञान या अन्य किसी भी विद्या की थोड़ी भी सहायता न लेकर इसी महापुरुष ने जगत् के इतिहास में सर्वप्रथम सत्य सम्बन्धी इस तथ्य का प्रचार

किया कि सभी धर्म सत्य हैं; एवं यही सत्य वर्तमान समय में संसार में सर्वत्र प्रतिष्ठा लाभ कर रहा है।

परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है; और संघ के भाइयों में से आपसे किसीने यह न कहा होगा कि आप गुरु-पूजा अवश्य कीजिए। नहीं, नहीं, नहीं। परन्तु उसके साथ ही हममें से किसीको भी अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को पूजा करने से रोके। क्यों? क्योंकि ऐसा करने से इस अद्वितीय संगठन का--जो संसार में कभी देखने में नहीं आया--पतन हो जायगा। दस मत और दस विचार के दस पहले मनुष्य परस्पर ख़ूब घुल-मिलकर रह रहे हैं। थोड़ा धीरज धरिए, दीवान जी, ईश्वर दयालु और महान् है, अभी आप बहुत कुछ देखेंगे।

हम केवल सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता ही नहीं रखते, वरन् उन्हें स्वीकार भी करते हैं, एवं प्रभु की सहायता से सारे संसार में इसका प्रचार करने का प्रयत्न भी मैं कर रहा हूँ।

प्रत्येक मनुष्य एव प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं--

१. सदाचार की शक्ति में विश्वास।

२. ईर्ष्या और सन्देह का परित्याग।

३. जो सत् कर्म करने के लिए यत्नवान हों या कर रहे हों, उनकी सहायता करना।

क्या कारण है कि हिन्दू राष्ट्र अपनी अद्भुत बुद्धि एवं अन्यान्य गुणों के रहते हुए भी टुकड़े टुकड़े हो गया? मैं इसका उत्तर दूंगा--ईर्ष्या। कभी भी कोई जाति एक दूसरे से क्षुद्र भाव से ईर्ष्या करनेवाली, या एक दूसरे के सुयश से ऐसी डाह करनेवाली न होगी, जैसी कि यह अभागी हिन्दू जाति, और यदि आप कभी पश्चिमी देशों में आयें, तो पश्चिमी राष्ट्रों में इसके अभाव का अनुभव सबसे पहले करेंगे।

भारत में तीन मनुष्य एक साथ मिलकर पाँच मिनट के लिए भी कोई काम नहीं कर सकत। हर एक मनुष्य अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है और अंत में पूरे संगठन की दुरवस्था हो जाती है। भगवन्! भगवन्! कब हम ईर्ष्या करना छोड़ेंगे? ऐसे राष्ट्र में, विशेषतः बंगाल में, ऐसे व्यक्तियों के एक संगठन का निर्माण करना जो परस्पर मतभेद रखते हुए भी अटल प्रेमसूत्र में बँधे हुए हों, क्या आश्चर्यजनक बात नहीं है? यह संघ क्रमशः बढ़ता रहेगा। शाश्वत शक्ति और समुन्नति से सम्बद्ध यह अद्भुत उदारता सारे भारतवर्ष में फैल जायगी एवं घोर अज्ञान, द्वेष, जाति-भेद, पुराने अंधविश्वास और ईर्ष्या के बावजूद--जो दासों

के इस राष्ट्र की पैतृक सम्पत्ति हैं---यह उदार भाव इस राष्ट्र में संजीवनी शक्ति का संचार करेगा और रोम रोम में समा जायगा।

सार्वभौम कुण्ठा के इस महासमुद्र के बीच आप उन इने-गिने उदारचेता लोगों में से हैं, जो चट्टान की तरह खड़े हैं। प्रभु आपका सदा-सर्वदा कल्याण करे। इति

सदैव आपका शुभचिन्तक,
विवेकानन्द

(किडी या सिंगारावेलू मुदालियर को लिखित)

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो,
३ मार्च, १८९४

प्रिय किडी,

मुझे तुम्हारा पत्र मिला था, परन्तु मैं निश्चय न कर सका कि इसका क्या जवाब दूं। तुम्हारा अन्तिम पत्र पाने से कुछ आश्वासन मिला। . . . मैं तुमसे यहाँ तक सहमत हूँ कि विश्वास से अपूर्व अन्तर्दृष्टि मिलती है और केवल विश्वास से भी मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है; पर उससे संकीर्णता आ जाने और भविष्य में उन्नति होने में बाधा पड़ने की आशंका रहती है।

ज्ञानमार्ग अच्छा है, परन्तु उसके शुष्क तर्क में परिणत हो जाने का डर रहता है। भक्ति बड़ी ही उच्च वस्तु है, पर निरर्थक भावुकता में परिणत होकर उसके विनष्ट होने का भय है।

हमें इन सभी का समन्वय ही अभीष्ट है। श्री रामकृष्ण का जीवन ऐसा ही समन्वयपूर्ण था। ऐसे महापुरुष जगत् में बहुत ही कम आते हैं, परन्तु हम उनके जीवन और उपदेशों को आदर्श के रूप में सामने रखकर आगे बढ़ सकते हैं। यदि हममें से प्रत्येक उस आदर्श की पूर्णता को व्यक्तिगत रूप में प्राप्त न कर सके, तो भी हम उसे सामूहिक रूप में परस्पर एक दूसरे के परिमार्जन, सन्तुलन, आदान-प्रदान से एवं सहायक बनकर प्राप्त कर सकते हैं। इससे कई एक व्यक्तियों के समष्टि जीवन में समन्वय रहेगा और निश्चय ही यह अन्य प्रचलित धर्ममतों की अपेक्षा उन्नति का अच्छा मार्ग होगा।

किसी धर्म को कारगर बनाने के लिए उत्साह आवश्यक है। साथ ही नये नये सम्प्रदायों की वृद्धि के खतरे से बचने के लिए सावधान रहना चाहिए। इससे बचने के लिए हम अपने को एक असाम्प्रदायिक सम्प्रदाय बनाना चाहते हैं। सम्प्रदाय से जो लाभ होते हैं, वे भी उसमें मिलेंगे और साथ ही साथ सार्वभौम धर्म का उदार भाव भी उसमें रहेगा।

यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है, तो भी उसको हम केवल मनुष्य चरित्र में और उसके द्वारा ही जान सकते हैं। श्री रामकृष्ण के जैसा पूर्ण चरित्र कभी किसी महापुरुष का नहीं हुआ, इसलिए हमें चाहिए कि हम उन्हींको केन्द्र बनाकर डट जायँ। हाँ, हर एक आदमी उनको अपने अपने ढंग से ग्रहण करे, इसमें कोई रुकावट नहीं डालनी चाहिए। चाहे कोई उन्हें ईश्वर माने, चाहे परित्राता या आचार्य, या आदर्श पुरुष अथवा महापुरुष--जो जैसा चाहे, वह उन्हें उसी ढंग से समझे। हम न तो सामाजिक समता का प्रचार करते हैं, न विषमता का। पर इतना कहते हैं कि सबको समान अधिकार है, और हम इस पर ज़ोर देते हैं कि उनके शिष्य वर्ग को क्या विचारों में, क्या कार्य में, पूरी स्वतन्त्रता रहे।

हम किसी भी मतावलम्बी--चाहे वह ईश्वरवादी हो, चाहे सर्वेश्वरवादी, चाहे अद्वैतवादी हो, चाहे बहुईश्वरवादी, चाहे अज्ञेयवादी हो, चाहे अनीश्वरवादी--को त्यागना नहीं चाहते। पर यदि वह शिष्य होना चाहे, तो उसे केवल इतना ही करना होगा कि वह अपना चरित्र ऐसा बनाये, जो जैसा उदार हो, वैसा ही गम्भीर भी। चरित्र-गठन के बारे में भी हम किसी विशेष नैतिक मत को ही ग्रहण करने के लिए नहीं कहते और न खान-पान के सम्बन्ध में ही सभी को एक निर्दिष्ट नियम पर चलने को कहते हैं। हाँ, हम उन कामों को करने से लोगों को मना करते हैं, जिससे औरों को कुछ हानि पहुँचे।

धर्माधर्म का इतना ही लक्षण बताकर आगे हम लोगों को अपने ही विचारों पर निर्भर रहने का उपदेश देते हैं। पाप या अधर्म वही है, जो उन्नति में बाधा डालता हो, या पतन में सहायता करता हो; और धर्म वही है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में सहारा मिले।

इसके बाद कौन सा मार्ग उपयोगी है, किससे अपना लाभ होगा, यह प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सोच और चुन ले और उसी मार्ग से चले; इस विषय में हम सभी को स्वाधीनता देते हैं। एक के लिए शायद मांस खाना अनुकूल हो, और दूसरे के लिए फल-मूल पथ्य हो। जो जिसका भाव हो, वह उसी राह पर चले। यदि एक व्यक्ति कोई काम कर रहा है, जिसके अनुकरण से दूसरे को हानि हो सकती है, तो इस दूसरे व्यक्ति को कुछ अधिकार नहीं कि वह पहले के आचरण की आलोचना करे, फिर औरों को अपने मत पर लाने की ज़िद की बात तो दूर रही। हो सकता है कि कुछ मनुष्यों को सहधर्मिणी से उन्नति प्राप्त करने में सहायता हो, परन्तु वही दूसरों के लिए विशेष हानिकारक हो सकती है। किन्तु इस कारण अविवाहित शिष्य को कोई अधिकार नहीं कि वह विवाहित शिष्य से कहे कि तुम ग़लत राह पर चल रहे हो, फिर उस भाई को अपने नैतिक आदर्श पर ज़बर्दस्ती लाने की बात तो अलग रही।

हमें विश्वास है कि सभी प्राणी ब्रह्म हैं। प्रत्येक आत्मा मानो अज्ञान के बादल से ढके हुए सूर्य के समान है और एक मनुष्य से दूसरे का अन्तर केवल यही है कि कहीं सूर्य के ऊपर बादलों का घना आवरण है और कहीं कुछ पतला। हमें विश्वास है कि यही सब धर्मों की नींव है, चाहे कोई उसे जाने या न जाने। और मनुष्य की भौतिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के सारे इतिहास का मूल तत्त्व यही है कि एक ही आत्मा भिन्न भिन्न उपाधि या आवरण के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करती है।

हमें विश्वास है कि यही वेद का चरम रहस्य है।

हमें विश्वास है कि हर एक मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरे मनुष्य को इसी तरह, अर्थात् ईश्वर समझकर, सोचे और उससे उसी तरह अर्थात् ईश्वर-दृष्टि से बर्ताव करे; उससे घृणा न करे, उसे कलंकित न करे और न उसकी निन्दा ही करे। किसी भी तरह से उन्हें हानि पहुँचाने की चेष्टा ठीक नहीं। यह केवल संन्यासी का ही नहीं, वरन् सभी नर-नारियों का कर्तव्य है।

आत्मा में लिंग या जाति-भेद नहीं है, न उसमें अपूर्णता ही है।

हमें विश्वास है कि सम्पूर्ण वेद, दर्शन, पुराण और तन्त्र में कहीं भी यह बात नहीं है कि आत्मा में लिंग, वर्ण या जाति-भेद है। इसलिए हम उन लोगों से सहमत हैं, जो कहते हैं कि धर्म से समाज-सुधार का क्या सरोकार है? फिर उन्हें भी हमारी इस बात को मानना होगा कि उसी कारण धर्म को भी किसी प्रकार का सामाजिक विधान देने या सब जीवों के बीच वैषम्य का प्रचार करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि इस कल्पित और भयानक विषमता को बिल्कुल मिटा देना ही धर्म का लक्ष्य है।

अगर कोई कहे कि इस विषमता में से गुज़रकर ही हम अन्त में समत्व और एकत्व को प्राप्त कर लेंगे, तो हमारा उत्तर यह है कि वही धर्म जिसकी दुहाई देकर ये बातें कही जाती हैं, बारम्बार कहता है कि कीचड़ से कीचड़ नहीं धुल सकता। अनैतिक बनने से कोई कहीं नैतिक या सच्चरित्र बनता है?

सामाजिक विधान समाज के आर्थिक दशाओं के द्वन्द्व से धर्म के अनुमोदन पर बने हैं। धर्म ने यह भारी भूल की कि उसने सामाजिक विषयों में हाथ डाला। किन्तु उसका यह कथन कितना पाखंडपूर्ण है और साथ ही अपनी ही बातों का खंडन करता है कि, 'समाज-सुधार से धर्म का क्या मतलब?' हाँ, अब हमें इस बात की आवश्यकता हो रही है कि धर्म समाज-सुधारक न बने, पर इसीलिए हम यह भी कह देते हैं कि धर्म समाज का व्यवस्थापक न बने। दूर रहो! अपनी सीमा के भीतर रहो और सब ठीक हो जायगा।

शिक्षा है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है। धर्म है, उस ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है। अतः दोनों स्थलों पर शिक्षक का कार्य केवल रास्ते से सब रुकावटें हटा देना ही है। जैसा मैं सर्वदा कहा करता हूँ--हस्तक्षेप बंद करो ! सब ठीक हो जायगा। अर्थात् हमारा कर्तव्य है, रास्ता साफ़ कर देना--शेष सब भगवान् ही करते हैं।

इसलिए तुम्हें ये बातें विशेषकर याद रखनी चाहिए कि धर्म का केवल आत्मा से ही काम है, सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करना उसका प्रयोजन नहीं। तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि जो ख़ुराफ़ात पहले ही हो चुकी है, उस पर भी यही बात पूर्ण रूप से लागू होती है। अब धर्म को समाज से अलग करने की चेष्टा ऐसी ही है कि मानो किसी आदमी ने जबर्दस्ती किसी दूसरे आदमी की ज़मीन छीन ली; और जब वह अपनी ज़मीन वापस लेने की कोशिश करने लगे, तो पहला आदमी मानवीय अधिकार की पवित्रता का उपदेश करने लगे !

पुरोहितों को समाज की प्रत्येक छोटी छोटी बात में दस्तन्दाज़ी करने (जो लाखों मनुष्यों के लिए दुःखदायी हो) की क्या आवश्यकता थी ?

तुमने मांसभोजी क्षत्रियों की बात उठायी है। क्षत्रिय लोग चाहे मांस खायँ या न खायँ, वे ही हिन्दू धर्म की उन सब वस्तुओं के जन्मदाता हैं, जिनको तुम महत् और सुन्दर देखते हो। उपनिषद् किन्होंने लिखी थी ? राम कौन थे ? कृष्ण कौन थे ? बुद्ध कौन थे ? जैनों के तीर्थंकर कौन थे ? जब कभी क्षत्रियों ने धर्म का उपदेश दिया, उन्होंने सभी को धर्म पर अधिकार दिया। और जब कभी ब्राह्मणों ने कुछ लिखा, उन्होंने औरों को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित करने की चेष्टा की। गीता और व्याससूत्र पढ़ो, या किसीसे सुन लो। गीता में मुक्ति की राह पर सभी नर-नारियों, सभी जातियों और सभी वर्णों को अधिकार दिया गया है, परन्तु व्यास ग़रीब शूद्रों को वंचित करने के लिए वेद की मनमानी व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। क्या ईश्वर तुम जैसा मूर्ख है कि एक टुकड़े मांस से उसकी दयारूपी नदी के प्रवाह में बाधा खड़ी हो जायगी ? अगर वह ऐसा ही है, तो उसका मोल एक फूटी कौड़ी भी नहीं !

मुझसे कुछ आशा मत करना, किन्तु जैसा कि मैं तुमको पहले ही लिख चुका और तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि मुझे दृढ़ विश्वास है कि स्वयं भारतीयों द्वारा ही भारत की उन्नति होगी। इसीलिए कहता हूँ कि हे स्वदेशवासी युवको, क्या तुममें से कुछ लोग भी इस नये आदर्श के कट्टर अनुयायी बन सकते हैं ? अनुशीलन करो, सामग्री इकट्ठी कर श्री रामकृष्ण की एक छोटी सी जीवनी लिखो। सचेत रहना

कि उसमें कोई सिद्धाई की चर्चा न घुसने पाये, अर्थात् वह जीवनी इस ढंग से लिखी जाय कि वह उनके उपदेशों का एक उदाहरण बन जाय। केवल उनकी ही बातें उसमें रहें। खबरदार, मुझको या किसी और जीवित व्यक्ति को उसमें मत लाना। तुम्हारा मुख्य उद्देश्य होगा, उनकी शिक्षाओं को जगत् में फैलाना, और वह जीवनी उन्हींका उदाहरण होगी। यद्यपि मैं खुद अयोग्य हूँ, तथापि मेरे ज़िम्मे एक यह विशेष काम था कि जो रत्न की पेटी मुझे सौंपी गयी थी, मैं उसे तुम्हारे हाथों में दे दूँ। और तुम्हें ही क्यों दूँ? क्योंकि जो लोग पाखंडी, द्वेषपूर्ण, गुलाम-स्वभाववाले और कापुरुष हैं और जिन्हें केवल जड़ वस्तुओं पर विश्वास है, वे कभी कुछ नहीं कर सकते। ईर्ष्या ही हमारे दाससुलभ राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है। औरों का तो क्या कहना, स्वयं सर्वशक्तिमान ईश्वर भी इस ईर्ष्या के कारण हमारा कुछ भला नहीं कर सकता। मेरे बारे में समझो कि मुझे जो कुछ करना था, वह सब मैं कर चुका--अब मैं मर गया; यही समझो कि सब कामों का भार तुम्हीं पर है। भारत-माता के सपूत युवको, समझो कि तुम्हीं इस काम के लिए विधाता द्वारा भेजे हुए हो। काम में लग जाओ, ईश्वर तुम्हारा भला करे। मुझे छोड़ दो, मुझे भूल जाओ, केवल नये आदर्श, नये सिद्धान्त और नये जीवन का प्रचार करो। किसी आदमी या रीति-रिवाज़ के विरुद्ध कुछ मत कहना। जाति-भेद के पक्ष या विपक्ष में कुछ मत कहना, और न किसी सामाजिक कुरीति के विरुद्ध ही कुछ कहने की आवश्यकता है। केवल लोगों से यही कहो कि 'हस्तक्षेप मत करो'--बस, सब ठीक हो जायगा।

मेरे वीर, दृढ़ और प्राणप्रिय आत्मीय जनो! तुम्हें आशीर्वाद।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

शिकागो,
२० जून, १८९४

प्रिय दीवान जी साहब,

आज आपका कृपापत्र मिला। मुझे बहुत दुःख है कि आप जैसे सहृदय को मैंने अपने उद्दण्ड एवं कड़े शब्दों द्वारा ठेस पहुँचायी। मैं आपके मृदु सुधारों के प्रति नतमस्तक हूँ। 'मैं तुम्हारी सन्तान हूँ, मुझ नतमस्तक को शिक्षा दो'--गीता। परन्तु दीवान जी साहब, आप यह अच्छी तरह जानते हैं कि मेरे स्नेह ने ही ऐसा कहने के लिए प्रेरित किया। आपको यह बताना चाहता हूँ कि पीठ-पीछे मेरी

निन्दा करनेवालों ने परोक्ष रूप से मुझे मेरा कोई लाभ नहीं पहुँचाया, बल्कि इस दृष्टि से मेरा घोर अपकार ही किया है कि हमारे हिन्दू भाइयों ने अमेरिकनों को यह बतलाने के लिए अपनी अँगुली भी नहीं हिलायी कि मैं उनका प्रतिनिधि हूँ। मेरे प्रति अमेरिकनों के कृपाभाव के निमित्त, काश, हमारी जनता उनके लिए धन्यवाद के कुछ शब्द प्रेषित कर पाती और यह बताती कि मैं उनका प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ ! . . .अमेरिकनों से कहते रहे कि मैंने अमेरिका में ही संन्यासियों के वस्त्र धारण किये हैं, और मैं एकदम धूर्त हूँ। जहाँ तक मेरे स्वागत का प्रश्न है, इसका अमेरिकी जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा; परन्तु जहाँ तक धनवान द्वारा मेरी सहायता का प्रश्न है, इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि उन्होंने मेरी ऐसी सहायता करने से अपने हाथ खींच लिये। और मैं यहाँ एक वर्ष से हूँ, किन्तु किसी भी प्रतिष्ठित भारतीय ने, अमेरिकनों को यह बताना तक उचित नहीं समझा कि मैं 'धूर्त' नहीं हूँ। फिर यहाँ मिशनरी लोग सदा मेरे विरुद्ध कही गयी बातों की ताक में रहते हैं, और भारत के ईसाई पत्रों द्वारा मेरे विरुद्ध लिखी गयी बातों को खोजने और उनको यहाँ प्रकाशित कराने में सदा व्यस्त रहते हैं। आपको यह विदित होना चाहिए कि यहाँ के लोग भारत में ईसाई एवं हिन्दू में अंतर के संबंध में बहुत कम जानते हैं।

मेरे यहाँ आने का मुख्य प्रयोजन अपनी एक योजना के लिए धन एकत्र करना ही था। मैं आपसे ये बातें फिर कह रहा हूँ।

पूर्व एवं पश्चिम में सारा अंतर यह है कि वे एक एक राष्ट्र हैं, हम नहीं, अर्थात् सभ्यता एवं शिक्षा का प्रसार यहाँ व्यापक है, सर्वसाधारण में व्याप्त है। उच्च वर्ग के लोग भारत और अमेरिका में समान हैं, लेकिन दोनों देशों के निम्न वर्गों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। अंग्रेज़ों के लिए भारत का जीतना इतना आसान क्यों सिद्ध हुआ ? यह इसलिए कि वे एक राष्ट्रबद्ध थे, हम नहीं। जब हमारा कोई महान् पुरुष संसार से विदा हो जाता है, तो दूसरे की प्रतीक्षा में हमें शताब्दियों बैठना पड़ता है; और ये महान् पुरुषों का सर्जन उसी अनुपात में कर सकते हैं, जिस अनुपात में उनकी मृत्यु होती है। जब हमारे दीवान जी साहब नहीं रहेंगे, (जिसे हमारे देश के कल्याण के लिए भगवान् दीर्घ काल तक स्थगित रखें), तो उनके स्थान की पूर्ति के लिए जो कठिनाई उपस्थित होगी, उसका अनुभव देश को तत्काल ही हो जायगा। कठिनाई का प्रत्यक्ष आभास तो इसी बात से हो जाता है कि लोगों का काम आपकी सेवाओं के बिना नहीं चल सकता है। यह महान् पुरुषों का अभाव है। ऐसा क्यों ? क्योंकि महान् पुरुषों के चुनाव के लिए उनके पास इतना बड़ा क्षेत्र है, जब कि हमारे पास, बहुत ही छोटा। तीस,

चालीस या साठ करोड़ आबादीवाले राष्ट्रों की तुलना में तीस करोड़ जनसंख्या-वाले राष्ट्र के पास अपनी महान् आत्माओं के चुनाव के लिए सबसे छोटा क्षेत्र है।

इसका कारण यह है कि शिक्षित पुरुषों एवं स्त्रियों की संख्या इन देशों में बहुत अधिक है। मेरे उदार मित्र, अब मुझे ग़लत न समझ, यह हमारे देश का सबसे बड़ा दोष है और इसे दूर करना ही होगा।

सर्वसाधारण को शिक्षित बनाइए एवं उन्नत कीजिए, तभी एक राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। हमारे समाज-सुधारकों को तो घाव के स्थान का भी ज्ञान नहीं है, वे विधवाओं का विवाह कराके राष्ट्र का उद्धार करना चाहते हैं; क्या आप यह मानेंगे कि किसी देश की रक्षा इस तथ्य पर आश्रित है कि उसकी विधवाओं के लिए कितने पति प्राप्त होते हैं? और न इसके लिए धर्म को ही दोषी ठहराया जा सकता है; क्योंकि एक मूर्ति-पूजा से यों कोई विशेष अन्तर नहीं हो जाता। सारे दोष यहाँ हैं: यथार्थ राष्ट्र जो झोपड़ियों में निवास करता है, अपना पौरुष विस्मृत कर बैठा है, अपना व्यक्तित्व खो चुका है। हिन्दू, मुसलमान या ईसाई के पैरों से रौंदे वे लोग यह समझ बैठे हैं कि जिस किसीके पास पैसा हो, वे उसीके पैरों से कुचले जाने के लिए ही पैदा हुए हैं। उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व प्रदान करना होगा। उनको शिक्षित बनाना होगा। मैं ऐसे प्रश्नों से अपने को उलझाना नहीं चाहता कि मूर्तियाँ रहें या न रहें, विधवाओं के लिए पतियों की पर्याप्त संख्या हो या न हो, जाति-प्रथा दोषपूर्ण है या नहीं। प्रत्येक को अपनी मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ना होगा। केवल रासायनिक सामग्री को एकत्र कर देना हमारा कर्तव्य है, ईश्वरीय विधान से रवे तो अपने आप जम जायँगे। केवल हमें उनके मस्तिष्क में भावनाओं को आरोपित करना है, शेष सब वे अपने आप कर लेंगे। इसका तात्पर्य है, सर्वसाधारण को शिक्षित करना। यहाँ ये कठिनाइयाँ हैं। एक अकिंचन सरकार कभी कुछ नहीं कर सकती है, न करेगी; अतः उस दिशा से किसी सहायता की आशा ही बेकार है।

अगर यह भी मान लिया जाय कि प्रत्येक गाँव में हम लोग निःशुल्क पाठशाला खोलने में समर्थ हैं, तब भी ग़रीब लड़के पाठशालाओं में आने की अपेक्षा अपने जीविकोपार्जन हेतु हल चलाने जायँगे। न तो हमारे पास धन है और न हम उनको शिक्षा के लिए बुला ही सकते हैं। समस्या निराशाजनक प्रतीत होती है। मैंने एक रास्ता ढूंढ़ निकाला है। वह यह है। अगर पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद को पहाड़ के पास जाना पड़ेगा। यदि ग़रीब शिक्षा के निकट नहीं आ सकता, तो शिक्षा को ही हल पर, कारख़ाने में और हर जगह ग़रीब के पास पहुँचना होगा। यह कैसे? आपने मेरे गुरुभाइयों को देखा है। मुझे सारे भारत में ऐसे निःस्वार्थी, अच्छे एवं शिक्षित सैकड़ों मिल सकते हैं। इन लोगों को गाँव गाँव जाने

दीजिए, दरवाज़े दरवाज़े पर धर्म ही नहीं, अपितु शिक्षा को भी लाना है। अपनी महिलाओं को शिक्षित बनाने के लिए भी मैंने विधवा-संगठन का एक केन्द्र रखा है।

अब मान लीजिए कि ग्रामीण अपना दिन भर का काम करके अपने गाँव लौट आये हैं और किसी पेड़ के नीचे या कहीं बैठकर हुक़्क़ा पी रहे हैं और गप लड़ाते हुए समय बिता रहे हैं। मान लीजिए, कोई दो शिक्षित संन्यासी वहाँ इनको पाकर कैमरे से खगोल-विद्या सम्बन्धी या भिन्न भिन्न देशों के, इतिहासों के अन्य चित्र उन्हें दिखाने लगें। इस प्रकार ग्लोब, नक़्शे आदि के द्वारा ज़बानी ही कितना काम हो सकता है, दीवान जी साहब ? केवल आँख ही ज्ञान का एकमात्र द्वार नहीं है, कान भी यह सब काम कर सकता है। इस प्रकार उनमें भावनाओं, सदाचरणों एवं अच्छे बनने की आशा का उदय होगा। यहाँ हमारा काम खत्म हो जाता है। शेष उनके ऊपर छोड़ देना होगा। संन्यासियों में इस त्याग, इतने बड़े कार्य के लिए प्रेरणा कहाँ से मिलेगी--धार्मिक उत्साह से। प्रत्येक नयी धार्मिक लहर के लिए एक केन्द्र की आवश्यकता होती है। पुराने धर्म को केवल एक नया केन्द्र ही पुनर्जीवित कर सकता है। अपनी रूढ़ियों एवं पुराने सिद्धान्तों को सूली पर चढ़ा दीजिए, उनसे कोई लाभ नहीं होता। एक चरित्र, एक जीवन, एक केन्द्र, एक ईश्वरीय पुरुष ही मार्ग सुझा सकता है, यही एक केन्द्र है, जिसके चारों ओर सभी तत्त्व एकत्र हो जायँगे एवं ज्वार की एक लहर की तरह अपने सामने की सारी चीज़ें बहाते हुए, सारी गंदगी को दूर करते हुए समाज पर छा जायँगे। फिर, जैसे लकडी को उसके रेशे की दिशा में ही चीरने में आसानी होती है, वैसे ही पुराने हिन्दू धर्म का हिन्दू धर्म से ही पुनरुद्धार किया जा सकता है, नये नये सुधारों के द्वारा नहीं। साथ ही साथ सुधारकों को अपने में पूर्व एवं पश्चिम, दोनों की संस्कृतियों का संगम कराना होगा। अब क्या आप यह नहीं सोचते हैं कि ऐसे आन्दोलन का एक केन्द्र-बिन्दु आपके दृष्टि-पथ में आ चुका है, और क्या आपने आनेवाले ज्वार की लहर की मर्मर ध्वनि नहीं सुनी ? नेतृत्व करनेवाला वह देव-मानव, वह केन्द्रक भारत में उत्पन्न हुआ था। वे थे महान् श्री रामकृष्ण परमहंस, और उनके चारों ओर इस प्रकार का एक समुदाय एकत्र हो रहा है। वे ही लोग यह कार्य कर दिखायेंगे।

दीवान जी महाराज, अब इसके लिए एक संगठन की आवश्यकता है, रुपये की ज़रूरत--थोड़ा सा भी, जिससे कार्य के चक्र का प्रवर्तन किया जा सके। भारत में हमें धन किससे मिल पाता ? इसीलिए, दीवान जी महाराज, मैं अमेरिका चला आया। आपको यह बात शायद याद हो कि मैंने सारा धन गरीबों से माँगा था, और धनियों के दान को मैं इसलिए अस्वीकार कर देता था कि मेरी भावनाओं को वे नहीं समझ पाते। इस देश में पूरे साल भर तक व्याख्यान देने

पर भी मैं अपने कार्य के आरम्भ के लिए धनार्जन की अपनी इस योजना में ज़रा भी सफल नहीं हो सका हूँ (निश्चय ही मुझे अपने लिए कोई अभाव नहीं हुआ)। इसमें पहली बात यह है कि यह साल अमेरिका के लिए बहुत बुरा साल है; हज़ारों ग़रीब बेरोज़गार हैं। दूसरे, मिशनरी तथा . . . मेरी योजनाओं में बाधा डालने का प्रयत्न किया करते हैं। तीसरी बात यह है, एक साल गुज़र गया और हमारे देशवासी मेरे लिए इतना भी नहीं कर सके कि अमेरिकियों से वे कहते कि मैं वंचक नहीं हूँ, बल्कि यथार्थ संन्यासी हूँ, तथा मैं उनका धर्म-प्रतिनिधि हूँ। इतना तक भी, कुछ शब्दों का व्यय, वे नहीं कर सके। शाबाश, मेरे देशवासियो! दीवान जी, मैं उनको प्यार करता हूँ। मानवीय सहायता को मैं लात मारता हूँ। मुझे आशा है कि वह (भगवान्) मेरे साथ रहेगा, जो सदा पर्वत-श्रेणियों एवं उपत्यकाओं में, मरुस्थलों एवं वनों में मेरे साथ रहा है; यदि यह नहीं, तो किसी न किसी दिन इस कार्य को आगे बढाने के लिए मुझसे भी बहुत अधिक योग्य एक वीर पुरुष उत्पन्न हो जायगा। दीवान जी, आप लम्बे पत्र के लिए मुझे क्षमा कर देंगे, आप मेरे अच्छे मित्र हैं, उन बहुत थोड़ों में से एक जो मेरे प्रति सहानुभूति रखते हैं, जो मेरे ऊपर यथार्थ में कृपालु हैं। आप यह सोचने के लिए स्वतन्त्र हैं कि मैं एक स्वप्नद्रष्टा हूँ या एक कल्पनाशील व्यक्ति हूँ; लेकिन आप कम से कम इतना विश्वास रखें कि मैं पूर्णतः एक सच्चा ईमानदार पुरुष हूँ, और मुझमें सबसे बड़ा दोष यही है कि मैं अपने देश से केवल अधिक, बहुत अधिक, प्रेम रखता हूँ। मेरे प्रिय मित्र, आप और आपके सम्बन्धी जन सदा ही कल्याण के भागी हों। जो आपका प्यारा हो, उस पर भगवान् की दया-दृष्टि सदा ही बनी रहे। आपके प्रति चिरंतन कृतज्ञ हूँ। आपके प्रति मैं अगाध ऋणी हूँ, केवल इसीलिए नहीं कि आप मेरे मित्र हैं, बल्कि इसलिए भी कि आपने यावज्जीवन इतने उत्तम रूप से भारत माँ की एवं परमात्मा की सेवा की है।

आपका सतत कृतज्ञ,
विवेकानन्द

(मैसूर के महाराजा को लिखित)

शिकागो,
२३ जून, १८९४

महाराज,

श्री नारायण आपका और आपके कुटुम्ब का मंगल करें। आपकी उदार सहायता से ही मेरा इस देश में आना सम्भव हो सका। यहाँ आने के बाद से यहाँ

के लोग मुझे खूब जान गये हैं और इस देश के अतिथिपरायण अधिवासियों ने मेरे सब अभाव दूर कर दिये हैं। यह एक अद्भुत देश है और यह जाति भी कई बातों में एक अद्भुत जाति है। कोई जाति अपने दैनिक कामों में इतने कलपुर्ज़ों का व्यवहार नहीं करती, जितने कि यहाँ के लोग। यहाँ केवल कल ही कल हैं! फिर देखिए, ये लोग संसार की सारी जनसंख्या के सामने पाँच प्रतिशत मात्र हैं। और फिर भी संसार के कुल धन के पूरे षष्ठांश के ये मालिक हैं। इनके धन तथा विलास की सामग्रियों का कोई ठिकाना नहीं है। पर फिर भी यहाँ सभी चीज़ें बहुत महँगी हैं। मज़दूरों की मज़दूरी यहाँ दुनिया में सब जगह से ज़्यादा है, पर मज़दूरों और पूंजीपतियों के बीच झगड़ा सदा ही चलता रहता है।

अमेरिका की महिलाओं को जितने अधिकार प्राप्त हैं, उतने दुनिया भर में और कहीं की महिलाओं को नहीं। धीरे धीरे वे सब कुछ अपने अधिकार में करती जा रही हैं, और आश्चर्य की बात तो यह है कि शिक्षित पुरुषों की अपेक्षा यहाँ शिक्षित स्त्रियों की संख्या कहीं अधिक है। हाँ, उच्चतर प्रतिभा का विकास अधिकतर पुरुषों में ही है। पाश्चात्यवासी हमारे जाति-भेद की चाहे कितनी कड़ी समालोचना करें, पर उनके भी बीच एक ऐसा जाति-भेद है, जो हमारे यहाँ से भी बुरा है—और वह है, अर्थगत जाति-भेद। अमेरिकानिवासियों के अनुसार सर्वशक्तिमान डॉलर यहाँ सब कुछ कर सकता है।

संसार के अन्य किसी देश में इतने क़ानून नहीं हैं, जितने कि यहाँ। पर यहाँ उनकी जितनी कम परवा की जाती है, उतनी अन्य किसी भी देश में नहीं। सब ओर से देखने पर हमारे ग़रीब हिन्दू लोग किसी भी पाश्चात्य देशवासी से लाखों गुने अधिक नैतिक हैं। धर्म के विषय में यहाँ के लोग या तो कपटी होते हैं या मतान्ध। विचारशील लोग अपने कुसंस्कारपूर्ण धर्मों से ऊब गये हैं और नये प्रकाश के लिए भारत की ओर ताक रहे हैं। महाराज, आप बिना देखे यह नहीं समझ सकेंगे कि ये लोग पवित्र वेदों के उदात्त भावों का एक छोटा सा कण भी किस चाव से ग्रहण करते हैं, क्योंकि आधुनिक विज्ञान धर्म पर जो पुनः पुनः तीव्र आक्रमण कर रहा है, उससे लोहा लेने में केवल वेद ही समर्थ हैं। शून्य से सृष्टि का होना, आत्मा का एक सृष्ट पदार्थ होना, स्वर्ग नामक स्थान में सिंहासन पर बैठे हुए एक निरंकुश और अत्याचारी ईश्वर तथा अनन्त नरकाग्नि का होना—ये सब जो इन लोगों के मत हैं, उनसे सभी शिक्षित लोगों का जी ऊब गया है और सृष्टि और आत्मा के अनादित्व तथा परमात्मा की हमारी अपनी आत्मा में अवस्थिति सम्बन्धी वेदों के उदात्त भावों को वे शीघ्र ही किसी न किसी रूप में ग्रहण कर रहे हैं। पचास वर्ष के भीतर ही संसार के सभी शिक्षित लोग आत्मा और सृष्टि, दोनों के अनादित्व पर विश्वास

करने लगेंगे और ईश्वर को हमारी ही आत्मा का उच्चतम और श्रेष्ठ रूप मानने लगेंगे, जैसा कि हमारे पवित्र वेद शिक्षा दे रहे हैं। अभी से ही उनके विद्वान् पादरियों ने बाइबिल की वैसी ही व्याख्या करनी आरम्भ कर दी है। मेरा निष्कर्ष यह है कि उन्हें और भी धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है और हमें और भी अधिक ऐहिक एवं भौतिक शिक्षा की।

भारतवर्ष के सभी अनर्थों की जड़ है—जनसाधारण की ग़रीबी। पाश्चात्य देशों के ग़रीब तो निरे पशु हैं, उनकी तुलना में हमारे यहाँ के ग़रीब देवता हैं। इसीलिए हमारे यहाँ के ग़रीबों को ऊँचा उठाना अपेक्षाकृत सहज है। अपने निम्न वर्ग के लोगों के प्रति हमारा एकमात्र कर्तव्य है—उनको शिक्षा देना, उन्हें सिखाना कि इस संसार में तुम भी मनुष्य हो, तुम लोग भी प्रयत्न करने पर अपनी सब प्रकार उन्नति कर सकते हो। अभी वे लोग यह भाव खो बैठे हैं। हमारे जनसाधारण और देशी राजाओं के सम्मुख यही एक विस्तृत कार्यक्षेत्र पड़ा हुआ है। अब तक इस दिशा में कुछ भी काम नहीं हुआ। पुरोहिती शक्ति और विदेशी विजेतागण सदियों से उन्हें कुचलते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप भारत के ग़रीब बेचारे यह तक भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। उनमें विचार पैदा करना होगा। उनके चारों ओर दुनिया में क्या क्या हो रहा है, इस सम्बन्ध में उनकी आँखें खोल देनी होंगी; बस, फिर वे अपनी मुक्ति स्वयं सिद्ध कर लेंगे। प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री को अपनी अपनी मुक्ति स्वयं सिद्ध करनी पड़ेगी। उनमें विचार पैदा कर दो—बस, उन्हें उसी एक सहायता की ज़रूरत है, शेष सब कुछ इसके फलस्वरूप आप ही हो जायगा। हमें केवल रासायनिक सामग्रियों को इकट्ठा भर कर देना है, उनका निर्दिष्ट आकार प्राप्त करना—रवा बँध जाना तो प्राकृतिक नियमों से ही साधित होगा। हमारा कर्तव्य है, उनमें भावों का संचार कर देना—बाक़ी वे स्वयं कर लेंगे। भारत में बस यही करना है। बहुत समय से यह विचार मेरे मन में काम कर रहा है। भारत में इसे मैं कार्यरूप में परिणत न कर सका, और यही कारण था कि मैं इस देश में आया। ग़रीबों को शिक्षा देने में मुख्य बाधा यह है—मान लीजिए महाराज, आपने हर एक गाँव में निःशुल्क पाठशाला खोल दी, तो भी इससे कुछ काम न होगा, क्योंकि भारत में ग़रीबी ऐसी है कि ग़रीब लड़के पाठशाला में आने के बजाय खेतों में अपने माता-पिता को मदद देना या दूसरे किसी उपाय से रोटी कमाने का प्रयत्न करना अधिक पसन्द करेंगे। इसलिए यदि पहाड़ मुहम्मद के पास न आये, तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास क्यों न जाय? यदि ग़रीब लड़का शिक्षा के मन्दिर तक न आ सके, तो शिक्षा को ही उसके पास जाना चाहिए।

हमारे देश में हज़ारों एकनिष्ठ और त्यागी साधु हैं, जो गाँव गाँव धर्म की शिक्षा देते फिरते हैं। यदि उनमें से कुछ लोगों को ऐहिक विषयों में भी प्रशिक्षित किया जाय, तो गाँव गाँव, दरवाज़े दरवाज़े जाकर वे केवल धर्मशिक्षा ही नहीं देंगे, बल्कि ऐहिक शिक्षा भी दिया करेंगे। कल्पना कीजिए कि इनमें से एक-दो शाम को साथ में एक मैजिक लैन्टर्न, एक ग्लोब और कुछ नक़्शे आदि लेकर किसी गाँव में गये। इसकी सहायता से वे अपढ़ लोगों को बहुत कुछ गणित, ज्योतिष और भूगोल सिखा सकते हैं। विभिन्न राष्ट्रों के बारे में कहानियाँ सुनाकर वे गरीबों को नाना प्रकार के समाचार दे सकते हैं। जितनी जानकारी वे ग़रीब जीवन भर पुस्तकें पढ़ने से न पा सकेंगे, उससे कहीं सौगुनी अधिक वे इस तरह बातचीत द्वारा पा जायँगे। इसके लिए एक संगठन की आवश्यकता है, जो पुनः धन पर निर्भर रहता है। इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए भारत में मनुष्य तो बहुत हैं, पर हाय! वे निर्धन हैं। किसी पहिये को पहले-पहल गतिशील करना बड़ा कठिन काम है, पर एक बार गतिशील हुआ कि वह क्रमशः अधिकाधिक वेग से चलने लगता है। अपने देश में सहायता पाने का प्रयत्न करने के बाद जब मैंने धनिकों से कुछ भी सहानुभूति न पायी, तब मैं महाराज की सहायता से इस दूर देश में आया। अमेरिकावासियों को इस बात की तनिक भी परवाह नहीं कि भारत के ग़रीब जियें या मरें। और भला वे परवाह भी क्यों करने लगे, जब कि हमारे अपने देशवासी सिवाय अपने स्वार्थ की बातों के और किसी विषय की चिन्ता नहीं करते।

महामना राजन्, यह जीवन क्षणस्थायी है, संसार के भोग-विलास की सामग्रियाँ भी क्षणभंगुर हैं। वे ही यथार्थ में जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीवन धारण करते हैं। बाक़ी लोगों का जीना तो मरने के ही बराबर है। महाराज, आप जैसे एक उन्नत, महामना राजपुत्र भारत को फिर से अपने पैरों पर खड़ा कर देने के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। और इस तरह भावी वंशजों के लिए एक ऐसा नाम छोड़ जा सकते हैं, जो चिरकाल तक पूजित होता रहे।

ईश्वर आपके महान् हृदय में भारत के उन लाखों नर-नारियों के लिए गहरी संवेदना पैदा कर दे, जो अज्ञता में गड़े हुए दुःख झेल रहे हैं—यही मेरी प्रार्थना है।

भवदीय,
विवेकानन्द

(राजा प्यारीमोहन मुकर्जी को लिखित[1])

न्यूयार्क,
१८ नवम्बर १८९४

प्रिय महाशय,

कलकत्ता टाउन हॉल की सभा में हाल ही में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए तथा मेरे अपने नगरनिवासियों ने जिन मधुर शब्दों में मुझे याद किया है, उन्हें मैंने पढ़ा।

महाशय, मेरी तुच्छ सी सेवा के लिए आपने जो आदर प्रकट किया है, उसके लिए आप मेरा हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिए।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी मनुष्य या राष्ट्र अपने को दूसरों से अलग रखकर जी नहीं सकता, और जब कभी भी गौरव, नीति या पवित्रता की भ्रान्त धारणा से ऐसा प्रयत्न किया गया है, उसका परिणाम उस पृथक् होनेवाले पक्ष के लिए सदैव घातक सिद्ध हुआ।

मेरी समझ में भारतवर्ष के पतन और अधोगति का एक प्रधान कारण जाति के चारों ओर रीति-रिवाजों की एक दीवार खड़ी कर देना ही था, जिसकी भित्ति दूसरों की घृणा पर स्थापित थी, और जिसका यथार्थ उद्देश्य प्राचीन काल में हिन्दू जाति को आसपासवाली बौद्ध जातियों के संसर्ग से अलग रखना था।

प्राचीन या नवीन तर्कजाल इसे चाहे जिस तरह ढाँकने का प्रयत्न करे, पर इसका अनिवार्य फल—उस नैतिक साधारण नियम के औचित्य के अनुसार कि कोई भी बिना अपने को अधःपतित किये दूसरों से घृणा नहीं कर सकता—यह हुआ कि जो जाति सभी प्राचीन जातियों में सर्वश्रेष्ठ थी, उसका नाम पृथ्वी की जातियों में घृणासूचक साधारण एक शब्द सा हो गया है। हम उस सार्वभौमिक नियम की अवहेलना के परिणाम के प्रत्यक्ष दृष्टान्तस्वरूप हो गये हैं, जिसका हमारे ही पूर्वजों ने पहले-पहल आविष्कार और विवेचन किया था।

लेन-देन ही संसार का नियम है और यदि भारत फिर से उठना चाहे, तो यह परमावश्यक है कि वह अपने रत्नों को बाहर लाकर पृथ्वी की जातियों में बिखेर दे, और इसके बदले में वे जो कुछ दे सकें, उसे सहर्ष ग्रहण करे। विस्तार ही जीवन है और संकोच मृत्यु; प्रेम ही जीवन है और द्वेष ही मृत्यु। हमने उसी दिन से मरना

---

१. स्वामी जी ने अमेरिका में हिन्दू धर्म के प्रचार के द्वारा जो अच्छा कार्य किया था, उसे अभिनन्दित करने के लिए कलकत्ता टाउन हॉल में ५ सितम्बर, १८९४ को एक सार्वजनिक सभा हुई थी। यह पत्र उसी के सभापति को लिखा गया था। स०

शुरू कर दिया, जब से हम अन्य जातियों से घृणा करने लगे, और यह मृत्यु बिना इसके किसी दूसरे उपाय से रुक नहीं सकती कि हम फिर से विस्तार को अपनायें, जो कि जीवन का चिह्न है।

अतएव हमें पृथ्वी की सभी जातियों से मिलना पड़ेगा। और प्रत्येक हिन्दू, जो विदेश भ्रमण करने जाता है, उन सैकड़ों मनुष्यों से अपने देश को अधिक लाभ पहुँचाता है, जो केवल अंधविश्वासों एवं स्वार्थपरताओं की गठरी मात्र है, और जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य 'न खुद खाये, न दूसरे को खाने दे' कहावत के अनुसार न अपना हित करना है, न पराये का। पाश्चात्य राष्ट्रों ने राष्ट्रीय जीवन के जो आश्चर्यजनक प्रासाद बनाये हैं, वे चरित्ररूपी सुदृढ़ स्तम्भों पर खड़े हैं, और जब तक हम अधिक से अधिक संख्या में वैसे चरित्र न गढ़ सकें, तब तक हमारे लिए किसी शक्तिविशेष के विरुद्ध अपना असन्तोष प्रकट करते रहना निरर्थक है।

क्या वे लोग स्वाधीनता पाने योग्य हैं, जो दूसरों को स्वाधीनता देने के लिए प्रस्तुत नहीं ? व्यर्थ का असन्तोष जताते हुए शक्ति क्षय करने के बदले हम चुपचाप वीरता के साथ काम करते चले जायँ। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि संसार की कोई भी शक्ति किसीसे वह वस्तु अलग नहीं रख सकती, जिसके लिए वह वास्तव में योग्य हो। अतीत तो हमारा गौरवमय था ही, पर मुझे हार्दिक विश्वास है कि भविष्य और भी गौरवमय होगा।

शंकर हमें पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय में अविचलित रखें।

भवदीय,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल आदि मद्रासी शिष्यों को लिखित)

न्यूयार्क
१८ नवम्बर १८९४

वीरहृदय युवको !

तुम्हारा ११ अक्तूबर का पत्र कल पाकर बड़ा ही आनन्द हुआ। यह बड़े सन्तोष की बात है कि अब तक हमारा कार्य बिना रोक-टोक के उन्नति ही करता चला आ रहा है। जैसे भी हो सके, हमें संघ को दृढ़प्रतिष्ठ और उन्नत बनाना होगा, और इसमें हमें सफलता मिलेगी—अवश्य मिलेगी। 'नहीं' कहने से न बनेगा। और किसी बात की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है केवल प्रेम, निश्छलता और धैर्य की। जीवन का अर्थ ही वृद्धि अर्थात् विस्तार यानी प्रेम है। इसलिए प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र नियम है, और स्वार्थपरता ही मृत्यु है।

इहलोक एवं परलोक में यही बात सत्य है। परोपकार ही जीवन है, परोपकार न करना ही मृत्यु है। जितने नरपशु तुम देखते हो, उनमें नब्बे प्रतिशत मृत हैं, वे प्रेत हैं; क्योंकि मेरे बच्चो, जिसमें प्रेम नहीं है, वह जी भी नहीं सकता। मेरे बच्चो, सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो—ग़रीब, मूर्ख एवं पददलित मनुष्यों के दुःख को तुम महसूस करो, तब तक महसूस करो, जब तक तुम्हारे हृदय की धड़कन न रुक जाय, मस्तिष्क चकराने न लगे, और तुम्हें ऐसा प्रतीत होने लगे कि तुम पागल हो जाओगे—फिर ईश्वर के चरणों में अपना दिल खोलकर रख दो, और तब तुम्हें शक्ति, सहायता और अदम्य उत्साह की प्राप्ति होगी। गत दस वर्षों से मैं अपना मूलमंत्र घोषित करता आया हूँ—संघर्ष करते रहो। और अब भी मैं कहता हूँ कि अविराम संघर्ष करते चलो। जब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीखता था, तब मैं कहता था—संघर्ष करते रहो; अब जब थोड़ा थोड़ा उजाला दिखायी दे रहा है, तब भी मैं कहता हूँ कि संघर्ष करते चलो। डरो मत मेरे बच्चो। अनन्त नक्षत्रखचित आकाश की ओर भयभीत दृष्टि से ऐसे मत ताको, जैसे कि वह हमें कुचल ही डालेगा। धीरज धरो। देखोगे कि कुछ ही घण्टों में वह सबका सब तुम्हारे पैरों तले आ गया है। धीरज धरो, न धन से काम होता है; न नाम से, न यश काम आता है, न विद्या; प्रेम ही से सब कुछ होता है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें तोड़कर अपना रास्ता बना सकता है।

अब हमारे सामने समस्या यह है—कि स्वाधीनता के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। हमारे पूर्वजों ने धार्मिक विचारों में स्वाधीनता दी थी और उसीसे हमें एक आश्चर्यजनक धर्म मिला है। पर उन्होंने समाज के पैर बड़ी बड़ी जंजीरों से जकड़ दिये और इसके फलस्वरूप हमारा समाज, एक शब्द में, भयंकर और पैशाचिक हो गया है। पाश्चात्य देशों में समाज को सदैव स्वाधीनता मिलती रही, इसलिए उनके समाज को देखो। दूसरी तरफ़ उनके धर्म को भी देखो।

उन्नति की पहली शर्त है स्वाधीनता। जैसे मनुष्य को सोचने-विचारने और उसे व्यक्त करने की स्वाधीनता मिलनी चाहिए, वैसे ही उसे खान-पान, पोशाक-पहनावा, विवाह-शादी, हरेक बात में स्वाधीनता मिलनी चाहिए, जब तक कि वह दूसरों को हानि न पहुँचाये।

हम मूर्खों की तरह भौतिक सभ्यता की निन्दा किया करते हैं। अंगूर खट्टे हैं न! उस मूर्खोचित बात को मान लेने पर भी यह कहना पड़ेगा कि सारे भारत-वर्ष में लगभग एक लाख नर-नारी ही यथार्थ रूप से धार्मिक हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या इतने लोगों की धार्मिक उन्नति के लिए भारत के तीस करोड़ अधिवासियों

को बर्बरों का सा जीवन व्यतीत करना और भूखों मरना होगा ? क्यों कोई भूखों मरे ? मुसलमानों के लिए हिन्दुओं को जीत सकना कैसे सम्भव हुआ ? यह हिन्दुओं के भौतिक सभ्यता का निरादर करने के कारण ही हुआ। सिले हुए कपड़े तक पहनना मुसलमानों ने इन्हें सिखलाया। क्या अच्छा होता, यदि हिन्दू मुसलमानों से साफ़ ढंग से खाने की तरक़ीब सीख लेते, जिसमें रास्ते की गर्द भोजन के साथ न मिलने पाती ! भौतिक सभ्यता यहाँ तक कि विलासमयता की भी ज़रूरत होती है—क्योंकि उससे ग़रीबों को काम मिलता है। रोटी ! रोटी ! मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि वह भगवान्, जो मुझे यहाँ पर रोटी नहीं दे सकता, वही स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख देगा ! राम कहो ! भारत को उठाना होगा, ग़रीबों को भोजन देना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों का निराकरण करना होगा। पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों और सामाजिक अत्याचारों का कहीं नाम-निशान न रहे ! सबके लिए अधिक अन्न और सबको अधिकाधिक सुविधाएँ मिलती रहें। हमारे मूर्ख नौजवान अंग्रेज़ों से अधिक राजनीतिक अधिकार पाने के लिए सभाएँ आयोजित करते हैं। इस पर अंग्रेज़ केवल हँसते हैं। स्वाधीनता पाने का अधिकार उसे नहीं, जो औरों को स्वाधीनता देने को तैयार न हो। मान लो कि अंग्रेज़ों ने तुम्हें सब अधिकार दे दिये, पर उससे क्या फल होगा ? कोई न कोई वर्ग प्रबल होकर सब लोगों से सारे अधिकार छीन लेगा और उन लोगों को दबाने की कोशिश करेगा। और गुलाम तो शक्ति चाहता है, दूसरों को गुलाम बनाने के लिए।

इसलिए हमें वह अवस्था धीरे धीरे लानी पड़ेगी—अपने धर्म पर अधिक बल देते हुए और समाज को स्वाधीनता देते हुए। प्राचीन धर्म से पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को एक बार उखाड़ दो, तो तुम्हें संसार का सबसे अच्छा धर्म उपलब्ध हो जायगा। मेरी बात समझते हो न ? भारत का धर्म लेकर एक यूरोपीय समाज का निर्माण कर सकते हो ? मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और एक दिन ऐसा अवश्य होगा।

इसके लिए सबसे अच्छा उपाय मध्य भारत में एक उपनिवेश की स्थापना करना है, जहाँ तुम अपने विचारों का स्वतंत्रतापूर्वक अनुसरण कर सको। फिर ये ही मुट्ठी भर लोग सारे संसार में अपने विचार फैला देंगे। इस बीच एक मुख्य केन्द्र बनाओ और भारत भर में उसकी शाखाएँ खोलते जाओ। अभी केवल धर्म-भित्ति पर ही इसकी स्थापना करो और अभी किसी उथल-पुथल मचानेवाले सामाजिक सुधार का प्रचार मत करो, साथ ही इतना ध्यान रहे कि किसी मूर्खता-प्रसूत कुसंस्कारों को सहारा न देना। जैसे पूर्वकाल में शंकराचार्य, रामानुज तथा

चैतन्य आदि आचार्यों ने सबको समान समझकर मुक्ति में सबका समान अधिकार घोषित किया था, वैसे ही समाज को पुन: गठित करने की कोशिश करो।

उत्साह से हृदय भर लो और सब जगह फैल जाओ। काम करो, काम करो। नेतृत्व करते समय सबके दास हो जाओ, नि:स्वार्थी होओ और कभी एक मित्र को पीठ पीछे दूसरे की निन्दा करते मत सुनो। अनन्त धैर्य रखो, तभी सफलता तुम्हारे हाथ आयेगी। भारत का कोई अखबार या किसीके पते अब मुझे भेजने की आवश्यकता नहीं। मेरे पास उनके ढेर जमा हो गये; अब बस करो। अब इतना ही समझो कि जहाँ जहाँ तुम कोई सार्वजनिक सभा बुला सके, वहीं काम करने का तुम्हें थोड़ा मौक़ा मिल गया। उसीके सहारे काम करो। काम करो, काम करो, औरों के हित के लिए काम करना ही जीवन का लक्षण है। मैंने श्री अय्यर को अलग पत्र नहीं लिखा, पर अभिनन्दन-पत्र का जो उत्तर मैंने दिया, शायद वही पर्याप्त हो। उनसे और मेरे अन्यान्य मित्रों से मेरा हार्दिक प्रेम, सहानुभूति और कृतज्ञता ज्ञापन करना। वे सभी महानुभाव हैं। हाँ, एक बात के लिए सतर्क रहना—दूसरों पर अपना रोब जमाने की कोशिश मत करना। मैं सदा तुम्हींको पत्र भेजता हूँ, इसलिए तुम मेरे अन्य मित्रों से अपना महत्त्व प्रकट करने की फ़िक्र में न रहना। मैं जानता हूँ कि तुम इतने निर्बोध न होगे, पर तो भी मैं तुम्हें सतर्क कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। सभी संगठनों का सत्यानाश इसीसे होता है। काम करो, काम करो, दूसरों की भलाई के लिए काम करना ही जीवन है।

मैं चाहता हूँ कि हममें किसी प्रकार की कपटता, कोई मक्कारी, कोई दुष्टता न रहे। मैं सदैव प्रभु पर निर्भर रहा हूँ, सत्य पर निर्भर रहा हूँ, जो कि दिन के प्रकाश की भाँति उज्ज्वल है। मरते समय मेरी विवेक-बुद्धि पर यह धब्बा न रहे कि मैंने नाम या यश पाने के लिए, यहाँ तक कि परोपकार करने के लिए दुरंगी चालों से काम लिया था। दुराचार की गन्ध या बदनीयती का नाम तक न रहने पाये।

किसी प्रकार का टालमटोल या छिपे तौर से बदमाशी या गुप्त शठता हममें न रहे—पर्दे की आड़ में कुछ न किया जाय। गुरु का विशेष कृपापात्र होने का कोई भी दावा न करे—यहाँ तक कि हममें कोई गुरु भी न रहे। मेरे साहसी बच्चो, आगे बढ़ो—चाहे धन आये या न आये, आदमी मिलें या न मिलें। क्या तुम्हारे पास प्रेम है ? क्या तुम्हें ईश्वर पर भरोसा है ? बस, आगे बढ़ो, तुम्हें कोई न रोक सकेगा।

भारत से प्रकाशित थियोसॉफ़िस्टों की पत्रिका में लिखा है कि थियोसॉफ़िस्टों ने ही मेरी सफलता की राह साफ़ कर दी थी। ऐसा ! क्या बकवास है !—थियोसॉफ़िस्टों ने मेरी राह साफ़ की ! !

सतर्क रहो! जो कुछ असत्य है, उसे पास न फटकने दो। सत्य पर डटे रहो, बस, तभी हम सफल होंगे--शायद थोड़ा अधिक समय लगे, पर सफल हम अवश्य होंगे। इस तरह काम करते जाओ कि मानो मैं कभी था ही नहीं। इस तरह काम करो कि मानो तुममें से हर एक के ऊपर सारा काम आ पड़ा है। भविष्य की पचास सदियाँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं, भारत का भविष्य तुम पर ही निर्भर है! काम करते जाओ। पता नहीं, कब मैं स्वदेश लौटूंगा। यहाँ काम करने का बड़ा अच्छा क्षेत्र है। भारत में लोग अधिक से अधिक मेरी प्रशंसा भर कर सकते हैं, पर वे किसी काम के लिए एक पैसा भी न देंगे, और दें भी, तो कहाँ से? वे स्वयं भिखारी हैं न? फिर गत दो हज़ार या उससे भी अधिक वर्षों से वे परोपकार करने की प्रवृत्ति ही खो बैठे हैं। 'राष्ट्र', 'जनसाधारण' आदि के विचार वे अभी अभी सीख रहे हैं। इसलिए मुझे उनकी कोई शिकायत नहीं करनी है। आगे और भी विस्तार से लिखूंगा। तुम लोगों को सदैव मेरा आशीर्वाद।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—तुम्हें फोनोग्राफ के बारे में और पूछताछ करने की कोई आवश्यकता नहीं। अभी खेतड़ी से मुझे खबर मिली है कि वह अच्छी दशा में वहाँ पहुँच गया है।

वि०

(श्री जस्टिस सुब्रह्मण्य अय्यर को लिखित)

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू
शिकागो,
३ जनवरी, १८९५

प्रिय महाशय,

प्रेम, कृतज्ञता और विश्वासपूर्ण हृदय से आज मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। मैं आपसे यह पहले ही बता देना चाहता हूँ कि आप उन थोड़े से मनुष्यों में से एक हैं, जिन्हें मैंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से दृढ़ विश्वासी पाया। आपमें पूरी मात्रा में भक्ति और ज्ञान का अपूर्व सामंजस्य है। इसके साथ ही अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने में भी आप पूरे समर्थ हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आप निष्कपट हैं, और इसलिए मैं अपने कुछ विचार आपके सामने विश्वासपूर्वक उपस्थित करता हूँ।

भारत में हमारा कार्य अच्छे ढंग से शुरू हुआ है और इसे न केवल जारी रखना चाहिए, बल्कि पूरी शक्ति के साथ बढ़ाना भी चाहिए। सब तरह के सोच-

विचार के बाद मेरा मन निम्नलिखित योजना पर डटा हुआ है। पहले मद्रास में धर्म-शिक्षा के लिए एक कॉलेज खोलना उचित होगा, फिर इसका कार्यक्षेत्र धीरे धीरे बढ़ाना होगा। नवयुवकों को वेद तथा विभिन्न भाष्यों और दर्शनों की पूरी शिक्षा देनी होगी, इसमें संसार के अन्य धर्मों का ज्ञान भी शामिल रहेगा। साथ ही एक अंग्रेज़ी और एक देशी भाषा का पत्र निकालना होगा, जो उस विद्यालय के मुखपत्र होंगे।

पहला काम यही है, और छोटे छोटे कामों से ही बड़े बड़े काम पैदा हो जाते हैं। कई कारणों से मद्रास ही इस समय इस कार्य के लिए सबसे अच्छी जगह है। बंबई में वही पुरानी जड़ता आ रही है। बंगाल में यह डर है कि अब वहाँ जैसा पाश्चात्य विचारों का मोह फैला हुआ है, उसे देखते हुए कहीं उसके विपरीत वैसी ही घोर प्रतिक्रिया न शुरू हो जाय। इस समय मद्रास ही जीवन-यात्रा की प्राचीन तथा आधुनिक प्रणालियों के यथार्थ गुणों को ग्रहण करता हुआ मध्यम मार्ग का अनुसरण कर रहा है।

भारत के शिक्षित समाज से मैं इस बात पर सहमत हूँ कि समाज का आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। पर यह किया किस तरह जाय? सुधारकों की सब कुछ नष्ट कर डालने की रीति व्यर्थ सिद्ध हो चुकी है। मेरी योजना यह है: हमने अतीत काल में कुछ बुरा नहीं किया--निश्चय ही नहीं किया। हमारा समाज ख़राब नहीं, बल्कि अच्छा है। मैं केवल चाहता हूँ कि वह और भी अच्छा हो। हमें असत्य से सत्य तक अथवा बुरे से अच्छे तक पहुँचना नहीं है, वरन् सत्य से उच्चतर सत्य तक, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम तक पहुँचना है। मैं अपने देशवासियों से कहता हूँ कि अब तक जो तुमने किया, सो अच्छा ही किया है, अब इस समय और भी अच्छा करने का मौक़ा आ गया है।

जात-पाँत की ही बात लीजिए। संस्कृत में 'जाति' का अर्थ है वर्ग या श्रेणी-विशेष। यह सृष्टि के मूल में ही विद्यमान है। विचित्रता अर्थात् जाति का अर्थ ही सृष्टि है। **एकोऽहं बहुस्याम**--'मैं एक हूँ--अनेक हो जाऊँ', विभिन्न वेदों में इस प्रकार की बात पायी जाती है। सृष्टि के पूर्व एकत्व रहता है, सृष्टि हुई कि वैविध्य शुरू हुआ। अतः यदि यह विविधता समाप्त हो जाय, तो सृष्टि का ही लोप हो जायगा। जब तक कोई जाति शक्तिशाली और क्रियाशील रहेगी, तब तक वह विविधता अवश्य पैदा करेगी। ज्यों ही उसका ऐसी विविधता का उत्पादन करना बन्द होता है, या बन्द कर दिया जाता है, त्यों ही वह जाति नष्ट हो जाती है। जाति का मूल अर्थ था, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति को, अपने विशेषत्व को प्रकाशित करने की स्वाधीनता और यही अर्थ हज़ारों वर्षों तक प्रचलित भी

रहा। आधुनिक शास्त्र-ग्रन्थों में भी जातियों का आपस में खाना-पीना निषिद्ध नहीं हुआ है; और न किसी प्राचीन ग्रन्थ में उनका आपस में व्याह-शादी करना मना है। तो फिर भारत के अधःपतन का कारण क्या था?--जाति सम्बन्धी इस भाव का त्याग। जैसे गीता कहती है--जाति नष्ट हुई कि संसार भी नष्ट हुआ; अब क्या यह सत्य प्रतीत होता है कि इस विविधता का नाश होते ही जगत् का नाश हो जायगा? आजकल का वर्ण-विभाग यथार्थ में जाति नहीं है, बल्कि जाति की प्रगति में वह एक रुकावट ही है। वास्तव में इसने सच्ची जाति अथवा विविधता की स्वच्छन्द गति को रोक दिया है। कोई भी दृढ़मूल प्रथा अथवा किसी जाति-विशेष का विशेष अधिकार अथव किसी भी प्रकार का वंश-परम्परागत जाति-विभाग उस सच्ची जाति की स्वच्छन्द गति को रोक देता है, और जब कभी कोई राष्ट्र इस अनन्त विविधता का सृजन करना छोड़ देता है, तब उसकी मत्यु अनिवार्य हो जाती है। अतः मुझे अपने देशवासियों से यही कहना है कि जाति-प्रथा उठा देने से ही भारत का पतन हुआ है। प्रत्येक दृढ़मूल आभिजात्य वर्ग अथवा विशेष अधिकारप्राप्त सम्प्रदाय जाति का घातक है--वह जाति नहीं है। 'जाति' को स्वतन्त्रता दो; जाति की राह से प्रत्येक रोड़े को हटा दो, बस, हमारा उत्थान होगा। अब यूरोप को देखो। ज्यों ही वह जाति को पूर्ण स्वाधीनता देने में सफल हुआ, और अपनी अपनी जाति के गठन में प्रत्येक व्यक्ति की बाधाओं को हटा दिया, त्यों ही वह उठ खड़ा हुआ। अमेरिका में यथार्थ जाति के विकास के लिए सबसे अधिक सुविधा है, और इसीलिए अमेरिकावाले बड़े हैं। प्रत्येक हिन्दू जानता है कि किसी लड़के या लड़की के जन्म लेते ही ज्योतिषी लोग उसके जाति-निर्वाचन की चेष्टा करते हैं। वही असली जाति है--हर एक व्यक्ति का व्यक्तित्व, और ज्योतिष इसे स्वीकार करता है। और हम लोग केवल तभी उठ सकते हैं, जब इसे फिर से पूरी स्वतन्त्रता दें। याद रखें कि इस विविधता का अर्थ वैषम्य नहीं है, और न कोई विशेषाधिकार ही।

यही मेरी कार्य-प्रणाली है--हिन्दुओं को यह दिखा देना कि उन्हें कुछ भी त्यागना नहीं पड़ेगा, केवल उन्हें ऋषियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना होगा और सदियों की दासता के फलस्वरूप प्राप्त अपनी जड़ता को उखाड़ फेंकना होगा। हाँ, मुसलमानी अत्याचार के समय विवश होकर हमें अपनी प्रगति अवश्य रोक देनी पड़ी थी, क्योंकि तब प्रगति की बात नहीं थी, तब जीने-मरने की समस्या थी। अब वह दबाव नहीं रहा, अतः हमें आगे बढ़ना ही चाहिए--सर्वधर्म-त्यागियों और मिशनरियों द्वारा बताये गये तोड़-फोड़ के रास्ते से नहीं, वरन् स्वयं के अपने भाव के अनुसार, स्वयं अपने पथ से। हमारा जातीय प्रासाद अभी अधूरा

ही है, इसीलिए सब कुछ भद्दा दीख पड़ रहा है। सदियों के अत्याचार के कारण हमें प्रासाद-निर्माण का कार्य छोड़ देना पड़ा था। अब निर्माण-कार्य पूरा कर लीजिए, बस, सब कुछ अपनी अपनी जगह पर सजा हुआ सुन्दर दिखायी देगा। यही मेरी समस्त कार्य-योजना है। मैं इसका पूरा क़ायल हूँ। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक मुख्य प्रवाह रहता है: भारत में वह धर्म है। उसे प्रबल बनाइए, बस, दोनों ओर के अन्य स्रोत उसीके साथ साथ चलेंगे। यह मेरी विचार-प्रणाली का एक पहलू है। आशा है, समय पाकर मैं अपने सब विचारों को प्रकट कर सकूँगा। पर इस समय मैं देखता हूँ कि इस देश (अमेरिका) में भी मेरा एक मिशन है। विशेषत: मुझे इस देश से——और केवल यहीं से——सहायता पाने की आशा है: किन्तु अब तक अपने विचारों को फैलाने के सिवा मैं और कुछ न कर सका। अब मेरी इच्छा है कि भारत में भी एक ऐसी ही चेष्टा की जाय।

मैं कब तक भारत लौटूंगा, इसका मुझे पता नहीं। मैं प्रभु की प्रेरणा का दास हूँ; उन्हींके हाथ का यंत्र हूँ।

'इस संसार में धन की खोज में लगे हुए मैंने तुम्हींको सबसे श्रेष्ठ रत्न पाया। हे प्रभो, मैं अपने को तुम पर निछावर करता हूँ।'

'प्रेम करने लिए किसीको ढूंढ़ते हुए एकमात्र तुम्हींको मैंने प्रेमास्पद पाया। मैं अपने को तुम्हारे श्रीचरणों में निछावर करता हूँ।'[1]

प्रभु आपका सदा-सर्वदा कल्याण करें।

भवदीय,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

५४, पश्चिम, ३३वीं स्ट्रीट,
न्यूयार्क,
१ फ़रवरी १८९५

प्रिय बहन,

तुम्हारा सुन्दर पत्र मुझे अभी मिला। . . . कभी कभी काम के लिए काम करने को विवश हो जाना, यहाँ तक कि अपने परिश्रम के फल के भोग से वंचित भी रह जाना एक अच्छी साधना है। . . . तुम्हारे आक्षेप से मैं प्रसन्न हूँ और मुझे इसका ज़रा भी दु:ख नहीं। अभी उसी दिन श्रीमती थर्सबी के यहाँ एक प्रेसबिटेरियन सज्जन

---

१. यजुर्वेद संहिता।

के साथ गर्मागर्म बहस हो गयी थी। सामान्य रीति से उन सज्जन का पारा चढ़ गया और वे क्रोध में आकर दुर्वचन कहने लगे। परन्तु बाद में श्रीमती वुल ने मुझे बहुत झिड़का, क्योंकि इस प्रकार की बातें मेरे काम में बाधा डालती हैं। ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारा भी यही मत है।

मुझे प्रसन्नता है कि तुमने इसी समय इस प्रसंग को उठाया, क्योंकि मैं इस पर बहुत विचार करता रहा हूँ। पहली बात यह कि मुझे इन बातों का तनिक भी दुःख नहीं। कदाचित् तुम्हें इससे नाराज़ी होगी--होने की बात ही है। मैं जानता हूँ कि किसीकी भी सांसारिक उन्नति के लिए मधुरता कितना मूल्य रखती है। मैं मधुर बनने का भरसक प्रयत्न करता हूँ, परन्तु जब अन्तरस्थ सत्य के साथ विकट समझौता करने का अवसर आता है, तब मैं ठहर जाता हूँ। मैं दीनता में विश्वास नहीं रखता। मैं समदर्शित्व में विश्वास रखता हूँ--अर्थात् सबके लिए सम-भाव। अपने समाज रूप 'ईश्वर' की आज्ञा पालन करना साधारण मनुष्यों का धर्म है, लेकिन जो ज्ञान के आलोक से सम्पन्न हैं, वे ऐसा कभी नहीं करते। यह एक शाश्वत नियम है। एक व्यक्ति अपनी बाह्य परिस्थितियों एवं सामाजिक विचारों के अनुकूल अपने आपको ढाल लेता है, और समाज से, जो कि उसका सब प्रकार से कल्याण करनेवाला है, सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त कर लेता है। दूसरा एकाकी खड़ा रहता है और समाज को अपनी ओर खींच लेता है। समाज के अनुकूल रहनेवाले मनुष्य का मार्ग फूलों से आच्छादित रहता है, और प्रतिकूल रहनेवाले का काँटों से। परन्तु 'लोकमत' के उपासकों का एक क्षण में विनाश होता है और सत्य की सन्तान सदा जीवित रहती है।

सत्य की तुलना मैं एक अनन्त शक्तिवाले क्षयकर पदार्थ से करूँगा। वह जहाँ भी गिरता है, जलाकर अपना स्थान बना लेता है--यदि नरम वस्तु पर गिरे, तो तुरन्त, और अगर कठोर पाषाण हो, तो धीरे धीरे; परन्तु जलता वह अवश्य है। जो लिख गया, सो लिख गया। मुझे दुःख है बहन, कि मैं प्रत्येक सफ़ेद झूठ के प्रति मधुर और अनुकूल नहीं हो सकता। प्रयत्न करने पर भी मैं ऐसा नहीं कर सकता। इसके लिए मैंने आजीवन कष्ट उठाया है, परन्तु मैं वैसा नहीं कर सकता। मैंने प्रयत्न पर प्रयत्न किया है, पर ऐसा नही कर सका। अन्त में मैंने उसे छोड़ दिया। ईश्वर महिमामय है। वह मुझे कपटी नहीं बनने देता। अब जो मन में है, उसे सामने आ जाने दो। मैं ऐसा कोई मार्ग नहीं निकाल पाया, जिससे मैं सबको प्रसन्न रख सकूँ। मैं वहीं रहूँगा, जो मैं प्रकृत रूप से हूँ--अपनी अन्तरात्मा के प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार। 'सौन्दर्य और यौवन का नाश हो जाता है, जीवन और धन का नाश हो जाता है, नाम और यश का भी नाश हो जाता है, पर्वत भी

चूर चूर होकर मिट्टी हो जाते हैं, मित्रता और प्रेम भी नश्वर हैं, एकमात्र सत्य ही चिरस्थायी है। हे सत्यरूपी प्रभु, तुम्हीं मेरे एकमात्र पथप्रदर्शक बनो। मेरी उम्र बीत रही है, अब मैं केवल मीठा और केवल मीठा नहीं बना रह सकता। जैसा मैं हूँ, मुझे वैसा ही रहने दो। 'हे संन्यासी, निर्भर होकर तुम दूकानदारी वृत्ति छोड़ दो, शत्रु-मित्र में भेद न रखकर सत्य में दृढ़प्रतिष्ठ रहो और इसी क्षण से इहलोक, परलोक और भविष्य के सब लोकों का, उनके भोग एवं उनकी असारता का त्याग कर दो। हे सत्य, तुम्हीं मेरे एकमात्र पथप्रदर्शक बनो।' मुझे धन या नाम या यश या भोग की कोई कामना नहीं है। बहन, मेरे लिए वे धूलि के समान हैं। मैं अपने भाइयों की सहायता करना चाहता था। प्रभु की कृपा से मुझमें धनोपार्जन का चातुर्य नहीं है। हृदयस्थ सत्य की वाणी की आज्ञा पालन न कर मैं लोगों की सनक के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयत्न क्यों करूँ? मन अभी दुर्बल है बहन, और कभी कभी यंत्रवत् ही सांसारिक आधारों को पकड़ना चाहता है। परन्तु मैं डरता नहीं। मेरा धर्म सिखाता है कि भय ही सबसे बड़ा पाप है।

प्रेसबिटेरियन पादरी से पिछली झपट के बाद और फिर श्रीमती बुल से लम्बे झगड़े के पश्चात्, जो मनु ने संन्यासियों के लिए कहा है, "अकेले रहो और अकेले चलो", वह स्पष्ट हो गया। सब प्रकार की मित्रताएँ और प्रेम बन्धन हैं। ऐसी किसी प्रकार की भी मित्रता नहीं, विशेषतः स्त्रियों की, जिसमें 'मुझे दो, मुझे दो' का भाव न हो। हे महर्षियो! तुम ठीक ही कहते थे। जो किसी व्यक्तिविशेष के आसरे रहता है, वह उस सत्यरूपी प्रभु की सेवा नहीं कर सकता। शान्त हो मेरी आत्मा, निःसंग बनो! और परमात्मा तुम्हारे साथ रहेगा। जीवन मिथ्या है, मृत्यु भ्रम है! परमात्मा का ही अस्तित्व है, इन सबका नहीं! डरो नहीं मेरी आत्मा, निःसंग बनो। बहन, मार्ग लम्बा है, समय थोड़ा है, सन्ध्या हो रही है। मुझे शीघ्र ही घर जाना है। मुझे शिष्टाचार सीखने का समय नहीं है। मुझे अपना सन्देश देने का समय तो मिलता ही नहीं। तुम गुणवती हो, दयावती हो, मैं तुम्हारे लिए कुछ भी करने को तैयार हूँ; परन्तु अप्रसन्न न हो, मैं तुम सबको नितान्त बच्ची ही समझता हूँ।

स्वप्न न देखो! आह, मेरी आत्मा! स्वप्न न देखो! संक्षेप में मुझे एक संदेश देना है। मुझे संसार के प्रति मधुर बनने का समय नहीं है; और मधुर बनने का प्रत्येक यत्न मुझे कपटी बनाता है। चाहे स्वदेश हो या विदेश, इस मूर्ख संसार की प्रत्येक आवश्यकता पूरी करने की अपेक्षा तथा निम्नतम स्तर का असार जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मैं सहस्र बार मरना अधिक अच्छा समझता हूँ। यदि तुम श्रीमती बुल की तरह समझती हो कि मुझे कुछ कार्य करना है, तब यह

तुम्हारी भूल है, नितान्त भूल है। इस जगत् में या अन्य किसी जगत् में मेरे लिए कोई कार्य नहीं है। मेरे पास एक संदेश है, वह मैं अपने ढंग से ही दूंगा। मैं अपने संदेश को न हिन्दू धर्म, न ईसाई धर्म, न संसार के किसी और धर्म के साँचे में ढालूंगा, बस। मैं केवल उसे अपने ही साँचे में ढालूँगा। मुक्ति ही मेरा एकमात्र धर्म है और जो भी उसमें रुकावट डालेगा, उससे मैं लड़कर या भागकर बचूंगा। छिः! मैं और पादरियों को प्रसन्न करूँ! बहन, बुरा न मानना। तुम बच्ची हो और बच्चियों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। तुम लोगों को उस स्रोत का आस्वाद नहीं मिला, जो 'तर्क को तर्कशून्य, मर्त्य को अमर, संसार को शून्य और मनुष्य को ईश्वर बना देता है।' यदि तुम निकल सकती हो, तो इस मूर्खता के जाल से निकलो, जिसे संसार कहा जाता है। तभी मैं तुम्हें वास्तव में साहसी और मुक्त कह सकूँगा। यदि नहीं, तो जो इस झूठे ईश्वर अर्थात् समाज से भिड़ने का और उसके उद्दण्ड कपट को परों के नीचे कुचलने का साहस रखते हैं, उनको उत्साहित करो। यदि तुम उत्साह नहीं दिला सकतीं, तो चाहे मौन रहो, किन्तु उन्हें संसार से समझौता करने के, और मधुर और कोमल बनने के झूठे मिथ्यावाद के कीचड़ में फँसाने का प्रयत्न न करो।

यह संसार——यह स्वप्न——यह अति भयानक दुःस्वप्न——इसके देवालय और छल-कपट, इसके ग्रन्थ और लुच्चापन, इसके सुन्दर चेहरे और झूठे हृदय, इसके धर्म का बाहरी ढोंग और भीतर का अत्यन्त खोखलापन, और सबसे अधिक इसकी धर्म के नाम पर दूकानदार की सी वृत्ति——मुझे इससे सख्त नफ़रत है। क्या? संसार के हाथ बिके हुए दासों की कही-सुनी बातों से मेरी आत्मा का तोल होगा! छि.! बहन, तुम संन्यासी को नहीं जानतीं। मेरे वेद कहते हैं कि 'वह (संन्यासी) वेदशीर्ष है', क्योंकि वह देवालय, सम्प्रदाय, धर्ममत, पैगम्बर, ग्रन्थ और इनके समान सब वस्तुओं से मुक्त है। धर्मोपदेशक हों या और कोई, उन्हें चिल्लाने दो, मेरे ऊपर जिस प्रकार भी आक्रमण कर सकें, करने दो। मैं उन्हें वैसा ही समझता हूँ, जैसा भर्तृहरि ने कहा है, "हे संन्यासी! अपने रास्ते जाओ। कोई कहेगा, यह कौन पागल है? कोई कहेगा, यह कौन चाण्डाल है? कोई तुम्हें साधु जानेगा। संसारियों की बकवाद से योगी न तो रुष्ट होता है, न तुष्ट; वह सीधा अपने मार्ग से जाता है।"[1] परन्तु जब वे आक्रमण करें, तब यह जानो कि 'बाज़ार में हाथी के पीछे कुत्ते अवश्य लगते हैं, परन्तु वह उनकी चिन्ता नहीं करता। वह सीधा अपनी राह जाता है।

---

१. वैराग्यशतकम् ॥९६॥

इसी तरह से जब कोई महात्मा प्रकट होता है, तब उसके पीछे बकनेवाले बहुत लग जाते हैं।'[1]

मैं लैण्ड्सबर्ग के साथ ५४ पश्चिम, ३३वाँ रास्ता में रहता हूँ। यह वीर और उदार आत्मा है। परमात्मा उसका भला करे! कभी कभी मैं गर्नसी परिवार के घर सोने के लिए चला जाता हूँ। परमात्मा की तुम पर सदैव कृपा रहे और वह तुम्हें इस महा पाखड अर्थात् संसार से शीघ्र निकाले! यह संसाररूपी वृद्धा राक्षसी कभी तुम्हें मोहित न कर सके! शंकर तुम्हारे सहायक हों! उमा तुम्हारे लिए सत्य का द्वार खोल दें और तुम्हारे मोह को नष्ट कर दें!

प्रेम और आशीर्वादपूर्वक तुम्हारा
विवेकानन्द

(श्री जे० जे० गुडविन को लिखित)

स्विट्ज़रलैण्ड,
८ अगस्त, १८९६

प्रिय गुडविन,

मैं अब विश्राम कर रहा हूँ। भिन्न भिन्न पत्रों से मुझे कृपानन्द के विषय में बहुत कुछ मालूम होता रहता है। मुझे उसके लिए दुःख है। उसके मस्तिष्क में अवश्य कुछ दोष होगा। उसे अकेला छोड़ दो। तुममें से किसीको भी उसके लिए परेशान होने की आवश्यकता नहीं।

मुझे आघात पहुँचाने की देव या दानव, किसीमें भी शक्ति नहीं है। इसलिए निश्चिन्त रहो। अचल प्रेम और पूर्ण निःस्वार्थ भाव की ही सर्वत्र विजय होती है। प्रत्येक कठिनाई के आने पर हम वेदान्तियों को स्वतः यह प्रश्न करना चाहिए, 'मैं इसे क्यों देखता हूँ?' 'प्रेम से मैं क्यों नहीं इस पर विजय पा सकता हूँ?'

स्वामी का जो स्वागत किया गया, उससे मैं अति प्रसन्न हूँ और वे जो अच्छा कार्य कर रहे हैं, उससे भी। बड़े काम में बहुत समय तक लगातार और महान् प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यदि थोड़े से व्यक्ति असफल भी हो जायँ, तो भी उसकी चिन्ता हमें नहीं करनी चाहिए। संसार का यह नियम ही है कि अनेक नीचे गिरते हैं, कितने ही दुःख आते हैं, कितनी ही भयंकर कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होती हैं, स्वार्थपरता तथा अन्य बुराइयों का मानव हृदय में घोर संघर्ष होता है। और तभी आध्यात्मिकता की अग्नि में इन सभी का विनाश होनेवाला

---

१. तुलसीदास।

होता है। इस जगत् में श्रेय का मार्ग सबसे दुर्गम और पथरीला है। आश्चर्य की बात है कि इतने लोग सफलता प्राप्त करते हैं, कितने लोग असफल होते हैं, यह आश्चर्य नहीं। सहस्रों ठोकर खाकर चरित्र का गठन होता है।

मुझे अब बहुत ताज़गी मालूम होती है। मैं खिड़की से बाहर दृष्टि डालता हूँ, मुझे बड़ी बड़ी हिम-नदियाँ दिखती हैं और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं हिमालय में हूँ। मैं बिल्कुल शान्त हूँ। मेरे स्नायुओं ने अपनी पुरानी शक्ति पुनः प्राप्त कर ली है, और छोटी छोटी परेशानियाँ, जिस तरह की परेशानियों का तुमने जिक्र किया है, मुझे स्पर्श भी नहीं करतीं। मैं बच्चों के इस खेल से कैसे विचलित हो सकता हूँ? सारा संसार बच्चों का खेल मात्र है—प्रचार करना, शिक्षा देना तथा सभी कुछ। **ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति**—'उसे संन्यासी समझो, जो न द्वेष करता है, न इच्छा करता है।' और इस संसार की छोटी सी कीचड़भरी तलैया में, जहाँ दुःख, रोग तथा मृत्यु का चक्र निरन्तर चलता रहता है, क्या है, जिसकी इच्छा की जा सके? 'जिसने सब इच्छाओं को त्याग दिया है, वही सुखी है।'

यह विश्राम—नित्य और शान्तिमय विश्राम—इस रमणीक स्थान में अब उसकी झलक मुझे मिल रही है। **आत्मानं चेद् विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंजरेत्।**—'एक बार यह जानकर कि इस आत्मा का ही केवल अस्तित्व है और किसीका नहीं, किस चीज़ की या किसके लिए इच्छा करके तुम इस शरीर के लिए दुःख उठाओगे?'

मुझे ऐसा विदित होता है कि जिसको वे लोग 'कर्म' कहते हैं, उसका मैं अपने हिस्से का अनुभव कर चुका हूँ। मैं भर पाया, अब निकलने की मुझे उत्कट अभिलाषा है। **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।**—'सहस्रों मनुष्यों में कोई एक लक्ष्य को प्राप्त करने का यत्न करता है। और यत्न करनेवाले उद्योगी पुरुषों में थोड़े ही ध्येय तक पहुँचते हैं। **इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।**—'क्योंकि इन्द्रियाँ बलवती हैं और वे मनुष्य को नीचे की ओर खींचती हैं।'

'साधु संसार', 'सुखी संसार' और 'सामाजिक उन्नति', ये सब 'उष्ण बरफ़' अथवा 'अन्धकारमय प्रकाश' के समान ही हैं। यदि संसार साधु होता, तो यह संसार ही न होता। जीव मूर्खतावश असीम अनन्त को सीमित भौतिक पदार्थ द्वारा, चैतन्य को जड़ द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है, परन्तु अन्त में अपने भ्रम को समझकर वह उससे छुटकारा पाने की चेष्टा करता है। यह निवृत्ति ही धर्म का प्रारम्भ है और उसका उपाय है, ममत्व का नाश अर्थात् प्रेम। स्त्री, सन्तान

या किसी अन्य व्यक्ति के लिए प्रेम नहीं, परन्तु छोटे से अपने ममत्व को छोड़कर, सबके लिए प्रेम। वह 'मानवी उन्नति' और इसके समान जो लम्बी-चौड़ी बातें तुम अमेरिका में बहुत सुनोगे, उसके भुलावे में मत आना। सभी क्षेत्रों में 'उन्नति' नहीं हो सकती, उसके साथ साथ कहीं न कहीं अवनति हो रही होगी। एक समाज में एक प्रकार के दोष हैं, तो दूसरे में दूसरे प्रकार के। यही बात इतिहास के विशिष्ट कालों की भी है। मध्य युग में चोर-डाकू अधिक थे, अब छल-कपट करनेवाले अधिक हैं। एक विशिष्ट काल में वैवाहिक जीवन का सिद्धान्त कम है, तो दूसरे में वेश्यावृत्ति अधिक। एक में शारीरिक कष्ट अधिक है, तो दूसरे में उससे सहस्र गुनी अधिक मानसिक यातनाएँ। इसी प्रकार ज्ञान की भी स्थिति है। क्या प्रकृति में गुरुत्वाकर्षण का निरीक्षण और नाम रखने से पहले उसका अस्तित्व ही न था? फिर उसके जानने से क्या अन्तर पड़ा? क्या तुम रेड इन्डियनों (उत्तर अमेरिका के आदिवासियों) से अधिक सुखी हो?

यह सब व्यर्थ है, निरर्थक है—इसे यथार्थ रूप में जानना ही ज्ञान है। परन्तु थोड़े, बहुत थोड़े ही कभी इसे जान पायेंगे। **तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ**—उस एक आत्मा को ही जानो और सब बातों को छोड़ दो। इस संसार में ठोकरें खाने से इस एक ज्ञान की ही हमें प्राप्ति होती है। मनुष्य जाति को इस प्रकार पुकारना कि **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**—'जागो, उठो, और ध्येय की उपलब्धि के बिना रुको नहीं।' यही एकमात्र कर्म है। त्याग ही धर्म का सार है, और कुछ नहीं।

ईश्वर व्यक्तियों की एक समष्टि है। फिर भी वह स्वयं एक व्यक्ति है, उसी प्रकार जिस प्रकार मानवी शरीर एक इकाई है और उसका प्रत्येक 'कोश' एक व्यक्ति है। समष्टि ही ईश्वर है, व्यष्टि या अंश आत्मा या जीव है। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व जीव पर निर्भर है, जैसे कि शरीर का उसके कोश पर, इसी प्रकार इसका विलोम समझिए। इस प्रकार, जीव और ईश्वर परस्परावलम्बी हैं। जब तक एक का अस्तित्व है, तब तक दूसरे का भी रहेगा। और हमारी इस पृथ्वी को छोड़कर अन्य सब ऊँचे लोकों में शुभ की मात्रा अशुभ से अत्यधिक होती है, इसलिए वह समष्टिस्वरूप ईश्वर, शिवस्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ कहा जा सकता है। ये प्रत्यक्ष गुण हैं और ईश्वर से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें प्रमाणित करने के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं।

ब्रह्म इन दोनों से परे है और वह कोई विशिष्ट अवस्था नहीं है। यह एक ऐसी इकाई है, जो अनेक की समष्टि से नहीं बनी। यह एक ऐसी सत्ता है, जो कोश से लेकर ईश्वर तक सबमें व्याप्त है और उसके बिना किसीका अस्तित्व

नहीं हो सकता। वही सत्ता अथवा ब्रह्म वास्तविक है। जब मैं सोचता हूँ, 'मैं ब्रह्म हूँ', तब मेरा ही यथार्थ अस्तित्व होता है। ऐसा ही सबके बारे में है। विश्व की प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः वही सत्ता है।...

कुछ दिन हुए, कृपानन्द को लिखने की मुझे अकस्मात् प्रबल इच्छा हुई। शायद वह दुःखी था और मुझे याद करता रहा होगा। इसलिए मैंने उसे सहानुभूतिपूर्ण पत्र लिखा। आज अमेरिका से ख़बर मिलने पर मेरी समझ में आया कि ऐसा क्यों हुआ। हिम-नदियों के पास से तोड़े हुए पुष्प मैंने उसे भेजे। कुमारी वाल्डो से कहना कि अपना आन्तरिक स्नेह प्रदर्शित करते हुए उसे कुछ धन भेज दें। प्रेम का कभी नाश नहीं होता। पिता का प्रेम अमर है, सन्तान चाहे जो करे या जैसे भी हों। वह मेरा पुत्र जैसा है। अब वह दुःख में है, इसलिए वह समान या अपने भाग से अधिक मेरे प्रेम तथा सहायता का अधिकारी है।

शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

(श्री० ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

१९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
९ अगस्त, १८९५

प्रिय मित्र,

...केवल यही उचित है कि मैं अपने कुछ विचार तुम्हारे सामने प्रकट करूँ। मैं पूर्ण विश्वास करता हूँ कि मानव-समाज में धर्म में सामयिक उथल-पुथल होती है और शिक्षित समाज में आजकल ऐसी ही खलबली फैली हुई है। यद्यपि ऐसी क्रांति अनेक छोटे छोटे विभागों में विभक्त दिखायी देती है, परन्तु मूलतः ये सब एक ही हैं, क्योंकि उनके पीछे जो कारण हैं, उनके रूप भी एक ही हैं। वह धार्मिक क्रान्ति, जिससे इस समय विचारवान व्यक्ति दिन-प्रति-दिन अत्यधिक मात्रा में प्रभावित होते जा रहे हैं—उसका एक वैशिष्ट्य यह है कि उससे जितने क्षुद्र क्षुद्र मतवाद उत्पन्न हो रहे हैं, वे सब उसी एक अद्वैत सत्ता की अनुभूति एवं अनुसन्धान में ही सचेष्ट हैं। भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्तरों पर यह एक भाव दिखायी दे रहा है कि विभिन्न मतवाद-समूह क्रमशः अधिकाधिक उदार होते हुए उसी शाश्वत एकत्व की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस कारण वर्तमान काल के सभी आन्दोलन जान या अनजान में सर्वोत्तम आविष्कृत एकत्ववादी दर्शन के अर्थात् अद्वैत वेदान्त के प्रतिरूप हैं।

फिर यह भी सर्वदा देखा गया है कि प्रत्येक युग में इन समस्त विभिन्न मतवादों के संघर्ष के फलस्वरूप अंत में एक ही मतवाद जीवित रहता है। अन्य सब तरंगें उसी मतवाद में विलीन होने के लिए एवं उसे एक बृहद् भाव-तरंग में परिणत करने के लिए ही उठती हैं, जो समाज को अप्रतिहत वेग के साथ प्लावित कर देता है।

इस समय भारत, अमेरिका एवं इंग्लैण्ड में (जिन देशों का हाल मैं जानता हूँ) सैकड़ों ऐसे मतवादों का संघर्ष चल रहा है। भारत में द्वैतवाद क्रमशः क्षीण हो रहा है, केवल अद्वैतवाद ही सब क्षेत्रों में प्रभावशाली है। अमेरिका में प्राधान्य-लाभ के लिए अनेक मतवादों के बीच संघर्ष उपस्थित हुआ है। ये सभी अल्प या अधिक मात्रा में अद्वैत भाव के प्रतिरूप हैं, और जो भाव-परम्परा जितनी अधिक तीव्र गति से फैल रही है, वह उतनी ही मात्रा में अन्य भावों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के अधिक निकट प्रतीत होती है। अब मुझे यदि कुछ स्पष्ट दिखायी देता है, तो वह यह कि इनमें से एक ही भाव-परम्परा जीवित रहेगी, जो सबको निगलकर भविष्य में शक्तिमान होगी। किन्तु वह कौन सी भाव-प्रणाली होगी?

यदि हम इतिहास को देखें, तो विदित होगा कि जो विचारधारा सर्वश्रेष्ठ होगी, वही जीवित रहेगी; और चरित्र की अपेक्षा अन्य ऐसी कौन सी शक्ति है, जो जीने की योग्यता प्रदान कर सकती है? विचारशील मनुष्य-जाति का भावी धर्म अद्वैत ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। और सब सम्प्रदायों में उन्हींकी विजय होगी, जो अपने जीवन में सबसे अधिक चरित्र का उत्कर्ष दिखा सकेंगे—चाहे वे सम्प्रदाय कितने ही दूर भविष्य में क्यों न जन्म लें।

एक मेरी निजी अनुभव की बात सुनो। जब मेरे गुरुदेव ने शरीर त्यागा था, तब हम लोग बारह निर्धन और अज्ञात नवयुवक थे। हमारे विरुद्ध अनेक शक्तिशाली संस्थाएँ थीं, जो हमारी सफलता के शैशवकाल में ही हमें नष्ट करने का भरसक प्रयत्न कर रही थीं। परन्तु श्री रामकृष्ण देव ने हमें एक बड़ा दान दिया था—वह यह कि केवल बातें ही न कर यथार्थ जीवन जीने की इच्छा, आजीवन उद्योग और विरामहीन साधना के लिए अनुप्रेरणा। और आज सारा भारत मेरे गुरुदेव को जानता है और पूज्य मानता है और वे सत्य-समूह, जिनकी उन्होंने शिक्षा दी थी, अब दावानल के समान फैल रहे हैं। दस वर्ष पूर्व, उनका जन्मोत्सव मनाने के लिए मैं सौ मनुष्यों को भी इकट्ठा नहीं कर सकता था और पिछले वर्ष पचास सहस्र थे।

न संख्या-शक्ति, न धन, न पाण्डित्य, न वाक्चातुर्य, कुछ भी नहीं, बल्कि पवित्रता, शुद्ध जीवन, एक शब्द में अनुभूति, आत्म-साक्षात्कार को विजय मिलेगी!

प्रत्येक देश में सिंह जैसी शक्तिमान दस-बारह आत्माएँ होने दो, जिन्होंने अपने बन्धन तोड़ डाले हैं, जिन्होंने 'अनन्त' का स्पर्श कर लिया है, जिनका चित्त ब्रह्मानुसन्धान में लीन है, जो न धन की चिन्ता करते हैं, न बल की, न नाम की--और ये व्यक्ति ही संसार को हिला डालने के लिए पर्याप्त होंगे।

यही रहस्य है। योगप्रवर्तक पतंजलि कहते हैं, "जब मनुष्य समस्त अलौकिक दैवी शक्तियों के लोभ का त्याग करता है, तभी उसे धर्ममेघ नामक समाधि प्राप्त होती है।"[1] वह परमात्मा का दर्शन करता है, वह परमात्मा बन जाता है और दूसरों को तद्रूप बनने में सहायता करता है। मुझे इसीका प्रचार करना है। जगत् में अनेक मतवादों का प्रचार हो चुका है। लाखों पुस्तकें हैं, परन्तु हाय! कोई भी किंचित् अंश में प्रत्यक्ष आचरण नहीं करता।

सभाएँ और संस्थाएँ अपने आप उत्पन्न हो जायँगी। क्या वहाँ ईर्ष्या हो सकती है, जहाँ ईर्ष्या करने की कोई वस्तु न हो? जो हमें हानि पहुँचाना चाहेंगे, ऐसे लोग असंख्य होंगे। परन्तु हमारे ही पक्ष में सत्य है, इसका क्या यह निश्चित प्रमाण नहीं है? जितना ही मेरा विरोध हुआ है, उतनी ही मेरी शक्ति का विकास हुआ है। राजाओं ने मुझे अनेक बार निमंत्रित किया और पूजा है। पुरोहितों और जनसाधारण ने मेरी निन्दा की है। परन्तु इससे क्या? सबको आशीर्वाद! वे सब तो मेरी स्वयं आत्मा हैं और क्या उन्होंने कमानीदार पटरे (Spring-board) के समान मेरी सहायता नहीं की, जहाँ से उछलकर मेरी शक्ति अधिकाधिक विकास कर सकी है?

...एक महान् रहस्य का मैंने पता लगा लिया है--वह यह कि केवल धर्म की बातें करनेवालों से मुझे कुछ भय नहीं है। और जो सत्यद्रष्टा महात्मा हैं, वे कभी किसीसे वैर नहीं करते। वाचालों को वाचाल होने दो! वे इससे अधिक और कुछ नहीं जानते! उन्हें नाम, यश, धन, स्त्री से सन्तोष प्राप्त करने दो। और हम धर्मोपलब्धि, ब्रह्मलाभ एवं ब्रह्म होने के लिए ही दृढ़व्रत होंगे। हम आमरण एवं जन्म-जन्मान्तर में सत्य का ही सतत अनुसरण करेंगे। दूसरों के कहने पर हम तनिक भी ध्यान न दें और यदि आजन्म यत्न के बाद एक, केवल एक ही आत्मा संसार के बन्धनों को तोड़कर मुक्त हो सके, 'तो हमने अपना काम कर लिया।' हरि ॐ!

---

१. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

. . .एक बात और। निस्संदेह मुझे भारत से प्रेम है। परन्तु दिन-प्रतिदिन मेरी दृष्टि स्पष्टतर होती जा रही है। हमारे लिए भारत या इंग्लैण्ड या अमेरिका क्या है ? हम उस प्रभु के दास हैं, जिसे अज्ञानी कहते हैं 'मनुष्य'। जो जड़ में पानी डालता है, वह क्या पूरे वृक्ष को नहीं सींचता ?

सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक कल्याण की एक ही नींव है—और वह यह जानना कि 'मैं और मेरा भाई एक हैं।' यह सब देशों और सब जातियों के लिए सत्य है। और मैं यह कह सकता हूँ कि पश्चिमी लोग पूर्वीयों से शीघ्र इसका अनुभव करेंगे—वे पूर्वीय जन, जिन्होंने इस नींव के निर्माण में तथा कुछ थोड़े से अनुभूतिसम्पन्न व्यक्तियों को उत्पन्न करने में प्रायः अपनी सारी शक्ति व्यय कर दी है।

आओ, हम नाम, यश और दूसरों पर शासन करने की इच्छा से रहित होकर काम करें। काम, क्रोध एवं लोभ—इस त्रिविध बन्धन से हम मुक्त हो जायँ। और फिर सत्य हमारे साथ रहेगा।

भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका,
अगस्त, १८९५

प्रिय आलासिंगा,

तुम्हारे पास इस पत्र के पहुँचने से पहले ही मैं पेरिस पहुँच जाऊँगा। . . . इसलिए कलकत्ता तथा खेतड़ी में यह लिख देना कि इस समय वे अमेरिका के पते पर मुझे कोई पत्र न डालें। अगले जाड़े में ही फ़िर मुझे न्यूयार्क वापस आना है। अतः कोई विशेष आवश्यक विषय हो, तो १९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता, न्यूयार्क—इस पते पर मुझे सूचित करना। इस वर्ष मैंने बहुत कुछ कार्य किया है तथा आशा है कि अगले वर्ष और भी कार्य कर सकूँगा। मिशनरियों के विषय को लेकर माथापच्ची न करना। उनका चिल्लाना अत्यन्त स्वाभाविक है। जब किसीकी रोटी छीन ली जाती है, तो कौन नहीं चिल्लाता ? गत दो वर्षों में उनकी पूंजी में काफी अन्तर पड़ चुका है और क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। अस्तु, मैं मिशनरियों की पूर्ण सफलता चाहता हूँ। बच्चो, जब तक तुम लोगों को भगवान् तथा गुरु में, भक्ति तथा सत्य में विश्वास रहेगा, तब तक [illegible] भी तुम्हें [illegible] नहीं पहुँचा सकता। किन्तु इनमें से एक के भी नष्ट हो जाने पर परिणाम विपत्तिजनक है।

तुम्हारा यह कहना ठीक है कि भारत की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में मेरे भाव अधिक मात्रा में कार्य में परिणत होते जा रहे हैं। . . . वास्तव में भारत ने मेरे लिए जो कुछ किया है, उससे कहीं अधिक मैंने भारत के लिए किया है। वहाँ तो मुझे रोटी के एक टुकड़े के साथ डलाभरी गालियाँ मिली हैं। सत्य में मेरा विश्वास है, चाहे मैं कहीं भी क्यों न जाऊँ, प्रभु मेरे लिए काम करनेवाले के दल के दल भेज देते हैं। वे लोग भारतीय शिष्यों की तरह नहीं हैं, अपने गुरु के लिए दे प्राणों तक की बाज़ी लगा देने को प्रस्तुत हैं। सत्य ही मेरा ईश्वर है तथा समग्र विश्व मेरा देश है। 'कर्तव्य' में मैं विश्वासी नहीं हूँ, कर्तव्य तो संसारियों के लिए एक अभिशाप है, संन्यासियों का कोई कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य तो एक व्यर्थ की बकवास है। मैं मुक्त हूँ——मेरे सारे बन्धन कट चुके हैं। यह शरीर कहीं भी रहे या न रहे, इसकी मुझे क्या परवाह ! तुम लोगों ने बराबर मेरी ठीक ठीक सहायता की है——प्रभु तुम्हें इसका पुरस्कार अवश्य देंगे। मैंने भारत या अमेरिका में कभी अपनी प्रशंसा नहीं चाही और न मैं ऐसी खोखली चीज़ों के लिए अब भी लालायित हूँ। मैं भगवान् की सन्तान हूँ और मुझे सत्य की शिक्षा देनी है। जिसने मुझे इस सत्य की प्राप्ति करायी है, वही मेरे लिए पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ तथा शक्तिशाली सहायक भेजेगा। पाश्चात्य देश में प्रभु क्या करना चाहते हैं, यह तुम हिन्दुओं को कुछ ही वर्षों में देखने को मिलेगा। तुम लोग प्राचीन काल के यहूदियों जैसे हो, और तुम्हारी स्थिति नाँद में लेटे हुए कुत्ते की तरह है, जो न खुद खाता है और न दूसरों को ही खाने देना चाहता है। तुम लोगों में किसी प्रकार की धार्मिक भावना नहीं है, रसोई ही तुम्हारा ईश्वर है तथा हँड़िया-बरतन हैं तुम्हारे शास्त्र। अपनी तरह असंख्य सन्तानोत्पादन में ही तुम्हारी शक्ति का परिचय मिलता है। तुममें से कुछ एक बालक साहसी अवश्य हों——किन्तु कभी कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम भी अविश्वासी बनते जा रहे हो। बालको, दृढ़ बने रहो, मेरी सन्तानों में से कोई भी कायर न बने। तुम लोगों में जो सबसे अधिक साहसी है——सदा उसीका साथ करो। बिना विघ्न-बाधाओं के क्या कभी कोई महान् कार्य हो सकता है ? समय, धैर्य तथा अदम्य इच्छा-शक्ति से ही कार्य हुआ करता है। मैं तुम लोगों को ऐसी बहुत सी बातें बतलाता, जिससे तुम्हारे हृदय उछल पड़ते, किन्तु मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं तो लोहे के सदृश दृढ़ इच्छा-शक्तिसम्पन्न हृदय चाहता हूँ, जो कभी कम्पित न हो। दृढ़ता के साथ लगे रहो, प्रभु तुम्हें आशीर्वाद दे। सदा शुभकामनाओं के साथ,

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(फ़्रैन्सिस लेगेट को लिखित)

६३, सेण्ट जार्जेस रोड, लन्दन,
६ जुलाई, १८९६

प्रिय फ़्रैन्सिस,

. . .अटलान्तिक महासागर के इस पार मेरा कार्य बहुत अच्छी रीति से चल रहा है।

मेरी रविवार की वक्तृताएँ बहुत सफल हुई और उसी तरह कक्षाएँ भी। क़ाम का मौसम खत्म हो चुका है और मैं भी बेहद थक चुका हूँ। अब मैं कुमारी मूलर के साथ स्विट्ज़रलैण्ड के भ्रमण के लिए जा रहा हूँ। गाल्सवर्दी परिवार ने मेरे साथ बड़ा सदय व्यवहार किया है। जो[1] ने बड़ी चतुरता से उन्हें मेरी तरफ़ आकृष्ट किया। उनकी चतुरता और शान्तिपूर्ण कार्य-शैली की मैं मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता हूँ। वे एक राजनीतिज्ञ कुशल महिला कही जा सकती हैं। वे एक राज चला सकती हैं। मनुष्य में ऐसी प्रखर, साथ ही अच्छी सहज-बुद्धि मैंने बिरले ही देखी है। अगली शरद् ऋतु में मैं अमेरिका लौटूंगा और वहाँ का कार्य फिर आरम्भ करूँगा।

परसों रात को मैं श्रीमती मार्टिन के यहाँ एक पार्टी में गया था, जिनके सम्बन्ध में तुमने अवश्य ही 'जो' से बहुत कुछ सुना होगा।

इंग्लैण्ड में यह कार्य चुपचाप, पर निश्चित रूप से बढ़ रहा है। यहाँ प्रायः हर दूसरे पुरुष अथवा स्त्री ने मेरे पास आकर मेरे कार्य के सम्बन्ध में बातचीत की। ब्रिटिश साम्राज्य के कितने ही दोष क्यों न हों, पर भाव-प्रचार की ऐसी उत्कृष्ट मशीन अब तक कहीं नहीं रही है। मैं इस मशीन के केन्द्रस्थल में अपने विचार रख देना चाहता हूँ, और वे सारी दुनिया में फैल जायँगे। यह सच है कि सभी बड़े काम बहुत धीरे धीरे होते हैं, और उनकी राह में असंख्य विघ्न उपस्थित होते हैं, विशेषकर इसलिए कि हम हिन्दू पराधीन जाति हैं। परन्तु इसी कारण हमें सफलता अवश्य मिलेगी, क्योंकि आध्यात्मिक आदर्श सदा पददलित जातियों में से ही पैदा हुए हैं। यहूदी अपने आध्यात्मिक आदर्शों से रोम साम्राज्य पर छा गये थे। तुम्हें यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि मैं भी दिनोंदिन धैर्य, और विशेषकर सहानुभूति के सबक़ सीख रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि शक्तिशाली ऐंग्लो इण्डियनों तक के भीतर मैं परमात्मा को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। मेरा विचार है कि मैं धीरे

---

१. कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड।

धीरे उस अवस्था की ओर बढ़ रहा हूँ, जहाँ खुद 'शैतान' को भी, अगर वह हो, तो मैं प्यार कर सकूंगा !

बीस वर्ष की अवस्था में मैं अत्यन्त असहिष्णु और कट्टर था। कलकत्ते में सड़कों के जिस किनारे पर थियेटर हैं, मैं उस ओर के पैदल-मार्ग से ही नहीं चलता था। अब तैंतीस वर्ष की उम्र में मैं वेश्याओं के साथ एक ही मकान में ठहर सकता हूँ और उनसे तिरस्कार का एक शब्द कहने का विचार भी मेरे मन में नहीं आयेगा। क्या यह अधोगति है ? अथवा मेरा हृदय विस्तृत होता हुआ मुझे उस विश्वव्यापी प्रेम की ओर ले जा रहा है, जो साक्षात् भगवान् है ? लोग कहते हैं कि वह मनुष्य, जो अपने चारों ओर होनेवाली बुराइयों को नहीं देख पाता, अच्छा काम नहीं कर सकता, उसकी परिणति एक तरह के भाग्यवाद में होती है। मैं तो ऐसा नहीं देखता। वरन् मेरी कार्य करने की शक्ति अत्यधिक बढ़ रही है और अत्यधिक प्रभावशील भी होती जा रही है। कभी कभी मुझे एक प्रकार का दिव्य भावावेश होता है। ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं प्रत्येक प्राणी और वस्तु को आशीर्वाद दूं—प्रत्येक से प्रेम करूँ और गले लगा लूं और मैं यह भी देखता हूँ कि बुराई एक भ्रान्ति मात्र है। प्रिय फ़्रैन्सिस, इस समय मैं ऐसी ही अवस्था में हूँ और अपने प्रति तुम्हारे तथा श्रीमती लेगेट के प्रेम और सहानुभूति का स्मरण कर मैं सचमुच आनन्द के आँसू बहा रहा हूँ। मैं जिस दिन पैदा हुआ था, उस दिन को धन्यवाद देता हूँ। यहाँ पर मुझे कितनी सहानुभूति, कितना प्रेम मिला है ! और जिस अनन्त प्रेमस्वरूप भगवान् ने मुझे जन्म दिया है, उसने मेरे हर एक भले और बुरे (बुरे शब्द से डरो मत) काम पर दृष्टि रखी है—क्योंकि मैं उसीके हाथ के एक औज़ार के सिवा और हूँ ही क्या, और रहा ही क्या ? उसीकी सेवा के लिए मैंने अपना सब कुछ—अपने प्रियजनों को, अपना सुख, अपना जीवन—त्याग दिया है। वह मेरा लीलामय प्रियतम है और मैं उसकी लीला का साथी हूँ। इस विश्व में कोई युक्ति-परिपाटी नहीं है। ईश्वर पर भला किस युक्ति का वश चलेगा ? वह लीलामय इस नाटक की समस्त भूमिकाओं पर हास्य और रुदन का अभिनय कर रहा है। जैसा 'जो' कहती हैं—अजब तमाशा है ! अजब तमाशा है !

यह दुनिया बड़े मज़े की जगह है, और सबसे मज़ेदार है—वह असीम प्रियतम ! क्या यह तमाशा नहीं है ? सब एक दूसरे के भाई हों या खेल के साथी, पर वास्तव में हैं ये मानो पाठशाला के हल्ला मचानेवाले बच्चे, जो कि इस संसाररूपी मैदान में खेल-कूद करने के लिए छोड़ दिये गये हैं। यही है न ? किसकी तारीफ़ करूँ और किसे बुरा कहूँ—सब तो उसीका खेल है। लोग इसकी व्याख्या चाहते हैं। पर ईश्वर की व्याख्या तुम कैसे करोगे ? वह मस्तिष्कहीन है, उसके पास युक्ति भी

नहीं है। वह छोटे मस्तिष्क तथा सीमित तर्क-शक्तिवाले हम लोगों को मूर्ख बना रहा है, पर इस बार वह मुझे ऊँघता नहीं पा सकेगा।

मैंने दो-एक बातें सीखी हैं: प्रेम और प्रियतम——तर्क, पाण्डित्य और वागाडम्बर के परे, बहुत परे। ऐ साक़ी, प्याला भर दे और हम पीकर मस्त हो जायँ।

तुम्हारा ही प्रेमोन्मत्त,
विवेकानन्द

(श्रीमती सरला घोषाल को लिखित)

दार्जिलिंग,
द्वारा श्री एम० एन० बनर्जी,
२४ अप्रैल, १८९७

महाशया,

आपने मेरी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में जो पूछा है, उस विषय में सबसे आवश्यक बात यह कहनी है कि काम उसी पैमाने पर शुरू करना चाहिए, जो अपेक्षित परिणामों के अनुरूप हो। अपनी मित्र कुमारी मूलर के मुँह से आपकी उदार बुद्धि, स्वदेश-प्रेम और दृढ़ अध्यवसाय की बहुत सी बातें मैं सुन चुका हूँ और आपकी विद्वत्ता का प्रमाण तो प्रत्यक्ष ही है। आप मेरे क्षुद्र जीवन की नगण्य चेष्टा के विषय में जानना चाहती हैं, मैं इसको अपना बहुत बड़ा सौभाग्य मानकर इस छोटे से पत्र में यथासम्भव निवेदन करने का प्रयत्न करूँगा। परन्तु पहले मैं आपके विचार-चिन्तन के लिए अपनी परिपक्व मान्यताओं को आपके सम्मुख रखता हूँ।

हम लोग सदा पराधीन रहे हैं, अर्थात् इस भारतभूमि में जनसमुदाय को कभी भी अपनी आत्म-स्वत्व बुद्धि को उद्दीप्त करने का मौक़ा नहीं दिया गया। पश्चिमी देश आज कई सदियों से स्वाधीनता की ओर बड़े वेग से बढ़ रहे हैं। इस भारत में कौलीन्य-प्रथा से लेकर खान-पान तक सभी विषय राजा ही निपटाते आये हैं। परन्तु पश्चिमी देशों में सभी कार्य जनता अपने आप करती है।

अब राजा किसी सामाजिक विषय में हाथ नहीं डालते, तो भी भारतीय जनता में अब तक आत्म-निर्भरता तो दूर रही, थोड़ा सा आत्मविश्वास भी पैदा नहीं हुआ। जो आत्मविश्वास वेदान्त की नींव है, वह किंचित् भी यहाँ व्यवहार में परिणत नहीं हुआ है। इसीलिए पश्चिमी प्रणाली——अर्थात् पहले उद्देश्य की चर्चा, और तब तमाम शक्तियों के साथ उसे पूरा करना——इस देश में अभी तक सफल नहीं हुई है और इसीलिए हम विदेशी शासन के अधीन इतने अधिक स्थितिशील (conservative) दिखायी पड़ते हैं। यदि यह सत्य हो, तो जनता में चर्चा या

सार्वजनिक वाद-विवाद के द्वारा किसी बड़े काम को सिद्ध करने की चेष्टा करना वृथा है। 'जब सिर ही नहीं, तो सिर में दर्द कैसा?' जनता कहाँ है? इसके सिवा हम ऐसे शक्तिहीन हैं कि यदि हम किसी विषय की चर्चा शुरू करते हैं, तो उसीमें हमारा सारा बल लग जाता है और कोई काम करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। शायद इसीलिए हम बंगाल में 'बड़ी बड़ी तैयारियाँ और छोटा सा फल' सदा देखा करते हैं। दूसरी बात, जैसा मैं पहले ही लिख चुका हूँ, यह है कि भारतवर्ष के धनिकों से हमें कुछ भी आशा नहीं है। इसलिए उत्तम यही है कि हम भविष्य की आशारूप अपने युवकों के बीच धैर्यपूर्वक, दृढ़ता से चुपचाप काम करें।

अब कार्य के विषय में कहता हूँ: वर्तमान सभ्यता—जैसे कि पश्चिमी देशों की है—और प्राचीन सभ्यता—जैसे कि भारत, मिस्र और रोम आदि देशों की रही है—इनके बीच अन्तर उसी दिन से शुरू हुआ, जब से शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे धीरे नीच जातियों में फैलने लगी। मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि जिस जाति की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह जाति उतनी ही उन्नत है। भारत के सत्यानाश का मुख्य कारण यही है कि देश की सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि, राज-शासन और दम्भ के बल से मुट्ठी भर लोगों के एकाधिकार में रखी गयी है। यदि हमें फिर से उन्नति करनी है, तो हमको उसी मार्ग पर चलना होगा, अर्थात् जनता में विद्या का प्रसार करना होगा। आधी सदी से समाज-सुधार की धूम मच रही है। मैंने दस वर्षों तक भारत के विभिन्न स्थानों में घूमकर देखा कि देश में समाज-सुधारक संस्थाओं की बाढ़ सी आयी है। परन्तु जिनका रक्त शोषण करके हमारे 'भद्र लोगों' ने अपना यह ख़िताब प्राप्त किया और कर रहे हैं, उन बेचारों के लिए एक भी संस्था नज़र न आयी! मुसलमान कितने सिपाही लाये थे? यहाँ अंग्रेज़ कितने हैं? चाँदी के छः सिक्कों के लिए अपने बाप और भाई के गले पर चाक़ू फेरनेवाले लाखों आदमी सिवा भारत के और कहाँ मिल सकते हैं? सात सौ वर्षों के मुसलमान शासन में छः करोड़ मुसलमान, और सौ वर्षों के ईसाई राज्य में बीस लाख ईसाई क्यों बने? मौलिकता ने देश को क्यों बिल्कुल त्याग दिया है? क्यों हमारे सुदक्ष शिल्पी यूरोपवालों के साथ बराबरी करने में असमर्थ होकर दिनोंदिन लुप्त होते जा रहे हैं? लेकिन तब वह कौन सी शक्ति थी, जिससे जर्मन कारीगरों ने अंग्रेज़ कारीगरों के कई सदियों से जमे हुए दृढ़ आसन को हिला दिया?

केवल शिक्षा! शिक्षा! शिक्षा! यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमकर और वहाँ के ग़रीबों के भी अमन-चैन और शिक्षा को देखकर अपने ग़रीब देशवासियों

की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ? उत्तर में पाया कि शिक्षा से। शिक्षा और आत्मविश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग गया है, जब कि हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित—संकुचित होता जा रहा है। न्यूयार्क में मैं आइरिश उपनिवेशवासी को आते हुए देखा करता था—पददलित, कान्तिहीन, निःसम्बल, अति दरिद्र और महामूर्ख, साथ में एक लाठी और उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटी सी गठरी। उसकी चाल में भय और आँख में शंका होती थी। छः ही महीने के बाद यही दृश्य बिल्कुल दूसरा हो जाता। अब वह तनकर चलता था, उसका वेश बदल गया था, उसकी चाल और चितवन में पहले का वह डर दिखायी नहीं पड़ता। ऐसा क्यों हुआ? हमारा वेदान्त कहता है कि वह आइरिश अपने देश में चारों तरफ़ घृणा से घिरा हुआ रहता था—सारी प्रकृति एक स्वर से उससे कह रही थी कि 'बच्चू, तेरे लिए और कोई आशा नहीं है; तू ग़ुलाम ही पैदा हुआ और सदा ग़ुलाम ही बना रहेगा।' आजन्म सुनते सुनते बच्चू को उसीका विश्वास हो गया। बच्चू ने अपने को सम्मोहित कर डाला कि वह अति नीच है। इससे उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया। परन्तु जब उसने अमेरिका में पैर रखा, तो चारों ओर से ध्वनि उठी कि 'बच्चू, तू भी वही आदमी है, जो हम लोग हैं। आदमियों ने ही सब काम किये हैं; तेरे और मेरे समान आदमी ही सब कुछ कर सकते हैं। धीरज धर।' बच्चू ने सिर उठाया और देखा कि बात तो ठीक ही है—बस, उसके अन्दर सोया हुआ ब्रह्म जाग उठा, मानो स्वयं प्रकृति ही ने कहा हो, 'उठो, जागो, रुको मत, जब तक ध्येय तक न पहुँच जाओ।'

वैसे ही हमारे लड़के जो शिक्षा पा रहे हैं, वह बड़ी निषेधात्मक है। स्कूल के लड़के कुछ भी नहीं सीखते, बल्कि जो कुछ अपना है, उसका भी नाश हो जाता है, और इसका परिणाम होता है—श्रद्धा का अभाव। जो श्रद्धा वेद-वेदान्त का मूल मन्त्र है, जिस श्रद्धा ने नचिकेता को प्रत्यक्ष यम के पास जाकर प्रश्न करने का साहस दिया, जिस श्रद्धा के बल से यह संसार चल रहा है—उसी श्रद्धा का लोप! गीता में कहा है, **अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति**—अज्ञ तथा श्रद्धाहीन और संशययुक्त पुरुष का नाश हो जाता है। इसीलिए हम मृत्यु के इतने समीप हैं। अब उपाय है—शिक्षा का प्रसार। पहले आत्मज्ञान। इससे मेरा मतलब जटा-जूट, दण्ड, कमण्डलु और पहाड़ों की कन्दराओं से नहीं, जो इस शब्द के उच्चारण करते ही याद आते हैं। तो मेरा मतलब क्या है? जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य संसार-बन्धन तक से छुटकारा पा जाता है, उससे क्या तुच्छ भौतिक उन्नति नहीं हो सकेगी? अवश्य ही हो सकेगी। मुक्ति, वैराग्य, त्याग—ये सब उच्चतम

आदर्श हैं, परन्तु गीता के अनुसार **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** अर्थात् इस धर्म का थोड़ा सा भाग भी महाभय (जन्म-मरण) से त्राण करता है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत, शैवसिद्धान्त, वैष्णव, शाक्त, यहाँ तक कि बौद्ध और जैन आदि जितने सम्प्रदाय भारत में स्थापित हुए हैं, सभी इस विषय पर सहमत हैं कि इसी जीवात्मा में अनन्त शक्ति अव्यक्त भाव से निहित है; चींटी से लेकर ऊँचे से ऊँचे सिद्ध पुरुष तक सभी में वह आत्मा विराजमान है, अन्तर केवल उसकी अभिव्यक्ति के भेद में है। **वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्**—(पातञ्जल योगसूत्र, कैवल्यपाद)—किसान जैसे खेतों की मेंड़ तोड़ देता है और एक खेत का पानी दूसरे खेत में चला जाता है, वैसे ही आत्मा भी आवरण टूटते ही प्रकट हो जाती है। उपयुक्त अवसर और उपयुक्त देश-काल मिलते ही उस शक्ति का विकास हो जाता है। परन्तु चाहे विकास हो, चाहे न हो, वह शक्ति प्रत्येक जीव—ब्रह्मा से लेकर घास तक में—विद्यमान है। इस शक्ति को सर्वत्र जा जाकर जगाना होगा।

यह हुई पहली बात। दूसरी बात यह है कि इसके साथ साथ शिक्षा भी देनी होगी। बात कहने में तो बड़ी सरल है, पर काम में किस तरह लायी जाय? हमारे देश में हज़ारों निःस्वार्थी, दयालु और त्यागी पुरुष हैं। उनमें से कम से कम आधों को उसी तरीक़े से जिसमें वे बिना पारिश्रमिक लिये घूम घूमकर धर्मशिक्षा देते हैं, अपनी आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। इसके लिए पहले प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में एक एक केन्द्र होना चाहिए, जहाँ से धीरे धीरे भारत के सब स्थानों में फैलना होगा। मद्रास और कलकत्ते में हाल ही में दो केन्द्र बने हैं, कुछ और भी जल्द होने की आशा है। एक बात और। गरीबों की शिक्षा प्रायः मौखिक रूप में ही दी जानी चाहिए। स्कूल आदि का अभी समय नहीं आया है। धीरे धीरे उन मुख्य केन्द्रों में खेती, उद्योग आदि भी सिखाये जायँगे और शिल्प की उन्नति के लिए शिल्पगृह भी खोले जायँगे। उन शिल्पगृहों का माल यूरोप और अमेरिका में बेचने के लिए उन देशों की संस्थाओं के समान ही संस्थाएँ खोली जायँगी। जिस प्रकार पुरुषों के लिए केन्द्र हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के लिए भी खोलना आवश्यक होगा। पर आप जानती हैं कि ऐसा होना इस देश में बड़ा कठिन है। फिर भी इन सब कामों के लिए जिस धन की आवश्यकता है, वह इंग्लैण्ड आदि पश्चिमी देशों से ही आना होगा, क्योंकि मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि जिस साँप ने काटा है, वही अपना विष भी उतारेगा। इसीलिए हमारे धर्म का यूरोप और अमेरिका में प्रचार होना चाहिए। आधुनिक विज्ञान ने ईसाई आदि धर्मों की भित्ति बिल्कुल चूर चूर कर दी है। इसके सिवाय विलासिता तो प्रायः धर्मवृत्ति का ही नाश करने पर तुली हुई है। यूरोप और अमेरिका आशाभरी दृष्टि से भारत

की ओर ताक रहे हैं। परोपकार का, शत्रु के क़िले पर अधिकार जमाने का यही समय है।

पश्चिमी देशों में नारियों का ही राज, उन्हींका प्रभाव और उन्हींकी प्रभुता है। यदि आप जैसी वेदान्त जाननेवाली तेजस्विनी और विदुषी महिला इस समय धर्म-प्रचार के लिए इंग्लैण्ड जायँ, तो मुझे विश्वास है कि हर साल कम से कम सैकड़ों नर-नारी भारतीय धर्म ग्रहण कर कृतार्थ हो जायँगे। अकेली रमाबाई ही हमारे यहाँ से गयी थीं, अंग्रेज़ी भाषा, पश्चिमी विज्ञान और शिल्प आदि में उनकी गति बहुत ही कम थी, तो भी उन्होंने सबको आश्चर्यचकित कर दिया था। यदि आप जैसी कोई वहाँ जायँ, तो इंग्लैण्ड हिल जाय, अमेरिका का तो कहना ही क्या! मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ कि यदि भारत की नारियाँ देशी पोशाक पहने भारतीय ऋषियों के मुँह से निकले हुए धर्म का प्रचार करें, तो एक ऐसी बड़ी तरंग उठेगी, जो सारे पश्चिमी संसार को डुबा देगी। क्या मैत्रेयी, खना, लीलावती, सावित्री और उभयभारती की इस जन्मभूमि में किसी और नारी को यह कहने का साहस नहीं होगा? प्रभु ही जानता है। इंग्लैण्ड पर हम लोग अध्यात्म के बल से अधिकार कर लेंगे, उसे जीत लेंगे——**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**——इसके सिवाय मुक्ति का और दूसरा मार्ग ही नहीं। क्या सभा-समितियों के द्वारा कभी मुक्ति मिल सकती है? अपने विजेताओं को अपनी अध्यात्म-शक्ति से हमें देवता बनाना होगा। मैं तो एक नगण्य भिक्षुक परिव्राजक हूँ, अकेला और असहाय! मैं क्या कर सकता हूँ? आप लोगों के पास धन है, बुद्धि है और विद्या भी है——क्या आप लोग इस मौक़े को हाथ से जाने देंगी? अब इंग्लैण्ड, यूरोप और अमेरिका पर विजय पाना——यही हमारा महाव्रत होना चाहिए। इसीसे देश का भला होगा। विस्तार ही जीवन का चिह्न है, और हमें सारी दुनिया में अपने आध्यात्मिक आदर्शों का प्रचार करना होगा। हाय! मेरा शरीर कितना दुर्बल है, तिस पर बंगाली का शरीर——इस थोड़े परिश्रम से ही प्राणघातक व्याधि ने इसे घेर लिया। परन्तु आशा है कि **उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।** (भवभूति)——अर्थात् मेरे समान गुणवाला कोई और है या होगा, क्योंकि काल का अन्त नहीं और पृथ्वी भी विशाल है।

शाकाहारी भोजन के विषय में मुझे पहले तो यह कहना है कि मेरे गुरु शाकाहारी थे; लेकिन देवी का प्रसाद-रूप मांस दिये जाने पर उसे शिरोधार्य करते थे। जीव-हत्या निश्चय ही पाप है, किन्तु जब तक शाकाहार रसायन की प्रगति द्वारा मानव-प्रकृति के लिए उपयुक्त नहीं बन जाता, तब तक मांस-भक्षण के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है। परिस्थितिवश जब तक मनुष्य राजसिक जीवन बिताने

के लिए बाध्य है, तब तक उसे उसके लिए मांस-भक्षण करना ही पड़ेगा। यह सत्य है कि सम्राट् अशोक के दण्ड-भय से लाखों जानवरों की प्राण-रक्षा हुई थी, लेकिन हज़ारों वर्षों की ग़ुलामी क्या उससे भयानक नहीं? इनमें से कौन अधिक पापपूर्ण है?—कुछ बकरियों की जान लेना या अपनी पत्नी-पुत्री की मर्यादा की रक्षा करने और आततायी हाथों द्वारा अपने बच्चों के मुख का ग्रास बचाने में असमर्थ होना? समाज के उन कुछ उच्चवर्गीय लोगों के, जो अपनी जीविका के लिए कोई भी शारीरिक श्रम नहीं करते, मांस न खाने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उन अधिकांश लोगों पर, जो रात-दिन परिश्रम करके अपनी रोटी कमाते हैं, शाकाहार लादना ही हमारी राष्ट्रीय परतंत्रता का एक कारण हुआ है। अच्छे और पौष्टिक भोजन से क्या क्या हो सकता है, जापान इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

सर्वशक्तिमती विश्वेश्वरी आपके हृदय में अवतीर्ण हों।

भवदीय,
विवेकानन्द

(स्वामी शुद्धानन्द को लिखित)

अलमोड़ा,
११ जुलाई, १८९७

प्रिय शुद्धानन्द,

तुमने हाल में मठ का जो कार्य-विवरण भेजा है, उसे पाकर मुझे अत्यन्त ख़ुशी हुई। तुम्हारी 'रिपोर्ट' के बारे में मुझे कोई विशेष समालोचना नहीं करनी है। मैं सिर्फ़ इतना ही कहना चाहता हूँ कि तुम्हें थोड़ा और स्पष्ट रूप से लिखने का अभ्यास करना चाहिए।

जितना कार्य हुआ है, उससे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ, किन्तु उसे और भी आगे बढ़ाना चाहिए। पहले मैंने भौतिक तथा रसायनशास्त्र के कुछ यंत्रों को एकत्र करने तथा प्राथमिक एवं प्रायोगिक रसायन तथा भौतिक शास्त्र—विशेषत: शरीर विज्ञान की कक्षाएँ शुरू करने का सुझाव दिया था, उसके विषय में मुझे अभी तक कुछ सुनने को नहीं मिला।

और बंगला में अनूदित सभी वैज्ञानिक ग्रंथों को खरीदने के मेरे सुझाव का क्या हुआ?

अब मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मठ में एक साथ तीन महन्तों का निर्वाचन करना आवश्यक है—एक व्यावहारिक कार्यों का संचालन करेंगे, दूसरे आध्यात्मिकता की ओर ध्यान देंगे एवं तीसरे ज्ञानार्जन की व्यवस्था करेंगे।

कठिनाई तो शिक्षा-विभाग के उपयुक्त निर्देशक के प्राप्त होने में है। ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द आसानी से शेष दोनों विभागों का कार्य सँभाल सकते हैं। मुझे दुःख है कि मठ-दर्शनार्थ केवल कलकत्ते के बाबू लोग आ रहे हैं। उनसे कुछ काम नहीं होगा। हमें साहसी युवकों की आवश्यकता है, जो काम कर सकते हों, मूर्खों की नहीं।

ब्रह्मानन्द से कहना कि वह अभेदानन्द तथा सारदानन्द को अपने साप्ताहिक कार्य-विवरण मठ में भेजने के लिए लिखे––उसके भेजने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए, और भविष्य में बंगला में निकलनेवाली पत्रिका के लिए लेख तथा नोट्स आदि भेजें। गिरीश बाबू उस पत्रिका के लिए क्या कुछ आवश्यक व्यवस्था कर रहे हैं? अदम्य इच्छा-शक्ति के साथ कार्य करते चलो तथा सदा प्रस्तुत रहो।

अखण्डानन्द महुला में अद्भुत कार्य कर रहा है, किन्तु उसकी कार्य-प्रणाली ठीक प्रतीत नहीं होती। ऐसा मालूम हो रहा है कि वे लोग एक छोटे से गाँव में ही अपनी शक्ति क्षय कर रहे हैं, और वह भी एकमात्र चावल-वितरण के कार्य में। इसके साथ ही साथ किसी प्रकार का प्रचार-कार्य भी हो रहा है––यह बात मेरे सुनने में नहीं आ रही है। लोगों को यदि आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा न दी जाय, तो सारे संसार की दौलत से भी भारत के एक छोटे से गाँव की सहायता नहीं की जा सकती है। शिक्षा प्रदान करना हमारा पहला कार्य होना चाहिए––नैतिक तथा बौद्धिक, दोनों ही प्रकार की। मुझे इस बारे में तो कुछ भी समाचार नहीं मिल रहा है, केवल इतना ही सुन रहा हूँ कि इतने भिखमंगों को सहायता दी गयी है! ब्रह्मानन्द से कहो कि विभिन्न ज़िलों में वह केन्द्र स्थापित करे, जिससे हम थोड़ी पूंजी से ही यथासम्भव अधिक स्थलों में कार्य कर सकें। ऐसा लगता है कि अब तक उन कार्यों से वास्तव में कुछ भी नहीं हुआ है; क्योंकि अभी तक स्थानीय लोगों में किसी प्रकार की आकांक्षा जाग्रत करने में सफलता नहीं मिली, जिससे वे लोक-शिक्षा के लिए किसी प्रकार की सभा-समिति स्थापित कर सकें और उस शिक्षा के फलस्वरूप आत्मनिर्भर तथा मितव्ययी बन सकें, विवाह की ओर उनका अस्वाभाविक झुकाव दूर हो और इसी प्रकार भविष्य में दुर्भिक्ष के कराल गाल में जाने से वे अपने को बचा सकें। दया से लोगों के हृदय-द्वार खुल जाते हैं, किन्तु उस द्वार से उनके सामूहिक हित-साधन के लिए हमें प्रयास करना होगा।

सबसे सहज उपाय यह है कि हम छोटी सी झोपड़ी लेकर गुरु महाराज का मन्दिर स्थापित करें। ग़रीब लोग जो वहाँ एकत्र हों, उनकी सहायता की जाय और वे लोग वहाँ पर पूजार्चन भी करें। प्रतिदिन सुबह-शाम वहाँ पुराण-कथा हो।

उस कथा के सहारे से ही तुम अपनी इच्छानुसार जनता में शिक्षा प्रसार कर सकते हो। क्रमशः उन लोगों में स्वतः ही इस विषय में विश्वास तथा आग्रह बढ़ेगा। तब वे स्वयं ही उस मन्दिर के संचालन का भार अपने ऊपर लेंगे; और हो सकता है कि कुछ ही वर्षों में यह छोटा सा मन्दिर एक विराट् आश्रम में परिणत हो जाय। जो लोग दुर्भिक्ष-निवारण-कार्य के लिए जा रहे हैं, वे सर्वप्रथम प्रत्येक ज़िले से एक मध्यवर्ती स्थल का निर्वाचन करें तथा वहाँ पर इसी प्रकार की एक झोपड़ी लेकर मन्दिर स्थापित करें, जहाँ से अपने सभी कार्य थोड़े-बहुत प्रारम्भ किये जा सकें।

मन की प्रवृत्ति के अनुसार काम मिलने पर अत्यन्त मूर्ख व्यक्ति भी उसे कर सकता है। लेकिन सब कामों को जो अपने मन के अनुकूल बना लेता है, वही बुद्धिमान है। कोई भी काम छोटा नहीं है, संसार में सब कुछ वट-बीज की तरह है, सरसों जैसा क्षुद्र दिखायी देने पर भी अति विशाल वट-वृक्ष उसके अन्दर विद्यमान है। बुद्धिमान वही है, जो ऐसा देख पाता है और सब कामों को महान् बनाने में समर्थ है।

जो लोग दुर्भिक्ष-निवारण कार्य कर रहे हैं, उन्हें इस ओर भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं ग़रीबों के प्राप्य को धोखेबाज़ न झपट लें। भारत ऐसे आलसी धोखेबाजों से भरा पड़ा है और तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि वे लोग कभी भूखों नहीं मरते हैं---उन्हें कुछ न कुछ खाने को मिल ही जाता है। दुर्भिक्ष-पीड़ित स्थलों में कार्य करनेवालों को इस ओर ध्यान दिलाने के लिए ब्रह्मानन्द से पत्र लिखने को कहना, जिससे वे व्यर्थ में धन-व्यय न कर सकें। जहाँ तक हो सके, कम से कम खर्चे में अधिक से अधिक स्थायी सत्कार्य की प्रतिष्ठा करना ही हमारा ध्येय है।

अब तुम समझ ही गये होगे कि तुम लोगों को स्वयं ही मौलिक ढंग से सोचना चाहिए, नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद सब कुछ नष्ट हो जायगा। उदाहरण के लिए तुम सब लोग मिलकर इस विषय में विचार करने के लिए एक सभा का आयोजन कर सकते हो कि अपने कम से कम साधनों द्वारा हम किस प्रकार श्रेष्ठतम स्थायी फल प्राप्त कर सकते हैं। सभा की निर्धारित तिथि से कुछ दिन पूर्व सबको इसकी सूचना दी जाय, सब कोई अपने सुझाव दें, इन सुझावों पर विचार-विमर्श तथा आलोचना हो, और तब इसकी रिपोर्ट मेरे पास भेजो।

अन्त में यह कहना चाहता हूँ कि तुम लोग यह स्मरण रखो कि मैं अपने गुरुभाइयों की अपेक्षा अपनी सन्तानों से अधिक आशा रखता हूँ---मैं चाहता हूँ कि मेरे सब बच्चे, मैं जितना उन्नत बन सकता था, उससे सौगुना उन्नत बनें। तुम

लोगों में से प्रत्येक को महान् शक्तिशाली वनना होगा—मैं कहता हूँ, अवश्य बनना होगा। आज्ञा-पालन, ध्येय के प्रति अनुराग तथा ध्येय को कार्यरूप में परिणत करने के लिए सदा प्रस्तुत रहना—इन तीनों के रहने पर कोई भी तुम्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकता।

प्रेम एवं आशीर्वाद सहित,

विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

अल्मोड़ा,
२९ जुलाई, १८९७

प्रिय कुमारी नोबल,

श्री स्टर्डी का एक पत्र कल मुझे मिला, जिससे मुझे यह मालूम हुआ कि तुमने भारत आने का, और स्वयं सब चीज़ों के देखने का विचार मन में ठान लिया है। उसका उत्तर कल मैं दे चुका हूँ, किन्तु मैंने कुमारी मूलर से तुम्हारे इस संकल्प के विषय में जो कुछ सुना, उससे यह दूसरा संक्षिप्त पत्र आवश्यक हो गया, और अच्छा है कि मैं तुम्हें सीधे ही लिखूँ।

मैं तुमसे स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि मुझे विश्वास है कि भारत के काम में तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है। आवश्यकता है स्त्री की, पुरुष की नहीं—सच्ची सिंहिनी की, जो भारतीयों के लिए, विशेषकर स्त्रियों के लिए काम करे।

भारत अभी तक महान् महिलाओं को उत्पन्न नहीं कर सकता, उसे दूसरे राष्ट्रों से उन्हें उधार लेना पड़ेगा। तुम्हारी शिक्षा, सच्चा भाव, पवित्रता, महान् प्रेम, दृढ़ निश्चय और सबसे अधिक तुम्हारे केल्टिक (celtic) रक्त ने तुमको वैसी ही नारी बनाया है, जिसकी आवश्यकता है।

परन्तु कठिनाइयाँ भी बहुत हैं। यहाँ जो दुःख, कुसंस्कार और दासत्व है, उसकी तुम कल्पना नहीं कर सकतीं। तुम्हें एक अर्द्धनग्न स्त्री-पुरुषों के समूह में रहना होगा, जिनके जाति और पृथकता के विचित्र विचार हैं, जो भय और द्वेष से सफ़ेद चमड़े से दूर रहना चाहते हैं और जिनसे सफ़ेद चमड़ेवाले स्वयं अत्यन्त घृणा करते हैं। दूसरी ओर श्वेत जाति के लोग तुम्हें सनकी समझेंगे और तुम्हारे आचार-व्यवहार को सशंकित दृष्टि से देखते रहेंगे।

फिर यहाँ भयंकर गर्मी पड़ती है; अधिकाश स्थानों में हमारा शीतकाल तुम्हारी गर्मी के समान होता है और दक्षिण भारत में हमेशा आग बरसती रहती है।

नगरों के बाहर विलायती आराम की कोई भी सामग्री नहीं मिल सकती। ये सब बातें होते हुए भी यदि तुम काम करने का साहस करोगी, तो हम तुम्हारा स्वागत करेंगे, सौ बार स्वागत करेंगे। मेरे विषय में यह बात है कि जैसे अन्य स्थानों में वैसे ही मैं यहाँ भी कुछ नहीं हूँ, फिर भी जो कुछ मेरा सामर्थ्य होगा, वह तुम्हारी सेवा में लगा दूंगा।

इस कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले तुमको अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए, और यदि काम करने के बाद तुम असफल हो जाओगी अथवा अप्रसन्न हो जाओगी, तो मैं अपनी ओर से तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि चाहे तुम भारत के लिए काम करो या न करो, तुम वेदान्त को त्याग दो या उसमें स्थित रहो, मैं आमरण तुम्हारे साथ हूँ। 'हाथी के दाँत बाहर निकलते हैं, परन्तु अन्दर नहीं जाते।'—इसी तरह मर्द के वचन वापस नहीं फिर सकते। यह मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ। फिर से मैं तुमको सावधान करता हूँ। तुमको अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए, और कुमारी मूलर आदि के आश्रित न रहना चाहिए। अपने ढंग की वह एक शिष्ट महिला है, परन्तु दुर्भाग्यवश जब वह बालिका ही थी, तभी से उसके मन में यह बात समा गयी है कि वह जन्म से ही एक नेता है और संसार को हिलाने के लिए धन के अतिरिक्त किसी गुण की आवश्यकता नहीं है। यह भाव फिर फिर कर उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके मन में उठता है और थोड़े दिनों में तुम देखोगी कि उसके साथ मिलकर रहना तुम्हारे लिए असम्भव होगा। अब उसका विचार कलकत्ते में एक मकान लेने का है, जहाँ तुम और वह तथा अन्य यूरोपीय या अमरीकी मित्र यदि आकर रहना चाहें, तो रह सकें।

उसका विचार शुभ है, परन्तु महन्तिन बनने का उसका संकल्प दो कारणों से कभी सफल न होगा—उसका क्रोधी स्वभाव और अहंकारयुक्त व्यवहार तथा उसका अत्यन्त अस्थिर मन। बहुतों से मित्रता करना दूर से ही अच्छा रहता है और जो मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होता है, उसका हमेशा भला होता है।

श्रीमती सेवियर नारियों में एक रत्न हैं, ऐसी गुणवती और दयालु। केवल सेवियर दम्पति ऐसे अंग्रेज़ हैं, जो भारतवासियों से घृणा नहीं करते, स्टर्डी की भी गिनती इनमें नहीं है। श्रीमान और श्रीमती सेवियर दो ही व्यक्ति हैं, जो अभिमान-पूर्वक हमें उत्साह दिलाने नहीं आये थे, परन्तु उनका अभी कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं है। जब तुम आओ, तब तुम उन्हें अपने साथ काम में लगाओ। इससे तुमको भी सहायता मिलेगी और उन्हें भी। परन्तु अन्त में अपने पैरों पर ही खड़ा होना परमावश्यक है।

अमेरिका से मैंने यह सुना है कि वोस्टननिवासी मेरी दो मित्र श्रीमती बुल और कुमारी मैक्लिऑड शरद् ऋतु में भारत आनेवाली हैं। कुमारी मैक्लिऑड को तुम लन्दन में जानती थीं--वह पेरिस के वस्त्र पहने हुए अमेरिकी युवती; श्रीमती बुल पचास वर्ष के लगभग हैं और अमेरिका में वे सहानुभूति रखनेवाली मेरी मित्र थीं।

मैं तुमको यह सम्मति दूँगा कि यदि तुम उनके साथ ही आओगी, तो यात्रा की क्लान्ति कम हो जायगी, क्योंकि वे भी यूरोप होते हुए आ रही हैं।

श्री स्टर्डी का बहुत दिनों के बाद पत्र पाकर मुझे हर्ष हुआ। किन्तु वह पत्र रूखा और प्राणहीन था। मालूम होता है कि लन्दन के कार्य के असफल होने से वे निराश हुए।

तुम्हें मेरा अनन्त प्यार।

भगवत्पदाश्रित,
विवेकानन्द

(मुहम्मद सरफ़राज़ हुसेन को लिखित)

अल्मोड़ा,
१० जून, १८९८

प्रिय मित्र,

आपका पत्र पढ़कर मैं मुग्ध हो गया और मुझे यह जानकर अति आनन्द हुआ कि भगवान् चुपचाप हमारी मातृभूमि के लिए अभूतपूर्व चीज़ों की तैयारी कर रहे हैं।

चाहे हम उसे वेदान्त कहें या और किसी नाम से पुकारें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसीके दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य के प्रबुद्ध मानवी समाज का यही धर्म है। अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दुओं को यह श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने इसकी सर्वप्रथम खोज की। इसका कारण यह है कि वे अरबी और हिब्रू, दोनों जातियों से अधिक प्राचीन हैं। परन्तु साथ ही व्यावहारिक अद्वैतवाद का--जो समस्त मनुष्य-जाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है, तथा उसीके अनुकूल आचरण करता है--विकास हिन्दुओं में सार्वभौमिक भाव से होना अभी भी शेष है।

इसके विपरीत हमारा अनुभव यह है कि यदि किसी धर्म के अनुयायी व्यावहारिक जगत के दैनिक कार्यों के क्षेत्र में, इस समानता को योग्य अंश में ला सके हैं,

तो वे इस्लाम और केवल इस्लाम के अनुयायी हैं---यद्यपि सामान्यतः जिस सिद्धान्त के अनुसार ऐसे आचरण का अवलम्बन है, उसके गम्भीर अर्थ से वे अनभिज्ञ हैं, जिसे कि हिन्दू साधारणतः स्पष्ट रूप से समझते हैं।

इसलिए हमें दृढ़ विश्वास है कि वेदान्त के सिद्धान्त कितने ही उदार और विलक्षण क्यों न हों, परन्तु व्यावहारिक इस्लाम की सहायता के बिना, मनुष्य जाति के महान् जनसमूह के लिए वे मूल्यहीन हैं। हम मनुष्य जाति को उस स्थान पर पहुँचाना चाहते हैं, जहाँ न वेद है, न बाइबिल है, न क़ुरान; परन्तु वेद, बाइबिल और क़ुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। मनुष्य-जाति को यह शिक्षा देनी चाहिए कि सब धर्म उस धर्म के, उस एकमेवाद्वितीय के भिन्न भिन्न रूप हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन धर्मों में से अपना मनोनुकूल मार्ग चुन सकता है।

हमारी मातृभूमि के लिए इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य---हिन्दू धर्म और इस्लाम---वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर---यही एक आशा है।

मैं अपने मानस-चक्षु से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका इस विप्लव और संघर्ष से तेजस्वी और अजेय रूप में वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा।

सर्वदा मेरी यही प्रार्थना है कि प्रभु आपको मनुष्य-जाति की सहायता के लिए, विशेषतः हमारी अत्यन्त दरिद्र मातृभूमि के लिए, एक शक्तिसम्पन्न यंत्र बनायें।

भवदीय स्नेहबद्ध,

विवेकानन्द

(श्रीमती मृणालिनी बसु को लिखित)

देवघर, वैद्यनाथ,

द्वारा बाबू प्रियनाथ मुकर्जी,

२३ दिसम्बर, १८९८

माँ,

तुम्हारा पत्र पाकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। तुम जो समझी हो, वह ठीक है। स ईश्वरोऽनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः---ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है। नारद द्वारा वर्णन किया हुआ ईश्वर का यह लक्षण स्पष्ट है और सब लोगों को स्वीकार है, यह मेरे जीवन का दृढ़ विश्वास है। बहुत से व्यक्तियों के समूह को समष्टि कहते हैं और प्रत्येक व्यक्ति व्यष्टि कहलाता है। तुम और मैं---दोनों व्यष्टि हैं, समाज समष्टि है। तुम और मैं---पशु, पक्षी, कीड़ा, कीड़े से भी तुच्छ प्राणी, वृक्ष, लता,

पृथ्वी, नक्षत्र और तारे, ये प्रत्येक व्यष्टि हैं और यह विश्व समष्टि है, जो वेदान्त में विराट् हिरण्यगर्भ या ईश्वर कहलाता है और पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, देवी इत्यादि।

व्यष्टि को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होती है या नहीं, और यदि होती है, तो उसका नाम क्या होना चाहिए, व्यष्टि को समष्टि के लिए अपनी इच्छा और सुख का सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए या नहीं--ये प्रत्येक समाज के लिए चिरन्तन समस्याएँ हैं। सब स्थानों में समाज इन समस्याओं के समाधान में संलग्न रहता है। ये बड़ी बड़ी तरंगों के समान आधुनिक पश्चिमी समाज में हलचल मचा रही हैं। जो समाज के आधिपत्य के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का त्याग चाहता है, वह सिद्धान्त समाजवाद कहलाता है और जो व्यक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, वह व्यक्तिवाद कहलाता है।

समाज का व्यक्ति पर निरन्तर शासन तथा संस्था एवं नियमबद्धता द्वारा बलपूर्वक आत्मत्याग, और इसके परिणाम तथा फल का ज्वलन्त उदाहरण--यही हमारी मातृभूमि है। इस देश में शास्त्रीय आज्ञानुसार मनुष्य जन्म लेते हैं, वे नियम-विधि से आजीवन खाते-पीते हैं, और विवाह तथा विवाह-सम्बन्धी कार्य भी इसी प्रकार करते हैं; यहाँ तक कि शास्त्रों के नियमानुसार ही वे मरते भी हैं। एक विशेष गुण को छोड़कर यह कठिन नियमबद्धता दोषों से परिपूर्ण है। गुण यह है कि बहुत थोड़े यत्न से मनुष्य एक या दो काम अति उत्तम रीति से कर सकते हैं, क्योंकि कई पीढ़ियों से उस काम का दैनिक अभ्यास होता है। जो स्वादिष्ट शाक और चावल इस देश के रसोइया तीन मिट्टी के ढेले और कुछ लकड़ियों की सहायता से तैयार कर सकते हैं, वह और कहीं नहीं मिल सकता। एक रुपये मूल्य के बहुत ही प्राचीन समय के करघे जैसे सरल यंत्र की सहायता से, पैर गढ़े में रखकर २०) गज़ की मलमल बनाना केवल इसी देश में सम्भव हो सकता है। एक फटा टाट और रेंड़ी के तेल में जलाया हुआ मिट्टी का दिया--ऐसे पदार्थों की सहायता से केवल इसी देश में अद्भुत विद्वान् उत्पन्न होते हैं। कुरूप और विकृत पत्नी के प्रति असीम सहनशीलता तथा दुष्ट और अयोग्य पति के प्रति आजन्म भक्ति, यह भी इसी देश में सम्भव है। यह तो हुआ उज्ज्वल पक्ष।

परन्तु यह काम वे लोग करते हैं, जिनका जीवन निर्जीव यन्त्र के समान व्यतीत होता है। उनमें मानसिक क्रिया नहीं है, उनके हृदय का विकास नहीं होता, उनका जीवन स्पन्दनहीन है, आशा का प्रवाह बन्द है, उनमें इच्छाशक्ति की कोई प्रबल उत्तेजना नहीं है, सुख का तीव्र अनुभव नहीं है, न प्रचंड दुःख ही उन्हें स्पर्श करता है; उनकी प्रतिभाशाली वुद्धि में निर्माण-शक्ति कभी हलचल नहीं मचाती,

नवीनता की कोई अभिलाषा नहीं है, और न नयी वस्तुओं के प्रति आदर-भाव है। उनके हृदयाकाश के बादल कभी नहीं हटते, प्रातःकालीन सूर्य की छवि कभी उनके मन को मुग्ध नहीं करती। उनके मन में यह कभी नहीं आता कि इससे अच्छी भी कोई अवस्था हो सकती है, यदि ऐसा विचार आता भी है, तो विश्वास नहीं होता, विश्वास होता है, तो उद्योग नहीं हो पाता। और उद्योग होने पर उत्साह का अभाव उसे मार देता है।

यदि यह निश्चित है कि नियम से रहने से प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, यदि परम्परा से चली आयी हुई प्रथा का कठोरता से पालन करना पुण्य है, तब बताओ कि वृक्ष से बढ़कर पुण्यात्मा कौन हो सकता है, और रेलगाड़ी से बढ़कर भक्त और महात्मा कौन है? किसने पत्थर के टुकड़े को प्रकृति का नियमोल्लंघन करते हुए देखा? किसने गाय-भैंस को पाप करते हुए जाना?

यंत्रचालित अति विशाल जहाज़ और महाबलवान रेल का इंजन जड़ हैं, वे हिलते हैं और चलते हैं, परन्तु वे जड़ हैं। और वह जो दूर से नन्हा सा कीड़ा अपने जीवन की रक्षा के लिए रेल की पटरी से हट गया, वह क्यों चैतन्य है? यंत्र में इच्छा-शक्ति का कोई विकास नहीं है। यंत्र कभी नियम का उल्लंघन करने की कोई इच्छा नहीं रखता। कीड़ा नियम का विरोध करना चाहता है और नियम के विरुद्ध जाता है, चाहे उस प्रयत्न में वह सिद्धि लाभ करे या असिद्धि; इसलिए वह चेतन है। जिस अंश में इच्छा-शक्ति के प्रकट होने में सफलता होती है, उसी अंश में सुख अधिक होता है और जीव उतना ही ऊँचा होता है। परमात्मा की इच्छा-शक्ति पूर्ण रूप से सफल होती है, इसलिए वह उच्चतम है।

शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन-मात्र है? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है। अब सोचो कि शिक्षा क्या वह है, जिसने निरन्तर इच्छा-शक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी-दर-पीढ़ी रोककर प्रायः नष्ट कर दिया है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही जाने दो, पुराने विचार भी एक एक करके लुप्त होते चले जा रहे हैं; क्या वह शिक्षा है, जो मनुष्य को धीरे धीरे यंत्र बना रही है? जो स्वयं-चालित यंत्र के समान सुकर्म करता है, उसकी अपेक्षा अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और बुद्धि के बल से अनुचित कर्म करनेवाला मेरे विचार से श्रेयस्कर है। जो मनुष्य मिट्टी के पुतले, निर्जीव यंत्र या पत्थरों के ढेर के सदृश हों, क्या उनका समूह समाज कहला सकता है? इस प्रकार का समाज कैसे उन्नत हो सकता है? यदि इस प्रकार कल्याण सम्भव होता, तो सैकडों वर्षों से दास होने के बदले हम पृथ्वी

के सबसे प्रतापी राष्ट्र होते, और यह भारत मूर्खता की खान होने के बदले, विद्या के अनन्त स्रोत का उत्पत्ति-स्थान होता।

तब क्या आत्मत्याग एक गुण नहीं है? बहुतों के सुख के लिए एक आदमी के सुख को बलिदान करना क्या सर्वश्रेष्ठ पुण्य कर्म नहीं है? अवश्य है, परन्तु बंगला कहावत के अनुसार 'क्या घसने-माँजने से रूप उत्पन्न हो सकता है? क्या धरने-बाँधने से प्रीति होती है?' जो सदैव ही भिखारी है, उसके त्याग में क्या गौरव? जिसमें इन्द्रिय-बल न हो, उसके इन्द्रिय-संयम में क्या गुण? जिसमें विचार का अभाव हो, हृदय का अभाव हो, उच्च अभिलाषा का अभाव हो, जिसमें समाज कैसे बनता है--इस कल्पना का भी अभाव हो, उसका आत्मत्याग ही क्या हो सकता है? विधवा को बलपूर्वक सती करवाने में किस प्रकार के सतीत्व का विकास दिखायी पड़ता है? कुसंस्कारों की शिक्षा देकर लोगों से पुण्यकर्म क्यों करवाते हो? मैं कहता हूँ--मुक्त करो; जहाँ तक हो सके, लोगों के बन्धन खोल दिये जायँ। क्या कीचड़ से कीचड़ धोया जा सकता है? क्या बन्धन को बन्धन से हटा सकते हैं? ऐसा उदाहरण कहाँ है? जब तुम सुख की कामना समाज के लिए त्याग सकोगी, तब तुम भगवान् बुद्ध बन जाओगी, तब तुम मुक्त हो जाओगी, परन्तु वह दिन दूर है। पुनः, क्या तुम समझती हो कि अत्याचार द्वारा वह प्राप्त हो सकता है? 'अरे, हमारी विधवाएँ आत्मत्याग का कैसा उदाहरण होती हैं! बालविवाह कैसा मधुर होता है! ऐसी कोई दूसरी प्रथा हो सकती है? ऐसे विवाह में पति-पत्नी में प्रेम को छोड़कर अन्य कोई भाव हो सकता है!!' दबी आवाज़ से यह विलाप चारों ओर सुनायी देता है। परन्तु पुरुषों को, जिन्हें इस अवस्था में प्रभुत्व प्राप्त है, आत्मसंयम की आवश्यकता नहीं! दूसरों की सेवा से बढ़कर कोई गुण हो सकता है? परन्तु यह तर्क ब्राह्मणों पर लागू नहीं है--दूसरे लोग उसे करें! सच तो यह है कि इस देश में माता-पिता और सम्बन्धी अपने स्वार्थ के लिए, और समाज के साथ एक प्रकार का समझौता करके स्वयं को बचाने के लिए, अपनी सन्तान तथा दूसरों के कल्याण को निष्ठुरतापूर्वक बलिदान कर देते हैं और पीढ़ियों से चली आनेवाली ऐसी शिक्षा ने उनके मन को ऐसा थोथा बना दिया है कि यह कार्य बहुत आसानी से हो जाता है। जो वीर है, वही सचमुच आत्मत्याग कर सकता है। कायर, कोड़े के डर से, एक हाथ से आँसू पोंछता है और दूसरे हाथ से दान देता है। ऐसे दान का क्या उपयोग? विश्वव्यापी प्रेम इससे बहुत दूर है। छोटे पौधों को चारों ओर से रूँधकर सुरक्षित रखना चाहिए। यदि एक व्यक्ति से निःस्वार्थ प्रेम करना सीखा जाय, तो यह आशा की जा सकती है कि धीरे धीरे विश्वव्यापी प्रेम उत्पन्न हो जायगा। यदि एक विशेष इष्टदेवता की

भक्ति प्राप्त हो सकती है, तो सर्वव्यापक विराट् से धीरे धीरे प्रेम उत्पन्न होना सम्भव है। इसलिए जब हम एक व्यक्ति के लिए आत्मत्याग कर सकें, तब समाज के लिए आत्मत्याग की चर्चा करनी चाहिए, उससे पहले नहीं। सकाम बनने से ही निष्काम बना जा सकता है। आरम्भ से यदि कामना न होती, तो उसका त्याग कैसे होता? और उसका अर्थ भी क्या होता? यदि अंधकार न होता, तो प्रकाश का क्या अर्थ हो सकता था?

सप्रेम सकाम उपासना पहले आती है। छोटे की उपासना से आरम्भ करो, बड़े की उपासना स्वयं आ जायगी।

माँ, तुम चिन्तित मत हो। प्रबल वायु बड़े वृक्षों से ही टकराती है। 'अग्नि को कुरेदने से वह अधिक प्रज्वलित होती है।' 'साँप को सिर पर मारने से वह अपना फन उठाता है' इत्यादि। जब हृदय में पीड़ा उठती है, जब शोक की आँधी चारों ओर से घेर लेती है, जब मालूम होता है कि प्रकाश फिर कभी न होगा, जब आशा और साहस का प्रायः लोप हो जाता है, तब इस भयंकर आध्यात्मिक तूफ़ान में ब्रह्म की अन्तर्ज्योति चमक उठती है। वैभव की गोद में पला हुआ, फूलों में पोसा हुआ, जिसने कभी एक आँसू भी नहीं बहाया, क्या ऐसा कोई व्यक्ति कभी बड़ा हुआ है, उसका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव कभी व्यक्त हुआ है? तुम रोने से क्यों डरती हो? रोना न छोड़ो! रोने से नेत्रों में निर्मलता आती है और अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। उस समय भेद की दृष्टि---मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि धीरे धीरे लुप्त होने लगते हैं और सब स्थानों में और सब वस्तुओं में, अनन्त ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है। तब---

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

---'सर्वत्र ही ईश्वर के समभाव से उपस्थित देखकर वह आत्मा को आत्मा से हानि न पहुँचाकर परम गति को प्राप्त करता है।'

सदैव तुम्हारा शुभचिन्तक,
विवेकानन्द

(श्रीमती मृणालिनी बसु को लिखित)

देवघर, वैद्यनाथ,
३ जनवरी, १८९९

माँ,

तुम्हारे पत्रों में कई एक अति कठिन प्रश्नों का ज़िक्र हुआ है। एक छोटे से

पत्र में उन सब प्रश्नों का विस्तारपूर्वक उत्तर देना सम्भव नहीं, परन्तु बहुत संक्षेप में उत्तर लिख रहा हूँ।

१. ऋषि-मुनि, या देवता, किसीका भी सामर्थ्य नहीं कि वे सामाजिक नियमों का प्रवर्तन करें। जब समाज के पीछे किसी समय की आवश्यकताओं का झोंका लगता है, तब वह आत्मरक्षा के लिए आप ही आप कुछ आचारों की शरण लेता है। ऋषियों ने केवल उन सभी आचारों को एकत्र कर दिया है, बस। जैसे आत्मरक्षा के लिए मनुष्य कभी कभी बहुत से ऐसे उपायों का प्रयोग करता है, जो उस समय तो रक्षा पाने के लिए उपयोगी हों, परन्तु भविष्य के लिए बड़े ही अहितकर ठहरें, वैसे ही समाज भी बहुत अवसरों पर उस समय तो बच जाता है, पर जिस उपाय से वह बचता है, वही अन्त में भयंकर हो जाता है।

जैसे, हमारे देश में विधवा-विवाह का निषेध। ऐसा न सोचना कि ऋषियों या दुष्ट पुरुषों ने उन नियमों को बनाया है। यद्यपि पुरुष स्त्रियों को पूर्णतया अपने अधीन रखना चाहते हैं, तो भी बिना समाज की सामयिक आवश्यकता की सहायता लिये वे कभी कृतकार्य नहीं होते। इन आचारों में से दो विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) छोटी जातियों में विधवा-विवाह होता है।

(ख) उच्च जातियों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है।

अब यदि हर एक लड़की का विवाह करना ही नियम हो, तो एक एक लड़की के लिए एक एक पति मिलना ही मुश्किल है, फिर दो-तीन कहाँ से आयें? इसीलिए समाज ने एक तरफ़ की हानि कर दी है, यानी जिसको एक बार पति मिल गया है, उसको वह फिर पति नहीं देता; अगर दे, तो एक कुमारी को पति नहीं मिलेगा। दूसरी तरफ़ देखो कि किन जातियों में स्त्रियों की कमी है, उनमें ऊपर लिखी बाधा न होने से विधवा-विवाह प्रचलित है।

यही बात जाति-भेद तथा अन्य सामाजिक आचारों के सम्बन्ध में है।

पाश्चात्य जातियों में कुमारियों को पति मिलना दिन पर दिन कठिन होता जा रहा है। यदि किसी सामाजिक आचार को बदलना हो, तो पहले यही ढूँढ़ना चाहिए कि उस आचार की जड़ में क्या आवश्यकता है, और केवल उसीके बदलने से वह आचार आप ही आप नष्ट हो जायगा। ऐसा किये बिना केवल निन्दा या स्तुति से काम नहीं चलेगा।

२. अब प्रश्न यह है कि क्या समाज के बनाये हुए ये नियम, अथवा समाज का संगठन ही उस समाज के जनसाधारण के हितार्थ हैं? बहुत से लोग कहते हैं कि हाँ, पर कोई कोई कहते हैं कि ऐसा नहीं, कुछ मनुष्य औरों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त कर दूसरों को धीरे धीरे अपने अधीन कर लेते हैं और कुछ छल-बल या कौशल

से अपना मतलब हासिल कर लेते हैं। यदि यह सच है, तो इस बात का क्या अर्थ है कि अशिक्षित मनुष्यों को स्वाधीनता देने में डर रहता है? और फिर स्वाधीनता का अर्थ ही क्या है?

मेरे-तुम्हारे धन आदि छीन लेने में कोई बाधा न रहने का नाम तो स्वाधीनता है नहीं, बल्कि तन, मन या धन का, बिना दूसरों को हानि पहुँचाये, इच्छानुसार उपयोग करने ही का नाम स्वाधीनता है। यह तो मेरा स्वाभाविक अधिकार है और उस धन, विद्या या ज्ञान को प्राप्त करने में समाज के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधा रहनी चाहिए । दूसरी बात यह है कि जो लोग कहते हैं कि अशिक्षित या ग़रीब मनुष्यों को स्वाधीनता देने से अर्थात् उनको अपने शरीर और धन आदि पर पूरा अधिकार देने तथा उनके वंशजों को धनी और ऊँचे दर्जे के आदमियों के वंशजों की भाँति ज्ञान प्राप्त करने एवं अपनी दशा सुधारने में समान सुविधा देने से वे उच्छृंखल बन जायँगे, तो क्या वे समाज की भलाई के लिए ऐसा कहते हैं अथवा स्वार्थ से अन्धे होकर? इंग्लैंड में भी मैंने इस बात को सुना है कि अगर नीच लोग लिखना-पढ़ना सीख जायँगे, तो फिर हमारी नौकरी कौन करेगा?

मुट्ठी भर अमीरों के विलास के लिए लाखों स्त्री-पुरुष अज्ञता के अन्धकार और अभाव के नरक में पड़े रहें! क्योंकि उन्हें धन मिलने पर या उनके विद्या सीखने पर समाज उच्छृंखल हो जायगा!!

समाज है क़ौन? वे लोग जिनकी संख्या लाखों है? या तुम और मुझ जैसे दस-पाँच उच्च श्रेणीवाले?

यदि यह सच भी हो, तो भी तुममें और मुझमें ऐसा घमंड किस बात का है कि हम और सब लोगों को मार्ग बतायें? क्या हम लोग सर्वज्ञ हैं?

उद्धरेदात्मनात्मानम्—आप ही अपना उद्धार करना होगा। सब कोई अपने आपको उबारे। सभी विषयों में स्वाधीनता, यानी मुक्ति की ओर अग्रसर होना ही पुरुषार्थ है। जिससे और लोग शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता की ओर अग्रसर हो सकें, उसमें सहायता देना और स्वयं उसी तरफ़ बढ़ना ही परम पुरुषार्थ है। जो सामाजिक नियम इस स्वाधीनता के स्फुरण में बाधा डालते हैं, वे ही अहितकर हैं और ऐसा करना चाहिए, जिससे वे शीघ्र नष्ट हो जायँ। जिन नियमों के द्वारा सब जीव स्वाधीनता की ओर बढ़ सकें, उन्हींकी पुष्टि करनी चाहिए।

इस जन्म में दर्शन होते ही किसी व्यक्तिविशेष पर—चाहे वह वैसा गुणवान भले ही न हो—हमारा जो हार्दिक प्रेम हो जाता है, उसे हमारे यहाँ के पंडितों ने पूर्व जन्म का ही फल बतलाया है।

इच्छा-शक्ति के बारे में तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और यही समझने योग्य विषय है। वासनाओं का नाश ही सभी धर्मों का सार है, पर इसके साथ इच्छा का भी निश्चय ही नाश हो जाता है, क्योंकि वासना तो इच्छाविशेष ही का नाम है। अच्छा, तो यह जगत् क्यों हुआ? और इन इच्छाओं का विकास ही क्यों हुआ? कई एक धर्मों का कहना है--बुरी इच्छाओं का ही नाश होना चाहिए, न कि सदिच्छाओं का। इस लोक में वासना का त्याग परलोक में भोगों के द्वारा पूर्ण हो जायगा। अवश्य पंडित लोग इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हैं। दूसरी तरफ़ बौद्ध लोग कहते हैं कि वासना दुःख की जड़ है और उसका नाश ही श्रेय है। परन्तु मच्छर मारते हुए आदमी ही को मार डालने की तरह, बौद्ध आदि मतों के अनुसार दुःख का नाश करने के प्रयत्न में हमने अपनी आत्मा को भी मार डाला है।

सिद्धान्त यह है कि हम जिसे इच्छा कहते हैं, वह उससे भी बढ़कर किसी अवस्था का निम्न परिणाम है। 'निष्काम' का अर्थ है इच्छा-शक्तिरूप निम्न परिणाम का त्याग और उच्च परिणाम का आविर्भाव। यह उच्च परिणाम मन और बुद्धि के गोचर नहीं; परन्तु जैसे देखने में मुहर रुपये और पैसे से अत्यन्त भिन्न होने पर भी हम निश्चित जानते हैं कि मुहर दोनों ही से श्रेष्ठ है, वैसे ही वह उच्चतम अवस्था-- उसे मुक्ति कहो या निर्वाण या और कुछ--मन-बुद्धि के गोचर न होने पर भी इच्छा आदि सब शक्तियों से बढ़कर है। यद्यपि वह 'शक्ति' नहीं, तो भी शक्ति उसीका परिणाम है, इसीलिए वह बढ़कर है; यद्यपि वह इच्छा नहीं, पर इच्छा उसीका निम्न परिणाम है, अतः वह उत्कृष्टतर है। अब समझ लो, पहले सकाम, और आगे चलकर निष्काम रीति से ठीक ठीक इच्छा-शक्ति के उपयोग का फल यह होगा कि इच्छा-शक्ति पहले से बहुत उन्नत दशा को पहुँच जायगी।

गुरु-मूर्ति का पहले ध्यान करना पड़ता है, बाद में उसे लय कर इष्ट-मूर्ति की स्थापना करनी पड़ती है। जिस पर भक्ति एवं प्रेम हो, वही इष्ट के रूप में ग्राह्य है।...

मनुष्य में ईश्वर-बुद्धि का आरोप करना बड़ा ही कठिन है, पर सतत प्रयत्न करने से अवश्य सफलता मिलती है। ईश्वर हर एक मनुष्य में विराजता है, चाहे वह इसे जाने या न जाने; तुम्हारी भक्ति से उस ईश्वरत्व का उसमें अवश्य ही उदय होगा।

तुम्हारा सदैव शुभाकांक्षी,

विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

रिजले मॅनर,
३० अक्तूबर, १८९९

प्रिय आशावादिनी

तुम्हारी चिट्ठी मिली और इसके लिए अनुग्रहीत हूँ कि किसी बात ने आशावादी एकान्तवाद को सक्रिय होने के लिए विवश किया है। यों तो तुम्हारे प्रश्नों ने नैराश्य के स्रोत को ही खोल दिया है। आधुनिक भारत में अंग्रेज़ी शासन का केवल एक ही सान्त्वनादायक पक्ष है कि एक बार फिर उसने अनजाने ही भारत को विश्व के रंगमंच पर लाकर खड़ा कर दिया है, उसने बाह्य जगत् के सम्पर्क को इस पर लाद दिया है। अगर जनता के मंगल के लिए यह किया गया होता, तो जिस तरह परिस्थितियों ने जापान की सहायता की, भारत के लिए इसका परिणाम और भी आश्चर्यजनक होता। जब मुख्य ध्येय ख़ून चूसना हो, कोई कल्याण नहीं हो सकता। मोटे रूप से जनता के लिए पुराना शासन अधिक अच्छा था, क्योंकि जनता से वह सब कुछ नहीं छीनता था और उसमें कुछ न्याय था, कुछ स्वतन्त्रता थी।

कुछ सौ आधुनिक, अर्धशिक्षित एवं राष्ट्रीय चेतनाशून्य पुरुष ही वर्तमान अंग्रेज़ी भारत का दिखावा हैं—और कुछ नहीं। मुस्लिम इतिहासकार फ़रिश्ता के अनुसार १२वीं शताब्दी में ६० करोड़ हिन्दू थे—अब २० करोड़ से भी कम।

भारत को जीतने के लिए अंग्रेज़ों के संघर्ष के मध्य शताब्दियों की अराजकता, अंग्रेज़ों द्वारा १८५७-५८ में किये गये भयावह जनवधों और इससे भी अधिक भयावह अकालों, जो अंग्रेज़ी शासन के अनिवार्य परिणाम बन गये हैं (देशी राज्यों में कभी अकाल नहीं पड़ता) और उनमें लाखों प्राणियों की मृत्यु के बावजूद भी जनसंख्या में काफ़ी वृद्धि होती रही है; तब भी जनसंख्या उतनी नहीं है, जब देश पूर्णतः स्वतन्त्र था—अर्थात् मुस्लिम शासन के पूर्व। भारतीय श्रम एवं उत्पादन से भारत की वर्तमान आबादी की पाँच गुनी आबादी का भी आसानी से निर्वाह हो सकता है, यदि भारतीयों की सारी वस्तुएँ उनसे छीन न ली जायँ।

यह आज की स्थिति है—शिक्षा को भी अब अधिक नहीं फैलने दिया जायगा; प्रेस की स्वतन्त्रता का गला पहले ही घोंट दिया गया है, (निरस्त्र तो हम पहले से ही कर दिये गये हैं) और स्वशासन का जो थोड़ा अवसर हमको पहले दिया गया था, शीघ्रता से छीना जा रहा है। हम इन्तज़ार कर रहे हैं कि अब आगे क्या होगा! निर्दोष आलोचना में लिखे गये कुछ शब्दों के लिए लोगों को कालापानी की सज़ा दी

जा रही है, अन्य लोग बिना कोई मुक़दमा चलाये जेलों में ठूँसे जा रहे हैं; और किसीको कुछ पता नहीं कि कब उनका सर धड़ से अलग हो जायगा।

कुछ वर्षों से भारत में आतंकपूर्ण शासन का दौर है। अंग्रेज़ सिपाही हमारे देशवासियों का खून कर रहे हैं, हमारी बहनों को अपमानित कर रहे हैं—हमारे खर्च से ही यात्रा का किराया और पेन्शन देकर स्वदेश भेजे जाने के लिए! हम लोग घोर अंधकार में हैं—ईश्वर कहाँ है? मेरी, तुम आशावादिनी हो सकती हो, लेकिन क्या मेरे लिए यह सम्भव है? मान लो, तुम इस पत्र को केवल प्रकाशित भर कर दो—तो उस क़ानून का सहारा लेकर जो अभी अभी भारत में पारित हुआ है, अंग्रेज़ी सरकार मुझे यहाँ से भारत घसीट ले जायगी और बिना किसी क़ानूनी कार्रवाई के मुझे मार डालेगी। और मुझे यह मालूम है कि तुम्हारी सभी ईसाई सरकारें इस पर खुशियाँ मनायेंगी, क्योंकि हम ग़ैरईसाई हैं। क्या मैं भी सोने चला जा सकता हूँ और आशावादी हो सकता हूँ? नीरो सबसे बड़ा आशावादी मनुष्य था! समाचार के रूप में भी वे इन भीषण बातों को प्रकाशित करना नहीं चाहते, अगर कुछ समाचार देना आवश्यक भी हो, तो 'रॉयटर' के संवाददाता ठीक उलटा झूठा समाचार गढ़कर देते हैं! एक ईसाई के लिए ग़ैरईसाई की हत्या भी वैधानिक मनोरंजन है! तुम्हारे मिशनरी ईश्वर का उपदेश करने जाते हैं, लेकिन अंग्रेज़ों के भय से एक शब्द भी सत्य कह पाने का साहस नहीं कर पाते, क्योंकि अंग्रेज उन्हें दूसरे दिन ही लात मारकर निकाल बाहर कर देंगे।

शिक्षा-संचालन के लिए पूर्ववर्ती सरकारों द्वारा अनुदत्त सम्पत्ति एवं ज़मीन को गले के नीचे उतार लिया गया है और वर्तमान सरकार रूस से भी कम शिक्षा पर व्यय करती है। और शिक्षा भी कैसी?

मौलिकता की किंचित् अभिव्यक्ति भी दबा दी जाती है। मेरी, अगर कोई वास्तव में ऐसा ईश्वर नहीं है, जो सबका पिता है, जो निर्बल की रक्षा करने में सबल से भयभीत नहीं है और जिसे रिश्वत नहीं दी जा सकती, तो सब कुछ हमारे लिए निराशा ही है। क्या कोई इसी प्रकार का ईश्वर है? समय बतायेगा।

हाँ तो, मैं ऐसा सोच रहा हूँ कि कुछ सप्ताह में शिकागो आ रहा हूँ और इन विषयों पर पूर्ण रूप से बात करूँगा। इस समाचार के सूत्र को प्रकट न करना।

प्यार के साथ सतत तुम्हारा भाई,

विवेकानन्द

पुनश्च—जहाँ तक धार्मिक सम्प्रदायों का प्रश्न है, ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज तथा अन्य व्यर्थ की खिचड़ी पकाते हैं। वे मात्र अंग्रेज़ मालिकों के प्रति कृतज्ञता

की ध्वनियाँ हैं, जिससे कि वे हमें साँस लेने की आज्ञा दे सकें। हम लोगों ने एक नये भारत का श्रीगणेश किया है--एक विकास--इस बात की प्रतीक्षा में कि आगे क्या घटित होता है। हम तभी नये विचारों में आस्था रखते हैं, जब राष्ट्र उनकी माँग करता है और जो हमारे लिए सत्य हैं। ब्राह्मसमाजी के लिए सत्य की यह कसौटी है, 'जिसका हमारे मालिक अनुमोदन करें'; किन्तु हमारे लिए वह सत्य है, जो भारतीय बुद्धि एवं अनुभूति द्वारा मण्डित है। संघर्ष आरम्भ हो गया है--हमारे एवं ब्राह्मसमाज के बीच नहीं, क्योंकि वे पहले से ही निष्प्राण हो गये हैं, बल्कि इससे भी अधिक एक कठिन, गम्भीर एवं भीषण संघर्ष।

वि०

(स्वामी अखण्डानन्द को लिखित)

ॐ तत् सत्

कैलिफ़ोर्निया,
२१ फ़रवरी, १९००

कल्याणवरेषु,

तुम्हारा पत्र पाकर और विस्तारपूर्वक सब समाचार पढ़कर मुझे अति हर्ष हुआ। विद्या और पाण्डित्य बाह्य आडम्बर हैं और बाह्य भाग केवल चमकता है; परन्तु सब शक्तियों का सिंहासन हृदय होता है। ज्ञानमय, शक्तिमय तथा कर्ममय आत्मा का निवास-स्थान मस्तिष्क में नहीं, वरन् हृदय में है। **शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः**--हृदय की नाड़ियाँ एक सौ एक हैं, इत्यादि। मुख्य नाड़ी का केन्द्र, जिसे संवेदक समूह (Sympathetic ganglia) कहते हैं, हृदय के निकट होता है; और यही आत्मा का निवास दुर्ग है। जितना अधिक तुम हृदय का विकास कर सकोगे, उतनी अधिक तुम्हारी विजय होगी। मस्तिष्क की भाषा तो कोई कोई ही समझता है, परन्तु हृदय की भाषा, ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सभी समझ सकते हैं। परन्तु हमें अपने देश में तो ऐसे लोगों को जाग्रत करना है, जो मृतप्राय हैं। इसमें समय लगेगा, परन्तु यदि तुममें असीम धीरज और उद्योग-शक्ति है, तो सफलता निश्चित रूप से ही प्राप्त होगी। इसमें तनिक भी त्रुटि नहीं हो सकती।

अंग्रेज़ कर्मचारियों का क्या दोष है? क्या वे परिवार, जिनकी अस्वाभाविक निर्दयता के बारे में तुमने लिखा है, भारत में अनोखे हैं? या ऐसों का बाहुल्य है? पूरे देश में यह एक ही कथा है। परन्तु यह स्वार्थपरता जो हमारे देश में साधारणतः पायी जाती है, निरी दुष्टता का ही परिणाम नहीं है। यह पाशविक स्वार्थपरता शताब्दियों की निष्फलता और अत्याचार का फल है। यह वास्तविक स्वार्थपरता

नहीं है, वरन् अगाध नैराश्य है। सफलता के पहले झोंके में यह शान्त हो जायगा। अंग्रेज़ कर्मचारी चारों ओर इसीको देखते हैं, इसीलिए उन्हें आरम्भ से ही विश्वास कैसे हो सकता है? परन्तु मुझे यह बताओ कि जब सच्चा कार्य वे प्रत्यक्ष देखते हैं, तो वे क्या सहानुभूति नहीं प्रकट करते? देशी कर्मचारी क्या इस प्रकार कर सकेंगे?

इन उग्र दुर्भिक्ष, बाढ़, रोग और महामारी के दिनों में कहो, तुम्हारे कांग्रेस-वाले कहाँ हैं? क्या यह कहना पर्याप्त होगा कि 'राजशासन हमारे हाथ में दे दो?' और उनकी सुनेगा भी कौन? यदि मनुष्य काम करता है, तो क्या उसे अपना मुख खोलकर कुछ माँगना पड़ता है? यदि तुम्हारे जैसे दो हज़ार लोग कई ज़िलों में काम करते हों, तो राजकाज के विषय में अंग्रेज़ स्वयं बुलाकर तुमसे सलाह लेंगे!! **स्वकार्यमुद्धरेत्प्राज्ञः**—'बुद्धिमान मनुष्य को अपना कार्य स्वयं पूर्ण करना चाहिए'. . . .अ—को केन्द्र खोलने की आज्ञा नहीं मिली, परन्तु इससे क्या? क्या किशनगढ़ ने नहीं मान लिया? उसे चुपचाप काम करने दो, किसीसे कुछ कहने की या विवाद करने की आवश्यकता नहीं है। जो जगज्जननी के इस कार्य में सहायता करेगा, उस पर उनकी कृपा होगी और जो उसका विरोध करेगा, वह केवल—**अकारणाविष्कृतवैरदारुणः**—अकारण ही दारुण वैर का आविष्कार ही न करेगा, वरन् अपने भाग्य पर भी कुठाराघात करेगा।

शनैः पन्थाः इत्यादि, सब अपने समय पर होगा। बूंद बूंद से घड़ा भरता है। जब कोई बड़ा काम होता है, जब नींव पड़ती है या मार्ग बनता है, जब दैवी शक्ति की आवश्यकता होती है—तब एक या दो असाधारण मनुष्य विघ्न और कठिनाइयों के पहाड़ को पार करते हुए चुपचाप और शान्ति से काम करते हैं। जब सहस्रों मनुष्यों का लाभ होता है, तब बड़ा कोलाहल मचता है और पूरा देश प्रशंसा से गूंज उठता है। परन्तु तब तक वह यन्त्र तीव्रता से चल चुका होता है और कोई बालक भी उसे चलाने का सामर्थ्य रखता है या कोई भी मूर्ख उसकी गति में वृद्धि कर सकता है। किन्तु यह अच्छी तरह समझ लो कि एक या दो गाँवों का जो उपकार हुआ है, वह अनाथालय जिसमें बीस-पचीस अनाथ ही हैं तथा वे ही दस-बीस कार्यकर्ता—नितान्त पर्याप्त हैं और यही वह केन्द्र बनाता है, जो कभी नष्ट होने का नहीं। यहाँ से लाखों मनुष्यों को समय पर लाभ पहुँचेगा। अभी हमको आधे दर्जन सिंह चाहिए, उसके बाद सैकड़ों गीदड़ भी उत्तम काम कर सकेंगे।

यदि अनाथ बालिकाएँ तुम्हारे आश्रय में किसी प्रकार आ जायँ, तो तुम उन्हें सबसे पहले ले लेना। नहीं तो ईसाई मिशनरी उन बेचारियों को ले जायँगे। यदि तुम्हारे पास उनके लिए विशेष प्रबन्ध नहीं है, तो इसकी क्या चिन्ता? जग-

ज्जननी की इच्छा से उनका प्रबन्ध हो जायगा। घोड़ा मिलने पर चाबुक अपने आप आ जायगा। अभी लड़कों और लड़कियों को एक साथ ही रखो। एक नौकरानी रख लो, वह लड़कियों की देखभाल करेगी; वह उन्हें अलग अपने पास सुलायेगी। अभी तुम्हें जो मिले, उसे ले लो, चुनाव-छँटाव मत करना। बाद में सब कुछ अपने आप ठीक हो जायगा। प्रत्येक उद्योग में विघ्नों का सामना करना पड़ता है, परन्तु धीरे धीरे मार्ग सुगम हो जाता है।

अंग्रेज़ कर्मचारी को मेरी ओर से बहुत बहुत धन्यवाद का संदेश देना। निर्भय होकर काम करो--कैसे वीर हो! शाबाश! शाबाश!! शाबाश!!!

भागलपुर में केन्द्र खोलने के लिए जो तुमने लिखा है, वह विचार---विद्यार्थियों को शिक्षा देना इत्यादि---निःसंदेह बहुत अच्छा है, परन्तु हमारा संघ दीन-हीन, दरिद्र, निरक्षर किसान तथा श्रमिक समाज के लिए है और उनके लिए सब कुछ करने के बाद जब समय बचेगा, केवल तब कुलीनों की बारी आयेगी। प्रेम द्वारा तुम उन किसान और श्रमिक लोगों को जीत सकोगे। इसके पश्चात् वे स्वयं थोड़ा सा धन संग्रह करके अपने गाँव में ऐसे ही संघ बनायेंगे, और धीरे धीरे उन्हीं लोगों में शिक्षक पैदा हो जायँगे।

कुछ ग्रामीण लड़के और लड़कियों को विद्या के आरम्भिक सिद्धान्त सिखा दो और अनेक विचार उनकी बुद्धि में बैठा दो। इसके बाद प्रत्येक ग्राम के किसान रुपया जमा करके अपने अपने ग्रामों में एक एक संघ स्थापित करेंगे। **उद्धरेदात्मनात्मानम्**---'अपनी आत्मा का अपने उद्योग से उद्धार करो।' यह सब परिस्थितियों में लागू होता है। हम उनकी सहायता इसीलिए करते हैं, जिससे वे स्वयं अपनी सहायता कर सकें। वे तुम्हें प्रतिदिन का भोजन प्राप्त करा देते हैं, यही इस बात का द्योतक है कि कुछ यथार्थ कार्य हुआ है। जिस क्षण उन्हें अपनी अवस्था का ज्ञान हो जायगा और वे सहायता तथा उन्नति की आवश्यकता को समझेंगे, तब जानना कि तुम्हारा प्रभाव पड़ रहा है, एवं तुम ठीक रास्ते पर हो। धनवान श्रेणी के लोग दया से ग़रीबों के लिए जो थोड़ी सी भलाई करते हैं, वह स्थायी नहीं होती और अन्त में दोनों पक्षों को हानि पहुँचाती है। किसान और श्रमिक समाज मरणासन्न अवस्था में हैं, इसलिए जिस चीज़ की आवश्यकता है, वह यह है कि धनवान उन्हें अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करने में सहायता दें और कुछ नहीं। फिर किसानों और मज़दूरों को अपनी समस्याओं का सामना और समाधान स्वयं करने दो। परन्तु तुम्हें सावधान रहना चाहिए कि ग़रीब किसान-मज़दूर और धनवानों में परस्पर कहीं जाति-विरोध का बीज न पड़ जाय। यह ध्यान रखो कि धनिकों के प्रति

दुर्वचन न कहो—स्वकार्यमुद्धरेत्प्राज्ञः—'ज्ञानी मनुष्य को अपना कार्य अपने उद्योग से करना चाहिए।'

गुरु की जय हो! जगज्जननी की जय हो! भय क्या है! अवसर, औषधि तथा इनका उपयोग स्वयं ही आ उपस्थित होंगे। मैं परिणाम की चिन्ता नहीं करता, चाहे अच्छा हो या बुरा। इतना काम यदि तुम करोगे, तो मुझे हर्ष होगा। वाद-प्रतिवाद, मूल-पाठ, शास्त्र, साम्प्रदायिक मत-मतान्तर—इनसे मैं अपनी इस बढ़ती हुई उम्र में विष की तरह द्वेष करता हूँ। यह निश्चित रूप से जानो कि जो काम करेगा, वह मेरे सिर की मुकुट-मणि होगा। व्यर्थ शब्दों का विवाद और शोर मचाने में हमारा समय नष्ट हो रहा है और हमारी जीवन-शक्ति क्षीण हो रही है तथा मनुष्य जाति के कल्याण के लिए एक पग भी हम आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। माभैः—'डरो मत!' शाबाश! निश्चय ही तुम वीर हो। श्री गुरु तुम्हारे हृदय-सिंहासन पर स्थित रहें और जगज्जननी तुम्हें मार्गप्रदर्शन करें। इति

विवेकानन्द

(एक अमेरिकन मित्र को लिखित)

अलामेडा, कैलिफ़ोर्निया,
१२ अप्रैल, १९००

प्रिय—

'माँ' फिर से अनुकूल हो रही हैं। कार्य अब सफल हो रहे हैं। ऐसा होना ही था।

कर्म के साथ दोष अवश्य जुड़ा रहता है। मैंने उस संचित दोष का मूल्य बुरे स्वास्थ्य के रूप में चुकाया है। मैं प्रसन्न हूँ, उससे मेरा मन भी हल्का हो गया है। जीवन में अब ऐसी शान्ति और कोमलता आ गयी है, जो पहले नहीं थी। मैं अब आसक्ति और उसके साथ साथ अनासक्ति दोनों सीख रहा हूँ; और क्रमशः अपने मन का स्वामी बनता जा रहा हूँ...

'माँ' ही अपना काम कर रही हैं; मैं अब अधिक चिन्ता नहीं करता। प्रति क्षण मेरे समान सहस्रों पतंगे मरते हैं। उनका काम उसी प्रकार चलता रहता है। माँ की जय हो!... माँ की इच्छा के प्रवाह में निःसंग भाव से बहना, यही मेरा सम्पूर्ण जीवन रहा है। जिस समय मैंने इसमें बाधा डालने का यत्न किया है, उसी समय मैंने कष्ट पाया है। उनकी इच्छा पूर्ण हो!...

मैं आनन्द में हूँ, मानसिक शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ तथा पहले की अपेक्षा मैं अब अधिक विरक्त हो गया हूँ। अपने सगे-सम्बन्धियों का प्रेम दिन दिन घट

रहा है, और 'माँ' का प्रेम बढ़ रहा है। दक्षिणेश्वर में वटवृक्ष के नीचे श्री रामकृष्ण के साथ रात्रिजागरण की स्मृतियाँ एक बार फिर जाग्रत हो रही हैं। और काम? काम क्या है? किसका काम? किसके लिए मैं काम करूँ?

मैं स्वतन्त्र हूँ। मैं 'माँ' का बालक हूँ। वे ही काम करती हैं, वे ही खेलती हैं। मैं क्यों संकल्प बनाऊँ? मैं क्या संकल्प बनाऊँ? बिना मेरे संकल्प के 'माँ' की इच्छानुसार ही चीज़ें आयीं और गयीं। हम उनके यंत्र हैं, वे कठपुतली की तरह नचाती हैं।

विवेकानन्द

देखो 'जो-जो', इन सब बातों के बारे में मेरी नीति तो तुम्हें विदित ही है, अर्थात् सारे झंझटों से अलग रहना। 'माँ' ही इन विषयों की व्यवस्था करती हैं। मेरा कार्य समाप्त हो चुका है। 'जो', मैं तो अवकाश ले चुका हूँ। 'माँ' अब स्वयं ही अपना कार्य संचालित करती रहेंगी। मैं तो इतना ही जानता हूँ।

जैसा कि तुमने परामर्श दिया है, यहाँ पर जो कुछ धन मैंने एकत्र किया है, उसे अब भेज दूंगा। आज ही मैं भेज सकता था; किन्तु हज़ार की संख्या पूरी करने की प्रतीक्षा में हूँ। इस सप्ताह के समाप्त होने से पूर्व ही सैन फ़्रांसिस्को में एक हज़ार की पूर्ति की आशा है। न्यूयार्क के नाम मैं एक ड्राफ़्ट खरीद कर भेजूंगा अथवा बैंक को ही समुचित व्यवस्था करने के लिए कहूँगा।

मठ तथा हिमालय से अनेक पत्र आये हैं। आज सुबह स्वरूपानन्द का एक पत्र मिला है; कल श्रीमती सेवियर का भी एक पत्र आया था।

कुमारी हैन्सबॉरो से मैंने फोटो के बारे में कहा था। श्री लेगेट से मेरा नाम लेकर वेदान्त सोसाइटी के संचालन की समुचित व्यवस्था करने के लिए कहना।

मैंने इतना ही समझा है कि प्रत्येक देश में उसीकी निजी प्रणाली अपनाकर हमें चलना होगा। अतः यदि तुम्हारे कार्य का सम्पादन कदाचित् मुझे करना पड़ता, तो मैं समस्त सहानुभूति रखनेवाले सज्जनों की एक सभा बुलाकर उनसे यह पूछता कि वे आपस में सहयोग स्थापन करना चाहते हैं अथवा नहीं, और यदि चाहते हों, तो उसका रूप क्या होना चाहिए, आदि। किन्तु तुम बुद्धिमती हो, स्वयं ही इसकी व्यवस्था कर लेना। मैं इससे मुक्ति चाहता हूँ। यदि तुम यह समझो कि मेरी उपस्थिति से सहायता मिल सकती है, तो मैं लगभग पन्द्रह दिन के अन्दर आ सकता हूँ। मेरा यहाँ का कार्य समाप्त हो चुका है। सैन फ़्रांसिस्को के बाहर 'स्टाक्टन' नाम का एक छोटा शहर है—मैं कुछ दिन वहाँ पर कार्य करना चाहता हूँ। उसके उपरान्त पूर्व की ओर जाना है। मैं समझता हूँ कि अब मुझे विश्राम लेना आवश्यक

है--यद्यपि इस शहर में मैं प्रति सप्ताह १०० डॉलर पा सकता हूँ। अब मैं न्यूयार्क पर 'लाइट ब्रिगेड का आक्रमण'[1] चाहता हूँ। मेरा हार्दिक स्नेह जानना।

तुम्हारा चिरस्नेहशील,
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

अलामेडा, कैलिफ़ोर्निया,
१८ अप्रैल, १९००

प्रिय 'जो',

अभी मुझे तुम्हारा और श्रीमती बुल का आनन्ददायक पत्र मिला। मैं इसे लन्दन भेज रहा हूँ। यह जानकर कि श्रीमती लेगेट की तबियत ठीक हो रही है, मुझे अति हर्ष हुआ।

मुझे बड़ा दुःख है कि श्री लेगेट ने सभापति के पद का त्याग कर दिया है। अच्छा, कहीं मैं और झगड़ा न बढ़ा दूँ, इससे डरकर मैं चुप हूँ। तुम जानती हो कि मेरा तरीक़ा बड़ा कठोर होता है और एक बार उत्तेजित होने से कदाचित् 'अ' को मैं बहुत कुछ कह जाऊँ, जो वह सहन न कर सके।

मैंने उन्हें केवल यह बतलाने को लिखा कि श्रीमती बुल के सम्बन्ध में उनके विचार सर्वथा अन्यायपूर्ण हैं।

कर्म करना हमेशा कठिन होता है। 'जो'! मेरे लिए प्रार्थना करो कि मेरा काम सदा के लिए बन्द हो जाय और मेरे प्राण 'माँ' में लीन हो जायँ। अपना काम 'माँ' ही जानती हैं।

एक बार पुनः लन्दन आकर तुम आनन्दित होगी--वे पुराने मित्र--उन सबको मेरी कृतज्ञता और प्रेम कहना।

मैं स्वस्थ हूँ, मन से अत्यन्त स्वस्थ हूँ। मैं शारीरिक विश्राम की अपेक्षा आत्म-विश्राम का अधिक अनुभव करता हूँ। संग्राम में जय-पराजय होती है। मैंने अपनी गठरी बना ली है और महामुक्तिदाता की बाट जोह रहा हूँ।

१. क्रीमिया की लड़ाई में थोड़े से अस्त्र-शस्त्र से सज्जित ६०० घुड़सवारों की एक सेना को भूल से यह आदेश प्राप्त हुआ कि प्रबल शत्रुदल पर आक्रमण करना होगा। सभी को यह ज्ञात था कि इस आक्रमण का फल निश्चित रूप से मृत्यु को वरण करना ही है। फिर भी गोलियों की परवाह न कर वे अग्रसर हुए एवं कुछ योद्धाओं को छोड़कर बाक़ी सभी ने अपना प्राण देकर इस आदर्श को चिरस्थायी बनाया कि कर्तव्य के आह्वान पर योद्धा कभी पीछे हटनेवाले नहीं हैं। स०

'शिव, हे शिव, मेरी नैया को पार लगा दे।'

'जो'! यह न भूलना कि मैं वही बालक हूँ, जो निमग्न और विस्मित भाव से दक्षिणेश्वर में पंचवटी के नीचे बैठकर श्री रामकृष्ण के अद्‌भुत वचनों को सुनता था। यही मेरा सच्चा स्वभाव है; कर्म, उद्योग परोपकार आदि ये सब ऊपरी बातें हैं। अब मैं फिर उनकी मधुर वाणी सुन रहा हूँ---वही चिर परिचित कंठस्वर, जो मेरे अन्तःकरण को रोमांचित कर देता था। बंधन टूट रहे हैं---प्रेम का दीपक बुझ रहा है। कर्म रसहीन हो रहा है। जीवन के प्रति आकर्षण भी मन से दूर हो गया है! अब केवल गुरु की मधुर गम्भीर पुकार ही सुनायी पड़ रही है---'मैं आया,---प्रभु मैं आया।' वे कह रहे हैं, 'मृत को स्वयं ही दफ़नाने दो और तुम मेरे अनुगामी बनो।' मैं आता हूँ, मेरे प्राण-वल्लभ! मैं आता हूँ!

हाँ, मैं आता हूँ। निर्वाण मेरे सामने है। उस शांति के अनन्त सागर का, जहाँ पानी की एक भी हिलोर नहीं है, न हवा की एक साँस---मैं कभी कभी उसका अनुभव करता हूँ।

मुझे हर्ष है कि मैंने जन्म लिया, हर्ष है कि मैंने कष्ट उठाया, हर्ष है कि मैंने बड़ी बड़ी भूलें कीं, और हर्ष है कि निर्वाणरूपी शान्तिसागर में विलीन होने जा रहा हूँ। खुद के लिए मैं किसीको बन्धन में छोड़कर नहीं जा रहा हूँ, न मैं कोई बन्धन ले जा रहा हूँ। चाहे इस शरीर की मृत्यु से मुझे मुक्ति मिले, या शरीर के रहते हुए मुक्त हो जाऊँ, वह पहला मनुष्य चला गया, सदा के लिए चला गया और कभी वापस नहीं आयेगा।

शिक्षादाता, गुरु, नेता, आचार्य विवेकानन्द चला गया---है केवल वही बालक, प्रभु का चिरशिष्य, चिरपदाश्रित दास।

तुम समझती हो कि मैं 'अ' के कार्य में हस्तक्षेप क्यों नहीं करना चाहता। 'जो' मैं कौन हूँ किसीके काम में हस्तक्षेप करनेवाला? मैंने नेता का अपना स्थान बहुत दिनों से त्याग दिया---मुझे अब बोलने का अधिकार नहीं है। इस वर्ष के आरम्भ से मैंने भारत में कोई आदेश नहीं दिया। तुम यह जानती हो। तुमने और श्रीमती बुल ने अब तक मेरे लिए जो कुछ किया, उसके लिए बहुत बहुत धन्यवाद। तुम लोगों का सर्वांगीण कल्याण हो। उनके इच्छाप्रवाह में मैं जब बह रहा था, मेरे जीवन के वे ही सबसे मधुर क्षण थे। मैं फिर बह रहा हूँ---ऊपर उज्ज्वल और उष्ण सूर्य है और चारों ओर वनस्पति की बहुलता---गर्मी में सब चीजें निस्तब्ध और शान्त हैं---अलसायी हुई गति से नदी के उष्ण हृदय-पट पर मैं बह रहा हूँ। यह अद्‌भुत निस्तब्धता, ऐसी निस्तब्धता, जिससे विश्वास होता

है कि यह भ्रम है--कहीं यह निस्तब्धता नष्ट न हो जाय, इस डर से मैं हाथ-पैर नहीं चलाता।

मेरे कर्म के पीछे महत्त्वाकांक्षा थी, प्रेम के पीछे व्यक्तित्व, पवित्रता के पीछे भय और मेरे पथ-प्रदर्शन के पीछे शक्ति की लालसा। वे अब लुप्त हो रहे हैं और मैं बह रहा हूँ। मैं आ रहा हूँ। माँ, मैं तुम्हारी स्नेहमयी गोद में आ रहा हूँ, जहाँ तुम ले जाओगी, वहीं बहता हुआ मैं आता हूँ; उस शब्दहीन अपरिचित और अद्-भुत देश में; नाटक का पात्र होकर नहीं--दर्शक बनकर आ रहा हूँ।

अहा! कितनी शान्ति है! हृदय के अन्तःस्थल में मेरे विचार दूर से, बड़ी दूर से आते हुए मालूम होते हैं। वे निस्तेज, दूर के, धीमे स्वर में बोले हुए शब्द के समान जान पड़ते हैं और सब चीज़ों पर शान्ति छायी हुई है, मधुर, मधुमयी शान्ति--जैसे सोने से पहले दो-चार क्षण के लिए अनुभव होता है, जब सब चीज़ें दिखती हैं, पर छाया मात्र विदित होती है--बिना डर के, बिना प्रेम के, और बिना भावना के। शान्ति, जो चित्र और मूर्तियों से घिरे हुए, अकेले में अनुभव होती है। --मैं आया, प्रभु, मैं आया।

बस, यह संसार है--न सुन्दर, न भद्दा--भावहीन इन्द्रियजनित ज्ञान के समान। अरी 'जो', उस परमानन्द को कैसे कहूँ! सब वस्तुएँ सुन्दर और शिव हैं, सब वस्तुएँ मेरे लिए अपना व्यावहारिक सम्बन्ध खो रही हैं--जिसमें प्रथम मेरा शरीर है। ॐ तत् सत्!

मुझे आशा है कि लन्दन और पेरिस में तुम सबके लिए बड़ी बड़ी बातें होंगी। नये आनन्द--मन और शरीर के नये लाभ।

तुम्हें और श्रीमती बुल को सदा की भाँति मेरा अनन्य स्नेह।

तुम्हारा शुभचिन्तक,
विवेकानन्द

(स्वामी स्वरूपानन्द को लिखित)

गोपाललाल विला,
वाराणसी छावनी,
९ फ़रवरी, १९०२

प्रिय स्वरूप,

. . . चारु के पत्र के उत्तर में उससे कहना कि ब्रह्मसूत्र का वह स्वयं अध्ययन करे। उसका यह कहने से क्या अभिप्राय है कि ब्रह्मसूत्रों में बौद्ध मत का संकेत है? निश्चय ही उसका मतलब भाष्य से होगा--होना चाहिए, और शंकराचार्य

केवल अन्तिम भाष्यकार थे; हाँ, बौद्ध साहित्य में भी वेदान्त का कहीं कहीं उल्लेख है और बौद्धों का महायान मत अद्वैतवादी भी है। अमरसिंह नाम के एक बौद्ध ने बुद्ध के नामों में अद्वयवादी का नाम क्यों दिया था? चारु लिखता है कि ब्रह्म शब्द उपनिषद् में नहीं आता है! वाह!!

बौद्ध धर्म के दोनों मतों में मैं महायान को अधिक प्राचीन मानता हूँ। माया का सिद्धान्त ऋक् संहिता के समान प्राचीन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'माया' शब्द का प्रयोग है, जो प्रकृति से विकसित हुआ है। इस उपनिषद् को कम से कम मैं बौद्ध धर्म से प्राचीन मानता हूँ।

बौद्ध धर्म के विषय में मुझे कुछ दिनों से बहुत सा ज्ञान हुआ है। मैं इसका प्रमाण देने को तैयार हूँ कि—

(१) शिव-उपासना अनेक रूपों में बौद्ध मत से पहले स्थापित थी, और बौद्धों ने शैवों के तीर्थस्थानों को लेने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल होने पर उन्होंने उन्हींके निकट नये स्थान बनाये, जैसे कि बोधगया और सारनाथ में पाये जाते हैं।

(२) अग्निपुराण में गयासुर की कथा का बुद्ध से सम्बन्ध नहीं है—जैसा कि डॉ० राजेन्द्रलाल मानते हैं—परन्तु उसका सम्बन्ध केवल पहले से ही वर्तमान एक कथा से है।

(३) बुद्धदेव गयाशीर्ष पर्वत पर रहने गये, इससे यह प्रमाण मिलता है कि वह स्थान पहले से ही था।

(४) गया पहले से ही पूर्वजों की उपासना का स्थान बन चुका था, और बौद्धों ने अपनी चरण-चिह्न-उपासना में हिन्दुओं का अनुकरण किया है।

(५) प्राचीन से प्राचीन पुस्तकें भी यह प्रमाणित करती हैं कि वाराणसी शिव-पूजा का बड़ा स्थान था, आदि आदि।

बोधगया से और बौद्ध साहित्य से मैंने बहुत सी नयी बातें जानी हैं। चारु से कहना कि वह स्वयं पढ़े तथा मूर्खतापूर्ण मतों से प्रभावित न हो।

मैं यहाँ, वाराणसी में अच्छा हूँ और यदि मेरा इसी प्रकार स्वास्थ्य सुधरता जायगा, तो मुझे बड़ा लाभ होगा।

बौद्ध धर्म और नव-हिन्दू धर्म के सम्बन्ध के विषय में मेरे विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उन विचारों को निश्चित रूप देने के लिए कदाचित् मैं जीवित न रहूँ, परन्तु उसकी कार्य-प्रणाली का संकेत मैं छोड़ जाऊँगा और तुम्हें तथा तुम्हारे भ्रातृगणों को उस पर काम करना होगा।

आशीर्वाद और प्रेमपूर्वक तुम्हारा,

विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

बेलूड़ मठ,
१४ जून, १९०२

प्रिय धीरा माता,

. . . मेरे विचार से पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए किसी भी जाति को मातृत्व के प्रति परम आदर की धारणा दृढ़ करनी चाहिए; और वह विवाह को अच्छेद्य एवं पवित्र धर्म-संस्कार मानने से हो सकती है। रोमन कैथोलिक ईसाई और हिन्दू विवाह को अच्छेद्य और पवित्र धर्मसंस्कार मानते हैं, इसलिए दोनों जातियों ने परम शक्तिमान महान् ब्रह्मचारी पुरुषों और स्त्रियों को उत्पन्न किया है। अरबों के लिए विवाह एक इकरारनामा है या बल से ग्रहण की हुई सम्पत्ति, जिसका अपनी इच्छा से अन्त किया जा सकता है, इसलिए उनमें ब्रह्मचर्य-भाव का विकास नहीं हुआ है। जिन जातियों में अभी तक विवाह का विकास नहीं हुआ था, उनमें आधुनिक बौद्ध धर्म का प्रचार होने के कारण उन्होंने संन्यास को एक उपहास बना डाला है। इसलिए जापान में जब तक विवाह के पवित्र और महान् आदर्श का निर्माण न होगा, (परस्पर प्रेम और आकर्षण को छोड़कर) तब तक, मेरी समझ में नहीं आता कि वहाँ बड़े बड़े संन्यासी और संन्यासिनियाँ कैसे हो सकते हैं। जैसा कि आप अब समझने लगी हैं कि जीवन का गौरव ब्रह्मचर्य, उसी तरह जनता के लिए इस बड़े धर्म-संस्कार की आवश्यकता—जिससे कुछ शक्तिसम्पन्न आजीवन ब्रह्मचारियों की उत्पत्ति हो—मेरी भी समझ में आने लगी है।

मैं बहुत कुछ लिखना चाहता हूँ, परन्तु शरीर दुर्बल है. . . 'जो मेरी जिस मनोकामना से पूजा करता है, मैं उसको उसी रूप में मिलता हूँ।'[1] . . .

विवेकानन्द

---

१. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥गीता ॥४।११॥